Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Santalab Jammu

विश्वास की लहर

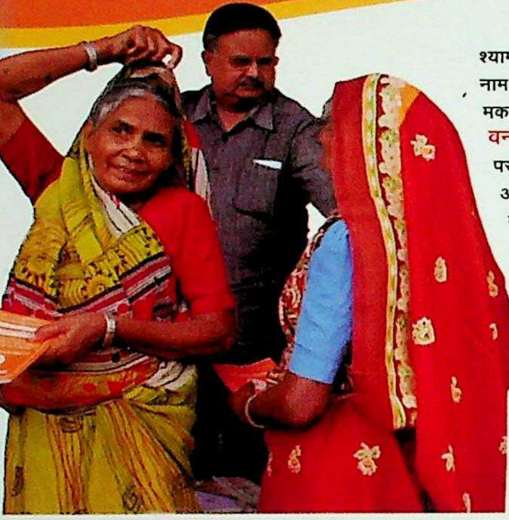

3 रुपये किलो चावल – मुख्यमंत्री खाद्यान्न सहायता योजना में 36 लाख से अधिक गरीब परिवारों को 3 रु. प्रति किलो में हर माह 35 किलो चावल । सालाना 945 करोड़ रुपये व्यय । नि:शक्तजनों को प्रतिमाह 10 किलो चावल 3 रु. किलो की दर से।

3 प्रतिशत पर कृषि ऋण – कृषि ऋण की ब्याज दर 14 से घटा कर 3 प्रतिशत करने का राष्ट्रीय कीर्तिमान । गत वर्ष 600 करोड़ रु. से अधिक ऋण किसानों को वितरित।

कीर्तिमान धान खरीदी – वर्ष 2000-03 में मात्र 39 लाख मीट्रिक टन धान खरीदी की तुलना में विगत 4 वर्षों में 160 लाख मीट्रिक टन धान खरीदी समर्थन मूल्य पर। किसानों को 7611 करोड़ रुपये का भुगतान।

कर्ज माफी – 5.5 लाख लघु एवं सीमांत किसानों के 106 करोड़ रु. के कर्ज एकबार माफ।

सिंचाई कर माफी – किसानों द्वारा लंबित सिंचाई कर पटाने पर 50 प्रतिशत तक माफी।

एक लाख सिंचाई पम्प – आजादी के बाद के 56 वर्षों में किसानों को दिए गए मात्र 72 हजार सिंचाई पम्प कनेक्शन, रमन सरकार द्वारा दिए गए 4 साल में 1 लाख से अधिक सिंचाई पम्प कनेक्शन।

किसान समृद्धि योजना – लघु सिंचाई नलकूप अनुदान के लिये सामान्य किसानों को अनुदान 18 हजार से बढाकर 25 हजार रु.। किसान समृद्धि योजना के अंतर्गत वृष्टिछाया क्षेत्रों तथा इसके बाहर के अनुसूचित जाति, जनजाति के सभी किसानों को 43 हजार रु. अनुदान की सुविधा।

नये 2 जिले-4 संभाग – 2 नये जिले बीजापुर एवं नारायणपुर तथा 4 नये राजस्व संभाग गठित। 1820 नये पटवारी हल्के गठित। 49 विकासखंडों को तहसील मुख्यालय का दर्जा।

छत्तीसगढ़ी राजभाषा – छत्तीसगढ़ी को राजभाषा का दर्जा, राजभाषा आयोग का गठन, प्रचार-प्रसार, संरक्षण-संवर्धन हेतु सुनियोजित प्रयास।

नवा अंजोर – गरीबी उन्मूलन के लिये 40 विकासखंडों में नवा अंजोर परियोजना में 1 लाख से ज्यादा परिवारों को आर्थिक स्वावलंबन हेतु आर्थिक और तकनीकी सहायता।

बुनकरों का कर्ज माफ – कर्ज के बोझ से दबे होने के कारण नई मदद से वंचित 10 हजार से अधिक बुनकर समितियों का 4 करोड रु. का कर्ज माफ।

नि:शुल्क चरण पादुका – तेंदूपत्ता संग्राहकों को नि:शुल्क चरण पादुकाओं का वितरण, 3 वर्षों में 36 लाख से अधिक चरण पादुकाएं वितरित, महिलाओं को प्राथमिकता।

वन प्रकरण समाप्त – छोटे वन अपराध के मामलों से परेशान अनुसूचित जाति, जनजाति, गरीब परिवारों के 2,20,613 प्रकरणों की समाप्ति।

छत्तीसगढ़ अमृत नमक – राज्य के समस्त गरीब परिवारों को 25 पैसे प्रति किलो में आयोडीनयुक्त नमक।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली – 10 हजार 400 दुकानें निजी हाथों में वापस लेकर सहकारी संस्थाओं, पंचायतों, महिला स्व-सहायता समितियों, लैम्प्स एवं वन सुरक्षा समितियों को।

उजियारा योजना – ग्रामीण अंचलों में केरोसिन वितरण को सुगम बनाने के लिए हाट बाजारों में बिना राशन कार्ड के दो लीटर केरोसिन प्रदाय हेतु 'उजियारा योजना' प्रारंभ।

सस्ता खाद्य तेल – राष्ट्रव्यापी महंगाई दर वृद्धि के प्रभाव से छत्तीसगढ़ को राहत देने के लिये 60 रु. लीटर में खाद्य तेल।

दीनदयाल आवास योजना – दीनदयाल आवास योजना के तहत 88 हजार भूमिहीन ग्रामीणों को 900 वर्ग फीट भूमि का पट्टा।

गरीबों को आवास– नगरीय प्रशासन विभाग, छत्तीसगढ़ गृह निर्माण मण्डल, शहरी विकास प्राधिकरणों से निम्न आय वर्ग परिवारों को श्यामाप्रसाद मुखर्जी, अटल, कुशाभाऊ ठाकरे के नाम पर आवास योजनाओं के माध्यम से हजारों मकान।

वन भूमि का हक – अनुसूचित जनजाति एवं अन्य परम्परागत वनवासी (वन अधिकारों की मान्यता) अधिनियम, 2006 के अंतर्गत प्रदेश के वन क्षेत्र में वनवासियों को भूमि के अधिकार देने हेतु आवश्यक सर्वेक्षण उपरांत लगभग 3 लाख से अधिक परिवारों को अधिकार पत्र।

शुद्ध पेयजल – राष्ट्रीय मापदंड 250 व्यक्तियों पर एक हैण्डपम्प के मुकाबले छत्तीसगढ़ में 90 व्यक्तियों पर एक हैण्डपम्प की स्थापना। नगरीय निकायों में जल प्रदाय योजना में 30 प्रतिशत अनुदान के स्थान पर अब 70 प्रतिशत अनुदान की व्यवस्था, जो देश में सर्वाधिक।

नए बिजलीघरों की स्थापना–बीस वर्षों बाद छत्तीसगढ़ में राज्य सरकार का नया ताप बिजलीघर स्थापित। कोरवा पूर्व में 250-250 मेगावाट की दो इकाईयाँ स्थापित कर उत्पादन प्रारम्भ। करीब 7 हजार मेगावाट बिजली उत्पादन राज्य क्षेत्र में करने की परियोजनाएं प्रगति पर।

बिजलीघरों के लिए एमओयू – छत्तीसगढ़ को देश का पावर हब बनाने 51 कंपनियों के साथ लगभग 42 हजार मेगावाट विद्युत उत्पादन के लिए एमओयू, जिसमें 1.70 लाख करोड़ रुपये का निवेश प्रस्तावित।

बिजली कटौती समाप्त – 1 जनवरी, 2008 से छत्तीसगढ़ में बिजली कटौती समाप्त। ग्रामीण आबादी तथा किसानों को भरपूर बिजली प्रदाय।

नि:शुल्क बिजली – अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति एवं निर्धन परिवारों को एकलबत्ती कनेक्शन, 9 लाख एकलबत्ती कनेक्शनधारियों को प्रतिमाह 30 यूनिट/50 रु. तक की बिजली नि:शुल्क प्रदाय, जिसके लिए लगभग 50 करोड़ रु.का भुगतान राज्य शासन द्वारा।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अग्निशेखर और क्षमा कौल
द्वारा यह
पुस्तक सप्रेम भेंट

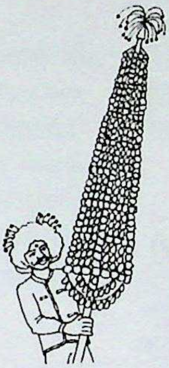

मड़ई – 2008

लोक के रेखांकन का विनम्र प्रयास

•

संपादक

डॉ. कालीचरण यादव

G.M. College of Education
Raipur, Bantalab
Jammu
Acc No. 3779
Dated 7.12.2023

रावत नाच महोत्सव समिति बिलासपुर की प्रकाशन

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मड़ई – 2008 वर्ष – 10 अंक – 1

लोक के रेखांकन का विनम्र प्रयास

- संपादक
  डॉ.कालीचरण यादव
- सम्पादक मण्डल
  डॉ.राजेश्वर सक्सेना
  डॉ.रामगोपाल यादव
  रफ़ीक़ ख़ान
  रमेश अनुपम (रायपुर)
  जीवन यदु (खैरागढ़)
  राजेश गनोदवाले (रायपुर)
- संपादन सहयोग
  शोभित वाजपेयी
  प्रताप ठाकुर
  माखनलाल यादव
  अनूप रंजन पाण्डेय
- विशेष सहयोग
  पीयूष कांति मुखर्जी
  केशव शुक्ला

- मुद्रण एवं टाइप सेटिंग
  कम्प्यूटर मास्टर, 7, अरपा कॉम्पलेक्स, जीत टाकीज के पास,
  बिलासपुर (छत्तीसगढ़) फोन : 07752-407503,324505 (आ.)
- आवरण
  अमोल सराफ (डोम्बिवली, मुम्बई)
- प्रकाशक
  डॉ.कालीचरण यादव
  संयोजक, रावत नाच महोत्सव समिति, बिलासपुर (छत्तीसगढ़)

- 'मड़ई' में प्रकाशित रचनाओं में लेखकों के विचार, उनके अपने हैं
  उनसे संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

- संपादन-संचालन, प्रबंध एवं समस्त व्यवस्था पूर्णत: अवैतनिक – अव्यावसायिक
  रावत नाच महोत्सव समिति बिलासपुर का वार्षिक/अव्यावसायिक प्रकाशन

- संपादकीय सम्पर्क : डॉ.कालीचरण यादव
  बनियापारा, जूना बिलासपुर, बिलासपुर (छ.ग.) 495001 / फोन : 223206,98261-81513

- पंजीयन संख्या- CHH-HIN / 1999 / 6839 मड़ई वार्षिकी 2008, नि:शुल्क वितरण

प्रकाशन हेतु वित्तीय सहायता प्राप्त –
- संगीत नाटक अकादमी, नई दिल्ली
- केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पत्रों से –

अग्निशेखर और क्षमा कौल
द्वारा यह
पुस्तक सप्रेम भेंट

आप शनैः शनैः उत्तर-पूर्व और उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़कर लोक-संस्कृति की सिंदबादी गुफाओं में सेंध लगाकर जन-जीवन के खजाने पेश कर रहे हैं। बेहद ऐतिहासिक-सांस्कृतिक मिशन है आपका। इसे सरकारी संस्कृति-मंत्रालय, पर्यटन विभाग नहीं कर सके, शायद कर भी नहीं सकते। पुनश्च-पुनश्च साधुवाद। • **रमेश कुंतल मेघ,** फ्लैट सं.3 (भू-तल) स्वास्तिक विहार-III, मनसादेवी काम्पलेक्स पंचकूला-134109.

हमारी लोक विरासत को संजोकर जन-जीवन को उसके प्रति संवेदी बनाना एक स्तुत्य काम है।आशा है इसे आप आगे बढ़ाने में सफल होते रहेंगे। राजस्थान में इस दिशा में कोमल कोठारी, श्री विजय दान देथा आदि के काम को भी आप शायद व्यापक स्तर पर उपलब्ध कराना चाहें। • **कमल नयन काबरा,** बी-202, आनंद लोक मयूर विहार-III,दिल्ली-110091.

आज के इस बाज़ारवादी समय में लोक संस्कृति को बचाने का जो प्रयास आपके द्वारा किया जा रहा है निश्चित रुप से सराहनीय है। भारतीय संस्कृति की विविध आंचलिक धाराओं को इतने अच्छे ढंग से समेट कर निःशुल्क पाठकों के पास पहुंचा रहे हैं। समझ में नहीं आ रहा है कि किन शब्दों में अपने भावों को अभिव्यक्त करुं। • **सत्यनारायण,**72/5 शक्ति कॉलोनी, सतनाड़ा, जोधपुर.

'मड़ई' के अंकों का संयोजन आपने एक प्रिज़्म की तरह किया है। इस बिल्लौरी कांच में लोक की परम्परा है, लोक का शास्त्र है, लोक के रंग हैं, लोक की चिंताएँ हैं और लोक की जिजीविषा है, लोक का वैभव और विस्तार तो है ही। अकेले दम पर आपने लोक के विराट प्रभाव को 'मड़ई' में समेट लिया है। जो काम संस्थाओं को करना चाहिए वह आप कर रहे हैं। • **डॉ. कांतिकुमार जैन,** विद्यापुरम, मकरोनिया कैम्प, सागर (म. प्र.).

आकर्षक किन्तु भारी भरकम कलेवर वाली यह पत्रिका अपने विविध विषयों से युक्त शोध सामग्री प्रस्तुत करने में पूर्ण सक्षम है। दूसरे शब्दों में इसे लोक संस्कृति का कर्मनिष्ठ संवाहक भी कह सकते हैं। • **रामकुमारी मिश्र,** 25 अशोक नगर, इलाहाबाद.

मैं समझता हूँ यह देश की एकमात्र ऐसी पत्रिका होगी, जिसमें लोकजीवन और लोक संस्कृति पर समग्रता से विचारोत्तेजक और शोधपूर्ण सामग्री दी जाती है। दूसरे शब्दों में कहूं तो यह पत्रिका भारत के लोक/लोक सभ्यता एवं लोक संस्कृति का महत्वपूर्ण दस्तावेज़ है। • **भगतसिंह,**सोनी 27/622 इंदिरा भवन, न्यू शांति नगर, रायपुर-492007.

आपके प्रयासों से ही 'मड़ई' की निरंतरता बनी हुई है और निरंतर यह अधिक महत्वपूर्ण और अनिवार्य सी हो गई है। • **लोक बाबू,**रिसाली सेक्टर, भिलाई नगर (छ.ग.).

इस बार तो उत्तर-पूर्वी राज्यों में सुदूर केरल के मापुल्ला जिले की लोक संस्कृति भी लेख देखने को मिले। इससे इस शोध ग्रंथ के विस्तृत फलक का अंदाजा होता है। रमेश कुंतल मेघ का आलेख तो स्वयं में एक नये शोध की दिशा प्रदान करता है। • **पंकज चतुर्वेदी,**ए-5, ग्रीन पार्क, नई दिल्ली-116616.

'मड़ई' 2007 का प्रत्येक लेख अत्यधिक ज्ञान एवं जानकारी से परिपूर्ण है। इसमें संस्कृति के चित्र और उसके विलोपन पर व्यक्त चिंता अन्दर तक छू जाते हैं। भूमंडलीकरण एवं उपभोक्तावाद के बढ़ते प्रभाव के कारण नष्ट होती लोक संस्कृति के विषय में सुरेश पंडित एवं ब्रजकुमार पाण्डेय के लेख विचारोत्तेजक, आत्ममंथन को विवश करते हुए उल्लेखनीय हैं। • **रामेदव मिश्र,** द्वारा-श्री सुरेन्द्र यादव, 24 छोटी वमनपुरी, बरेली (उ.प्र.) 243 003.

अपनी पत्रिका के माध्यम से एक बार फिर आपने लोक संस्कृति, लोक कल्चर, और खास कर ठोस ''हिन्दुस्तानी कल्चर और तहजीब'' को ज़िंदा कर दिया है और इस बड़े क़दम का भार उठाने के लिए आप दिल से मुबारकबाद के मुस्तहिक़ हैं। • **डॉ.ताहिरा परवीन,** 1182, ओल्ड कटरा, मनमोहन पार्क, इलाहाबाद-211002.

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

प्रत्येक अंक में जिस तरह से भूमण्डलीकरण और उपभोक्तावाद को लोक संस्कृति के संदर्भ में व्याख्यायित करने वाली रचनायें देते हैं, उससे लोक-संस्कृति को लेकर संभावित ख़तरे न सिर्फ स्पष्ट होते हैं बल्कि विमर्श के रास्ते भी खुलते हैं।साथ ही पत्रिका की सार्थक भूमिका भी स्पष्ट होती है। संपादकीय में भी इसी चिंता को न केवल विस्तार मिला है बल्कि उसके भिन्नार्थ भी खुले हैं। एक पत्रिका महज कुछ लेखों के संग्रह या प्रकाशन से ही महत्वपूर्ण नहीं बनती बल्कि इन सबके पीछे काम कर रही दृष्टि अंक को महत्वपूर्ण बनाती है। 'मड़ई' में यह दृष्टि स्पष्ट नजर आती है। • **भालचन्द्र जोशी,** 13-एचआईजी, हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी, जैतापुर खरगौन (म.प्र.) 495001.

'मड़ई' 2007 का अंक मिला। आपको हार्दिक बधाई, 'मड़ई' का क्षेत्र विस्तार के साथ विषय फलक भी विस्तृत होता जा रहा है। इस पत्रिका से तुलनात्मक अध्ययन के लिए न केवल शोधकर्ताओं को सामग्री प्राप्त हो रही है बल्कि विषय और दिशा निर्देश करने में भी सहायक हो रही है। • **डॉ. सुधा गुप्ता, 113**, खत्रियाना मार्ग, झांसी.

संपादकीय में अभिव्यक्त ज्ञानबोध से जुड़ी चिंता समकालीन संस्कृति की चिंता है। मानव मूल्यों के ह्रास की चिंता है। निश्चय ही हमें आत्म-विश्लेषण की आवश्यकता है और अपनी जिम्मेदारी भी तय करनी होगी। • **डॉ. प्रभा ब्यौहार,** 16, सरगम अपार्टमेंट, 1510 'राइट टाउन जबलपुर.

पूरे देश की लोक संस्कृति को रेखांकित, विवेचित करती यह पत्रिका निश्चित रुप से एक सार्थक प्रयास है। वैश्विक दबाव के बीच लोक-संस्कृति का अध्ययन, मनन, संरक्षण अधिक जरुरी हो गया है। 'मड़ई' इस कार्य को पूरी निष्ठा के साथ कर रही है। • **सूर्यपाल सिंह,** सम्पादक 'पूर्वापर' निकट प्रधान डाकघर, लाहिड़ीपुरम सिविल लाइन्स, गोण्डा (उ.प्र.) 271001.

राष्ट्रीय ही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर लोक को प्रतिध्वनित करती यह पत्रिका सर्वश्रेष्ठ और अनूठी है, जिसका लक्ष्य असाधारण है, आपका कुशल सम्पादकत्व इसे उत्तरोत्तर नवीन आयाम प्रदान करे। • **डॉ. मन्नू ढौंडियाल,** द्वारा-श्री एल.पी.ढौंडियाल उत्तराखण्ड उच्च न्यायालय चिकित्सालय नैनीताल-263001 (उत्तरांचल).

आप जैसे लगनशील लोगों के कारण ही हमारी क्षरण होती संस्कृति दस्तावेजी रुप में सुरक्षित रह सकेगी। पत्रिका देश, समाज, परम्परा और संस्कृति से परिचित कराती है। आपकी लोकचिंता का प्रयास सराहनीय है। हिमाचल से लेकर सुदूर तटीय प्रदेशों को आपने इसमें समेटा है। एक स्थान पर इतनी ढेर सारी महत्वपूर्ण सामग्री, वह भी निःशुल्क वितरण। डर है कहीं अति सहज सुलभता इसे उपेक्षा का शिकार न बना दे। बिना दाम के मिलने वाली चीज़ों के प्रति अक्सर लोगों का वही रवैया होता है। लोग इसकी कद्र करना नहीं जानते हैं। • **विजय शर्मा,** 151 न्यू बाराद्वारी, जमशेदपुर-831001.

लोक साहित्य एवं संस्कृति को समर्पित ऐसी स्तरीय पत्रिका मैंने आज तक नही देखी। • **डॉ. सुधेश,** ए-34 न्यू इंडिया अपार्टमेंट्स, रोहिणी, सेक्टर-1, दिल्ली-110085.

असल में लोक संस्कृति पर हमले चौतरफा हैं। परिवर्तन के संबंध में, इतिहास चीज़ों को बदलता रहा है। शायद यह समाज की नियति भी है। पर जान बूझ कर कोई संरचना थोप दी जाए तो मौलिक सृजन उससे प्रभावित हो सकते हैं। जो काम पहले उपनिवेशवाद कर रहा था वह प्रभुत्व संस्कृति के नाम पर कुछ और ताकतें कर रही है। संस्कृति में सुधार और व्यापारिक सांस्कृतिक रुपांतरण में 'लोक' ही लुप्त हुआ है। लोक रचनाओं के दस्तावेज, लोक पीड़ाओं की व्यथा-कथा और लोक संस्कृतियों की वैज्ञानिक पड़ताल सभी कुछ गंभीर चिंतन परम्पराओं के लिए आवश्यक है। 'मड़ई' की प्रतीक्षा किसी भी समाजशास्त्री को इसीलिए रहेगी क्योंकि वह उन पक्षों को भी छुएगी जिसको जानने की उसकी भी उत्कंठा है। • **नरेश भार्गव,** 91, गोकुल नगर, बोहरा गणेश मंदिर के समीप, उदयपुर (राज.) 313001.

'मड़ई' के माध्यम से आप लोक भाषा और लोक संस्कृति को पोषण देने और पुनर्प्रतिष्ठित करने का जो भी महाअभियान चला रहे हैं वह अप्रतिम और अनुकरणीय है। मड़ई 2007 के संपादकीय में आपने अपने अभीष्ट का साफ-साफ संकेत दिया है। दरअसल समय का यह वक्फ़ा इसलिए भी भयावह है कि सारा समय चाहे वह अनचाहे ऐसी दौड़ में धकिया दिया गया है कि वह भागने को विवश है और नतीजे उसके हाथ में नहीं है। यांत्रिकता, नगरीकरण और वस्तुवाद ने मूल्यों का नाश कर दिया है और दुर्भाग्य यह है कि उसे विकास कहा जा रहा है। धनाड्य होने की लिप्सा और आभिजात्य के दर्प में शांति और सुकून तलाशने वाली इस पीढ़ी को, सिवा हताशा के कुछ भी हासिल नहीं हो रहा है। यथास्थितिवाद और जड़ता के इस

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कठिन दौर में लोक के मार्फत आप जितना हस्तक्षेप कर रहे हैं वह फिलवक्त पर्याप्त ही कहा जायेगा। आपको बधाई और साधुवाद। • **कैलाश मण्डलेकर**, 38 नाका, जसवाड़ी रोड, करोड़ी चक्की के आगे, खण्डवा-450 001 (म.प्र.).

पत्रिका के रंग-संयोजन और छपाई से ही लोक संस्कृति रुप में रंग-प्रयोग का आभास होता है। पत्रिका में संकलित कुछ लेख मेरे लिए बेहद ही जरुरी हैं। ''भूमण्डलीकरण, उपभोक्तवाद और लोकसंस्कृति'' सुरेश पंडित का लेख उपभोक्तवादी संस्कृति और वर्चस्व की संस्कृति की गहरी शिनाख्त करता है। इन सबके बीच लोक संस्कृति की अनिवार्यता अपने आप स्थापित हो जाती है।इस अर्थ में लोक संस्कृति, संस्कृति का परंपरागत रुप न होकर वस्तु आधारित उपभोक्ता संस्कृति का विकल्प है। मास कल्चर के बीच स्वाभाविक संस्कृति बनाए रखने की छटपटाहट है। • **विनीत**, 63 ग्वायर हाल, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-07.

'मड़ई' ऐसी पत्रिका है जो हमारे पूरे देश की संस्कृति का दर्शन घर बैठे करा देती है। लोकगीत, मुहावरे, भाषा, कला परम्परा यह सब जो आज के आधुनिक समाज में विस्मृत हो गये हैं, 'मड़ई' के माध्यम से जीवित होकर हमारे सामने उपस्थित हो जाते हैं। • **श्रीमती उर्मि कृष्ण**,ए-47, शास्त्री कॉलोनी अम्बाला छावनी 133 001.

इस अंक को भी सजाने-संवारने और निखारने में आपने कोई कसर नहीं छोड़ी। विशेष रुप से ताला के संबंध में प्रकाशित जानकारी और रेखांकन अद्‌भुत है। • **अशोक भववानी**, एफ-88/24 तुलसीनगर, भोपाल (म.प्र.).

इस अंक ने भी अपनी स्थापित परम्परा को विकसित किया है। आप इसके माध्यम से लगातार लोक साहित्य और संस्कृति के प्रति सम्मोहन पैदा करते जा रहे हैं। इससे नागर जीवन के समानांतर, जीवित लोक जीवन से हमारा परिचय बना रहता है, यद्यपि वर्तमान सभ्यता का दबाव इस धारा को पतला एवं क्षीण बनाता जा रहा है। कदाचित, इस तरह के प्रयास ही इसकी स्मृति को ताजा करते रहते हैं। • **डॉ.जीवन सिंह** , 1/14 अरावली विहार, अलवर (राजस्थान) 301001.

इसकी भव्यता और विविधता को देखकर आश्चर्य भी हुआ और सुखद भी लगा। लोकसंस्कृति पर इतनी अच्छी सामग्री अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। उजड़ती संस्कृति, विलुप्त होती लोककलाओं के लिए यह पत्रिका अमृत के बूँद के तुल्य है। • **डॉ.लखनलाल पाल**, कृष्णधाम के आगे अजनारी रोड, नया रामनगर, उरई (जालौन) उ.प्र. 285005.

लेखों का चयन सम्पादन कला की अनुभव जन्य विशेषता है। क्षमा करेंगे-'नाच' शब्द के स्थान पर 'नृत्य' शब्द कैसा रहे? अंक आपकी विद्वता, लोक संस्कृति-कलाओं के प्रति प्रगाढ़ रुचि का परिचायक, उपयुक्त मुख पृष्ठ, मुद्रण शुचिता उच्चकोटि की- अमूल्य प्रकाशन, श्लाघनीय प्रयत्न हेतु बधाई। • **एम.एल.भटनागर**,(राजस्थान शिक्षा सेवा) 311 (पिछली गली-होटल संगम) गुमानपुर, कोटा, राजस्थान 324 007.

लोक संस्कृति के विभिन्न पक्षों को अपने में समेटे-बटोरे यह पत्रिका धरोहर बन चुकी है। वस्तुतः अपने आप में एक किताब है जिसे संजोकर हर कोई रखना चाहेगा। अंक की विशेषता इसी में फलीभूत होती है कि विभिन्न प्रदेशों अंचलों की लोक संस्कृति, पर्व, विभिन्न त्यौहारों, सभ्यता-संस्कृति एवं समसामयिक परिवेश को एकत्र कर उभारा गया है। • **चन्द्रेश**,मनमीत कुटीर, राजपूत कॉलोनी, मौलागंज, दरभंगा 846004 (बिहार) .

'मड़ई' 2007 के लिए अत्यंत आभारी हूँ। इसके माध्यम से घर बैठे लोक-जीवन की भारतीय जीवनधाराओं से पावन होने का सुखद पुण्य अर्जित हो गया। यह भी लगा कि मेरे जैसे अनेक अध्येता, जो आधी शताब्दी से इस क्षेत्र में आँख-पाँख किये हैं, उन्हें भी कई तरह का तोल-मोल करने का आत्मावलोकन मिला है।

बुद्धिवादी लोग उसी साहित्य को वरेण्य मानते हैं जो छपित-लिखित है किन्तु वह साहित्य जो सर्वाधिकों का है और जिसके सहारे भारतीय जीवनधारा, पीढ़ियों और परम्पराओं का रथ-चक्र बंधा है उस अलिखित और मौखिकवाणी के वरद से नाखुश नजर आते हैं। आप उन सर्वाधिकों के हमसफर बन जो अतल-पतल पारदर्शी बना रहे हैं वह आपके साधनामय शील सांगोपांग समुद्र मंथन है। • **महेन्द्र भानावत**, 352 श्री कृष्णपुरा, उदयपुर-313001.

आप परिश्रम पूर्वक लोक-संस्कृति की जो निरंतर सेवा कर रहे हैं उसके लिए देशवासी कृतज्ञ हैं। वैचित्र्यमय लोक जीवन की धरोहर को टटोलना और सहेजना आसान नहीं है फिर भी इस दायित्व को जिस खूबी से निर्वाह कर रहे हैंउसके लिए आपकी जितनी प्रशंसा की जाए कम हैं • **भूपेन्द्रराय चौधरी**,58 गौहाटी विश्वविद्यालय परिसर, गुवाहाटी 781014

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

भारत की अत्युर्वरा भूमि पर आंचलिक लोक संस्कृतियों के सुरम्य पुष्पोद्यान हैं। आशा है कि उनके सौरभ सौंदर्य का उद्घाटन एवं संरक्षण अनंत काल तक आपके कौशलपूर्ण संपादन में 'मड़ई' करती रहेगी। • **डॉ.राजनारायण,** 227 पंडितवाड़ी, फेज-2, पो.प्रेमनगर, देहरादून-248007 (उत्तराखण्ड).

पारम्परिक लोक जीवनधारा की ऐसी दूसरी पत्रिका भारत में नहीं है। खोजने पर भी जो सामग्री कहीं नहीं प्राप्त हो पाती वह 'मड़ई' में उपलब्ध रहती हे। लोक को जाने बिना किसी भी समाज का मूल्यांकन असंभव है। इस रुप में हिन्दी जगत के लिए 'मड़ई' महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। सांस्कृतिक एकता का कार्य'मड़ई' के माध्यम से आप द्वारा किया जा रहा है जिसे कभी भुलाया नहीं जा सकेगा • **राजवीर सिंह,** सम्पादक' यादव शक्ति' , 161, बाजार सिधौली, सीतापुर, उ.प्र.-261303.

ऐसा सुन्दर सृजन अनूठा, अतुलनीय एवं अवर्णनीय है। आवरण पृष्ठ मनमोहक। अतीत से परिचय कराती लोक जीवन के विविध रंग रुपों को समेटती तथा भूले-भटके जनमानस को एक दिशा-बोध कराती है, अनूठी, पत्रिका। • **सुशील कुमार चतुर्वेदी,** 103, मोरी, दारागंज, इलाहाबाद (उ. प्र.) 211006.

लोक को रेखांकित करने का आपका यह विनम्र प्रयास जो गंभीरता, उपयोगिता एवं रोचकता लिए हुए है।उसके लिए अनेकशः साधुवाद। एक दीर्घावधि से मैनें लोक साहित्य को लेकर इतना निष्ठापूर्ण प्रकाशन नहीं देखा, मेरी हार्दिक बधाई। • **डॉ.बाबूलाल शर्मा,** संपादक-वैचारिकी भारतीय विद्या मंदिर, 12/1, नेलीसेन गुप्ता सरणी, कोलकाता.

लोक के विविध पक्षों को रेखांकित करने का यह प्रयास सार्थक है। लोक जितना समृद्ध है, उतना ही प्राकृतिक और सहज भी है पर चिंता का विषय यह है कि हमारे साहित्य से वह गायब होता जा रहा है। जीवन से नालबद्ध लोक का साहित्य में अभाव नागर जीवन की चमत्कारिक, सुविधापरक और सब कुछ पा लेने की दौड़ती दुनिया है। यह दुनिया इस तरह प्रस्तुत की जा रही है जैसे उसके बिना सब कुछ व्यर्थ है। 'मड़ई'का यह अंक इस चमत्कारी दुनिया के प्रतिरोध में अपनी जड़ों की तलाश करता है। ।• **सूरज पालीवाल** , 71, सेन्ट्रल स्कूल स्कीम, जोधपुर (राज.) 342011.

यह कहना गैरजरूरी नहीं होगा कि वर्तमान परिदृष्य में जहां आधुनिक सभ्यता हमारे समाज में गहरी पैठ बना चुकी है। ऐसे निर्मम समय में लगभग छूटी जा रही लोक सम्पदा को सहेजने व संरक्षित करने का आपका प्रयास सराहनीय है। • **भंवरसिंह शक्तावत,** महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, आर्णी, उमरी रोड, पो.बा.सं. 16, वर्धा (महाराष्ट्र) 442 001.

लोक संस्कृति, कला और पुरातत्व पर हिमालय से लेकर कन्या कुमारी तक के विस्तृत क्षेत्रों की लोकांचल की अनोखी प्रस्तुति के लिए धन्यवाद। लोक संस्कृति, लोक गायकी सदियों से आम जनता के अभावों से जूझने, संघर्ष के लिए ऊर्जा बटोरने के साधन रहे हैं। ये व्यवस्था के शोषणकारी प्रवृत्ति के विरुद्ध भी रहे हैं। इसलिए व्यवस्था की कोशिश रही है कि लोक कलाओं को विकृत किया जाए या उनकी सामाजिकता, समरसता, समूह की शक्ति को भंग कर दिया जाए। आज लोककलाओं को बाजारु तो बनाया जा रहा है पर जुझारु बनाने से परहेज किया जा रहा है। पत्रिका भेजने के लिए आभार। कोशिश करें कि पत्रिका की पहुँच पुस्तक बिक्री केन्द्रों तक हो। • **सुभाषचन्द्र कुशवाहा,** बी-4/140 विशालखंड, गोमती नगर लखनऊ.

'मड़ई'07 प्राप्त हुई। लोक से सम्बद्ध काफी समृद्ध सामग्री है। धीरे-धीरे यह अति बौद्धिक होती जा रही है। इसके लिए केवल प्राध्यापकों पर निर्भरता त्यागनी होगी। पत्रिका को स्वयं की भी एक स्वतंत्र शैली विकसित करनी चाहिये । • **सलीम खां फरीद,** हसामपुर सीकर (राज.) 332 718.

लोक के रेखांकन का यह विनम्र प्रयास प्रतिरोध की संस्कृति का विस्तार ही है, यह बात आपके सम्पादकीय से सीधे स्पष्ट होती है। विनोद शाही, सुरेश पंडित के आलेख इस अंक का गौरव हैं। • **प्रभा दीक्षित,** 128/222 वाई वन ब्लाक, किदवई नगर कानपुर-208011.

'मड़ई' का शानदार अंक मिला। आपकी कोशिशों की दाद देनी होगी कि ऐसे समय में जब बाजारवादी, साम्राज्यवादी ताकतें हमारी सभ्यता-संस्कृति को लगातार अपने आगोश में लेने को तत्पर हैं, तब आप एक कोशिश करते हो 'मड़ई' के रुप में, अपनी सभ्यता, -संस्कृति-लोक को सहेजने की। उसे आम जन, खास जन तक लाने की। आपकी कोशिशों को सलाम। • **जाहिद खान,** महल कॉलोनी, शिवपुरी (म.प्र.).

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

भारतीय लोक जीवन की विशेषताओं को आज के पाश्चात्य संस्कृति के प्रति आकर्षित आधुनिक मानस में उज्जीवित करने के लिए आपका प्रयास अत्यंत स्तुत्य है। • **डॉ.सुधांशु कुमार नायक,** आशा निवास, खरखिया बैद्यनाथ लेन, भुवनेश्वर -751002.

'मड़ई' के अंक नियमित मिल रहे हैं। 'लोक' को केन्द्र में रखकर इतनी स्तरीय और गंभीर पत्रिका आप निकालते चले जा रहे हैं, यह देखकर अचरज होता है। • **विश्वनाथ प्रसाद तिवारी,** 'दस्तावेज, बेतियाहाता, गोरखपुर.

'मड़ई' का हर अंक अपनी लोकधर्मी स्वर और स्तरीयता के नाते संग्रहणीय होता है। यह अंक भी है। • **विनोद तिवारी,** संपादक-'पक्षधर' बी-33/14-73, कोसलेश नगर, सुंदरपुर वाराणसी-05.

'मड़ई' जैसी पत्रिका के कारण लोकभाषा का भविष्य सुरक्षित है इसकी आश्वस्ति है। एक प्रशंसनीय, संग्रहणीय पत्रिका के लिए आपका हार्दिक अभिनंदन। • **क्रांति,** 203 साईनाथ स्क्वेयर, टावर-3 मदर्स स्कूल के पीछे, जलाराम चौकड़ी, बलौदा, गुजरात-21.

लोक के रेखांकन का आपका प्रयास विनम्र तो है ही, स्तुत्य तथा श्लाध्य भी है। लोक संस्कृति का ध्वजवाहक है यह अंक। अपराजेय भारतीयता ऐसे ही प्रयासों से अक्षुण्ण रह सकती है। एक दीप जलाया है आपने। ऐसे ही जलता रहे। • **अभिनव ओझा.** 210/71-बी/1, स्टेनली रोड, इलाहाबाद-211002.

'मड़ई' के प्रकाशन क्रम को बनाये रहें। रायपुर से 50 वर्ष पूर्व स्वर्गीय भाई श्रीकांत वर्मा ने एक लघु पत्रिका प्रकाशित की थी। मैं तभी से रायपुर और बिलासपुर से परिचित हूँ। अब इतनी प्रगति 'मड़ई' के रुप में देखकर प्रसन्नता होना स्वाभाविक है। • **डॉ.धर्मेन्द्र गुप्त ,** सम्पादक 'विषयवस्तु' 244 राजधानी एन्क्लेव रोड नं.44, पोस्ट-शकूरबस्ती, दिल्ली-110034.

यह अंक भी अपने हर अंक की भांति रुप और स्वरुप में आकर्षक है। संपादकीय में आप द्वारा उठाया बिन्दु लोक संस्कृति और बाज़ारवाद की पापुलर कल्चर समय सापेक्ष एवं जीवंत है। यह सही है कि संस्कृति के ठेकेदार उसके मूल स्रोत, लोकजीवन की उपेक्षा कर रहे हैं। बाजार में जो लोक संस्कृति के नाम पर घटिया और बनावटी सामग्री 'पापुलर कल्चर' की तर्ज पर परोसी जा रही है, वह विपथगाह की सूचना भर है। किसी भी देश की लोक संस्कृति वहां के लोक जीवन के दैनंदिन क्रिया-कलापों की संवदेनाओं की मंजूषा होती है। अतःजहां लोक जीवन की महक नहीं, लोक संस्कृति की उपस्थिति पर स्वतः प्रश्नचिन्ह लग जाता है जब लोक संस्कृति की सच्ची झलक हमें 'मड़ई' पत्रिका में मिल रही है तो खुले मन से हमें सराहना भी चाहिए। ग्राम्य जनजीवन की हलचल लोक संस्कृति की ऊर्जा एवं जान होती है। इस संदर्भ में 'मड़ई' सार्थक दस्तावेज है। यह पत्रिका विरासत के लुप्त होते जा रहे आयामों को पुनः जीवंत बनाने में बेशक सफलीभूत होती जा रही है। • **डॉ. जगदीश यादव,** मकान नं. 230 जे.ग्राम व डाक-राजोकरी, नई दिल्ली-110038.

'मड़ई' का अंक आप एक अभियान और और लोक सांस्कृतिक जिम्मेदारी के साथ निकालते आ रहे हैं। यह हिन्दी जगत और लोकसंस्कृति प्रेमियों के लिए उत्साहवर्धक तो है ही, अपनी लोक संस्कृतियों के महत्व को समझने में भी सहायक हो रहा है। आपकी संलग्नता लोक जीवन का बड़ा भारी उत्तरदायित्व निभा रही है। शुभकामनाएँ । महत्वपूर्ण मेरे लिए इसलिए भी हो जाता है कि आपके द्वारा मेरे कई साहित्यिक/सांस्कृतिक मित्रों के विचार, अनुभव भी मुझे मिल जाते हैं। आज के समय में जब सकारात्मक व मानवीय संस्कृति पर हिंसक आघात हो रहे हैं तो अपने लोगों से रु-ब-रु होने की उत्तेजना ही अलग होती हे। यह 'मड़ई' संभव कराती है। • **अनिल सिन्हा,** 3/30 पत्रकारपुरम, गोमती नगर, लखनऊ-226610.

'मड़ई' 2007 का श्रेष्ठ अंक मिला और तसल्ली से पढ़ा। अंक संयोजन में भी श्रेष्ठता मिली। 'लोक'को समझना और समझाना विकट काम है। यह लोक हमारे सांस्कृतिक तन्तुओं से रचा बसा है। हाई-फाई मूल्यहीनता के इस दौर में यदि मनुष्य की अस्मिता को बचा सकता है तो यही हमारा लोक संसार ही है। लोकभाषा के ज़रिये हमने अपने प्राचीन लोक इतिहास की पहचान की और उसके सहारे-सहारे अन्ततः अपने दीर्घ जीवन को अक्षुण्ण बनाने वाले जीवन रस और लोक-मंगल की खोज की। मुझे अपना अतीत जब याद आता है तो आज के भौंड़े यथार्थ पर हंसी आती है-लगता है इस भागम-भाग ने हमारी तमाम पहचान ही छीन ली। आपका काम वस्तुतः अभिनंदनीय है। 'मड़ई' 2007 के सार्थक प्रस्तुतिकरण पर हमारी बधाई स्वीकारें। • **चन्द्रभानु भारद्वाज,** 119, श्रीजी नगर, दुर्गापुर, जयपुर-302018.

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

इनके भी उत्साहवर्धक पत्रों के लिए आभार

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सर्वश्री डॉ.रमाकांत श्रीवास्तव (खैरागढ़, छ.ग.), डॉ. वीरेन्द्र मोहन (सागर, म.प्र.), मणिमोहन चवरे (पूना महाराष्ट्र), अम्बर (बहराइच, लखनऊ, उ.प्र.), डॉ.शेफाली चतुर्वेदी (आगरा, उ.प्र.), उमेशदत्त दीक्षित (हैदराबाद, आंध्रप्रदेश), मोहन जायसवाल (चारामा, छ.ग.), प्रयाग शुक्ल (दिल्ली), प्रो.गोपाल भारद्वाज (जोधपुर, राजस्थान), परमेश्वर द्विरफे (चिड़ावा, राजस्थान), विष्णु वर्मा (काकोरी, फैजाबाद, उ.प्र.), प्रो.पूर्णचन्द्र ओझा, कटक (ओडिसा), तरुण दांगौड़े (झिरन्या, खरगोन, म.प्र.), यशवन्त मेश्राम (राजनांदगांव, छ.ग.), जसवंत सिंह 'जनमेजय' (रामकृष्णपुरम्, नई दिल्ली), सुरेन्द्र अग्निहोत्री, लखनऊ (उ.प्र.),पी.सी.ओझा (कटक), रमाकांत (भोपाल), डॉ.भगवती लाल शर्मा (जोधपुर), डॉ.गिरीश रोहित (खम्भान), डॉ. पी.सी.लाल यादव (गंडई), रामफल यादव 'वल्लभ (धनरास), सुमित पी.वी. (हैदराबाद), डॉ.सुभाष शर्मा (नई दिल्ली), फ़ज़लुर रहमान हासमी (बेगूसराय), मुहम्मद हसनैन (बहराइच), शारदा प्रसाद (सारनाथ), डॉ.ब्रजनन्दन वर्मा (मुजफ़्फरपुर), डी.एस.चौहान (चाँदपुर), एन.आर.श्याम, (आदिलाबाद), त्रिभुवन (धमतरी, छ.ग.), डॉ.इन्द्रसेन यादव (चम्पावत), स्वयं प्रकाश (भोपाल म.प्र.), विद्यासागर नौटियाल (देहरादून, उ.प्र.), रत्नचन्द्र निर्झर (बिलासपुर, हि.प्र.), असीत समद्दार (चण्डीपुर, उत्तराखंड), डॉ. प्रकाश वि.जीवने (चन्द्रपुर, महाराष्ट्र), माणिक (चित्तौड़गढ़, राजस्थान), डॉ. सूर्यदीन यादव (नाडियाड), ललन प्रसाद पाण्डेय (बरडूबी बाजार तिनसुकिया, आसाम), शिवनाथ पाण्डेय शास्त्री, औरैया (उ.प्र.), जनमेजय (दिल्ली), रणवीर सिंह हुडा (रोहतक,हरियाणा),अमीरचंद वैश्य (बदायूं, उ.प्र.), रामजन्य मिश्र (साहिबागंज, झारखण्ड), गोवर्धन यादव (कावेरी नगर, छिंदवाड़ा, म.प्र.) , वीरेन्द्र बहादुर सिंह (राजनांदगांव, छ.ग.), अमला मिश्रा (लखनऊ, उ.प्र.), श्याम बाबू शास्त्री 'तरंग' (जालौन, उ.प्र.), आई.एस.तंवर (भिवानी), वेदव्यास (जयपुर, राजस्थान), मोहनकृष्ण बोहरा (जोधपुर, राजस्थान), के.एन.सिंह यादव (जालंधर, पंजाब), चन्द्रेश (दरभंगा, बिहार), कुंवरसिंह यादव (तखतपुर,छ.ग.), ओ.पी.शर्मा (कानपुर,छ.ग.), डॉ.महाराजकृष्ण भरत (मूठी, जम्मू), रामजन्य मिश्र (साहिबगंज, झारखण्ड), आर.वी.सिंह (सीतापुर, उ.प्र.), अक्षय जैन (मुम्बई, महाराष्ट्र), ताऊ भोई (सुनाबीड़ा, कोरापुट, ओडिसा), रामानंद मिश्रा 'राका' (तीराखार दह, बिहार), रविशंकर मुक्त (रायबरेली, बिहार), डॉ.लोकनाथ सोनी (कोलकाता, प.बंगाल), डॉ. सुनीता शर्मा (अमृतसर, पंजाब), श्री नीलमणि दुबे, (रायपुर), डॉ. कुमारेन्द्र सिंह सेंगर 'स्पंदन' (उरई, जालौन, उ.प्र.), डॉ.सुरेश गौतम (दिल्ली), हेमंत शर्मा (दिल्ली), सुभाष मिश्र (रायपुर,छ.ग.), एस.एन.सक्सेना (अशोक नगर म.प्र.), अरविंद अवस्थी (मिरजापुर, उ.प्र.), ब्रजेश (लखनऊ,उ.प्र.), डॉ. (श्रीमती) वर्षा खुराना (मुलताई बैतूल म.प्र.), प्रकाश परिमल (जयपुर, राजस्थान), दीप्ति कुशवाह (नागपुर, महाराष्ट्र), डॉ. लक्ष्मीशंकर निगम (रायपुर, छ.ग.), अरुण शीतांश,देशज (आरा, बिहार),अश्वनी कुमार आलोक, (महनार, वैशाली, बिहार), मूलचंद सोनकर (वाराणसी, उ.प्र.), बी.एल. यादव (बालको, कोरबा, छ.ग.), दर्शन सिंह रावत (उदयपुर, राजस्थान), परितोष बनर्जी (कोलकाता, प.बंगाल), डॉ.धनपत सिंह शिवराण (डालावास, भिवानी, हरियाणा), कमलेश कुमार यादव (कुशीनगर, वर्धा, महाराष्ट्र), भगवान ठग (बुलढाणा, महाराष्ट्र), राघव चेतन राय (दिल्ली), दत्तात्रय जी.यादव (पुणे, महाराष्ट्र), के.एन.सिंह यादव (जालंधर, पंजाब). डॉ. नन्दलाल कल्ला (जोधपुर), शिवशंकर मिश्र (औरैया, उ.प्र.).

❑❑❑

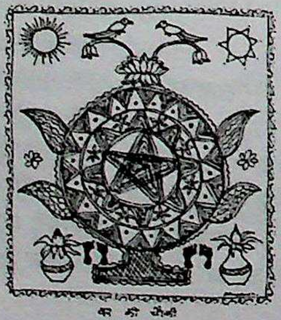

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अनुरोध पाठकों से

- पत्रिका पूर्णत : **नि:शुल्क** वितरण के लिए है।
- कृपया **अंक प्राप्ति की सूचना** देकर हमें आश्वस्त करें अन्यथा आगामी अंक भेजना संभव नहीं होगा।
- अंक के विषय में अपनी राय से अवगत कराने की कृपा करें।
- आपके रचनात्मक सुझावों का स्वागत है।
- पुराने अंक उपलब्ध नहीं हैं, कृपया इस संबंध में पत्र व्यवहार न करें ।
- अंक मंगाने के लिए **डाक टिकटें भेजने का कष्ट न करें।**
- **डाक व्यय हम स्वयं वहन करते हैं।**

अनुरोध रचनाकारों से

- भारतीय लोक संस्कृति पर केन्द्रित, चिंतन परक, गम्भीर, मौलिक और शोधपूर्ण लेखों के अलावा स्थानीय जीवंत और परम्परागत लोक संस्कृतियों को उजागर करने के लिए भी हम प्रतिबद्ध हैं।
- 'मड़ई 2009' हेतु विशेष अनुरोध है कि **आप अपने अप्रकाशित लेख की ए-4 आकार में कम्प्यूटरीकृत मुद्रण के साथ पेजमेकर 5.0 श्रीलिपि (6.0) में सी.डी. सहित 30 जून 2009 तक प्रेषित करने का कष्ट करें। यह मुद्रण की शुद्धि की दृष्टि से आपके और हमारे लिए अनिवार्य है।**
- लोक गीत एवं लोक कथाएँ (मूल एवं अनुवाद सहित) तथा लोक कलाकारों से लिए गये साक्षात्कार का स्वागत है।
- कृपया यह सुनिश्चित कर लें कि आपकी रचना **'मड़ई'** की प्रकृति के अनुकूल हो ।
- **समीक्षार्थ लोक पर केन्द्रित पुस्तकों की दो प्रतियाँ भिजवायें।** 'मड़ई' में कविता, कहानी एवं समीक्षा आदि भेजने का कष्ट न करें ।
- **कृपया अपनी रचना की एक प्रति अपने पास सुरक्षित रख लें। अस्वीकृत रचनाओं की वापसी हमारे लिए असंभव है।**
- 'मड़ई' में प्रकाशित रचनाओं के लिए हम मानदेय की व्यवस्था करने में असमर्थ हैं। कृपया इसकी अपेक्षा न करें । इस संबंध में कोई भी पत्र व्यवहार व्यर्थ होगा।
- **'मड़ई' का अगला अंक 07 नवम्बर 2009 को प्रकाशित होगा।**

सम्पर्क सूत्र
डॉ.कालीचरण यादव
बनियापारा, जूना बिलासपुर
बिलासपुर (छत्तीसगढ़) 495 001
फोन : 07752-223206,98261-81513

 CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

संपादकीय

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आज के हाहाकारी समय में जब वित्तीय पूंजी और बाज़ारवाद के वर्चस्व ने हर तरह के ''सकारात्मक'' को हाशिए पर डाल दिया है, साहित्य, कला और संस्कृति में लोक का स्पेस अनवरत रुप से छीजता जा रहा है। लोक जीवन को विस्तार देने वाली दृष्टि और विचार, नैपथ्य में हैं। वस्तुतः यह लोक संस्कृति के लिए सर्वाधिक प्रतिकूल समय है।

वैश्वीकरण और भू- मंडलीकरण के अबाध विस्तार के समानांतर लोक संस्कृति के अस्तित्व का प्रश्न अत्यधिक गंभीर हो गया है। यह कोई सामान्य संकट नहीं है। हम यह भी समझते है कि इस संकट और इसकी चुनौतियों से जूझने के पुराने तर्कों की कोई सार्थकता नहीं रह गई है और लोक संस्कृति को नये ज्ञान-विज्ञान का प्रतिपक्ष नहीं बनाया जा सकता।

आज बाज़ारवादी संस्कृति का दुष्प्रभाव ग्रामीण इलाकों में भी पसर गया है। बदलते हुए सांस्कृतिक परिदृश्य में बाजार के तर्क और उसके मनोविज्ञान को समझे बिना लोक संस्कृति को जीवन की नई गतियों के अनुरुप नहीं बनाया जा सकता। लोकप्रिय संस्कृति ने मनुष्य और ज्ञान के संबंधों को कमजोर बना दिया है। वह बाज़ार की आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्देश्य से परोसी एवं संचालित की जाती है। लोकप्रिय संस्कृति की अंतर्वस्तु, मनुष्य को अपने समय और समाज के प्रति उदासीन बनाने वाली और उसे एक जागरुक नागरिक की बजाय उपभोक्ता के रुप में विघटित करने वाली होती है। 'लोकप्रिय संस्कृति' मानवीय सरोकारों से इतर मानव विरोधी भूमिका का निर्वाह करती है।

लोक जीवन की सादगी, उसकी सामूहिकता और समृद्ध परम्पराओं को रेखांकित करते हुए हम पूरी विनम्रता के साथ यह कहना भी अनिवार्य समझते हैं कि आज हम सर्वथा एक नये लोक के समक्ष खड़े हैं। इस लोक में सब कुछ अच्छा नहीं है। यह एक लुभावना लोक है। फैशन के दबावों ने इसे मनोरंजन का माध्यम बना दिया है। लोक की शक्ति और सादगी का स्थान ऊपरी ताम-झाम और चमक-दमक ने ले लिया है।

वस्तुतः लोक भावुकता और रोमान का नहीं संज्ञान का विषय है। लोक संस्कृति की निरपेक्ष, तटस्थ और यथास्थितिवादी अवधारणा के स्थान पर आज के मनुष्य का परिष्कार करने वाली और उसके बौद्धिक स्तर को ऊंचा उठाने वाली समझ का पक्षधर बनना ज़रुरी है। लोक की एक नयी समझ बनाने और उसकी भूमिका पर फिर-फिर विचार करने की आवश्यक़ता है।

लोक संस्कृति को बाज़ारवाद का विकल्प बनाने, उसे प्रतिरोध का सशक्त माध्यम बनाने और उसकी सृजनशीलता को रेखांकित करने के हमारे विनम्र प्रयास के रुप में 'मड़ई' का यह अंक इस आशा और स्वप्न के साथ लोक को समर्पित है कि लोक के प्रति हमारी चिंता पूरे लोक की चिन्ता बने। आप सबके अमूल्य स्नेहिल सहयोग के प्रति हमारी कृतज्ञता एवं आभार।

(डॉ.कालीचरण यादव)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रचनाक्रम

1. लोक भाषाएँ ही बचायेंगी लोक संस्कृति को/सुरेश पंडित / 1-4
2. संस्कृति और आलोचना/तरसेम गुजराल/ 5-12
3. लोकेतिहास बरक्स इतिहास / सुमन राजे/13-17
4. लोकगीत और तात्कालिकता/डॉ.दया दीक्षित/18-21
5. 'हिन्द स्वराज' में लोक और लोक स्वराज में हिन्द/कनक तिवारी/22-25
6. वैश्वीकरण के शिकंजे में लोकसंस्कृति/अनिल मिश्र/26-28
7. कबिरा खड़ा बजार में सबकी माँगे खैर (याने बाजार एक विचार) /जीवन यदु/29-33
8. लोक संस्कृति की भूमिका/ परितोष बैनर्जी/34-35
9. टूटती परम्पराएँ तथा बाज़ारवाद की नई सृष्टि/डॉ. नरेश भार्गव/36-38
10. लोक परंपरा और संस्कृति के तार / वेदप्रकाश अग्रवाल/39-41
11. लोक और उसका मंगलमय आलोक /वर्षा खुराना/42-45
12. लोक की गत्यात्मकता /अशोक सिंघई/46-49
13. गिरिजन भाषाओं में रामायण / डॉ.विजयराघव रेड्डी/50-56
14. सुमेरी पुराकाव्य 'गिल्गिमेश' और 'सावित्री' के पुराख्यान में मृत्युबोध का तात्विक अन्तर /प्रकाश परिमल/57-62
15. लोकायन : खान-पान (गन्ना और गुड़)/ श्यामसुन्दर घोष/63-65
16. लोकगीतों का सुनहला संसार और उसके समर्पित क़द्रदान/स्वामी वाहिद काज़मी/66-70
17. नज़ीर अकबराबादी की कविता में लोकतत्व /डॉ.सुधेश/71-76
18. नज़ीर अकबराबादी के काव्य में चित्रित भारतीय पर्व / डॉ.अब्दुल अलीम/77-81
19. हिन्दुस्तानी लोक संगीत और हिन्दी सिनेमा : प्लस, बतौर-मिसाल 'एक कली दो पतियाँ, जाने हमरी सब बतियाँ / अजातशत्रु/82-86
20. मैंने लाहौर देख लिया / पद्मा सचदेव /87-90
21. अमेरिका और उसके आमिश/सुवास कुमार/91-98
22. दम तोड़ता लोकनाट्य : नौटंकी /डॉ.रामनिवास शर्मा/99-105
23. सांस्कृतिक मूल्य बोध एवं स्त्री छवि (बुंदेली गीतों के संदर्भ में)/ भारती वत्स/106-111
24. बुंदेली लोकगीतों में 1857 का संग्राम/डॉ. सुधा गुप्ता/112-115
25. सुराजी झंडा हाथ में /डॉ. चन्द्रदेव यादव/116-120
26. भोजपुरी के भीष्मपितामह-मोती बी.ए. /आई.एच.सिद्दीकी/121-123
27. झारखंडी संस्कृति : लोक का आलोक / रणेन्द्र/अजय कुमार तिर्की/124-134
28. मुंडा गीतों में बाँसुरी की धुन/विजय शर्मा/135-138
29. मेरा मेवाड़-मेरा संगीत /प्रो. गोपाल भारद्वाज/139-147
30. राजस्थानी लोक और लोक साहित्य : संरक्षण एवं संवर्द्धन/ रामफल चहल / 148-150

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

31. पंजाब में 'बन्नी' लोकगीत/ डॉ.जगन सिंह/151-154

32. मेघालय की खासी जनजाति का सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परिचय/डॉ.माधवेन्द्र/155-161

33. अण्डमानी लोक-साहित्य / डॉ.व्यास मणि त्रिपाठी/162-164

34. मिजो जनजाति/ डॉ.हरिनिवास पाण्डेय/165-170

35. संस्कृति और समाज : लोक धरोहर में / डॉ.लोकनाथ सोनी/171-174

36. सूख रहे हैं जनभाषा के स्रोत/ कैलाश मण्डलेकर/175-176

37. नवऔपनिवेशिक शक्तियाँ और नया यथार्थ (छत्तीसगढ़ में सांस्कृतिक बदलाव पर एक विहंगम दृष्टि)/ जय प्रकाश/177-184

38. छत्तीसगढ़ की मूर्तिकला में वर्णित लोकजीवन/ डॉ. (श्रीमती) वंदना झा/185-186

39. उड़ीसा-छत्तीसगढ़ के सम्मिश्र पर्व/ उषा वैरागकर आठले /187-190

40. राउत नाच के दोहों का संसार / जमुना प्रसाद कसार/191-194

41. फूल जैसे भात का धनी छत्तीसगढ़ की तपोभूमि /कालेश्वर/195-195

समीक्षा :

1. कैसिनो पूंजीवाद और लोक संस्कृति का द्वन्द्व/शोभित वाजपेयी /196-201

2. लोक की वाचिक परंपरा का आलोक/वाचस्पति/202-203

3. बतरस का सुख/रफीक खान/204-204

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लोकभाषाएँ ही बचायेंगी लोक संस्कृति को

सुरेश पंडित

वैश्वीकरण की मूल संकल्पना को रुपाकाकर देने का काम एक ऐसी अर्थव्यवस्था करती है जो किसी देश विशेष के हितों से अधिक दुनिया भर में पूंजी की बेरोकटोक आवाजाही को सुलभ बनाती है। इस उदारीकृत अर्थव्यवस्था के जो परिणाम अब तक सामने आये हैं उनसे प्रकट होता है कि उन लोगों को तेजी से समृद्धि के शिखरों तक ले जाती है जो बाजार के रुख को भांप कर उसके अनुरुप अपने चरित्र और व्यवहार को ढाल लेने में देर नहीं लगाते। जो ऐसा नहीं कर पाते वे इस प्रतियोगितात्मक दौड़ में न केवल पिछड़ जाते हैं बल्कि इससे बाहर खदेड़ दिये जाते हैं। जाहिर है पहली तरह के दूरदर्शी या व्यवहार कुशल लोगों की संख्या दूसरी तरह के लोगों से कम होती है। इसलिये कुछ लोगों को छोड़कर बाकी बहुसंख्यक लोगों के लिए यह व्यवस्था सुख-समृद्धि के दरवाजे प्रायः बन्द रखती है।

आर्थिक दृष्टि से यह व्यवस्था न केवल असमानता को बढ़ावा देती है बल्कि पिछड़े, दबे, कुचले लोगों के जीने के अधिकारों तक को हड़प कर उन्हें उनके भाग्य के भरोसे छोड़ देने में भी रत्ती भर हिचकिचाहट नहीं दिखाती। वैश्वीकरण मानव समाज को आर्थिक रुप से दो असमान भागों में बांटता ही है उनकी संस्कृतियों, भाषाओं, जीवन शैलियों यहां तक कि विचार प्रक्रियाओं को भी पहले विभिन्न रुपों में विभाजित, विखण्डित करता है फिर एक-एक कर उन्हें नष्ट होने की कगार तक पहुंचाता भी है। यह आर्थिक साम्राज्यवाद की तरह सांस्कृतिक व भाषायी साम्राज्यवाद के विस्तार के लिये भी उर्वर जमीन तैयार करता है। अपेक्षाकृत कम विकसित देशों, उनकी संस्कृतियों, भाषाओं को अपना उपनिवेश बनाकर उनका शोषण करना और बाद में निरर्थक बना देना इसकी कार्यसूची का एक आवश्यक अंग है। छोटी-छोटी क्षेत्रीय संस्कृतियाँ शिक्षा, साहित्य, सिनेमा, टेलीविजन के नित्य प्रति होने वाले आक्रमण के सामने टिक नहीं पा रही हैं। इसलिये या तो वे नष्ट हो रही हैं या दूसरी अधिक शक्तिशाली संस्कृतियों में अपना अस्तित्व समाहित कर रही हैं। इस रुझान को देखते हुए लगता है कि जल्दी ही दुनिया भर में कुछ गिनी चुनी संस्कृतियां रह जायेंगी। शेष इतिहास की पुस्तकों में दर्ज होकर रह जायेंगी। जाहिर है इस वैश्वीकरण के दौर में वही व्यक्ति, समाज, देश, भाषा या संस्कृति जीवित रहेगी जो समर्थ होगी। दूसरों को रास्ते से हटाकर या कुचलकर आगे निकलने में सक्षम होगी। जीना है तो अपने से कमजोर का शोषण करो और ताकतवर बनो, यही इस नई व्यवस्था में सफलता का गुर है।

दुनिया के छोटे या परस्पर सम्बद्ध हो जाने का मतलब है राष्ट्रीय संप्रभुताओं का क्षरित होना। संस्कृतियों का एकाकार होना और भाषाओं के दायरों का सिकुड़कर कुछ बड़े दायरों में बदल जाना। कोई भी भाषा केवल विचारों के आदान-प्रदान का माध्यम ही नहीं होती वह उस क्षेत्र विशेष के मानव समुदाय की सभ्यता व संस्कृति की अभिव्यक्ति भी होती है। लेकिन जैसे-जैसे विकास का इंजन आगे बढ़ता है कमजोर लोग अपनी जमीन से, रोजगार से, समाज से विस्थापित होते जाते हैं। उन्हें रहने के लिये नई जगह, जीविकार्जन के लिये नये काम-धंधे और सुख-दुख बांटने के लिये नये समाज तलाशने होते हैं इस जद्दोजहद में उनकी भाषा, उनकी संस्कृति, उनकी जीवन शैली और विचार प्रक्रिया बदलती है। वे बहुत कुछ पुराना, पारंपरिक छोड़कर नई परिस्थितियों के अनुरुप स्वयं को ढालने के लिये मजबूर होते हैं। उनकी वह भाषा जो पहले सार्वजनिक बोलचाल की भाषा हुआ करती थी, घर परिवार की भाषा में सिकुड़ जाती है और फिर धीरे-धीरे उसे वहां से भी बेदखल कर अकाल मृत्यु का वरण करने के लिये छोड़ दिया जाता है। कहते हैं भाषा शब्दों से बनती है। शब्दों में अर्थ होते हैं। अर्थों में इतिहास छिपा रहता है। इतिहास मूल्यों को लिये हुए होता है और मूल्य मनुष्य के जीवन को विशिष्टता प्रदान करते हैं। लेकिन जब मनुष्य से उसकी मातृभाषा ही छीन ली जाती है तो एक प्रकार से उसकी संस्कृति, इतिहास और जीने के अर्थ भी छिन जाते हैं।

विश्व के भाषाविदों द्वारा किये गये एक अध्ययन से पता चलता है कि दुनिया में बोली जाने वाली भाषाओं की संख्या लगभग 7000 है। हर एक पखवाड़े में औसतन इनमें से एक भाषा अपना अस्तित्व खो रही है।समाज या देश की मुख्यधारा में पिछड़ों, आदिवासियों या दूरदराज के गांवों-ढाणियों में रहने वाले दीन-हीन लोगों को विकसित/सभ्य समाज की मुख्यधारा

Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

में लाने की इच्छा या उनके आने की मजबूरी, उन्हें अपने परिवेश से तो काटती ही है भाषा से भी दूर करती है। इसी तरह छोटी अर्थात छोटे समुदायों की भाषाएँ भी मरती हैं और बहुसंख्यक समुदायों की भाषा बोलने वालों की संख्या बढ़ती जाती है। ये आप्रवासी लोग अपनी भाषा को छोड़कर जिस मुख्य/प्रचलित भाषा को अपनाते हैं उसमें अपने साथ लाये अपनी भाषा को छोड़कर जिस मुख्य/प्रचलित भाषा को अपनाते हैं उसमें अपने साथ लाये अपनी भाषा के शब्दों को समविष्ट कर उसे तो समृद्ध बना देते हैं लेकिन स्वयं अपने प्रेरक अतीत से विलग हो जाते हैं।

इस तरह देखते देखते अल्पसंख्यक आदिवासियों की छोटी-छोटी भाषाएँ हर रोज नष्ट होने या बहुसंख्यकों की भाषाओं में विलीन होने की ओर अग्रसर हैं। खतरे में पड़ी वंचित-विस्थापित व पिछड़े लोगों की भाषाओं की वस्तुस्थिति पर खोजबीन कर रही ओरेगांव की एक संस्था से जुड़े दो भाषानुसन्धाता प्रो.हैरीसन और प्रो.ग्रेगरी एन्डर्सन का कहना है कि पूर्वी साइबेरिया, उत्तरी आस्ट्रेलिया, मध्यवर्ती दक्षिण अमेरिका और संयुक्त राज्य अमरीका के प्रशान्त महासागरीय उत्तर पश्चिमी इलाके की सैकड़ों ऐसी भाषाएं हैं जिन्हें अपनी जिंदगियों की आखिरी सांसे गिननी पड़ रही हैं। ध्यान देने की बात यह है कि मरणासन्न भाषाएं उन्हीं इलाकों में बोली या समझी जाने वाली हैं जो अविकसित या अल्प विकसित हैं। उन्नत क्षेत्रों की विकसित भाषाओं के सिर पर कहीं कोई खतरा नहीं मंडरा रहा है। भाषाविदों की दृढ़ मान्यता है कि भाषाओं के लुप्त होने की यह गति ठीक वैसी ही है जैसी कुछ वनस्पतियों या जीवजन्तुओं की है। जिस तरह इनके नाम मात्र संबंधित पुस्तकों या बड़े बुजुर्गों की जुबान पर रह गये हैं वैसे ही उन भाषाओं का अस्तित्व भी संदर्भों या स्मृतियों में ही बचा रह गया है।

इनके मतानुसार तीन ऐसे कारण हैं जो भाषाओं को काल के गाल कीओर धकेलते हैं। एक है प्राकृतिक आपदा-सुनामी, भूकम्प, बाढ़, अकाल आदि। दूसरा है विकास के लिये विस्थापन या क्षेत्रीय पिछड़ेपन के कारण पैदा हुई बेरोजगारी से निजात पाने के लिये लोगों का विकसित नगरों-महानगरों की ओर पलायन। तीसरा कारण पिछले बीस-तीस वर्षों से यह भी देखने में आ रहा है कि अच्छे शिक्षित, खाते पीते लोग भी और अधिक सुख-समृद्धिकी चाह में अपना देश छोड़कर अधिक सम्पन्न योरोपीय देशों की ओर भाग रहे हैं। इस तरह के प्रतिभा पलायन को पहले अच्छा नहीं माना जाता था। पर आजकल तो इस पर गर्व किया जाता है और सरकारी स्तर पर इसे प्रोत्साहन दिया जा रहा है। जहां ये लोग जाते हैं अपनी भाषा और संस्कृतियों से दूर होते हैं क्योंकि नये परिवेश में स्वयं को समायोजित करने के लिए उन्हें वहां की भाषा और संस्कृति में स्वयं को निष्णात करना पड़ता है। तभी वे जीवनयापन कर सकते हैं। जहाँ वे अच्छी संख्या में होते हैं वहां अपनी सामूहिक पहचान बनाये रखने के लिये अपनी भाषा और संस्कृति का दामन कसकर पकड़े रहते हैं पर जहां वे कम होते हैं, कमजोर भी होते हैं। वहां इनकी भाषाएँ, संस्कृतियां खतरे में पड़ती जाती हैं। वस्तुस्थिति यह है कि प्रायः भाषाएँ तभी मरती हैं जब उनके बोलने वाले यह मानने लगते हैं कि उन्हें गले लगाये रखने से रोजी-रोटी अर्जित करने में बाधा आती है। आजकल विकासशील देशों में यह मान्यता तेजी से मजबूत होती चली जा रही है कि पारंपरिक ढंग से पढ़े लिखे योग्य युवक भी तब तक अच्छी नौकरी नहीं पा सकते जब तक उनमें अच्छी तरह से अंग्रेजी बोलने-समझने की सामर्थ्य न हो। परिणाम यह है कि अच्छी अंग्रेजी बोलने वाले मातृभाषा भाषी युवकों से आज हर तरह से बेहतर हैसियत में हैं। उनके लिये ईर्ष्या के पात्र बने हुए हैं। सरकारें भी अंग्रेजी में लोगों को सुशिक्षित करने की होड़ में कक्षा एक से ही इस भाषा की पढ़ाई अनिवार्य कर रही हैं। यह प्रवृत्ति अनिवार्यतः जहां बहुसंख्यक लोगों की भाषा बोलने वालों की संख्या कम करेगी वहीं छोटी भाषाओं को मौत की ओर धकेलेगी। अंग्रेजी का इस प्रकार बढ़ता वर्चस्व और मातृभाषाओं के प्रति तेजी से पैदा की जा रही अवहेलना आगे चलकर कुछ भाषाओं की लोकप्रियता को क्षीण कर उन्हें मरणोन्मुख ही नहीं बनायेगी लोगों को उनकी जड़ों, परम्पराओं, संस्कृतियों व इतिहास से भी विलग कर देगी। उनका सारा पारंपरिक ज्ञान विलुप्त हो जायेगा। मातृभाषा का शिक्षण तो बच्चे के पैदा होते ही शुरु हो जाता है और जीवन पर्यन्त चलता रहता है। इसलिये उसके व्यवहार में व्यक्ति जितना कुशल होता है उतना अन्य भाषाओं में नहीं हो पाता। परिणाम यह होता है कि उन्हें अच्छी तरह से सीख कर भी वह उनमें विश्वासपूर्वक स्वयं को व्यक्त नहीं कर पाता।

हैरीसन और एन्डर्सन की स्पष्ट शब्दों में चेतावनी है कि इक्कीसवीं सदी के अन्त तक विश्व की 7000 भाषाओं में से आधी ही जीवित रह पायेंगी। इनके जाने के साथ-साथ इनमें समाहित सैकड़ों वर्षोंका अर्जित ज्ञान-विज्ञान भी काल के कराल गाल में समा जायेगा। आश्चर्य है पर्यावरण और पारिस्थितिकी तंत्र के प्रदूषित होने और मानवीय मूल्यों के नष्ट होने के प्रति देश विदेश के मनीषी जिस तरह चिंता प्रकट कर रहे हैं और लोगों से अपनी जीवन शैली बदलने/सुधारने का आग्रह कर रहे हैं वैसा कुछ भी भाषाओं के मरने या उनके प्रदूषित होने पर नहीं कर रहे हैं ।

ऐसा इसलिये हो रहा है क्योंकि यदि भाषाओं, संस्कृतियों, परम्पराओं, जीवनशैलियों और इतिहास तक को बचाने के लिए कोई मुहिम चलाई जाती है तो वह अन्त में वर्तमान विकास, भूमण्डलीकरण, उदारीकृत अर्थव्यवस्था, उपभोक्तावाद आदि

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

के खिलाफ जाती है। यह खिलाफत लोग इसलिये नहीं करना चाहते क्योंकि उनके दिमाग में यह बैठाया जा रहा है कि इस व्यवस्था का कोई विकल्प नहीं है। इससे बेहतर कोई व्यवस्था नहीं है। जो इसे नहीं स्वीकारता वह मानवता विरोधी है। लोक शत्रु है। भाषाओं की यह अकाल मृत्यु स्वाभाविक नहीं है यह उस साम्राज्यवाद की देन है जो चन्द विकसित देशों के हितों के लिए शेष सब देशों के हितों को खतरे में डाल देने से जरा भी नहीं हिचकिचाता।

यह भूमण्डलीकरण की भाषा नीति का ही प्रभाव है कि बड़ी मछली छोटी को निगल रही है। क्षेत्रीय भाषाएँ स्थानीय बोलियों को और राजभाषा क्षेत्रीय भाषाओं को अपने में विलीन कर रही हैं। पहले तक यह विलीनीकरण राज भाषा पर आकर रुक जाता था और लोगों को लगता था कि अपने ही देश की राजभाषा इस तरह समृद्ध हो रही है। लेकिन जब से अंग्रेजी ने देशों की राजभाषाओं को अपदस्थ कर स्वयं को जबरन प्रतिष्ठित करना शुरु कर दिया है लोगों को समझ में नहीं आ रहा है कि इसका विरोध किया जाय या स्वागत। एक तरफ अंग्रेजी में महारत हासिल करने से लोग भूमण्डलीय नागरिक बनते हैं, अच्छे रोजगार के अवसरों तक उनकी पहुंच बढ़ती है, उनमें अपनों से कुछ ऊँचा, बेहतर होने का अहसास जाग्रत होता है, सत्ता के गलियारों में और कोरपोरेट प्रतिष्ठानों में उनकी बेरोकटोक आवाजाही आसान होती है तथा और भी कई फायदे होते हैं वहीं दूसरी तरफ वे अपने देश, समाज, पविार से कटते हैं, संस्कृति, सभ्यता से दूर होते हैं और अपने इतिहास से, स्थानीयता से, भाषा से परे होकर एक प्रकार से धुरीविहीन होते हुए त्रिशंकु की स्थिति में पहुंचते जाते हैं ।

फिलहाल वस्तुस्थिति यह है कि अंग्रेजी की आंधी लोकभाषाओं को ही नहीं स्वयं राजभाषा हिन्दी की व्यापकता को भी चुनौती देने की ओर अग्रसर है। पहले समाज के उच्च, शिक्षित सम्पन्न वर्ग में ही अंग्रेजी के प्रति अतिरिक्त मोह था लेकिन पिछले कुछ दशकों से गरीब, पिछड़े,दलित लोग भी अपनी मातृभाषाओं का मोह त्याग कर अंग्रेजी को अपनाने की होड़ में शामिल हो रहे हैं। क्योंकि वे भी आर्थिक सम्पन्नता और सुख सुविधायुक्त जीवन पाने की दौड़ में पीछे नहीं रहना चाहते। पहले लोग घर-परिवार समाज में अपनी स्थानीय भाषा का ही इस्तेमाल करते थे। क्योंकि इसी से आत्मीयता प्रकट होती थी, परस्पर अनौपचारिक संवाद हो पाता था।उनका हिन्दी में बोलना भी कुछ अजीब-अलग तरह का लगता था। उसमें कुछ ऊँचा, अलग होने या बेगानेपन का अहसास झलकता था।अब लोकभाषाओं की जगह राजभाषा ने ले ली है और अंग्रेजी उसके वर्चस्व को चुनौती देने में लगी है।

बच्चों को अनिवार्यतः कक्षा प्रथम से अंग्रेजी पढ़ाना लोकभाषाओं के ही नहीं राजभाषा के भविष्य को भी खतरे में डालना है। कोई भी भाषा चाहे वह कितने ही लोकप्रिय-प्राणों से भी अधिक प्यारी क्यों न हो अगर अगली पीढ़ी उसे सीखना बंद कर देती है तो समझ लीजिये उसका लोकव्यवहार से विलुप्त होना अवश्यंभावी हो जाता है। जब तक आने वाली पीढ़ियाँ अपनी भाषाओं का दामन कस कर पकड़े रहेंगी तब तक वे फलती फूलती रहेंगी लेकिन ज्यों ही यह क्रम रुकेगा वे मुरझा कर नष्ट होती जायेंगी।

किसी भी जाति या समुदाय को भाषा एवं परम्पराएं एक प्रकार की विशिष्टता, सांस्कृतिक पहचान देती हैं। इससे वे हर तरह की विपत्ति का एकजुट होकर सामना कर लेते हैं। उनकी इस सामूहिकता को तोड़ने के लिये कोई भी बाहरी शक्ति सबसे पहला काम उनमें अपनी भाषा व संस्कृति के प्रति हेय भाव उत्पन्न करने का करती है। इससे उनका अपनी भाषा के प्रति मोह और संस्कृति के प्रति गर्व तो नष्ट होता ही है उनकी एकजुटता भी खण्डित होती है। अन्ततः वे आक्रान्ता भी भाषा व संस्कृति अपना लेने को तैयार हो जाते हैं।

साम्यवाद के पतन के बावजूद पूंजीवाद दुनिया के देशों के लिये एक सहज ग्राह्य विकल्प नहीं बन सकता था, इस सचाई को विकसित देशों के कूटनीतिज्ञ जानते थे। वैसे भी सूचना क्रांति और संचार माध्यमों के त्वरित गति से विकास ने उन्हें यह जता दिया था कि आगे उनके साम्राज्यवादी इरादे तभी फल फूल सकते हैं जब वे कोई नई रणनीति बनायें जो आकर्षक तो हो ही लोगों को यह मानने के लिए भी मानसिक रुप से तैयार कर दे कि अब उनके सामने इससे बेहतर कोई दूसरा रास्ता नहीं है। इसी सोच ने भूमण्डलीकरण की संकल्पना को रुपाकार दिया और उदारीकरण, निजीकरण व उपभोक्तावाद आदि ने इसमें लोगों की अधिकतम भागीदारी को सुनिश्चित किया। लेकिन अब भूमंडलीकरण के पीछे समुन्नत पूंजीवादी राष्ट्रों के असली मकसद को दुनिया के लोग समझने लगे हैं और उसके प्रतिरोध के मार्ग खोजने लगे हैं।

वे जान गये हैं कि अब पहले की तरह अविकसित व विकासशील देशों को जबरन अपना उपनिवेश नहीं बनाया जा सकता। इसीलिये एक ऐसी विश्व व्यवस्था कायम करने की चाल चली गयी जो उदारीकृत अर्थव्यवस्था के तहत प्रतियोगितात्मक मुक्तबाजार को प्रश्रय देती है। ध्यान देने की बात है कि यह प्रतियोगिता पहले से सम्पन्न, बलशाली राष्ट्रों व उनसे कम बल्कि उनके सामने बहुत ही निर्धन राष्ट्रों के बीच है। इसके नियम वे देश तय करते हैं जो बहुसंख्यक जनसमुदाय के प्रतिनिधि न होते हुए भी शक्तिशाली हैं। अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय व व्यापारिक संस्थाएँ बहुराष्ट्रीय निगमों के हितों को ध्यान में रखते हुए नीतियाँ बनाती व उनमें संशोधन करती हैं। तात्पर्य

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

यह कि भूमण्डलीकरण अमरीका और उसके चन्द सहयोगी देशों की साम्राज्यवादी आकांक्षाओं को ही साकार करने का एक नया उपक्रम है। इसका एकमात्र मकसद धीरे-धीरे सारी दुनिया में एक संस्कृति, एक भाषा, एक भूषा प्रचलित करने और एक जैसे विचार पैदा करने वाले मस्तिष्कों के निर्माण करने का है। यह मकसद कोई नया नहीं है। राष्ट्रीय स्तर पर ऐसा ही सपना कभी हिटलर ने देखा था। फिर धर्मों/सम्प्रदायों के आधार पर बने राष्ट्रों ने देखा और अब भूमण्डलीकरण के ये सूत्रधार देख रहे हैं। भाषा, भूषा, संस्कृति व विचार एक जैसे तभी हो सकते हैं जब इनकी बहुलता, विविधता को नष्ट किया जाये। इसके लिये एक सुनिश्चित योजनानुसार संचार माध्यमों का सहारा लेकर उन्हें पहले खंडित करने, उनके प्रति अवज्ञा पैदा करने का काम चल रहा है। आगे यह और तेज होगा। इसे रोका जा सकता है तो केवल स्थानीयता के प्रति प्रेम जगाकर अपनी भाषा, भूषा, संस्कृति के प्रति लगाव उत्पन्न कर और यह काम लोक हितों को संरक्षण देकर, उन्हें सम्बल देकर और उन्हें अपने परिवेश में सुरक्षित व सुख सुविधा सम्पन्न बनाकर ही किया जा सकता है। इससे अलग और कोई रास्ता नहीं है। ध्यान रखें, लोक भाषाएँ बचेंगी तो लोक संस्कृतियां भी बची रहेंगी। उनमें समाहित वे मूल्य भी बचे रहेंगे जो लोक को जीने की शक्ति, हर तरह से आपदा-विपदाओं से लड़ने की शक्ति और अपने आचार व्यवहार को मर्यादित रखने की शक्ति देते हैं।

□□□

383 स्कीम नं.2,
लाजपत नगर
अलवर -301001
मोबा. 9214945156

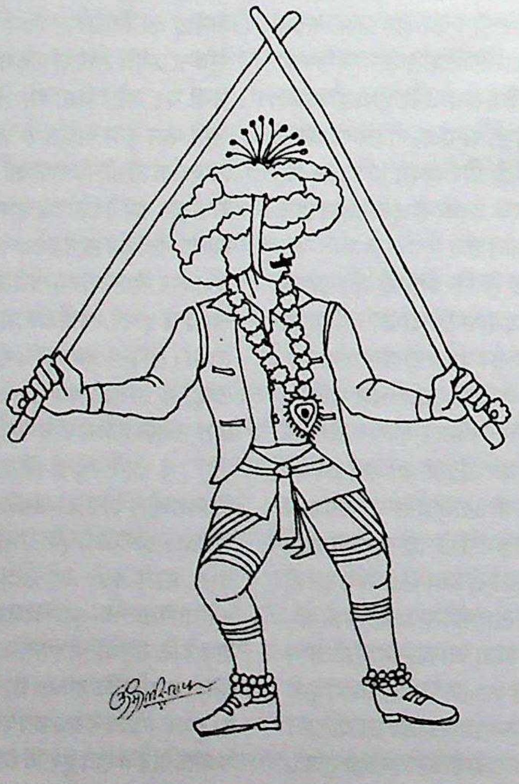

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

संस्कृति और आलोचना

तरसेम गुजराल

विज्ञान की निरंतर मानवीय जीवन के अन्धेरे हिस्सों की तलाश के बावजूद दो चीजों से निजात नहीं मिली। पहली, मृत्यु। दूसरी, अनिश्चित भविष्य का डर। जन्म के साथ मृत्यु का डर साथ चला आता है और बड़ा हो जाने पर भी साथ ही चलता है। एक-एक कदम आगे चलने के पीछे होते हैं मृत्यु के डगमगाते कदम। प्राकृतिक आपदा और हिंसा पशुओं के भय से आदमी का भविष्य अनिश्चित था। आज दो-चार लाख रुपया बैंक में होने पर भी, कूलर-पंखे के नीचे अपने घर में परिवार के बीच सोते हुए भी अनिश्चित भविष्य की एक धुंधली किरण पूरी रात की नींद उड़ा देती है। भौतिक प्रगति वातानुकूलित बंगले, गाड़ियां, शेयर मार्कीट में डाल मोटी रकम अनेक तरह की अतिरिक्त आय के सुख के बावजूद बेखटका नींद का सुख नहीं खरीदा जा रहा। महानगरों, महादेशों में नींद का न आना बड़ी बीमारी बनता चला गया है। समृद्धि दोनों हाथों से बटोरती है कमी में हथेली रीतती चली जाती है। किश्ती का एक छेद हो जाती है। इस छेद को भरने की कोशिश में आदमी आत्मछलना का शिकार होता है। लम्बी दूरी तक बेवजह गाड़ी चलाता है (लांग/ड्राइव) पबों में बैठकर शराब पीता है। शापिंग माल्स में घूमता है। काम-क्रीड़ाओं की अंतिम हद तक जाता है परन्तु रहता है भीड़ में अकेला। छेद वही का वहीं रहता है। भरा नहीं जाता। तनाव जीने नहीं देता। समाचार पत्र बताते हैं तनाव जीवन चक्र को बुरी तरह प्रभावित कर रहा है। पश्चिम में प्रत्येक छह सात व्यक्ति के बाद बच्चा पैदा करने की क्षमता खत्म हो रही है। भारत के महानगरों में भी यही शिकायत दर्ज होने लगी है। प्रकृति ने प्राकृतिक रुप से जो बेशुमार खजाना आदमी पर मानवजाति को प्रफुल्लित सम्पन्न करने के लिए लुटाया था, आदमी उन नेमतों से वंचित होता जा रहा है। विद्वान चिंतक कहते रहे अपने पैरों पर कुल्हाड़ी नहीं मारो नशे में न पैरों का महत्व याद रहा न कुल्हाड़ी के कष्ट डालने का एहसास।

तनाव कई तरह का था। केरियरिज्म का तनाव। ट्रांसफर का तनाव। लाभ कम होने का तनाव। घर से दूर रहने का तनाव। बिगड़ते सम्बंधों का तनाव। भौतिक दृष्टि से मालामाल न हो पाने का तनाव। युद्ध, जो जरुरी नहीं था युद्ध, को जरुरी बना दिया गया। युद्ध जिसके कोई नियम नहीं थे। युद्ध जिसकी मांग और क्षेत्र लगातार बदल रहा था विस्तार पा रहा था । युद्ध जो युद्ध के लिए ही लड़ा जा रहा था। युद्ध, जिसे लड़ाने वाले, लाभ उठाने वाले कोई और ही थे। भौतिक समृद्धि के लिए कर्ज उठाओ, कर्ज उतारने के लिए ओवरटाइम करो और कर्ज उठाओ। फिर दबते रहो उस बोझ से जो रुई जैसा दिख रहा था परन्तु बोझ के नीचे आते ही पहाड़ हो गया, पठार हो गया। सो अनिश्चित भविष्य का तनाव बरदाश्त से बाहर हो रहा है। पश्चिम ने अपना सभी कुछ राज्य के हवाले कर दिया। वीक एंड से खाओ-पीओ, मौज-मनाओ में बदल डाला। परन्तु भारत जैसे मुल्क में स्वतंत्रता के बाद राज्य ने अपने दायित्व निभाने में बेहद लापरवाही से काम लिया और स्वप्न ही नहीं तोड़े, रहा सहा विश्वास भी खो दिया। अनिश्चित भविष्य का संकट और भी विकराल होता चला गया। नीत्शे अंतिम दिनों बेहद संशयग्रस्त थे। मनुष्य की आत्मचेतना इतनी अधिक भयावह हो गई है कि हार विश्वास सत्य से खाली हो गया है, कि विश्वास करना ही अपने को धोखा देना है। मृत्यु और अनिश्चित भविष्य की वजह से मनुष्य का गरिमा भरा आत्मगौरव कठिन हो रहा था उसने धर्म खोज निकाला। इससे अपने किए का फल खुद लेने की आत्मश्लाघा ही नहीं मिली, असफलता के भीतरी कमजोर कोनों को एक स्तंभ मिल गया। धर्माश्रय से विकसित हुए भाग्यवाद ने प्रत्येक भवर में, प्रत्येक पराजय में उसकी बॉह थाम ली।

जिस किसी ने ईश्वर को प्रत्यक्ष देखा है, हमारे सामने नहीं है। हाँ, मेरी पीड़ा पर तुम्हारे चेहरे पर दर्द की लकीरें उभर आयें, तब तुम्हारी आंखों में ईश्वर का साया जरुर उभरता है। यानी ईश्वर की मौजूदगी अगर है तो मानवीय सद्भावना, करुणा और शिवम् में है। फिर ईश्वर का सर्वगुण, सर्वशक्तिमय, त्रिकालदर्शी स्वरुप क्या है? ईश्वर ने आदमी को बनाया या नहीं, विषय हजारों सालों

 CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

से बहस में रहकर तान नास्तिकता आस्तिकता पर तोड़ता रहा। तुममें अटूट विश्वास है तो मान लो। नहीं है तो फंसे रहो उधेड़ बुन में। परन्तु मनुष्य ने ईश्वर की रचना की, नैतिकता के मान बनाये और धर्म को विश्वास और श्रद्धा दी इस बात पर विद्वान जरुर सहमत हो रहे हैं। अपना जो कुछ बेहतर था, श्रेष्ठ था अनुपम था, आदर्श था ईश्वर को दे दिया। उदण्ड लोग उपद्रव करते थे, नियम नहीं मानते थे, झुकते नहीं थे उन्हें धर्म का दण्ड दिखाया। सामने प्रकृति के भयानक रुप थे। समुद्र की लहरें आकाश छूने लगतीं। आँधी–तूफान बड़े–बड़े पेड़ गिरा देते, बिजली चमकती और गुल हो जाती। दिन का चमकता सूर्य रात को छिप जाता और अंधेरा छा जाता। भोले मनुष्य ने प्रकृति के रहस्यों को ईश्वर को अर्पित कर दिया। जब अविश्वास करने वाले व्यक्ति का कोई नुकसान हो जाता तो समाज मान लेता कि वह अविश्वास की सजा है। (आलोचना और विद्रोह दंडनीय रहे हैं।)

यह धारणा भी बाद में बनी लगती है। वैदिक काल में ईश्वर नहीं है। नासदीय सूक्त 'उस समय' के बाद में स्पष्ट है। उस समय असत् नहीं था। जो सत् है वह भी नहीं था। पृथ्वी भी नहीं थी और आकाश भी नहीं था, आकाश में विद्यमान सातों भुवन भी नहीं थे, आवरण भी कहां था? किसका कहां स्थान था? क्या उस समय उर्गम और गम्भीर जल था? उस समय मृत्यु नहीं थी,अमरता भी नहीं थी, रात और दिन का भेद भी नहीं था।....केवल 'एकम' का अस्तित्व माना गया और विज्ञान में 'एकम' शब्द का अर्थ पदार्थ माना गया।

यहाँ दो बातों की तरफ ध्यान देना जरुरी है, भारतीय संस्कृति का आरम्भिक आधार यथार्थवादी होना। दूसरे, सृष्टि की रचना में आत्माभिव्यक्ति की आकुलता, जिसने सालों तक संस्कृति को प्राणमयी बनाये रखा।

पहले यहां कुछ भी नहीं था। यह सब मृत्यु में ही आवृत्त था। यह अशनाया (क्षुधा) से आवृत्त था। अशनाया ही मृत्यु हैं और उसने मन किया कि मैं आत्मा से मुक्त होऊं। (वृहदारण्यकोपनिषद्)

एक से अनेक हो जाना सृष्टा की इच्छा बनी, जिससे सृष्टि की रचना आरम्भ हुई। यही आत्माभिव्यक्ति है। अपने को विस्तार देने की कोशिश। संस्कृति जीवन मूल्यों को विस्तार देने का अर्थ भी है। जीवन और व्यवहार की कसौटी बनी संस्कृति। संस्कृति ने केवल मनुष्य की विभिन्न परिस्थितियों में स्थिति को नहीं आंका मनुष्य की दिशा निर्धारित की और मनुष्य को उस दिशा की तरफ चलते हुए अपने जीवन को संतुलित रखने की विधा दी। ऐसा नहीं है कि मनुष्य कभी डगमगाया नहीं या पराजित नहीं हुआ। परंतु सांस्कृतिक धरातल ने उसे बार बार सहारा दिया, निराशा के अंधेरे को दूर किया और रिक्तता शून्यता को अर्थ संसार और उद्देश्य की लौ से भर दिया यहां तक कि जीवन के साथ था पीछे चले आते मृत्यु के भटकते कदमों के बीच के अंतराल को सक्रियता और सरगर्मियों से इतना भर दिया कि ऐसे हजारों अवसर आये जब जीवन बड़ा और मृत्यु छोटी लगने लगी।

मनुष्य ने ईश्वर को सर्वशक्तिमान बनाया और कुदरत की तमाम नेमतें उसी का वरदान समझ लीं। चाहे यह समझ लिया जाना उर्वर कल्पना शक्ति का ही एक रुप था। परन्तु जब संस्कृति को मनुष्य ने बेहतरीन जीवन मूल्यों का एक गतिशील संकलन बनाया तो संस्कृति ने भी उसे मनुष्यहीन कर्मो से रोके रखा। पहले परिवार और फिर समाज के लिए कुछ कर गुजरने के लिए प्रेरित किया।

धर्म अपने आपमें इतना ही पवित्र रहा जितनी इसकी स्थापना पवित्र थी परन्तु जब धीरे–धीरे धर्म की व्याख्या करने वाले श्रेष्ठ और सामान्य जन से बड़े माने जाने लगे तब वर्चस्व बनाये रखने वाले एक वर्ग का उदय हुआ। पुरोहित वर्ग साधारण लोगों को कर्मकाण्ड में उलझा कर उच्चासन पा गया और प्रभुसत्ताधारी वर्ग की जरुरत बन गया। उत्तर ऋग्वेद काल, जिसमें ब्राह्मण ग्रंथ रचे गये पुरोहित वर्ग का उत्थान काल साबित हुआ। प्रभुवर्ग को सहयोग देकर और प्रभुवर्ग का सहयोग पाकर धर्म की मनमानी व्याख्यायें होती रहीं। कर्मकांड की स्थापना हुई और समाज को विघटन का सामना करना पड़ा। धर्म ने दीवारें और परकोटे खड़े कर दिये जबकि संस्कृति बहती चली गई। मनुष्य की बेहतरी के लिए सोचना और करना संस्कृति का अविभाज्य हिस्सा रहा।

दो चीजों ने मनुष्य का मार्ग प्रशस्त करने में अद्वितीय भूमिका निभायी। एक, मनुष्य का इतिहास और दूसरी उसकी भाषा इतिहास के कारण उसे प्रत्येक अनुभव दुबारा से नहीं जीना पड़ा। भाषा के कारण वह दूसरों को अपना अनुभव बता सका। या दूसरों के अनुभव को अपना अनुभव बना पाया। पशुओं के पास भी अपनी भाषा थी, परन्तु उनके पास इतिहास नहीं था। भाषा ने आत्माभिव्यक्ति को प्राण दिया। संस्कृति का आधार मनुष्य के आपसी संबंध भी हैं जो सुख–दुख कहने सुनने से मिल बैठने से प्रगाढ़ होता चला गया। तभी संस्कृति मनुष्य की चेतना को परिष्कृत कर सकी।

धर्म विशेष अवस्था में गलत, कटिबद्ध और अपने

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

ही धर्म को सर्वोच्च पद दिलाने का निश्चय रखने वाले लोगों के नेतृत्व में साम्प्रदायिक दिख सकता है। ऐसा जुनून रखने वाले लोग मानवीयता को नजर अंदाज करते हुए रक्त की नदियां बहाने को तैयार हो जाते है। संस्कृति जनून और हत्यारे जुनून की पक्षधर नहीं हैं। दो विभिन्न मजहब मानने वाले एक ही सांस्कृतिक धारा से मन की प्यास बुझा सकते हैं। बंगाल का हिन्दू और मुसलमान दोनों बंगाली हैं। पाकिस्तान एक दूसरा मुल्क बन जाने के बावजूद पंजाबी संस्कृति को भीतर से निकालकर फेंक नहीं पाया। शांति प्रक्रिया में दोनों पंजाब सांस्कृतिक समझ की वजह से एक बड़ी भूमिका निभा रहे हैं और निभा सकते हैं। दोनों पंजाबों के लोग एक दूसरे को बड़ी मुहब्बत से मिलते हैं। रेशमा जब तान छेड़ती है लम्बी जुदाई, तो किसी को याद नहीं रहता कि उनका संबंध पाकिस्तान से है। लाहौर के गद्दाफी स्टेडियम में जब पंजाबी लोक गायकों ने सूफी गीत गाये। हजारों लोग मंत्र मुग्ध हो गये। युद्ध शक्ति के बल पर जिस्मों को गुलाम बनाते हैं। राजनैतिक, सीमायें आने जाने वाले आम लोगों पर पाबंदियां दायर करती हैं परन्तु संस्कृति दिलों को जीत लेती है। और करवा सकती जो बन्दूकें, तोपें, और बारुद नहीं करवा पाते। सत्ताओं ने जख्म दिये हैं, संस्कृतियों ने मरहम।

संस्कृति की प्रेरक और प्रभावशाली भूमिका को सामने रखते हुए प्रभु वर्ग ने सदा अपनी सांस्कृतिक श्रेष्ठता को अवाम पर जाहिर करने की चेष्टा की है। आर्य लोगों ने स्थानीय लोगों पर शासन करने के लिए सांस्कृतिक उच्चता, गरिमा और महानता को भी एक हथियार बनाया। अकबर ने अशोक स्तंभ नष्ट करवा दिये ताकि लोग उस जातीय गौरव को भूल जायें जो पराधीनता स्वीकार करने में बाधा उपस्थित करता है। अंग्रेज ने रंग के आधार पर ही भेदभाव नहीं किया। वर्चस्व के लिए बौद्धिक श्रेष्ठता का दावा बार–बार किया और एशिया के मुल्कों को निम्न जाहिल और पुरातनपंथी साबित करने के लिए एड़ी चोटी का जोर लगा दिया। इतना ही नहीं उन्होंने सांस्कृतिक परम्परा से अलग करने की पुरजोर कोशिश की ओर खोजों को रोक दिया जिनसे भारतीय सभ्यता प्राचीन सभ्यता ही नहीं विकसित सभ्यता रह चुकने के संदेश मिल रहे थे। 1863 में मद्रास की और 1875 में हड़प्पा की पुरातत्व संम्बंधी खोजों के बंद करवाये जाने के पीछे यही एक मात्र कारण नजर आता है कि कहीं भारतीय सभ्यता विश्व स्तर पर शीर्ष पद न पा जाये और ब्रिटिश सरकार के जातीय वर्चस्व जो कि शासक वर्ग का गुलाम बनाये रखने का एक विचारधारात्मक आधार बना हुआ था। आधारहीन न हो जाये।

जातीय गर्व, भौतिक विकास और सुविधाओं तथा सांस्कृतिक मुक्त दशा की प्रशंसा में जितना यूरोप मदमस्त है उतना कोई भी नहीं। परंतु इसी विश्लेषण में गरीबी, न्याय और शोषण का दृष्टिकोण सिरे से गायब है। अब भी भारतीय अपनी सांस्कृतिक सम्पन्नता, गरिमा और गहराई को लेकर जितने उदासीन है उतने ही पश्चिम के शोषण, साजिश और निहितार्थों की बाबत खामोश, अनभिज्ञ और लाचार। एक ग्रेजुएट भारतीय शायद ही बता पाये कि जेम्स मिल 1817 में छह खंडों में प्रकाशित पुस्तक 'हिस्ट्री आफ ब्रिटिश इंडिया, हिंदू धर्म का का कठमुल्लापन और कुरीतियां बताकर सामाजिक सुधार की आकांक्षा करते हैं या यह सिद्ध करना चाहते हैं कि अंग्रेज आधुनिक कानून व्यवस्था और प्रशासन देने के योग्य हैं । नई पीढ़ी मैकडानल्ड, पीजाहट, शापिंग माल् की चकाचौंध से जितनी प्रभावित है उतनी अपने इतिहास की विभिन्न करवटों से नहीं। जिनमें संघर्ष और सर उठाने की अपूर्व क्षमता है। स्वतंत्र भारत की सत्ता–व्यवस्था यह कभी मानने को तैयार नहीं होगी कि इतिहास विहीन करने में उसकी भी कोई भूमिका है। आलोचना अस्वीकार की दासी है। बदलते मापदण्डों का आग्रह है। आलोचना के लिए सत्य तक पहुंचने का विवेक और रचनात्मक की प्यास जरुरी है। आलोचना नैतिक मानदण्डों का प्रतिनिधित्व है क्योंकि माना गया है कि जहां नैतिकता की सरहद है, वहीं अराजकता का जंगली, निरंकुश साम्राज्य है। आलोचना परम्परा को चुनौतियां फेंकते हुए पुनराविष्कार के पथ पर चलती है।

प्रत्येक काल ने पूर्वकाल की आलोचना की है और परिवर्तन की मांग की है। पहले यज्ञ एक सामूहिक सामाजिक संगठन का पर्व नजर आता है परन्तु वर्ग अनुष्ठानों को भाषण द्वारा संचालित अनुष्ठानों में परिवर्तित करता है। इसके लिए ग्रंथ रचे जाते हैं जो धर्मशास्त्र बनते हैं। ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ जाति हो जाती है। शास्त्र ब्राह्मण सम्मत उपदेश हो जाते हैं। कालान्तर ब्राह्मण राजाओं पर नियंत्रण बनाये रखने के लिए दक्षिणा में भारी धन सम्पत्ति की इच्छा जाहिर करने लगते हैं और कार्मकाण्ड चरम विकास तक पहुंच जाता है। समाज। में इस प्रवृत्ति की खूब आलोचना होती है और कर्मकाण्ड के विरुद्ध उपनिषद् विद्रोही साहित्य के रुप में जन्म लेते हैं। ब्राह्मण जाति की जगह उपनिषद् क्षत्रिय धर्म को अंचल में समेटता है।

यह आलोचना और रचनात्मकता का ही प्रभाव है

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

दर्शन की दो धारायें विकसित हुई एक भाववादी विचारधारा और दूसरी वस्तुपरक विचारधारा। पहली विचारधारा तर्क की जगह भाव अथवा विश्वास पर आधारित है दूसरी तर्क अथवा भूत तत्व (मैटर) आधारित है। दर्शनों का अध्ययन इस बात को अधिक स्पष्टता से बयान कर देता है। वेदांत के अतिरिक्त अन्य दर्शन मानते हैं कि ब्रह्मांड की उत्पत्ति पदार्थ से हुई है तथा विश्व में जो कुछ दिख रहा है और अनुभव हो रहा है, वही वास्तविक है। परन्तु वेदांत वादी के लिए मनुष्य की जागृतावस्था में दीख रही दुनिया छलावा है, जैसे वह स्वप्न देखता है। मांड्क्य उपनिषद में पहले ही ये बातें कही जा रही थी।

रामायण अपने काल की समीक्षा कर मर्यादा की पुनर्पतिष्ठा का काल है महाभारत बदलते सामाजिक सम्बंधों की व्याख्या। क्योंकि यहां सम्पत्ति अधिकार महायुद्ध का करण बन रहा है।

इस मत ने ब्राह्मणवाद के विरुद्ध कड़ी चुनौतियां प्रस्तुत की तथा मोह, घृणा और अज्ञानता को दुख का कारण बताया। हिन्दी के लेखकों और हिन्दी के पाठक जगत के लिए यह सौभाग्य का विषय है कि इन दिनों हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में सांस्कृतिक विमर्श एक महत्वपूर्ण अध्याय बनता चला गया है। पश्चिमी दुनिया की बाबत कहा जा रहा है कि सांस्कृतिक विमर्श की पहलकदमी कविताकार मैथ्यू आर्नल्ड द्वारा की गई सांस्कृतिक आलोचना से हुई। मैथ्यू आर्नल्ड का यह कथन कई बार निबन्धों में उदधृत किया गया कि दुनिया में जो सर्वोत्तम सोचा कहा गया है, वह संस्कृति है। हिंदी में सांस्कृतिक विमर्श के आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने और भी सुंदर शब्दों में 'भारतीय संस्कृति की देन' लेख में कहा है, ''मनुष्य की श्रेष्ठ साधना ही संस्कृति है।'' (अशोक के फूल पृ. सं. 75)

'संस्कृति और आलोचना को लेकर ही बात की जाये तो जर्मन शब्द 'कल्चर क्रिटिकी' सामने आता है, अंग्रेजी में इसका अनुवाद होने पर 'क़ल्चरल क्रिटिकसिज्म' का प्रयोग होने लगा जिससे हिंदी में सांस्कृतिक आलोचना का सार समझने की कोशिश हुई। 'कल्चर क्रिटीक' का सत्रहवीं-अठारवीं शताब्दी के यूरोप में तब होता है''जब पूंजीवाद, जनतंत्र और प्रबोधन के मूल्यों पर आधारित सामाजिक जीवन की एक नयी उभरती हुई परिस्थिति और प्रक्रिया को 'सभ्यता' कहा जाने लगा। सभ्यता की आलोचना को, जो प्राय: नकारात्मक होती थी, कल्चर क्रिटीक कहा गया'' (उत्पल कुमार, कथन-46) 2000 में प्रकाशित फ्रांसिस मुलहर्न (यू. के.) की पुस्तक कल्चर। मेरा कल्चर (संस्कृति और संस्कृति के द्वारे में संस्कृति) की बात करते हुए, उत्पल कुमार इसे एक महत्वपूर्ण पुस्तक मानते हैं परन्तु एशिया, अफ्रीका जैसे देशों के सांस्कृतिक विमर्श से रहित होने की बात बता जाते हैं। -संस्कृति समकालीन आलोचना चिंतन मे अत्यंत महत्वपूर्ण शब्द है। लेकिन इसकी परिभाषाएँ असंख्य और अनंत है, क्योंकि विभिन्न प्रकार के लोग इसका इस्तेमाल विभिन्न अर्थों में करते हैं। 'कल्चर/मेटाकल्चर' में संस्कृति की बदली हुई परिभाषाओं का ही विवेचन और विश्लेषण किया गया है, इस पुस्तक की सीमा यह है कि इसमें संस्कृति संबंधी विमर्श को यूरोपीय तथा मुख्यत: अंग्रेजी आलोचना के संदर्भ में ही प्रस्तुत किया गया है, जिसके कारण इससे आज के एशिया, अफ्रीका और लातीन अमेरिका के देशों में चल रहे तथा भूतपूर्व समाजवादी देशों में चले सांस्कृतिक विमर्श का पता नहीं चलता।

पूंजीवाद की चेष्टा सदा संस्कृति को लेकर एकरुपता की रही है। क्योंकि पूंजी का संबंध गहरे रुप से मुनाफाखोरी और बाजारवाद से है इसलिए इसका हित पापुलर कल्चर के विस्तार में है ताकि जीवन शैली में उनकी उत्पादित वस्तुओं का अधिकतम उपभोग हो। फैशन उद्योग से लेकर खान-पान तक की आदतों में शामिल करवाने की गहरी इच्छा से प्रेरित होकर ही करोड़ों अरबों रुपया विज्ञापन के रुप में पानी की तरह बहाया जाता है। हमारी भाषा और हमारे रहन-सहन के प्रति नितांत निर्मम होते हुए भी प्रचार हमारी भाषा और हमारे कल्चर में ही किया जाता है क्योंकि घुसपैठ के लिए ये अनिवार्य साधन है। यह घुसपैठ मानसिक दुर्बलता और मानसिक रुग्णता के लक्षणों तक चली जाती है जैसे एक लहर बार बार टकराते हुए मिट्टी के मजबूत और अविचलित दीखते टीलों को बहने-गलने पर विवश कर देती है। हम अपनी सेहत के लिए वर्णित और आर्थिक स्तर पर दूषित और अग्राह्य मानते हुए भी एड़ियां उठा कर फांसी लेने को तैयार हो जाते हैं। यह स्थिति लोक संस्कृति के प्रारम्भिक स्वभाव, स्वतंत्रता और विकास के लिए घातक है। जब किसी संस्कृति के ऐसे दबाव संभाले नहीं संभलते तब के रुढ़िवादी और शुद्धतावादी दृष्टिकोण अपनाती है, जिसके संकीर्णता की गलियों में गुम होने अथवा कट्टरपंथी लेबल के नीचे आने का खतरा बराबर बना रहता है। उनके लिए यह संकट दोधारी तलवार पर कदम रखने जैसा है। दरवाजे खिड़कियां खुली रहती हैं तो धूल और कचरा कमरों में भर जाता है, बंद करते हैं तो घुटन का एहसास किसी विद्रोह को जन्म देता है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

संस्कृतियों के जनतंत्र की यही मांग रहेगी कि जिन लोगों ने संस्कृति को धरोहर अथवा पूंजी की तरह सम्भाला हुआ है उनकी पूंजी छीन ली जाये। फूलों को हजार रंगों में खिलने दिया जाये। संस्कृति में परिवर्तन आते हैं परन्तु वे परिवर्तन स्वाभाविक होते हैं। प्राण रस से संचारित होते हैं और जन हितकारी होते हैं। कम अज कम आत्मघात के लिए विवश नहीं करते। 'आलोचना का स्वतंत्र मान' सोचते-खंगालते आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने जुडिशियल क्रिटिसिज्म (judicial criticism) या निर्णयात्मक समालोचना की बात उठायी साथ ही यह भी कहा कि यदि कोई चीज सौ-दो सौ कारणों से प्रभावित करती है। वैज्ञानिक को दस-पांच का ही ज्ञान है, बाकी अज्ञात है ऐसे में वैज्ञानिक का धर्म है कि उसे जितना मालूम है उतना कह कर बाकी के लिए भावी पीढ़ियों में कुतूहल उत्सुकता जगा दे। यह नहीं कि कह दे कि बाकी किसी अज्ञात अज्ञेय उत्स से आ रही है। उन्होंने प्राचीन साहित्य को भी आधुनिक समस्याओं के वर्तमान जटिल रुप को समझने में सहायक बनाने का परामर्श दिया जोकि सांस्कृतिक आलोचना में मददगार साबित हो सकता है। उनकी नजर में साहित्य भी सांस्कृतिक खूबियों से भरा है- हमें जीवन के हर क्षेत्र में अग्रसर होने के लिए साहित्य चाहिए-साहित्य, जो मनुष्य-मात्र की मंगल भावना से लिखा गया हो और जीवन के प्रति एक सुप्रतिष्ठित दृष्टि पर आधारित हो। परंतु आचार्य द्विवेदी सत्य को अविरोधी कहते हैं - ''सम्पूर्ण सत्य अविरोधी होता है।'' हमारे पास शायद काल को अंतर्भेदिनी दृष्टि का अभाव है। हमें मूर्ति स्थापित करने और मूर्ति तोड़ने वाले का सत्य एक नहीं नजर आता। दिनों दिन बढ़ती और गहरी होती हुई विषमता के दो सिरों के सत्य को अविरोधी सत्य कैसे मान लिया जाये। वर्ग, वर्ण, जातियों में बंटे सामने दीख रहे समाज का सत्य एक कैसे होगा? सैकड़ों वर्षों से दलित, स्त्री और निर्धन जिस सामाजिक न्याय, अस्मिता और समानता के लिए संघर्षरत है, उसे किस उदारता से अमान्य ठहरा दिया जाये। अफगानिस्तान और इराक के सामान्य जन के सत्य को उस सैनिक सत्य से कैसे मिला देंगे, जो उनके दुःख का कारण बना।

द्विवेदी जी का दृष्टिकोण ज्यादा व्यापक होगा। हमारी दृष्टि की ही सीमा होगी। वह तो कहते हैं - सम्पूर्ण सत्य अविरोधी होता है। जहां भी विरोध दीखे, वहां सोचने की जरुरत होगी। हो सकता है कि दो भिन्न-भिन्न जन समुदाय मोहवश दो असत्य बातों को ही बड़ा सत्य मान बैठे हो (भारतीय संस्कृति की देन) यह कैसे संभव है कि एक भयावह त्रासदी आपके सामने घट रही है और आप उससे अप्रभावित तथा संवेदनहीन बने रहें। संस्कृति इस भयावह त्रासदी की वजह से ही संस्कृति के प्रचलित अर्थों से अलग एक दूसरा ही रुप अख्तियार कर रही है, जिसकी बाबत बात करना लेखकीय ही नहीं, मानवीय धर्म भी है। भूमण्डलीकरण को एक भ्रम मानते हैं तो संस्कृति पर इसके विकराल प्रभाव और नव उपनिवेशवाद के विरुद्ध कोई तैयारी नहीं होगी। इसे एक नैतिक मूल्य मान लेंगे तो लोग तटस्थ होते चले जायेंगे फिर बच्चे जायेगा एक यान्त्रिक आदमी जिसे व्यक्तिगत स्वार्थ के अतिरिक्त कुछ दीख नहीं पायेगा। 'प्रति वर्ष लाखों बच्चे कुपोषण से मरते हैं। तीसरी दुनिया के अनेक देशों में आज भी अतिसार से होने वाली मौतों पर काबू नहीं पाया जा सका है। युनिसेफ का अनुमान है कि प्रतिदिन 15000 बच्चे कुपोषण से मरते हैं और साल भर में यह संख्या 54,000 पहुंच जाती है। बेहतर परिस्थितियों में रह रहे पश्चिमी जगत के ईसाईयों के सामने नैतिक संकट उठ खड़ा होता है। अमेरिका में प्रतिवर्ष सौंदर्य प्रसाधन पर आठ सौ करोड़ डालर, यूरोप में आईसक्रीम पर 900 करोड़ डालर, यूरोप में सिग्रेट पर 5000 करोड़ डालर, एवं एल्कोहल युक्त पेय पर 10500 करोड़ डालर खर्च किए जाते हैं यदि इसका दसवां अंश भी तीसरी दुनियां के बच्चों पर खर्च हो तो वे बेहतर भविष्य की कल्पना कर सकते हैं।' (जोसेफ गाथिया द्वारा उद्धृत)

नोआम 'चौम्स्की का कहना है कि हमारे कामों के जो नतीजे निकलने वाले हैं, अगर हम उनसे संघर्ष नहीं करेंगे तो अमीर और अमीर होते जाएंगे, गरीब और गरीब। गरीबों की संख्या भी बढ़ती जाएगी, अमीर और ताकतवर मानो ईश्वर से आदेश लेकर आते हैं और तीसरे देशों के लोकतंत्रों को नष्ट करके तानाशाहों को बिठा देते हैं, उनके साथ मिलकर अमेरिकी लोग व्यापार करते हैं। हथियारों और सेनाओं को लूटमार में लगाते हैं। गरीब जनता को मारते हैं, मीडिया शिकार को ही दोषी ठहराता है, इसलिए हम भी उन्हीं लोगों को दोषी मानते हैं। इसलिए सबसे ऊपरी बात है कि अपने दिमाग को ट्रेंड करिए ताकि वह धोखा न खाए। आलोचनात्मक ढंग से सोचने और सवाल पूछने की आदत डालिए। निष्क्रिय स्वीकृति खतरनाक आदत है। (अनूप सेठी, पल प्रतिपल जन. मार्च 05) 1930 के दशक में एडोर्नो ने 'कल्चर इण्डस्ट्री, की बात की थी। उन्होंने औद्योगिक क्रांति के बाद की तथा मास-मीडिया के बाद की स्थिति का आकलन करते हुए कहा कि संस्कृति का उत्पादन जो

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कि मानवीय समाधानों के साथ स्थानीय स्तर पर होता था, मशीनों अथवा तकनीक के विकास के साथ स्थानीय की जगह वैश्विक स्तर पर होने लगा। संस्कृति का मामूली बाजार गैर मामूली हो गया। कलाकार स्टार होने लगे। कलायें ब्रांड में तब्दील होने लगी। प्रेस, रेडियो, टी वी फिल्म पूरा मीडिया। कल्चर इण्डस्ट्री (सांस्कृतिक उद्योग) का सहायक बन गया। साधनों की इजारेदारी ने कला को चीज/वस्तु बना डाला।

ऊपरी तौर पर देखने में यह बात शायद उतनी बुरी न लगे कि एक कलाकार या लेखक अपने काम के बदले ज्यादा धन पा रहा है तो इसमें बुरा क्या है, परन्तु एक निश्चित प्रक्रिया के तहत होता यह है कि जमीर जो कुछ करना/रचना चाहता है मांग उसको पीछे धकेल देती है। कलाकार या रचनाकार उस पर फिर कभी फुर्सत में काम करने की बात सोचता है और बाजार मांग वह फुर्सत नहीं देती। जमीर कुचले जाने की दीर्घ प्रक्रिया में वह संगीत/नाद या भाव को वह बीज ही नहीं बनने देता जो 'हरेपन में उजाला करता/भरता है। सांस्कृतिक उद्योग अन्ततः सांस्कृतिक कम बाजारवादी ज्यादा ही निकलता है। पूंजी की ताकत उदारीकरण और निजीकरण ने इसके लिए आवश्यक माहौल जुटाने में कोई कमी नहीं आने दी।

सांस्कृतिक क्षेत्र में पिछले पन्द्रह-बीस वर्षों में काफी तेजी से परिवर्तन हुए हैं। शायद इतनी तेजी से पिछले पचास वर्ष में नहीं हुए होंगे। परिवर्तन सदा होते हैं। मूल्यबोध ही बात यह है कि परिवर्तन की दिशा क्या है। क्या मानवीय संबंध पहले से मजबूत हुए है? क्या आदमी-आदमी की पीड़ा के प्रति पहले से ज्यादा संवेदनशील हुआ है? कहीं मुनाफाखोरी इन्सानियत की रीढ़ तो नहीं तोड़ रही? कहीं देश या समाज का सांस्कृतिक निजत्व समाप्ति की तरफ तो नहीं जा रहा?

1990 से 2008 तक पीछे देखने की वजह बेतुकी नहीं है। प्रसिद्ध इतिहासकार एरिक हाब्सबॉम ने 1914 को बीसवीं सदी की शुरुआत और 1991 (सोवियत संघ की समाप्ति का साल) को उसका अंत माना है। एक डेढ़ दशक में स्त्री देह को मुक्त करने के नाम पर बाजार की देह बना देना, कामोत्तेजना का घटिया प्रदर्शन, बीजों को पेटेन्ट करने के नाम पर कृषि उद्योग पर कब्जा और आदमी को इतिहास रहित करने तथा सम्बंधों को संस्कृति विहीन तथा मूल्य रहित करने की साजिशों जिस तीखे रुप से सामने आई हैं, उतनी तेजी से पहले नहीं। एक रिपोर्ट के अनुसार रुस में (जो कि कभी मानव मात्र की मुक्ति के सपनों से जुड़ा रहा है) भ्रष्टाचार शिखर पर है। ब्लादीमीर पुतिन इसके लिए चिंतित है और देश से निकाल बाहर करने के लिए जुटे हुए हैं। यह भी बताया गया है कि पिछले चार सालों में इसका चलन पहले से बढ़ा है। इसके रोगाणु प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों से लेकर न्याय पालिका तक को प्रभावित कर रहे हैं, यदि किसी का बेटा दो वर्ष की आवश्यक मिलिट्री ट्रेनिंग के लिए नहीं जाना चाहता तो पीछे के दरवाजे से इसकी व्यवस्था भी हो सकती है।

अमरीकी युवकों की बाबत छपी एक रिपोर्ट के अनुसार हाईस्कूल में पढ़ने वाले पचास प्रतिशत युवक नियमित रुप से शराब का सेवन कर रहे हैं, एक चौथाई नशीली दवाओं का सेवन कर रहे है। वहां धड़ाधड़ शादियां टूट रही हैं क्योंकि वैवाहिक संबंधों की गरिमा, महत्व और पवित्रता का कोई बंधन किसी पर नहीं है। मेडिकल विद्यार्थियों से सम्बंधित एक सर्वेक्षण ने सिद्ध कर दिया कि विद्यार्थियों में बहु संख्या उनकी है जिन्हें पढ़ाने और प्रशिक्षण देने वाले डाक्टरों और नर्सों ने यौन संबंधों से परेशान किया। महिला विद्यार्थियों में 72 प्रतिशत ने स्वीकार किया कि अपनी मेडिकल ट्रेनिंग में उन्हें डाक्टरों के साथ यौन संबंधों पर विवश होना पड़ा। ऐसे संबंधों में वहां की स्वतंत्रता की बातें पूरी दुनियां में प्रसिद्ध हैं। तब भी ऐसी विवशता...।

चीन में युवा लोगों में आत्महत्या की प्रवृत्ति बढ़ती चली जा रही है। कथादेश (अगस्त 2004) के कालम 'सोचो साथ क्या जाएगा'। में प्रसिद्ध चीनी कथाकार यो यान की लम्बी कहानी का हिन्दी रुपांतर जितेन्द्र भाटिया ने किया है। हिन्दी क्षेत्र में इस कहानी की जितनी चर्चा होनी चाहिए थी, उतनी हुई नही। कहानी 'मजाक की भी हद होती है, शिफू, कहानी चीन की बाजारीकरण। भूमंडलीकरण की वजह से वहां के आम आदमी की जिन्दगी की बदहाली का प्रतिबिम्ब है। कहानी पढ़कर एहसास होता है कि राजनीतिज्ञ की जगह लेखक की दृष्टि ज्यादा पारदर्शी है और सांस्कृतिक रुप से सम्पन्न है। कहानी की एक एक पंक्ति चीख-चीख कर वैश्वीकरण के मुखौटे और वास्तविक चेहरे का फर्क बता कर मानव संस्कृति के प्रति अपना कर्तव्य निभाती है और सरकार, पार्टी, व्यवस्था, तंत्र जाल सभी को कटघरे में खड़ा करती है।

भारत में जीवनभर प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझने वाला किसान आत्महत्या करने के लिए विवश है। युवा शक्ति दिशाहीन है। मंत्री महोदय से कहा जाता है-हमारे पास पीने का साफ पानी नहीं है। जवाब मिलता है-

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

विश्वबैंक से पैसा आयेगा तो देखेगें। परिस्थितियों का पूरा जायजा लेने के लिए हाल ही में घटी दो घटनाओं की सांस्कृतिक स्थिति पर दृष्टि डालें। पहली का संबंध मणिपुर से है और दूसरी का (गुड़गांव) हरियाणा से। मणिपुर में जगनग मनोरमा नामक युवती का असम राइफल्स की हिरासत में बलात्कार के बाद मौत हो जाती है। 15 जुलाई 04 को अभूतपूर्व प्रतिरोध दर्ज कराया जाता हैं। असम राइफल्स के इलाकाई मुख्यालय के सामने राज्य की चंद प्रतिष्ठित और बुजुर्ग महिलायें बकायदा निर्वस्त्र होकर प्रदर्शन करती हैं। बैनर पर लिखा जाता है– भारतीय सेना आओ हम सबसे बलात्कार करो–भारतीय..सैनिकों आओ हमारा मांस नोचो।

15 जुलाई 04 के बाद 25 जुलाई 05 की गुड़गांव की दुर्घटना जो सीधे रुप से सवाल उठाती नजर आती है कि इस भूमंडलीय संस्कृति में अपनी जमीन कहां है? बेरोजगारी के कारण एक तरफ छूट जाती है। श्रम कानून से मालिक को हायर एंड फायर की सुविधा ही चाहिए।

इस मोड़ पर 1991 से 2005 की सांस्कृतिक परिस्थितियों की बात की जा रही है। नवंबर 91 में भारत से नरसिंह राव उदारीकरण के लिए खिड़किया खोल रहे थे। एक सभागार में विदेशी औद्योगिक घरानों से अपील कर रहे थे कि उन्हें भारत में निवेश करना चाहिए। जवाब मिला–भारत के श्रम कानून कठोर हैं। गुड़गांव की पुलिस द्वारा लाठी चार्ज की बर्बरता 2005 में दिख रही है कि इन्हें पीट पीट कर ठीक किया जा सकता है। लोगों को रोजगार चाहिए–मुंबई की कपड़ा मिलें बंद हो चुकी हैं। किसान को जमीन चाहिए। भूमाफिया जमीन छीन रहा है। पढ़ने लिखने वालों के लिए बिजली नहीं है। मनोरंजन पार्कों, होटलों, शापिंग मालों की बिजली गुल नहीं होती जो एक शहर से ज्यादा बिजली फूंक डालते हैं। सरकारें किसकी हैं? आत्महत्या करते किसानों की, गुड़गांव में पिटते मजदूर की, मणिपुर की मनोरमा की? या भू-माफिया की, वाइन किंग की, जापानी कम्पनी की? जनतंत्र में जन संस्कृति क्या इतनी दुर्बल हो गई है कि मानवीय अधिकारों के प्रति निरपेक्ष होती चली जाये? थोर्स्टीन बेल्वेल ने मानव विकास में 'लूटपाट की अवस्था' का जिक्र किया। अल्बर्ट आइन्सटाइन जैसे प्रखर वैज्ञानिक का इस संदर्भ में एहसास था कि हम आज भी इससे आगे नहीं बढ़ सके हैं। इतिहास के प्रत्येक दराज में ऐसे बुद्धिजीवियों की कमी नहीं जिन्होंने सत्ता सुख और अटूट सुरक्षा कवचों में जीने के लिए सत्ता के तमाम अध्छे बुरे कामों पर मुहर लगाई है। बिना सोचे कि अच्छे काम नाम मात्र के हैं जो बुरे कामों/परिणामों को ढांपने के लिए ही हैं। आज इनको खोज निकालने और जन संस्कृति के आरोपों का सामना करने के लिए कटघरे में खड़ा करने की जरुरत है, यही न्यायपूर्ण समालोचना की मांग है। आर्नेस्ट हैमिंग्वे ने नैतिकता अनैतिकता का द्वन्द्व हल करने के लिए बड़ी सीधी सी तराजू दी है–नैतिक क्या है जिसे आप करने के बाद अच्छा अनुभव करते हैं और अनैतिक वह है जिसे करने के बाद बुरा महसूस करें।

महाभारत के आधार पर कहा जा सकता है कि जिस युग में विश्वामित्र हुए उस काल में भारत में एक उन्नत नगर सभ्यता फल फूल रही थी। ऋग्वेद में मनुष्य की जिज्ञासा पहेली बन प्रगट होती है। मसलन–वायु जो मंद मंद बहती है, कभी–कभी भयानक रुप लेकर मजबूत पेड़ों, झोंपड़ो को यों उड़ाने लगती है? ई.पू. आठवीं से छठी शताब्दी के बीच भौतिकवादी दर्शन की जमीन व्यापक रही है। मसलन–स्वर्ग वहीं नहीं है। अंतिम मोक्ष भी नहीं है, और नही अन्य लोक में कोई आत्मा है। पाषाण युग अथवा काष्ठ युग को लेकर तो मान ही लिया गया है कि इसका आरंभ लाखों वर्ष पहले हुआ होगा।.. पुराणकार के अनुसार मनुष्य पहले निर्वस्त्र रहता था। आदम और हौवा की कहानी में निरावरण शरीर के लिए पत्तों का सहारा होने की बात है। फिर यह भी कल्पना कर पाना कठिन है कि ज्ञान के वृक्ष का फल चखने से लज्जा का अनुभव कब या कितने हजार साल पहले हुआ। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि नाना ऐतिहासिक परम्पराओं के भीतर से गुजरकर और भौगोलिक परिस्थितियों में रहकर संसार के भिन्न–भिन्न समुदायों ने उस महान मानवीय संस्कृति के भिन्न–भिन्न पहलुओं का साक्षात्कार किया है।

हजारों वर्ष लगे, मनुष्य नये –नये अविष्कार करता रहा। प्रकृति में हस्तक्षेप एक नया अनुभव खण्ड बनता गया। शायद पशु की बनिस्बत अधिक साफ़ आशय वाली भाषा ने मनुष्य को विकास की नई मंजिल काफी पहले दे दी। चेतना भाषा को खोजती चली गई। सौन्दर्यशास्त्र और चिंतन को आधार मिलने लगा। सभ्यता और सांस्कृतिक विकास के एक निश्चित दौर में मनुष्य ने जीवन मूल्य निर्धारित किये। हजारों सालों के चिंतन और मानवीय साधना ने मानवीय संबंधों ने सम्बंधों की तमीज दी। पत्नी को पत्नी और बहन को बहन समझा समझाया गया। संबंधों को एक गरिमा एक उच्चता अथवा एक महिमा मिली। जिस परंपरा को अर्थ देने, जिस भवन का निर्माण करने, जिस सदानीरा को लाने/बहाने में सैकड़ों हजारों वर्षों का समय नहीं लगता। साठ वर्ष पहले एटम द्वारा

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हंसते-खेलते, बसे-बसाये जापान के दो शहर हिरोशिमा और नागासाकी के तबाह होने में ज्यादा वक्त नहीं लगा। अफगानिस्तान में भगवान बुद्ध की बामियान स्थित मूर्तियां करीब दो हजार साल पुरानी थीं, जिनके गिर्द तमाम विस्फोटक लगाने, राकेट और तोप के गोलों से उड़ा देने का आदेश दिया गया था।

आज रोज किसी ससुर के बहू के साथ, किसी चाचा, मामा के भतीजी भानजी के साथ अनैतिक संबंधों के समाचार अखबारों में आते हैं दहेज के प्रलोभन में बहुएं एकदम या तिल-तिल कर जलायी जा रही हैं, ये सब संबंधों और उसकी गरिमा को नकार देने से ही हो रहा है, उन मूल्यों का विध्वंस है, जिसे आप सांस्कृतिक मूल्यों का नाम देते हो। शायर ने कहा है –

इरादे नेक हों तो मंजिल चल कर आती है।
समुद्र राह देते हैं, चट्टानें थरथराती हैं।

संकटकालीन परिस्थितियों में एक शिल्पी या शिल्पकार की भूमिका क्या होनी चाहिए, या हो सकती है इस संबंध में स्पेन के कवि लोरका का जवाब है-जब तक पृथ्वी में आर्थिक असमानता रहेगी तब तक विचार की आजादी संभव नहीं है। एक और साक्षात्कार में उन्होनें कहा था- जिनके पास कुछ नहीं है, यहां तक जिनकी थोड़ी सी शक्ति भी उनसे छीन ली गई है, मैं उनके साथ रहूँगा।''

वह यह समय था जब स्पेन की जनता गहरे संकट में थी। आर्थिक सामाजिक दशा बुरी तरह चरमरा गई थी। न्यूनतम आय लगभग नहीं की सीमा तक पहुंच चुकी थी 1936 में लोर्का को गिरफ्तार कर असैनिक मुख्यालय लाया गया और लोग समझ रह थे कि उन्हें सुरक्षा की दृष्टि से गिरफ्तार किया गया है परन्तु सिविल गार्डों ने रात के अंधेरे में ग्रानादा की सीमा पर मैदान में बहुत करीब से गोली मारकर हत्या कर दी जबकि सरकारी तौर पर कहा गया कि जंग के मैदान में मिले घाव से मारे गये।

बीसवीं सदी के ये दशक जन-जागरण, जन संस्कृति और जनान्दोलन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। 1936 मे ही अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए प्रेमचंद साहित्य की प्रगतिशीलता का महत्व बता रहे थे- हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है। (प्रेमचंद : कुछ विचार, पृष्ठ 25) उनका यह कथन साहित्य की प्रगतिशीलता से पहचान ही नहीं करवाता प्रगतिपथ पर प्रेरित भी करता है। रवीन्द्र नाथ टैगोर ने कहा है- ऐसे-ऐसे जड़ प्रकृति के लोग हैं, जिनके हृदय में संसार के बहुत थोड़े विषयों के प्रति ही उत्सुकता रहती है, वे संसार में जन्म लेकर भी अधिकांश संसार से वंचित रहते है। उनके हृदय के झरोखे संख्या में कम और विस्तार में संकीर्ण होते हैं। इसीलए वे विश्व में प्रवासी बनकर रहते हैं।''

समस्याएं प्रत्येक युग में सामने आई हैं। मानव-जाति ने उनसे जूझने में कभी कमी नहीं आने दी। समस्या विकट और अनसुलझी या डरा देने वाली तभी लगती है जब मानवीय चेतना ''इतिहास से खुलते मार्ग बंद कर दे और वर्तमान का विश्लेषण न कर सके। विकट परिस्थितियों ने ही कठोर आत्म संयत वाले, अदम्य इच्छा शक्ति वाले, अजेय पुरुषों को जन्म दिया है।

भारतीय संस्कृति के भूले-बिसरे जीवन शक्ति से भरे अध्याय को नई पीढ़ी के सामने फिर से रखना होगा। जीवन जीने के लिए है, ढोने के लिए नहीं। इसकी पुनर्व्याख्या करनी होगी। अभी हमारे परस्पर संबंध बेड़ियां नहीं बनी, न ही लोगों का समूह मृतआत्माओं का ग्रुप। मणिपुर में यदि बर्बरता की उदाहरण मिलती है, अभूतपूर्व प्रतिरोध भी वहीं नजर आता है। पृथ्वी इसलिए सुन्दर है क्योंकि उस पर जीवन, उस जीवन को सुंदर, श्रेष्ठ और जीवन योग्य बनाने की दशायें जब तक होती रहेंगी, संस्कृति अपने उत्तम रुप में प्रस्तुत होगी।

□□□

78, रामशरण कॉलोनी,
कॉलेज रोड, बस्ती दानिशमंद
जालंधर -144002
फोन : 0181-2639333

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लोकेतिहास बरक्स इतिहास

सुमन राजे

लोकेतिहास एक कालातीत अवधारणा है, जो अपनी निरंतरता में अतीत से वर्तमान की ओर प्रस्थान करती है। जिसे हम इतिहास कहते हैं, वह वस्तुओं और उपकरणों के अवशेषों का इतिहास है। इसका सबसे बड़ा विरोधाभास यह है कि जो जोग ये वस्तुएँ उपकरण, महल, क़िले, मंदिर और मूर्तियाँ बनाते हैं, यह उनका इतिहास नहीं हे। इतिहास तो उनका होता है जो इनके कर्त्ता पर शासन कर रहे होते हैं। उसी इतिहास की हम खोज करते है, लिखते हैं, पढ़ते हैं और पढ़ाते हैं। शासकों के जन्म से लेकर मरण तक की हर चीज, हर वक़्त, हर घटना, इतिहास का अंग है। जब हम इतिहास खोज नहीं पाते, या खोजना नहीं चाहते तो अनदेखी करते हैं या फिर, इतिहास की 'राजनीति' करने लगते हैं इसके विपरीत लोकेतिहास वह इतिहास है जो ये चीजें बनाने वाले, इमारत बनानेवाले और इस या उस राजा के लिए लड़ने वाले लोग जीते हैं। वह सब–का–सब संतरणशील तरल और जीवंत होता है, क्योंकि उसकी जड लोक की भाषिक शक्तियों में होती जो अतीत से वर्तमान की ओर सदैव प्रवाहित होती रहती है। इसीलिए उसमें अतीत और वर्तमान एक साथ बहता है।

इतिहास और लोकेतिहास का सबसे बड़ा विरोधाभास ही यही है। जो इतिहास एक समूह बनाता है, रचता और जीता है, वह व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के इतिहास के रुप में लिखा जाता है, लोकितिहास में तिथियां नहीं कथाएँ हैं, समूह मन की स्मृतियाँ और वर्तमान में उसे जीने की प्रथाएँ हैं, प्रतिआख्यान हैं ओर पुनर्रचनाएँ है। इसीलिए राजाओं का इतिहास, राज्यकाल, विजय–पराजय ऊपरी धरातल की घटनाए् है जो जल्दी –जल्दी बदलती हैं, या बदलती दिखाई देती है। भीतरी सतह पर परिवर्तन उसी क्रम और गति से नहीं होते। एक राजा लगान लेता है, दूसरा भी लेगा और तीसरा भी सख्ती से वसूलेगा। 'कुरकी' होगी। लोग दरबदर होंगे। लोगों के लिए सिर्फ वसूली करने वाले चेहरे बदलते हैं, जीवन के राग–विराग नहीं बदलते। यही लोकेतिहास है। जो जीते हैं, वही अनुभव करते हैं, वही याद रखते हैं वही भाषा में व्यक्त भी करते हैं।

इतिहासकार अनुमान करता है, खनन करता है जो अवशेष मिलते हैं, उनका अध्ययन, परीक्षण अनुमानों के आधार पर ही करता है। अन्ततः वह जो इतिहास बनाता है, वह एक रचना ही है। हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि, कोई भी इतिहास अंतिम नहीं होता, न तटस्थ न प्रमाणिक। इसका मूल कारण यही है कि, हम उपकरणों, पत्थरों और मिट्टी के बर्तनों के टुकड़ों पर भरोसा रखते हैं और इन वस्तुओं को अपनी भाषा देते हैं।

भारतीय इतिहास के साथ प्रारंभ से ही बहुत बड़ी दुर्घटना हो गई। हम जो इतिहास पढ़ते हैं या जो इतिहास हमारी नाक बंद कर गले में डाला जाता है, उसके लेखक हमारे विजेता हैं। इस बात से क्या फर्क पड़ता है कि वह इतिहास अरबी में लिखा गया है या फारसी में या अंग्रेजी में। उसी क्षण यह फैसला सुना दिया गया कि हमारे इतिहास कपोल–कल्पित, पुराण झूठे और ऐतिहासिक काव्य किस्सा–गढ़ंत है। भारतीयों में तो इतिहास लिखने की कोई परंपरा थी ही नहीं। मौखिक रुप से स्मृत और कथित इतिहास सच नहीं हो सकता, पर विजेता यदि कागज पर झूठ भी लिख दे तो सच हो जाता है। हम यह कह ही नहीं सके कि पत्थर के टुकड़े इतिहास का साक्ष्य भले ही हो, वे विचारों का, अनुभवों का और अनुभूतियों का आख्यान नहीं हो सकते। इनके बिना क्या कोई मानवीय इतिहास जन्म ले सकता है?

इतिहास और लोकेतिहास में जो फांक है वह भाषा के माध्यम की वजह से ही। इतिहास पुरातत्व–अवशेषों पर आधारित है और लोकेतिहास भाषा और भाषा में स्मृत लोकवार्ता पर। अध्ययन के औज़ार भी अलग हो जाते हैं, क्योंकि भाषा के विकास के अपने रास्ते और प्रक्रियाएँ हैं। उसमें कई युग एक साथ चलते हैं, उनका समय निर्धारित करना बहुत–कुछ अनुमान आश्रित ही होता है। वर्तमान दोनों को प्रभावित करता है, इतिहास

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

को भी और लोकेतिहास को भी। इतिहास में हमारी दृष्टि व्याख्या करती है जो वर्तमान की देन है, लोकेतिहास में व्याख्या हर युग करता है और अपनी लोकवार्ता में सहेजता भी रहता है। इतिहास वह है जिसका कर्ता शासक की दृष्टि से जनता को देखता है, भले ही वह जीवनियां और आत्मकथाओं के माध्यम से लिखा गया हो। लोकेतिहास वह है जिसमें लोक, शासक को अपने स्थान से देखता है और अपने चारों तरफ के परिदृश्य की पहचान भी अपने तरीके से करता है, अभिव्यक्त भी स्वयं करता है। सही अर्थों में इतिहास इसी रुप में अगली पीढ़ी को हस्तांतरित किया जा सकता है। आक्रान्ता जो इतिहास लिखता है उसमें उसकी विजय-गाथाएँ ही शामिल होती हैं।

प्रवहणशील भाषा इतिहास-लेखन में प्रमाण नहीं मानी जाती, लेकिन कभी-कभी इसी अप्रामाणित कर दिए गए तर्क का प्रयोग आक्रान्ता द्वारा इस प्रकार किया जाता है कि सदियों का इतिहास पलट जाता है। अभी सन् 1822 तक हम भारतीयों के मूल-निवास को लेकर कोई सवाल कभी उठाया नहीं गया था। शक, हूण,, कुषाण हमले और राज्यों की सीमाओं में उलटफेर पहले भी होते रहे, पर ऐसी शंका किसी ने नहीं की कि, भारतीय, भारत के मूल निवासी नहीं है। उन्नीसवीं शताब्दी में कुछ यूरोपीय भाषावैज्ञानिक विश्व की भाषाओं का वर्गीकरण करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे प्राचीन संस्कृत, प्राचीन जर्मन और पुरानी फारसी में माता, पिता एवं कुछ अन्य पारिवारिक संबोधनों में ध्वन्यात्मक समानता है। संभव है अपने मूल रुप में, जो अब प्राप्त नहीं है और जिसके होने के प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं, वे किसी समान स्त्रोत से उत्पन्न हुई हो। यद्यपि यह खोज बहुत प्रारंभिक थी और इस दिशा में अध्ययन को आगे बढ़ाया भी नहीं गया। परन्तु यूरोपीय इतिहासकारों को एक दिशा मिल गई और वे कूदकर इसके निष्कर्ष पर पहुँचे कि, भारतीय आर्य भारत के मूल निवासी नहीं है। वे तो किसी मुसलमान, जो यूरोप के अलावा कहीं हो ही नहीं सकता था, घुमन्तू जातियों के रुप में आए थे और यहाँ बस गए। उपनिवेशवादी इतिहासकारों के इरादे साफ थे। इसके बाद जब बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में 'नदी घाटी' सभ्यता के अवशेष मिलने शुरु हुए, तो कुछ दिक़्क़तें आईं। लेकिन फिर नतीज़ा निकाला गया, ये पुरानी (नील, बेबीलोन एवं अन्य) के मूल निवासी थे जो यहाँ आकर बस गए थे। ये आर्य सभ्यता के अंश नहीं हो सकते। यद्यपि उस विकसित नगर सभ्यता की लिपि भी उपलब्ध हुई है जो अन्य लिपियों से अलग है और अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है, शायद पढ़ी भी न जा सके और हम सब एक उपनिवेशवादी इतिहास ढोने के लिए बाध्य हैं। वैज्ञानिक इस बात को मानते हैं कि विश्व के पृथक-पृथक स्थानों में पृथक-पृथक समय में जीवन का विकास हुआ है। यहाँ तक कि, जापान जैसे आकार में छोटे देश का भी अपना भाषा वर्ग है, परन्तु, भारत में सबकुछ, जीवन, भाषा, सभ्यता, संस्कृति बाहर से आएँ हैं, विशेषत: यूरोप से। भाषा का एक तदर्थ अनुमान मात्र कितने मारक-अस्त्र के रुप में प्रयुक्त हो सकता है, यह हम अपने अनुभव से जानते हैं। ऐसे समय में अपनी भाषिक परम्पराओं, पुराणों और इतिहास सामग्री का पुन: अध्ययन और तथ्यात्मक व्याख्या करनी चाहिए, जिसमें प्राचीन लोकवार्त्ता बहुत अहम् भूमिका अदा कर सकती है।

विकसन शील ऐतिहासिक महाकाव्यों से हम लोकेतिहास की प्रकृति को पहचान सकते हैं। यह काम भी अभी शुरु हुआ ही नहीं है। 'पाठ विज्ञान' नामक जिस पद्धति का बड़े धूम धाम से उद्घाटन किया किया गया था, वह भी आखिर बंद गली का आखिरी मकान ही साबित हुआ। इससे हम 'पाठ' का उच्चारण, भाषा का स्वरुप तो कुछ-कुछ निर्धारित भी कर सकते है परन्तु कथ्य की प्रामाणिकता साबित नहीं की जा सकती। इसके विपरीत, विभिन्न रुपांतरों में प्रतियों में जो अतिरिक्त 'पाठ' आया है, एसे काट-छांट कर विस्मृति के गर्भ में डालने की आवश्यकता नहीं है, उन्हें एकत्र कर उनका तुलनात्मक अध्ययन नए निष्कर्षों तक पहुँचा जा सकता है। केवल जोड़ी हुई पंक्तियों का ही नहीं, अध्ययन उन पंक्तियों का भी होना चाहिए जो पाठ से हटा दी गई हैं। नतीज़े चौंकाने वाले हो सकते हैं।

बात स्पष्ट करने के लिए चन्दरबरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' का उदाहरण लिया जा सकता है। साहित्य इतिहास और भाषा वैज्ञानिक रुप से उसका अध्ययन किया जाता रहा है और विभिन्न विवाद भी समय पर उठाए जाते रहे। 'पृथ्वीराज रासो' की तीन सौ से अधिक हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती है। प्रतियां परस्पर इतनी भिन्न हैं कि उनके चार रुपांतर ही स्वीकार कर लिए गए हैं, पर, वे एक दूसरे के ऐतिहासिक विकास-क्रम नहीं है। न हम उन्हें क्रमश: कथ्य का वृहदीकरण मान सकते हैं और न ही संक्षिप्तीकरण। वे भाषा-विकास की विभिन्न पायदानों पर भी नहीं है। इस बात से सभी विद्वान सहमत हैं कि रासो का मूल अंश 'कनवज्ज समय' है क्योंकि यह चारों

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रुपान्तरों में है और कथा का केन्द्रीय अंश है। केवल 'कनवज्ज समय' का तुलनात्मक अध्ययन यह बताता है कि, वृहद रुपांतर में कुछ ऐसे अंश है जो अन्य रुपांतरों में नहीं है। जैसे कि, जमुना किनारे पड़ाव, अपशकुनों की लम्बी सूची, सामन्तों का नाम परिगणन और वर्णन, सामन्तों के इष्टदेवताओं का अलग-अलग प्रत्यक्ष होकर दर्शन देना, नागा साधुओं की फौज और संखधुनी साधुओं का वर्णन इत्यादि। हो सकता है कि ये अंश मूल कथा में न भी रहे हों, लेकिन ये समकालीन और परवर्त्ती सामाजिक इतिहास के अंश है और हमारे लिए उतने ही महत्वपूर्ण हैं। ये लोकमानस के अपने तर्क हैं, जिसकें द्वारा वह पुराने इतिहास पर अपनी टिप्पणी दर्ज कराता है। इतिहास पर पूरे लोकमानस की टिप्पणी एक उपनिवेशवादी इतिहास से अधिक महत्वपूर्ण है। कहीं-कहीं लोकेतिहास की व्याख्याएँ गद्य में भी है, जैसे 'राजा गंगा जाइ देखी, राजा स्नान कियो। सामंतन ने स्नाम कियो। तब राजा गंगा को सुमरनु करता है।

छंद -

हर गंगे हर गंगे हर गंगे।

तमि तरल तरंगे अद्यक्रित भंगे क्रितचंगे।

हर सिर पर संगे जटन विलंगे अरधंगे

गिरि तुंग तरंगे विहरित दंगे जल गंगे। (छं 26)

स्पष्ट ही यह व्याख्या सूक्त है। कथागायक जिस प्रकार अपनी भाषा में कुछ पूर्व प्रसंग और संदर्भ बता देता है, यह उसी प्रकार का ज्ञात होता है। लोककथा गायक आज भी इस प्रकार के प्रयोग करते हैं।

इसी प्रकार की एक महत्वूर्ण टिप्पणी रासो में दर्ज़ है जिसे पाठ विज्ञान के अनुसार डॉ. माताप्रसाद गुप्त अप्रमाणिक और प्रक्षिप्त मानते हैं। डॉ. माताप्रसाद गुप्त का सम्पादित संस्करण पृथ्वीराज और चंद के आत्मघात के साथ समाप्त हो जाता है। अन्य संस्करणों, में वृहद और मध्यम रुपान्तरों में बन्दीघर में पड़े अंधे पृथ्वीराज का पश्चाताप दर्ज है। डॉ. गुप्त उसे इसलिए प्रमाणिक नहीं मानते कि इस अंश में जिन घटनाओं का उल्लेख है वे इतिहास में नहीं है। संभव है वे इतिहास में न हों, लेकिन वे लोकेतिहास में है और पृथ्वीराज के आत्मालाप के माध्यम से लोकेतिहास की टिप्पणी दर्ज है :

परयौ बंधनं गज्ञनै मेछ हथ्थ, विचारै करी अप्प करतूत पिथ्थं।

हन्यौ दासि के हैत कैमास बानं, राजपून चामंड बेरी भरान ।।

बंधे कन्ह काका चष पट्ट गाढ़े, बिना दोस पुंडीर से मृत्यु काढ़े।

बरज्ञत चंद चल्यौ हूँ कन्नौज, तहाँ सूर सामंत कटि घटि फौजं ।।

लिये राज लोकं रमंत्तं सिकारं, भ्रमं केहरी कंदरा रिष्ष जारं।

रह्यौ गैर महलं लिये राजलोक, कटे सूर सामंत कीयौ न सोकं।।

इन पंक्तियों में परवर्त्ती रंग साफ दिखाई पड़ता है, क्योंकि ये परवर्ती इतिहास द्वारा पूर्ववर्ती इतिहास का विश्लेषण है। इतिहास की कई लिपियाँ होती है, हमें उन्हें पढ़ना सीखना चाहिए।

लोकेतिहास अपने लघुतम अर्थ में पारिवारिक होता है और बृहदतर अर्थों में क्षेत्रीय। उसके बाहर वह बहुत कम जाता है। वह अंश उसकी समृति के बाहर चला जाता है वह सार्वदेशिक और सर्वकालिक होती है,क्योंकि वह तथ्यों के भीतर छिपे सत्य से टकराता है। इसीलए प्राय: हमें लगता है कि इतिहास एक दोहराव का शिकार हो गया है। इसका कारण भी यही ज्ञात होता है कि लोकेतिहास में एक प्रकार की निरन्तरता है। यही निरन्तरता लोकेतिहास की जीवंतता है जो उसे पुन: पुन: नयी पीढ़ी से जोड़ती है। लोकजीवन में अपने गांव घर के इतिहास और चरित्र कथाओं में दोहराए जाते हैं समग्र इतिहास में उनकी कोई जगह नहीं होती, पर वे भी अपने समय के सत्य होते हैं। गाँव-गाँव पूजे जाने वाले लोक देवता इसी प्रकार के चरित्र रहे होंगे।

इतिहास और लोकेतिहास में परस्पर अन्तरक्रिया एक दोहरी द्वंद्वात्मक प्रक्रिया है जो निरंतर चलती रहती है। कभी ये इतिहास से लोकेतिहास की तरफ आती है कभी लोकेतिहास से इतिहास की तरफ। पहली प्रक्रिया का एक प्रसिद्ध उदाहरण बुंदेलखंड के हरदौल का है। हरदौल मूल रुप से एक ऐतिहासिक चरित्र है। वे ओरछा नरेश जुझारसिंह के छोटे भाई थे। जुझारसिंह मुगल दरबार में रहते थे और राज्य का भार हरदौल के कंधों पर था। किसी शत्रु ने राजा जुझारसिंह के कान भर दिए कि हरदौल के उनकी पत्नी से अनुचित संबंध है। राजा ने पत्नी से 'शपथ' मांगी और कहा कि यदि वह सतवंती है तो हरदौल को अपने हाथ से विष दे दे। रानी ने बहुत समझाया पर, राजा नहीं माना। अन्तत: रानी ने विष के दो प्याले बनाए। हरदौल ने जानते हुए भी कि प्याले में विष है उसे पी लिया। दूसरा प्याला रानी ने पी लिया। दोनों की

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मृत्यु हो गई। यह एक ऐतिहासिक घटना है जिसके चिन्ह अभी भी ओरछा के राजमहल में पाए जाते हैं। इसके आगे लोकेतिहास सक्रिय हो जाता है। लाला हरदौल की बहन कुंजावती अपनी पुत्री के विवाह में 'भात' माँगने आती है। जुझारसिंह कहता है, 'भात हरदौल से मागो वही तुम्हारा दुलारा भाई है।' रोती हुई बहन हरदौल की समाधि पर जाती है और विधिवत निमंत्रण दे 'भात' माँगती है। लोकेतिहास कहता है हरदौल ने भरपूर 'भात' भेजा और वर के आग्रह करने पर प्रत्यक्ष रुप से प्रकट हो भोजन परोसा। यहां से लोकेतिहास की यह कथा लोकवार्ता के क्षेत्र में प्रवेश करती है। आज भी प्रत्येक कन्या-विवाह में 'हरदौल' की चौकी पर जाकर स्त्रियां भात मांगती हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि ऐसा करने पर विवाह में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती है, न कमी होती है। बुंदेलखंड में छोटे-से-छोटे गांव में भी हरदौल की चौकी जरुर होती है जिसमें एक छोटी सी खाट, और उसके ऊपर झंडा लगा होता है। वर-वधू, विवाह के पश्चात् सबसे पहले यही आते हैं। वे प्रत्येक स्त्री के भाई 'लाल हरदौल' हैं, उनके नाम के गीत घर-घर गाए जाते हैं।

दूसरा उदाहरण हम ऐतिहासिक महाकाव्य 'रामायण' और 'महाभारत' का ले सकते हैं, इनमें एक समान्तर लोकेतिहास समाया हुआ है। लोक विस्तार और विवरण में नहीं जाता। वह अपनी संवेदना के बिंदु तलाश कर उनकी व्याख्या स्वयं करता है। रामकथा एक मात्र ऐसी कथा है, जिसके इतने अधिक विविध और परस्पर विरोधी रुपांतर देखने को मिलते हैं, जिसका कारण लोकेतिहास की अत्यधिक सक्रियता है। बाल्मीकि रामायण, जैन रामायण, बौद्ध रामायण, संस्कृत नाटक, लोकभाषाओं और प्रांतीय भाषाओं की रामकथाएँ इतना व्यापक परिदृश्य प्रस्तुत करती हैं कि वास्तविक इतिहास के कुछ मूलबिन्दु ही तय किए जा सकते हैं, लेकिन एक बात बहुत साफ-साफ समझ में आती है कि लोकेतिहास की प्रकृति जनतांत्रिक, क्षेत्रीय और मानवीय है। वहाँ राम हल चलाते हैं और सीता खेत निराती है, उर्मिला चक्की पीसते 'जाँत घर' में रोती है। राम मर्यादापुरुषोत्तम हों या परब्रह्म, सीता उन्हें कभी क्षमा नहीं करती। एक पूर्वी 'सोहर गीत' की अंतिम पंक्तियाँ है :

सीता ऑखिन में भरली विरोग
त एकटक देखिन हो ।
सीता धरती में गई समाय
कछु नहिं बोलन्हि हो।।

इसी प्रकार 'महाभारत' का लोक संस्करण 'पंडवानी' है जो विभिन्न अंचलों में विविध रुपान्तरों में प्रचलित है। तथ्य और विषयवस्तु से ही नहीं, जिस ऊर्जा से इस लोकेतिहास का कथा गायन होता है, वह उसे विशिष्ट बना देता है।

लोकेतिहास अनाम चरित्रों का वन होता है, जिनके प्रमाण हम इतिहास में नहीं पाते। बहुत पीछे जाने की जरुरत नहीं है, अभी हम सन् 1857 की जनक्रांति की एक सौ पचासवीं तिथी मना रहे हैं। इस सारे आयोजन, सरकारी और गैर सरकारी खर्चे के बावजूद, क्या हम ठीक ठीक बता सकते हैं कि, उसमें किस-किस ने शहादत दी थी, कब, कहाँ और कैसे? इतिहास के पास उनके पते नहीं है। पर उनके नाम थे, वे थे, और उनका जीवन वृत्त भी था। उनका कुछ भी ठिकाना जानने के लिए हमें लोकेतिहास के पास जाना होगा।

लोकेतिहास लोकवार्ता से मिलकर इतिहास की 'क्षतिपूर्ति' भी करता है, जो इतिहास किसी प्रकार भी कर नहीं सकता। इस काम को अधिकांशत: स्त्री-लोक-वार्ता अंजाम देती है। स्त्रियाँ पुर्नरचना में विश्वास रखती हैं। लोक और इतिहास का यह द्वन्द्व अनुष्ठानिक लोककलाओं में साफ दिखाई देता है, शर्त यही है कि लोकमत उसपर अपने विश्वास की मोहर लगा दे। ऐसा एक दिलचस्प उदाहरण 'देवोत्थान एकादशी' से जुड़ी लोकवार्त्ता और अभिरचनाएँ है। इतिहास पुराण और लोकवार्ता का यह अद्भुत संयोजन है। 'देवोत्थान एकादशी' की व्याख्या इतिहास देवासुर संग्राम के रुप में करता है, पुराणों में इससे संबंधित एक हेतुकथा है। देवतागण प्रतापी असुर राजा जालन्धर को पराजित नहीं कर सके, क्योंकि उसकी पत्नी वृंदा महासती थी। सदा की तरह, देवता विष्णु की शरण में गए और किसी भी प्रकार वृन्दा का 'सतभंग' करने का आग्रह किया। विवश हो भगवान विष्णु जालंधर का रुप रख वृन्दा के पास गए। वृन्दा नें उन्हें अपना पति ही समझा। जालंधर उस समय युद्ध लड़ रहा था। जैसे ही वृन्दा का 'सतिभंग' हुआ, जालंधर का वध हो गया। उसका सर कटकर उसकी पत्नी की गोद में आकर गिरा। वृंदा ने रहस्य जान लिया और विष्णु को शाप दिया 'तुम पत्थर हो जाओ'। स्वयं पति के शीश के साथ सती हो गई। विष्णु को पश्चाताप हुआ। वृन्दा की चिता भस्म में लोटते हुए वे पत्थर बन गए। 'शालिगराम' उसी का शिला-रुप है। उसी भस्म से 'तुलसी' का पौधा उपजा। कहते हैं 'शालिगराम' की पिंडी पर तुलसी का

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पत्ता चढ़ाने से विष्णु को परिताप से मुक्ति मिली थी। यह हुआ 'पुराणकथन'।

यहां से लोकवार्ता का जन्म हुआ। राम की तरह विष्णु को भी इस कृत्य के लिए लोकमानस ने कभी क्षमा नहीं किया। उसे इस महापातक का एक ही प्रतिकार दिखाई दिया। तुलसी (वृन्दा) और शालिगराम (विष्णु) का विवाह। इतिहास के पुराण में, जहाँ तक हमारी जानकारी है, यह विवाह कभी नहीं हुआ, लेकिन लोकवार्त्ता में हुआ और उसका उत्सव प्रतिवर्ष मनाया जाता है। उस दिन चावल पीसकर और उसका घोल बनाकर, आँगन के बीच एक चौक पूरा जाता है। इसके मध्य में चौकी बनाकर उस पर एक पुरुष एवं स्त्री की आकृति उकेरी जाती है। घर की प्रत्येक मंडन से अलंकृत की जाती है। पाँच हरे गन्ने का सिरा बांधकर मंडप बनाया जाता है। चौक के चारों ओर एपन से चरण-चिन्हों के जोड़े बनते हैं। उसके पास ही 'एपन' से ही शय्या बनाते हैं। चरणचिन्ह शालिगराम और तुलसी की सप्तपदी के प्रतीक हैं। तुलसी के पौधे पर लाल चूनर उढ़ायी जाती है और गुड़ और उबले हुए सिंघाड़े का प्रसाद बांटा जाता है। तुलसी और शालिगराम के विवाह के बाद ही, विवाह की तिथियाँ घोषित की जाती है। लोक विश्वास तो यह भी कहता है कि सुबह, मुंह अँधेरे, यदि कोई कुँवारी कन्या या युवक जिसका विवाह न हो रहा हो, बैठ जाए के वर्ष भर के अंदर उसका विवाह हो जाता है।

देवोत्थान एकादशी का संदर्भ पुराना लग सकता है, परन्तु भगतसिंह की शहादत अभी इतनी पुरानी नहीं है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि, शहीद होने से पहले भगतसिंह अविवाहत थे। लेकिन लोकवार्ता इतिहास में अपघटित को अपनी रचनात्मकता में पलट भी सकती है। यह तभी होता है जब ऐतिहासिक तथ्य या चरित्र हमारे जीवन का अंग बनकर उभरता है। लड़के के विवाह में स्त्रियाँ 'घोड़ी' गाती है जिनमें बारात के प्रयाण का उत्सव होता है। पंजाब में आज भी भगतसिंह का नाम लेकर घोड़ियां गाई जाती हैं इस तरह लोकेतिहास में इतिहास अपने वर्तमान के साथ निरन्तरता बनाए रखता है। लोक की रचनात्मक-शक्तियाँ ही इतिहास को इतना उर्वर और जनमुखी बना देती है।

इस तर्क पर, लोकेतिहास, इतिहास की पुनर्रचना ही नहीं इतिहास की प्रतिरोधक शक्ति भी है। यह प्रतिरोध और प्रतिकार लोकमानस अपनी सर्जनात्मकता के द्वारा करता है। सर्जनात्मकता में लोकमत की निरन्तरता को बनाए रखने के लिए, सृजित का पुन: पुन: सृजन करता है और युवा पीढ़ी को हस्तांतरित करता है। सृजनात्मकता समाप्त होते ही इतिहास और लोकेतिहास का यह संबंध भी टूट जाता है इतिहास और लोकेतिहास में अन्तर्क्रियाओं को खोजते समय यह बात भूलने की नहीं है कि, सभी लोकवार्ता इतिहास नहीं होती जिस तरह सभी इतिहास लोकवार्ता में रुपान्तरित नहीं होता। हम तो केवल उन औजारों की खोज का प्रस्ताव कर रहे हैं, जिनका प्रयोग कर इन संदर्भों की खोज की जा सके।

□□□

III/98-22, अशोकनगर
कानपुर 208012
फोन : 2548410 मो. 9839142212

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लोकगीत और तात्कालिकता

डॉ.दया दीक्षित

किसी भी ज्ञानानुशासन के इतिहास के खिड़कियों को खोलकर अगर हम झाँकें तो देखेंगे कि शुरुआती दौर से लेकर आज तक यानि विकास की इस अवस्था तक आते आते इन ज्ञानानुशासनों के प्रत्येक चरण में प्रत्येक समय का तात्कालिक परिवेश या वातावरण भी गुंथा हुआ होता है। इस अर्थ में हमें इनसे तत्कालीन सभ्यता, संस्कृति बहु क्षेत्रीय, बहु विषयक परिवर्तनों तथा प्रगति की जानकारी सहज रुप से अनायास ही उपलब्ध हो जाती है। साथ ही समय को मोड़ने बदलने वाले कारकों/कारणों का संज्ञान भी सुलभ हो जाता है। सुविधा के लिये इसे समकालीनता भी कहा जा सकता है। यह समकालीनता कई अर्थों में हमें एक विशेष सजग दृष्टि देती है, अपनी आज की बहुमुखी समस्याओं के समाधान के परिप्रेक्ष्य में। इस इतिहास दृष्टि से जहाँ हम सतर्क होना सीखते हैं, वहीं यह दृष्टि हमें आत्मगौरव और स्वाभिमान तथा सुरक्षा संरक्षा भी देती है। निजता से जोड़ती है। तथ्यान्वेषी इस इतिहास दृष्टि/सामयिकता/तात्कालिकता से साहित्यानुशासन भी अछुता नहीं है। बल्कि यहाँ तात्कालिकता अपने पुरअसर अंदाज में बिखरी पसरी होती है, जो तद्‌युगीन सामाजिक/धार्मिक/आर्थिक/ राजनीतिक/कृषिविषयक/महाविभूतिविषयक/प्रचलन/चलन विषयक बातों को जोरदारी से खोलती बाँचती हैं। साहित्यानुशासन के अंतर्गत हम लोकसाहित्य में विशेषतः इसके काव्यात्मक रुप में इस तात्कालिकता को भरपूर मात्रा में पाते हैं। हालाँकि लोक अपने सामान्य, अनगढ़ मूल्य मानों रीति नीतियों में हमारे सामने आता है, लेकिन उसकी यही अकृत्रिम सामान्य अनगढ़ रीति-नीतियाँ ही उसकी अस्मिता को बचाने के सुरक्षा कवच हैं। अपने इन सुरक्षा कवचों के साथ 'लोक' सबसे अलग अपनी एक विशिष्ट मौलिकता के स्वाभिमान में गर्वोन्नत होकर हमें खड़ा मिलता है। यह 'लोक' सामान्य, सरल और सादगी से भरपूर है, लेकिन सामयिकता या तात्कालिकता के प्रति पूरी तरह सजग है/सतर्क है/जागरुक है/ ठीक उसी अंदाज में जिस तरह से उत्तरदायी प्रवृत्तियाँ तात्कालिकता के साथ सजग चैतन्य और जागरुक होती हैं। यह 'लोक' एक तरफ पूरी तरह से सामयिकता से प्रेरित प्रभावित होता है, तो दूसरी तरफ सामयिकता या तात्कालिकता को भी अपने प्रभाव से प्रभावित होता है, तो दूसरी तरफ सामयिकता या तात्कालिकता को भी अपने प्रभाव से प्रभावित करने की क्षमता रखता है।

चाहे लोक गीत हों या लोक पहेलियाँ हों सामयिकता से प्रेरित प्रभावित ही नहीं होती, लोगों को एक 'विशेष बोध, की समझ और सीख देती हैं। समाजशास्त्रियों ने 'सीखना, पर बड़े बड़े ग्रन्थ लिख डाले हैं। भारतेन्दू की एक पहेली में एक सखी दूसरी सखी से पूछ रही है, और पूछते पूछते ही एक प्रवृत्ति विशेष की सारी कुटिलताओं का खुलासा भी बड़ी सहजता सरलता से करती जा रही है। यह लोक प्रचलित पहेली तात्कालिकता से प्रेरित प्रभावित है, दूसरी तरफ प्रबोधक उत्प्रेरक का काम भी बखूबी कर रही है- भीतर भीतर सब रस चूसै/बाहर से तन मन धन मूसै/जाहिर बातन में अति तेज/क्यों सखी, साजन? नहिं अंग्रेज।

काल चाहे जो भी हो लेकिन जब जब यह पहेली बूझी/कही/सुनी/पढ़ी जायेगी तब तब तद्‌युगीन शासकीय वर्ग के मनमस्तिष्क की चालों का, उसकी संपूर्ण राजनीतिक कुटिलताओं, कलाबाजियों का सारा परिदृश्य अपनी तात्कालिकता में हमारे सामने जी उठेगा। एक बच्चा भी इस पहेली से यह समझ जायेगा कि तद्‌युगीन अंग्रेज शासक किस कदर शोषक उत्पीड़क और धूर्त था। कजरी अपने लोकलुभावन कौशल के लिये जानी जाती है। सावन की बारिश के सुहाने मौसम में अल्हड़ यौवनाएँ/स्त्रियाँ कजरी खेलती/गाती हैं। 'कजरीतीज का अपना विशिष्ट महत्व होता है। यह सर्वकालिक है। ये कजरियाँ या कजरी गीत अपने दामन में समय को बाँधे/छुपाये युगों की यात्रा तय करते रहते हैं। न जाने कौन यौवना है जो वयोचित उमंग उल्लास के चलते कजरी उत्सव में भाग लेना तो चाहती है, लेकिन ह्रदय में वह दर्द भी है जो अपने किसी 'स्वराजी आत्मीय/पिता/बाबा/पुत्र/भाई/पति/प्रियतम से संबंधित है। इसी दर्द की कचोट उसके कजरी गीत में फूट पड़ती है-

कैसे खेलन जाऊँ, हाँ ऽ ऽ, कैसे खेलन जाऊँ सावन में कजरिया,

बदरिया घिर आई गोरिया ऽ ऽ ऽ,

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कितने चढ़ गये सूली, कितने चढ़ गये फाँसी,
कितने पीसत हुइयें हाँ, कितने पीसत हुइयें जेलन में
चकरिया,
बदरिया घिर आई गोरिया ऽ ऽ ऽ

इस कजरी गीत/कजरिया में बरसात है/सावन है/कजरी है/और स्वातन्त्र्य समर के परिदृश्य के अंतर्गत 'स्वराज हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' कहने वाले वीर सेनानियों की दुर्दशा का हाल।

विख्यात उपन्यासकार मैत्रेयी पुष्पा ने अपने उपन्यास 'कही ईसुरी फाग' में स्वतंत्रता संग्राम के दौर के लोकगायक और कवि ईसुरी तथा उनकी प्रिया रजऊ का चित्रण किया है। ईसुरी की एक से बढ़कर एक नायाब फागों को उन्होंने उपन्यस्त किया है। लोक साहित्य की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण उपन्यास है मैत्रेयी पुष्पा का। बुंदेलखंड के सुप्रसिद्ध लोक कवि ईसुरी मूलतः अपनी सरस और मार्मिक फागों को गाकर यशःकाय रुप में आज भी बुंदेलखंड में जीवित हैं/अमर हैं। इनकी फागों ने रसमर्मज्ञों को तो अभिभूत किया ही, लेकिन स्वातंत्र्य समर के रणबांकुरे सेनाध्यक्षों उनकी टोलियों को फिरंगी दुश्मन की चालों, षडयंत्रों से अपनी फागों के द्वारा सतर्क और चौकन्ना किया। इधर फिरंगी उन्हें घेरने और गिरफ्तार करने का षडयंत्र रचना उधर मुखबिर अपने 'सुराजीवीरों तक न पहुँच पाने के कारण ईसुरी की प्रिया रजऊ और उसकी साथिन गंगिया को खबर कर देता। ''ये दोनों देशपत दीमान की संराजी टोली से संबंद्ध थीं। रजऊ और गंगिया ईसुरी और उसकी फागों की दिवार थीं। उन्हें ईसुरी की एक एक फाग रटी हुई थी। वे उन्हीं में से चयन करके ऐसी फागें गातीं कि सुराजी टोली को दुश्मन के षडयंत्र का ज्ञान हो जाता, और फिरंगी भौचक! कि उसकी योजना विफल कैसे हो गई ''गंगिया ने बताया'' फिरंगी फौज के सिपाही आज इलाके को घेरने जा रहे हैं ऐसी खबर है। ऐं! रजऊ चौकी। गंगिया की बात पर गौर किया......... फागें याद करने लगी। रजऊ की याददाश्त बड़ी तेज थी।

गुइयाँ बचकें जइयों पानें
गली बँदी तोय लाने
राज कुराज परो बेराजी, की खों देय उरानें
गोर गैल घाट बँध गओ है, बच बच के ही जानें।
.... सखी पानी भरने बच कर जाना।
गली पर हर ओर नाकेबन्दी है।

आजकल बड़ा अंधेर (अराजकता) है, मनमानी हो रही है किससे शिकायत करें? खतरनाक घाट हो गये हैं, हर जगह घातें लगीं हैं।(पृ.269)

× ×××××

घिर गए बानापुर वारे हो
चौतरफा से घेरा पर गये, गसें गाँव के द्वारे हो
उरझा सैन फिरंगी लूटे, जोर पुरा घर सारे हो
गौएँ मार दौरन में डारीं, छेंके जन अति वारे हो
आज टेर टेर कें कै रए, छोड़ चलो घर द्वारे हो
देशपत दीमान की साँस जहाँ की तहाँ अटक गई।

गीत कानों की राह उतर कर कलेजे को चीरने लगा उनका साथी हमदर्द, राजा मर्दन सिंह को अँगरेजों ने घेर लिया हर द्वार पर सिपाही खड़े हैं बानपुर राज्य में। गाएँ मारकाट कर दरवाजों के आगे डाल दी हैं कि हिन्दू गश खा जायें। दरवेश पागल की तरह कंधे पर गुदड़ी डाले, गले में लोहे की चकरियों की माला पहने, धूल में अँटे बालों की लट छुटकाए गाता जाता था.... चलो, घर द्वार छोड़ दो। बगावत में सामने आ जाओ।'' (कही ईसुरी फाग-मैत्रीयी पुष्पा, पृष्ठ 284)

यह है लोकसाहित्य का वह सामयिक दस्तावेज जो तत्कालीनता का हमकदम बनकर कारवां आगे बढ़ाता जाता है। अपने होने वाले सार्थकता और रचनात्मकता साबित करता है। यह अन्य लोकगीतों जिसमें एक प्रिया/पत्नी/बहिन/माँ/बेटी अपने आत्मीय से निवेदन कर रही है। निवेदन है अपनी चुनरिया के रँगवाने और उसमें नई चाल के छापे छपवाने को लेकर। उसका अनुरोध है-''आलीशान चुनरिया मेरी, फोटोदार रंगा देना, आजादी के दीवानों का नक्शा अजब बना देना ऽऽऽ।'' यह लोकगीत पूरा याद नहीं लेकिन इसमें गाँधी हैं, उनका चरखा है, बैलों की जोड़ी और देश के 'निसान' की चित्रकारी की बाते हैं। तो यह है हमारा लोकमानस जो पूरी तरह से अपने समय के वशीकरण की लहर को लहराने वाली विभूतियों को गले लगाये हुए हैं। वे विभूतियाँ जिन्होंने अपने अभूतपूर्व कार्यों से सारे देशवासियों के दिलों पर कब्ज़ा कर लिया था। हर कोई उनसे अपने को किसी न किसी रुप में जोड़कर गर्व महसूस करता था। ऐसा ही एक लोकगीत किसी पुरानी फिल्म में भी है-

ऐ हो, सावरिया जो जाओ बजरिया
तो लाओ चुनरिया खादी की-खादी की
जय बोलो, हो जय बोलो महात्मा गाँधी की
गंगा किनारे का है तू किसनवा, है तू किसनवा
जो पाई चवन्नी चाँदी की, चाँदी की जय बोलो हो
जय बोलो महात्मा गांधी की-

(वैसे इस गीत पर यह आक्षेप भी लगाया जा सकता है कि यह तो फिल्मी गीत है। लेकिन फिल्में भी तो जहाँ एक तरफ लोक को प्रेरित प्रभावित करती है, वहींदूसरी तरफ उनसे भी प्रभाव ग्रहण करती है। इसी नजरिये के तहत फिल्मों में लोकगीतों का चलन पहले भी था, और आज भी है। अमिताभ बच्चन की

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अभिनीत फिल्म 'बागवान' में भी एक फाग अमिताभ पर फिल्माई गई है-

होरी खेलें रघुबीरा अवध में होरी खेलें रघुबीरा
हिलमिल आवें लोग लुगाई, भई महलन में भीरा
अवध में होरी खेलें रघुवीरा...।

केवल फिल्म में फिल्माये जाने भर से ही कोई गीत 'फिल्मी' नहीं हो जाता। फिल्में भी लोक से प्रभावित होती है। अस्तु ।)

इसी स्वातंत्र्य दौर का जबकि देश में एक ऐसी लहर उठी थी कि हर कोई सुराजी बन रहा था। उस समय का यह बन्ना गीत दृष्टव्य है -

झंडा तिरंगा लिये हाथ, हरियाले बन्ना
आजुल बन्ना के हो गये सुराजी-2
आजुल रानी दे रई लेक्चर चार, सुराजी बन्ना...
झंडा तिरंगा लिये हाथ में हरियाले बन्ना

बन्ना यानि दूल्हेराजा 'सुराजी' हैं अपने हाथ में तिरंगा झंडा लिये हुए हैं। दूल्हे राजा के बाबा भी सुराजी हो गये हैं, और दादी भी इतनी व्यस्त हैं सुराजी कार्यक्रम में कि एक दिन में चार चार लेक्चर उन्हें देने पड़ रहे हैं जनता जनार्दन की सभा में। आजादी के बाद का दौर। भारी उथल पुथलऔरबदलावों करवटों का दौर। पुराना टूट रहा है नया जुड़ रहा है। युवा कॉलेजों का मुँह देखने लगे हैं, शिक्षा का महत्व बढ़ गया है। यह सब है, लेकिन पढ़ाई और कॉलेज लाइफ में ही शादी विवाह भी हो रहे हैं।फिर भी कॉलेज एक चार्मिंग इम्प्रैशन तो रखता ही है।विशेषकर ग्राम्य पृष्ठभूमि में वहां विशेष महत्व होता है इस बात का कि 'लड़का पढ़ रहा है' बल्कि घरों में शादी कराने के लिये ही लड़कों को कॉलेज भेजा जाता है। इधर शादी हुई, उधर कॉलेज बंद। सम्हालो खेती पाती। कुछ ऐसा ही बयान है इस लोक गीत'बन्ने' में-

छुप छुप खड़े बन्ना कॉलिज की ओट में,
हाथ में किताब लिये बन्नी जी के सोच में।
माथे बन्ने के सेहरा भी सोहे,
कलगी संभँरि बन्ना कापी की ओट में,
हाथ में किताब लिये बन्नी जी की सोच में...

डाक विभाग और दूर संचार प्रणाली भी शुरु हो चुकी है, इसकी नोटिस भी कुछ इस तरह मिलती है-

1. बन्नी ने भेजा है तार बन्ने के लिए
जल्दी से हो जाओं तैयार शादी के लिये
2. मेरा बन्ना गया रंगून किया है वहां से टैलीफून
बन्नी की याद आती है जिया में आग लगाती है

इसी तरह स्वास्थ्य सेवा लेने के लिये महिलाओं का अस्पतालों में जाना शुरु हो चुका है, पहले तो डॉक्टर/हकीम/वैद्य घर पर ही आकर देख जाते थे। प्रसव घर पर ही दाई की देखरेख में सम्पन्न हो जाता था। लेकिन अब बाकायदा आधुनिक सवारी पर सज्जित होकर उसके साथ प्रसव के लिये स्त्रियाँ चिकित्सालयों में जाने लगी हैं-

रिक्शा चढ़के, हो रिक्शा चढ़ के जच्चा अस्पताल चलीं रिक्शा चढ़के। या फिर

लालन हुए रे सरकारी अस्पताल में लालन हुए रे
इधर से दौड़ी सासूरानी उधर से दौड़ी अम्मा
चरुआ धरा रे सरकारी अस्पताल में....
सासू को दिया एक रुपइया, अम्मा को दिये दो रुपइया
चप्पल चल गईरे सरकारी अस्पताल में.....
लालन हुए रे.....

शासकीय सुविधा सम्पन्नता का उपभोग जनसामान्य के लिए आम हो गया। एक समय ऐसा भी आया कि देश में कांग्रेस के शासन में आपातकाल लागू हो गया। ऐसे संवेदनशील हालातों में कई काम बहुत व्यवस्थित हो गये। सरकारी तंत्र में भ्रष्टाचार की जड़ें हिलने लगीं। इसका बाकायदा नोटिस लेता है यह लोक गीत-

भारत की गलियन मा बाज रही बीन नेहरु की बिटिया ने बड़ा भला कीन

बाबू बिन पैंसे कभी बात नहीं करते थे, कचहरी दफ्तर सभी सूने पड़े रहते थे

अब एसई इमरजिंसी में सब छोड़ दीन, चल रही देश में एक ओझल मशीन

नेहरु की बिटिया ने बड़ा भला कीन....

शादी ब्याहके बाद पति/पत्नी का पढ़ाईजारी रखना आम बात है। तकरार भी होती है आपस में। स्त्री की पढ़ाई लिखाई- और उसकी आकांक्षाएँ तथा पुरुष वर्चस्व के टकराव का एक दिलचस्प उदाहरण बुंदेली लोकगीत में -

इक दिन बोली नार पिया से कि गाँव तुम्हारी जरियारौ
उतैधरौ जे हँसिया खुरपी, हमसे न कटहै चारौ
बोली ऽ ऽ कि ऽ गाड़ी भर के जाओ बजारै, बालक बेंच आओ पिसिया
फिर दाँत का मिसिया ज़रुर लाना, तेल चमेली की सिसिया
कड़ा छला नथनी बुलाँक और गरे खों सोने की सुतिया
सुंदर धुतिया देहरादून की, कारी लट वारी चुटिया
सुन सुन बातें जे नारी की तबई खसम ने ललकारो
उतै धरौ जे बी.ए. की किताबें, औ चलौ उठौ काटौ चारौ
चला रही मु खा खा पिसिया,खाली कर दये दो बंडा
फिर उठो मुचंडा दाँती पीसत दाऊ हाथन पकरो डंडा, गुमक मार दै
दई नार के ढीले कर दये भुजदंडा, कर दओ कुंडा मार

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मार के सट गये आँ ऽ ऽ आँ ऽ ऽ

गया प्रसाद ने सुनी लड़ाई सों बीच बिचौआ दै पारो, उतै धरौ जे बी.ए. की किताबें

चलो उठौ काटौ चारो....................

अर्थात एक दिन पत्नी ने पति से कहा कि तुम्हारा गाँव निपट देहात है यहाँ झाड़ झंखाड में मुझसे हरियाई/चारा (ढोरों का भोजन) नहीं कटता। अपना हँसिया खुरपी लो और एक तरफ धर दो। गाड़ी में गेहूँ भर कर बाजार में बेंच आओ। मेरे लिये कुछ चना चबेना/मिठाई ले आना और हाँ चमेली के तेल की शीशी भी ले आना। कंगन, अगूठी, नथनी, जड़ाऊ लौंग और गले के लिए सोने की जंजीर भी ले लेना। और हाँ देहरादून की बढ़िया सी साड़ी और बालों के लिये काली लट वाली चुटिया भी ले लेना। इतना सुनते ही पति क्रोधित होकर बोला चल चल बहुत हो चुका अपनी ये बी.ए. की किताबें धर एक तरफ और ढोरों के लिए चारा काट ला। गेहूँ खा खा कर बहुत मुहँ चलाने लगी है दो बडा बंडा (अनाज रखने वाले मिट्टी के बड़े बड़े भांडे) खाली कर दिये गेहूँ के। इतना कह कर दाँत पीसते हुए वह जबर जवान उठा उसने पत्नी को डंडे से मार मार कर उसकी दुर्गत बना दी। वह मारता ही रहता अच्छा हुआ कि पड़ोसी गया प्रसाद ने बीच बचाव करते हुए निपटा दिया।

जाहिर सी बात है, एक समय था वह भी औरत का कि पहले काम फिर पढ़ाई......। समानता के इस दौर में भले ही यह घटनाक्रम अविश्वसनीय लगे, लेकिन शिक्षा के महत्व का शुरुआती दौर स्त्रियों के लिये ऐसा ही था। आज फिल्में हैं। टी.वी. सीरियल्स हैं। किचिन में कुकर मिक्सी आदि आधुनिक सुविधा जनक वस्तुओं का प्रयोग आम बात है। इटरनेट कम्प्यूटर आदि का जमाना है। एक दादरे (बहू के आगमन के पश्चात मुँह दिखाई के अवसर पर गाये जाने वाले गीत) में समय की इस नब्ज को बखूबी टटोला गया है-

ऐजू मेरी परोसन आना, देखो देखो जो नओ जमाना
सासू माँज रही है बर्तन, बहू देख रही टेलीवीजन
जिठनी बना रही है रोटी, बहू देख रही है 'कसौटी'
नंद बना रही है सूटर, भाभी चला रही कम्प्यूटर
देवर खोल रहा जूसर मिक्सर, भाभी देखन जा रही पिक्चर............

अरी पड़ोसन, तू यह नया जामाना तो देख! सास बर्तन माँजे और बहू टी.वी. देखे जिठानी रोटी बना रही है, और बहू 'कसौटी' धारावाहिक देख रही है

नंद स्वेटर बुन रही है, बहू को कम्प्यूटर से ही फुर्सत नहीं है

देवर मिक्सर और जूसर चला रहा है, भाभी पिक्चर देखने जा रही है

कहने का तात्पर्य यह कि लोकमानस अपनी विविध भंगिमाओं, गीतों, बहुविध दृश्य/श्रव्य शैलियों द्वारा अपने भावनात्मक विचारात्मक वैशिष्ट्य से अवगत तो कराता ही है, साथ ही तात्कालिकता या सामयिकता के प्रति भी पूरी तरह से सतर्क रहते हुए उसका समावेश भी यथोचित रुप से करता चलता है। इससे पाठक के ह्रदय में 'काल की वह प्रतीति' संचरित होती है जो उसे समय के आरपार देखने/अनुभव करने की क्षमता प्रदान करती है।

□□□

128/387 वाई वन ब्लॉक
किदवई नगर, कानपुर (उ.प्र.)
पिनकोड-208011
फोन : (0512) 2636447
मोबा. 9415537644

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalah Jammu

'हिन्द स्वराज' में लोक और लोक स्वराज में हिन्द

कनक तिवारी

1909 में लंदन से दक्षिण अफ्रीका लौटते हुए पानी के जहाज पर सम्पादक-पाठक संवाद के रुप में गांधी ने एक कालजयी कृति लिखी। उस समय के हिन्दुस्तानियों और दक्षिण अफ्रीका के हिंसावादी पंथ के दिये गए कथित जवाब में लिखी पुस्तक **'हिन्द स्वराज'** है। यह एक लेखमाला के रुप में **'इण्डियन ओपिनियन'** नामक पत्र में गुजराती में दक्षिण अफ्रीका में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक के भारत में गुजराती संस्करण के प्रकाशित होते ही बम्बई में ब्रिटिश सरकार ने जब्त कर लिया था। 'हिन्द स्वराज' आधुनिक सभ्यता की समालोचना है गांधी ने लगातार यही कहा कि पश्चिमी सभ्यता के संबंध में उनके मूलभूत विचार यही हैं जो इस पुस्तक में व्यक्त हुए है। उन्होंने साफ कहा था **'यह किताब ऐसी है कि यह बालक के हाथ में भी दी जा सकती है। यह द्वेष-धर्म की जगह प्रेम-धर्म सिखाती है। हिंसा की जगह आत्म बलिदान को रखती है। यह पशुबल से टक्कर लेने के लिए आत्मबल को खड़ा करती है।** 'हिन्द स्वराज' में भारतीय स्वतंत्रता का जनपथ विस्तृत है। 'हिन्द स्वराज' की भूमिका में गांधी ने बेलाग होकर यह भी स्वीकार किया है कि यद्यपि कृति में उनके ही विचार हैं, फिर भी वे मौलिकता का दावा नहीं करते। 'हिन्द स्वराज' गांधी वांग्मय की अकेली पुस्तक है, जिसके मूल गुजराती भाष्य का गांधी ने स्वत: अंग्रेजी में अनुवाद किया था।

'हिन्द स्वराज' यह बीज है जिसने गांधी का विचार-वृक्ष धरती की छाती पर उगाया। उसे बूझने के लिए इस पुस्तक के प्रकाशन बिंदु को समझ लेने से पाठक को भटकाव नहीं होता क्योंकि गांधी-दर्शन की बुनियाद वाकई इस पुस्तक में है। जिस तरह श्रीरामकृष्ण देव के आध्यात्मिक सूत्रों को विवेकानंद ने सांस्कृतिक दुनिया में तब्दील कर दिया, वैसा ही गांधी ने 'आत्मकथा' सहित अपने बाकी लेखन में 'हिन्द स्वराज' का ही विस्तार और प्रक्षेपण किया। इस कृति को पढ़ने से गांधी वांग्मय की बहुत समीक्षाओं को पढ़ने और समझने में दुनिया की कई पीढ़ियां व्यतीत हो गई और शोध अब भी जारी है। गांधी ने अपनी किताब को निर्दोष कहा था। वह निर्दोष तो है लेकिन निर्दोष को पढ़ना और समझना दोषी व्यक्ति की अपराध विवरणिका को पढ़ने से ज्यादा होता है।

गांधी के लेखे भारत की गुलामी केवल राजनीतिक गुलामी नहीं थी। वह भले उस तरह दिखी हो। दरअसल पश्चिम की सभ्यता ने अमरबेल की तरह भारतीय सभ्यता के बोधिवृक्ष को नाग बनकर डस लिया है। यही हमारी असली गुलामी रही है। इस गुलामी को सबसे मजबूत, कालजयी और क्रूर भाषा में गांधी चुनौती देते हैं। उन्होंने साफ कहा कि पश्चिम की सभ्यता एक चांडाल सभ्यता है। वह शैतानियत की सभ्यता है। इस सभ्यता से मुक्ति पाये बिना आजादी की कोई कल्पना नहीं हो सकती। गांधी अपनी आत्मा की गहराइयों में डूबकर आश्वस्त थे कि हिंदुस्तान भौतिक धरातल पर राजनीतिक आजादी भले ही हासिल कर ले, उसकी पुख्ता सांस्कृतिक दीवारों के अन्दर दीमकों की फौजें उग आई है। 'हिन्द स्वराज' के बीस अध्याय मिनी महाभारत या मिनी रामायण की तरह अपने अंदर महाकाव्योचित उदात्तता से लबरेज हैं। उनमें एक सा बुद्ध की जातक कथाओं, ईसप के गल्प, हितोपदेश और पंचतंत्र के सूत्र और गुर अंतर्निहित हैं।

'हिन्द स्वराज' में गांधी ने संसदीय प्रणाली की बड़ी फजीहत की है। अंग्रेजी पार्लियामेंट को ध्यान में रखकर गांधी ने यहाँ तक कहा था कि संसदीय पद्धति बांझ और वेश्या की तरह है। गांधी का तर्क था कि पार्लियामेंट कानूनों को तो जन्म दे सकती है, लेकिन वह संवेदना, करुणा और लोक कल्याण का प्रजनन नहीं कर सकती। उसको बहुमत के आधार पर चुने गये सत्ताधारी दल के स्वार्थ के लिए रचा जाता है। संसद के सदस्य पाँच वर्षों तक फूहड़ बेशर्मी के साथ मतदाताओं का अपमान करते हैं। मतदाता भी इनका चुनाव मुख्यत: समाचार-पत्रों को पढ़कर सामूहिक राय के आधार पर करते हैं जबकि समाचार-पत्र वास्तविक जीन का न तो प्रतिनिधित्व

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

करते हैं और न ही वे उसका प्रतिबिम्ब हैं। इस तरह एक बौद्धिक षड्यंत्र के तहत मतदाताओं के मत कबाड़कर जीती गयी संसद बांझ प्रक्रिया की हिस्सेदारी नहीं तो क्या है। संसद को वेश्या कहने के पीछे गांधी का हेतु था कि संसद मुख्यत: सत्ताधारी दल के अपने नेता के प्रति प्रतिबद्ध और पिछलग्गू होती है। सत्ताधारी दल के नेता को संसद की परवाह तक नहीं होती। वह अपनी सुविधा के अनुसार संसदीय कार्य का संचालन करता है। इससे सामूहिक प्रतिनिधित्व की भावना का मखौल उड़ता है। जो बात गांधी ने 1909 में तत्कालीन ब्रिटिश हुकूमत और संसदीय प्रणाली के सन्दर्भ में कही थी, वह बात उसी वेस्टमिन्स्टर संसदीय प्रणाली की नकल करने वाली भारतीय संसद पर भी क्या लागू नहीं होती? संसदीय कर्म और कौशल को दूरदर्शन पर देखकर मतदाताओं का सिर आत्मग्लानि से झुक जाता है कि उन्होंने अपने मतों का उपयोग क्यों किया। यह लोक आचरण गांधी की करुणा का कालजयी विस्तार है।

39 वर्षीय बैरिस्टर मोहनदास करमचंद गांधी ने 'हिन्द स्वराज' में जो भी लिखा उसे उसके ही पश्चातवर्ती अवतार महात्मा गांधी ने बदलने की जुर्रत तक नहीं की। **'इस किताब में 'आधुनिक सभ्यता' की सख्त टीका की गई है। यह 1909 में लिखी गई थी। इसमें मेरी जो मान्यता प्रकट की गई है, वह आज पहले से ज्यादा मजबूत बनी है। मुझे लगता है कि अगर हिन्दुस्तान 'आधुनिक सभ्यता' का त्याग करेगा, तो उससे उसे लाभ ही होगा।'** 'हिन्द स्वराज' गांधी के जेहन से कहीं बढ़कर उनकी आत्मा से निकला एक ऐसा ताप था जिससे पश्चिमी सभ्यता को झुलसना ही झुलसना था।

'हिन्द स्वराज' की सपाट, बेलाग और छात्रमयी भाषा फुलणड़ियों की तरह अपने स्फुलिंग बिखेरती चलती है। वह मौज़ूदा हिन्दुस्तान की शासन और न्यायदान पद्धति पर उतना ही गहरा कटाक्ष है जो अंग्रेजों की हुकूमतशाही के खिलाफ गांधी का प्राथमिक बयान प्रतीत हुआ था। इसलिए 'हिन्द स्वराज' अपने इस अनोखेपन के कारण एक सदी पुरानी किताब लगने के बदले मोहनदास करमचंद गांधी द्वारा हाल में लिखी गई पुस्तक लगती है जिसकी स्याही तब तक नहीं सूखेगी जब तक धरती पर लोकतंत्र की खाल में अधिनायकवाद निर्वाचित जनप्रतिनिधियों के तेवर में टर्राता रहेगा।

इस कृति में उन्होंने राम के नाम का उल्लेख तक नहीं किया, जिस रामराज्य की परिकल्पना के लिए वे अन्यथा जीवन भर जूझते रहे। 'हिन्द स्वराज' का मूल संदेश भारत के ठेठ देहात के किसान हैं, जिनके माध्यम से गांधी ने भारत की आजादी का झंडा उठाया था। गांधी को चिंता है तो केवल हिन्दुस्तान के उन बुद्धिजीवियों की जो पश्चिम की भाषा, संस्कृति, राजनीतिक कौशल और आधुनिकता के समक्ष नतशिर है, कायल हैं बल्कि उसके बंधुवा मजदूर है। गांधी कहते हैं कि हिंदुस्तान के करोड़ों लोग जहाँ यह अंग्रेजों की चाण्डाल सभ्यता नहीं पहुँची है, आज भी आजाद हैं। यदि सांस्कृतिक समास का सहारा लिया जाए तो कहा जा सकता है कि जिस देश के लोक जीवन में **राम** और **कृष्ण** की कथाएँ, **आल्हा-ऊदल** के गल्प और कुरान शरीफ की आयतों की ऊष्मा हो उसे इस बात की परवाह ही नहीं थी कि अंग्रेजी राज्य उसके आँगन तक उतर आया है। हिन्दुस्तान के असंख्य लोग अब भी सांस्कृतिक दृष्टि से लगातार अपनी अस्मिता को कायम रहकर आज़ाद हैं।

केवल गांधी ने यह बात कही थी कि दरअसल आजादी उन्हें चाहिए जिन्होंनं पश्चिम की शिक्षा पाई है और जो उसके पाश में फंस गये हैं। उन्हीं के शब्दों में **'जिस तरह महासागर के किनारे पर मैल जमा हो, उस मैल से जो गंदे हो गये हैं, उन्हें साफ होना है, बाकी करोड़ों लोग तो सही रास्ते पर ही हैं।'** बाकी 95 प्रतिशत निपट भारतीयों के लिए उन्होंने यहाँ तक कहा था कि जहाँ जहाँ पश्चिम की चाण्डाल सभ्यता नहीं पहुँची है वहाँ हिन्दुस्तान आज भी ऐसे ही है कि **'उस पर न अंग्रेज राज कर सके, न आप कर सकेंगे।'** यह गांधी ने कहा था कि इस देश के केवल शहरी लोग अंगरेजों के गुलाम हैं। अंगरेजी पोशाक, भाषा, खानपान से लकदक भद्रजन अंगरेज हाकिम-हुक्कामों के हुक्का भरने वाले मनसबदार हैं। भारत के सात लाख गांव अंगरेजों के गुलाम नहीं है। अपनी पुश्तैनी पोशाकों में लैस, संस्कृति, परम्पराओं, तहजीब, धर्म में आकंठ डूबे ग्रामीण अपनी निपट सादगी की शक्ति लिए यह जानते ही नहीं हैं कि कौन है अंगरेज और कहां से आया? गुलामी एक मानसिक्ता है, राजनीतिक घटना नहीं-यह गांधी का प्रमेय था।

'हिन्द स्वराज' में गांधी ने कुछ और भी मूलभूत मुद्दे उठाए। **'अंग्रेजी शिक्षा ने तो हमें सिर्फ गुलाम बनाया है। हम अपने ही समाज और उसकी जड़ों से कट गए हैं। गांधी एक जगह लिखते हैं जो अंग्रेज़ी पढ़े हुए हैं उनकी संतानों को पहले तो नीति सिखानी चाहिए। उनकी मातृभाषा सिखानी चाहिए और हिन्दुस्तान की एक दूसरी भाषा सिखानी चाहिए।**

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हिन्दू-मुसलमान के प्रश्न पर उनकी दृष्टि बहुत सुस्पष्ट थी। वे लिखते हैं '**हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, जो इस देश को अपना वतन मानकर बस चुके हैं, एक देशी, एक-मुलकी हैं, वे देशी-भाई हैं, और उन्हें एक दूसरे स्वार्थ के लिए भी एक होकर रहना पड़ेगा। दुनिया के किसी भी हिस्से में एक राष्ट्र का अर्थ एक-धर्म नहीं किया जा सकता, हिन्दुस्तान में तो ऐसा था ही नहीं।**'

एक ताबीज गांधी ने दी थी और कहा था कि जब कोई भी काम करो, यह सोचो कि तुम्हारे ऐसा करने से देश के अंतिम व्यक्ति का क्या होगा? मुनाफे के सरकारी कारखाने काले बाजारियों को औने पौने बेचे जा रहे है। निजीकरण शब्द को राष्ट्रीयकरण का समानार्थी कहा जा रहा है। अमरीका जाना मक्का मदीना या बद्रीनाथ जाना हो रहा है। जार्ज बुश हमारी आत्मा के समाते जा रहे हैं। उसके मुकाबले हमें अप्रवासी भारतीयों के अधिकार तय करने की प्राथमिकताएं हैं। हिंसा, आगजनी, अपहरण, बलात्कार, नक्सलवाद, भ्रष्टाचार बढ़ रहे हैं। इनके निपटने के लिए वरिष्ठ नौकरशाह विदेशों में ट्रेनिंग ले रहे हैं। अपराधियों को जेल में जगह नहीं मिल पा रही हैं। इसलिए वे रेलवे के 'तत्काल आरक्षण' की योजना के अनुसार संसद और विधानसभाओं में अपनी जगहें सुरक्षित कर रहे हैं। न्यायालय पटवारियों, कोटवारों और बाबुओं को सजा देने में मुस्तैद हैं। कालाबाजारिए, हवालाई, मुनाफाखोर, तांत्रिक, धर्माचार्य बाइज्जत बरी होने का नवयुग उद्घाटित् कर रहे हैं। अनुकम्पा नियुक्तियाँ नहीं हो रही हैं। मंत्रियों, अधिकारियों और भ्रष्टों की अनुकम्पा नियुक्तियां नहीं हो पा रही है। जितना पानी अवाम को पीने और निस्तार के लिए नहीं मिलता, उससे ज्यादा पानी साहबों के बंगलों में पाखानों में बहाया जा रहा है। अछूतों का कय और मल उठाने से इन्कार करने पर गांधी ने अपनी माता समान बड़ी बहन और बीवी तक को अपने आश्रम से निकल जाने कहा था। उन अछूतों के लिए काले बाजार से प्राप्त शराब पीने के बाद बुद्धिजीवी लिख रहे हैं कि गांधी की दलितों के लिए करुणा संदिग्ध थी। गांधी बनाम अम्बेडकर का मिथक रचा जा रहा है जबकि गांधी ने ही बाबा साहब की असाधारण मेधा के कारण उन पर भारत के संविधान रचने की महती जिम्मेदारी सौंपी थी। गांधी की मूर्तियाँ खंडित की जा रही है। उनकी याद में दिए जाने वाले पुरस्कार गांधी विरोधी आचरणों को भी दिए जा रहे हैं। गांधी कोई माला की सुमरनी नहीं है जिनके नाम का जाप किया जाए। कई गांधीवादियों ने अलबत्ता करोड़ों के सरकारी अनुदान डकार कर गांधी को मैली कुचैली धोती, छितरी दाढ़ी, हिंसक विनम्रता और लिजलिजे व्यक्तित्व का तिलिस्म बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। गांधी दरअसल एक वामपंथी हैं, मार्क्स की नकल के नहीं। भारतीय औपनिवेशिक परम्परा के ऋषि चिन्तन के असल की तरह। उनका उत्तर आधुनिक पाठ भी बनता है। कोई उनसे मिले तो। उनका हालचाल पूछे तो। राजघाट पर समाधि जिसकी है, वह गांधी नहीं है। गांधी तो जनघाट पर ही अपनी मुक्ति पा सकता है। गांधी को लेकिन मुक्ति नही चाहिए थी। उसने मरण को संस्कार बनाया है। इसलिए जो भी इस रास्ते पर चलेगा, उसे ही मोहनदास करमचंद गांधी को जिलाए रखने का हक होगा।

गांधी तो आजादी के वर्षों पहले से ही बिकाऊ तक नहीं बचे थे। दिल्ली के तख्ते ताऊस पर जब उनके चेले विराज रहे थे, वे नोआखाली की गलियों में हिन्दू मुसलमान के सड़ते घावों पर मरहम बनकर घर घर रिस रहे थे। भारत की संविधान सभा में जब देशभक्त भविष्य की स्लेट पर मुल्क की इबारत लिख रहे थे, गांधी की खड़िया उनके हाथों से छिटक गई थी। आजादी की दहलीज पर जब गांधी उनके लिए अपशकुन की तरह आकर खड़े हो ही गये तो सांस्कृतिक राष्ट्रवाद ने बन्दूक की उंगलिया उनकी छाती में धंसाकर खून पी लिया। इसके बाद तो टीवी सीरियल की तरह हर नया एपिसोड पहले से अधिक लोमहर्षक होकर उनके जीवन में मृत्यु सा सिहरता रहा। गांधी का चरखा बेहद पिछड़ा, दकियानूस और ढीला ढाला होने से उसका राजघाट से विसर्जन कर दिया गया। शराबबंदी के वे प्रणेता थे। यह पिछड़ा सामाजिक आचरण लिए जननेता देश कैसे चला सकते थे। पार्टी के संविधान में शराबबंदी की शर्त चिपकी बैठी है, लेकिन टिकट उसे मिलती है जो ज्यादा पी सके। शराब ठेकेदार प्रदेश अध्यक्ष बनते हैं और दलाल जिलाध्यक्ष। ग्राम स्वराज का सपना कूड़े के ढेर पर फेंक दिया गया है। उसे कलेक्टर के बूटों तले रौंदा जाता है। जिस आखरी व्यक्ति के आंसू पोछने का गांधी ताबीज बांटते फिरते थे, वह आदमी इन्सान होने की परिधि से छिटककर पशुओं की जरह जुल्म सह रहा है। वे चाहते थे कि हमारे हुक्मरान तोप, तमंचों और बन्दूक संगीनों के पहरों में नहीं रहें। हमारे पांच सालाना राजनीतिक खसरों के अलग अलग रकबाधारियों ने अंग्रेजों से ज्यादा सुरक्षाकर्मी अपने चारों ओर बाड़ की तरह उगा लिए ताकि वे खेत को हिफाजत से चर सकें।

पश्चिमी सभ्यता के वर्तमान के पास ऐसा कुछ नहीं है जिससे सभ्यता के स्तर पर भारत को कुछ भी सीखना

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हो। आज हम सीख रहे हैं पश्चिम से उसका मन। आज 31 दिसम्बर की रात को सड़कों पर शराब के पेगों से उत्पन्न किए गए उल्लास के कारण नौजवान पीढ़ी को पुलिस के संरक्षण में नाचने कूदने की अनुमति दी जाए– इसे हम आधुनिक संस्कृति कहते हैं। हमारे बच्चे आधी रात के बाद विदेशी चैनलों से उपजती अधनंगी फूहड़ जिस्म की नुमाइश को कलात्मक सौंदर्य के नाम से जज्ब कर रहे हैं। इसे हम 'वसुधैव कुटुम्बकम' के निर्यात लाइसेंस का जवाबी आयात लाइसेंस समझते हैं। मानवता की रक्षा के लिए अपने शरीर पर कीलें बिंधवाकर तिल तिलकर मर जाने वाले ईसा मसीह के जन्म दिन बल्कि ठीक उनके जन्म के समय शराबखोरी में डूबकर लोग भारत में भी थिरक रहे हैं। धर्मान्तरण से भी ज्यादा खतरनाक इस मानसिकता को भारत में सरकारी संस्थाओं, कानूनों, साहबों और सांस्कृतिक उपादानों का संरक्षण प्राप्त है। रोज़ा अफतार अपनी पवित्रता, कुर्बानी और भाईचारे की बुनियादी सांस्कृतिक अवधारणा से अलग हटकर पांच सितारा होटलों, मंत्रियों तथा दिग्गज नौकरशाहों की सामाजिक पार्टियों का पर्याय बनाया जा रहा है। उनमें आने वाले अतिथि खाते कम हैं हमख्याल बिल्कुल नहीं होते, लेकिन एक दूसरे से ''डील'' ज्यादा करते हैं। दीवाली पर जलने वाले दियों के लिए तेल अब बचा ही नहीं है। होली अश्लील गालियों के सामूहिक नारे का नाम हो गई है। इतनी ताब इतनी जुम्बिश हमारे हाथों में नहीं बची कि हम आल्हा ढोलक की थाप पर गा लें। कृष्ण की झांकियां उनकी लीलाओं के देह पथ के सरोकारों से जुड़ती जा रही है। तिलक ने जिस उद्देश्य से गणेश उत्सव प्रारंभ किये थे वह अंग्रेजों के जाने के साथ पूरा हो गया। अब गणेश उत्सवों में फूहड़ आर्केस्ट्रा गूंज रहा है। इसके बाद शायद कैबरे नृत्यों की बारी है। यह देश कभी गांधी के ही कारण प्रभात फेरियों का देश था। अब इस देश में किसी भी सांस्कृतिक कार्य में सुप्रभात नहीं होता। लेकिन हर सांस्कृतिक कार्यक्रम इस तरह समाप्त होता है कि हमें ''गुडनाइट'' तो कहना ही चाहिए। भारतीय व्यंजन अपनी अस्मिता खो चुके हैं। वे किसी आदिम कबाइली परम्परा के वंशज है। अब तो फास्ट फूड के खोमचे वाले हर नुक्कड़ चौराहे पर शाम से आधी रात तक खड़े तरह तरह की बीमारियां परोस रहे हैं। कुछ शब्द अपना शब्दार्थ और भावार्थ दोनों खो चुके हैं। समुन्नत घरों में चौके, पूजागृह, माता–पिता, रीति रिवाज, मर्यादाओं का कोई अर्थ कहां रह गया है? विदेशी कर्ज से गुजरती पीढ़ियां धीरे धीरे अपनी आत्मा की शक्ति खो चुकी हैं। न हमें मूलधन वापस करना है, न हमें ब्या वापस करना है। हमारे विदेशी ऋणदाता न मूलधन वापस चाहते हैं और न ही ब्याज़। हमारे जिस्म के बाद वे हमारी आत्मा चाहते हैं। जो काम ईस्ट इंडिया कंपनी ने किये थे वही काम वेस्टर्न वर्ल्ड की बहुराष्ट्रीय कंपनियां कर रही हैं।

गांधी को समाजवाद से नफरत नहीं थी। वे मार्क्स को ठीक से जानने का अलबत्ता दावा भी नहीं करते थे। गांधी ब्रिटिश नौकरशाही से दक्षिण अफ्रीका में पिटते रहे। उसके सामने उन्होंने अपनी दधीचि छाती अड़ा दी थी। आज उनके देश की नौकरशाही से नेता बनी चौकड़ी के चुंगल में लोकतंत्र की आत्मा फंस गई है। धर्म–निरपेक्षता की बलिवेदी पर बापू की देह को जिबह कर दिया गया। उसके बाद भी शाहबानों के मामले में घुटने टेके गए। बाबरी मस्जिद को सुप्रीमकोर्ट, संविधान, संसद और मुख्यमंत्री अपनी अपनी विवशताओं का मुखौटा लगाए नहीं बचा सके। गांधी देश में जनता का स्वराजी लोकतंत्र चाहते थे। फिर भी वोट हैं कि कबाड़े जा रहे हैं, छापे जा रहे हैं, मांगे नहीं जा रहे हैं, छीने जा रहे हैं। हिन्दू–मुसलमान इत्तहाद के लिए अदमत्तशद्दुद के उस मसीहा ने खुद को ताबूत बना लिया। शहीदों की चिताओं के लिए ताबूत के नाम पर कमीशनखोरी की रोटी सेंकी जा रही हैं। जिस गोरी सल्तनत ने गांधी को सेंट मेरित्सबर्ग के स्टेशन पर फेंका, उसका बोरिया बस्ता ही महात्मा ने बांध दिया। अमरीकी प्रेसिडेन्ट हमारे ही धर आकर हमें आखें दिखाता है। विश्व बैंक के मुलाजिम नये कौटिल्य बने हुए हैं और जनपथ हो गया है राजपथ। देश गर्क में जा रहा है, जनता नर्क में, फिर भी सत्ताधीशों को फर्क नहीं पड़ रहा है। नीम की पत्ती की चटनी, खजूर, बकरी का दूध, चोकर की रोटी गांधी की आत्मा के हथियार थे। पांच सितारा होटलों की अय्याशी, भुनी हुई मछली, कीमती स्कॉच, 'आक्सब्रिज' की अंग्रेजी, उद्योगपतियों का कालाबाजार, मूर्ख मंत्रि–मंडलियाँ समेटे गांधी के दुरंगे और तिरंगे राजनीतिक वंशज देश की देह को दीमकों की तरह नोच नोच कर विश्व बैंक का ब्याज बनाते चले जा रहे हैं।

फिर भी गांधी हैं कि चुप हैं।

□□□

मित्र विहार, लिंक रोड,
बिलासपुर (छ. ग.)
मोबा. 94252–20737
99815–08737

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

वैश्वीकरण के शिकंजे में लोक-संस्कृति

अनिल मिश्र

लोक संस्कृति किसी समाज की उपार्जित कितनी मूल्यवान पूँजी है यह बताने की आवश्यकता नहीं। जैसे शिराओं, धमनियों वाले रक्त के बिना शरीर का कोई वजूद नहीं, उसी तरह अपनी संस्कृति के बिना किसी जाति की कोई पहचान नहीं। साहित्य, संगीत, कला, धर्म, विश्वास, मिथक रातों-रात नहीं बनते। इसमें मनुष्य की असफलताएँ, उनसे सीख, खुशियाँ, उत्थान-पतन सभी शामिल मिलेंगे। आज के सभ्य मानव के उच्च आदर्श और मूल्य किसी शून्य की परिकल्पना से नहीं आये, उसके पीछे समाजों के घनघोर संघर्ष की कारुणिक दास्तां है। प्रकृति से लोहा लेने से लेकर स्वयं अपनी प्रवृत्तियों की जंग से निकली हैं आधुनिक मानव की राहें। क्लासिकल संगीत में गुफाओं की सायं-सांय, जंगलों की सरसराहट, पशुओं की दहाड़, पक्षियों की कूज सभी की अनुगूँज मिलती है। कल्पना करें पहली बार आदि मानव ने किस तरह अपने शत्रु का सामना किया होगा। संभव है वह हारा हो, अपनी जान से हाथ धो बैठा हो, लेकिन आज की अत्यधिक पेंचीदी तकनीकी युद्ध कला में नींव की ईंट वही है। दंत कथाओं, मिथकों का कोई प्रामाणिक दस्तावेज नहीं, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी, दूसरी से तीसरी में ये कैसे पहुँची यह बताना भी गहन समाजशास्त्रीय दृष्टि की अपेक्षा रखता है, लेकिन क्या यह सच्चाई नहीं किं आज की अनेक गुत्थियों को सुलझाने के सूत्र इन्हीं में ढूंढ़े जाते हैं।

लोक-संस्कृति के रंगों की विविधता और जीवन के तमाम आयाम जहाँ एक ओर सामाजिकता के विन्यास रचते हैं वहीं दूसरी ओर एक व्यक्ति की विशिष्टता को परिभाषित और रेखांकित भी करते हैं। इसके वैभव में ही आत्म-गौरव और सामूहिक शक्ति के बीज मिलेंगे। कदाचित यही वह कवच है कि जितनी भी घातक मार हो सभ्यताएँ समूल नष्ट नहीं हुई। सिन्धु, सुमेरियन, मिश्र सभ्यताओं के नागरिकों ने जिन जीवन-प्रणालियों को अपनाया, उसकी धारायें आज की शहरी सभ्यता में बहती मिलेंगी। कितनी बार शत्रुओं ने शाखाएँ काट दीं, तने को उड़ा दिया, फिर भी कुछ ही दिनों में जड़ों के आस-पास हरी-हरी कोपल लहलहाने लगीं। आज के वैज्ञानिक युग में साधारण दृष्टि से नाच-गान, तिथि-त्योहार, खान-पान, रोजे-व्रत, भैवादी-नातेदारी कितने भी अनर्गल लगें, किन्तु हमारी अस्मिता के सर्वाधिक सशक्त सूत्र तो वहीं मिलेंगे। आक्रान्ताओं ने सब कुछ तहस-नहस कर डाला, गाँव के गांव जला दिये। बच्चे बूढ़ों, स्त्रियों किसी को नहीं बख्शा, तो भी गलती से बच गये इक्का-दुक्का लोगों ने फिर से पूरी रचना कर डाली। यह मुमकिन हुआ संस्कृति के उस बीज से अदम्य जिजीविषा और जीवन के राग समाये थे।

निस्संदेह जैव विविधता, सांस्कृतिक सम्पन्नता सभ्यता के लिए 'एलन वाइटल', प्राण या जीव द्रव्य हैं। व्यक्ति की भावनात्मक दुनिया को पोषित करने और जिंदा बचाये रखने के लिए अपरिहार्य। यान्त्रिक मानव की कल्पना सिर से पाँव तक भयावह झुरझुरी पैदा करती है। उसी दिन कैसी होगी यह धरती जब आपसी व्यवहार में भावनाओं को कोई जगह नहीं होगी। फिर तो अंध स्वार्थ, शोषण और अतिक्रमण की घेराबंदी में मनुष्य का एक सबूत भी नहीं बचेगा। भौतिक रुप से कठिन से कठिन जिंदगी जी रहे आदिवासियों और अत्यन्त पिछड़े क्षेत्रों के लोगों के लिए उनकी संस्कृति ओजोन परत से कम नहीं है। ओजोन की छतरी में छिद्र की भयावहता के बारे में वैज्ञानिक रोज ही चेता रहे हैं। आज कितने बौद्धिकों के लिए साहित्य निर्मूल्य हो गया है, खासकर कविता की मृत्यु की घोषणाएँ की जा रही हैं। कुछ विश्वविद्यालयों में तो अब ये पाठ्यक्रम के अंग नहीं है। परंतु आज एक भी ऐसा विचारक नहीं है जो इनके विकल्प का संकेत दे सके। 'परम्परा का मूल्यांकन' की भूमिका लिखते हुए डॉ. रामविलास शर्मा इस प्रश्न पर गहराई से विचार करते हैं-

''साहित्य मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन से सम्बद्ध है। आर्थिक जीवन के अलावा मनुष्य एक प्राणी के रुप में भी अपना जीवन बिताता है। साहित्य में उसकी बहुत सही आदिम भावनाएँ प्रतिफलित होती हैं जो उसे प्राणिमात्र से

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जोड़ती हैं। इस बात को बार-बार कहने में कोई हानि नहीं है कि साहित्य विचारधारा मात्र नहीं है। उसमें मनुष्य का इन्द्रिय बोध, उसकी भावनाएँ, आन्तरिक प्रेरणाएँ भी व्यंजित होती हैं। साहित्य का यह पक्ष स्थायी होता है।''

कुछ लोगों के मन में यह संदेह उठता है कि परम्परागत संस्कृति की वकालत करने वाले लोग सामन्तवादी और पूंजीवादी मानसिकता के हैं। ऐसे लोग समाजवादी व्यवस्था की उत्पत्ति और मूल्यों के प्रति पूर्णतया दिग्भ्रमित हैं। उन्हें यथार्थ को समग्रता में देखने मात्र से पीड़ा होती है। ऐसे लोगों की आँखें खोलते हुए डॉ. रामविलास शर्मा मानते हैं कि 'समाजवादी संस्कृति पुरानी संस्कृति से नाता नहीं तोड़ती, वह उसे आत्मसात करके आगे बढ़ती है।' इसका एक बहुत बड़ा कारण संस्कृति का मनुष्योन्मुखी होना है। लोक-संस्कृति में लोक के आदर्शों की भी स्पष्ट झलक मिलती है। लोक-गीतों, नृत्यों में कारुणिकता की जो अभिव्यक्ति होती है वही किसी और विधा से तो संभव ही नहीं। अभी हाल में मुझे 'लोक मड़ई' के एक विशेषांक में छत्तीसगढ़ी लोक-गाथा 'दसमत कैना' को पढ़ने का मौका मिला। छत्तीसगढ़ में देवार जाति के लोग इसे गाते हैं। स्त्री-जाति के स्वाभिमान की रक्षा के लिए संघर्ष की अनोखी दास्तां लोक-रस के साथ आधुनिक स्त्रियों के लिए वह प्रतीक सौंपती है जिससे अपनी बुनियादी सोच को पुनर्व्यवस्थित किया जा सकता है। अन्याय और अपमान के प्रति संघर्ष के बिगुल छेड़ते समय परिणाम की उपेक्षा के दूसरे बहुत उदाहरण ऐसे नहीं मिलेंगे, हो सकता है उसमें कल्पना का भी सम्मिश्रण हो किन्तु अपने मूल से यह गाथा जो ध्वनि पैदा करती है उसी की हिमायत तो आज के सभी फेमनिस्ट संगठन करते हैं। दसमत की कथा को ओड़िया जाति के लोग अपने सम्मान और अस्मिता के साथ जोड़ते हैं। इस तरह की गाथाएँ सारी दुनिया की जनजातियों में मिलेंगी।

वैश्वीकरण के युग में जी रहे मनुष्य के लिए अपनी धरोहरों के अपहृत होने का जबरदस्त खतरा मंडरा रहा है। आज की हमारी सबसे बड़ी चिन्ता भी यही है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आज का बाजार हमारे परम्परागत बाजार से कितना भिन्न है। अब सवाल आवश्यकता और पूर्ति का नहीं है। उत्पादन और उपभोग के बीच संतुलन बुरी तरह चरमरा गया है। अत्यधिक उत्पादन और शोषण की नीयत से कृत्रिम आवश्यकताएँ सृजित की जा रही हैं। इस खेल में बनाये गये नियम एक पक्षीय और अपारदर्शी हैं। लोक-संस्कृति अपनी प्रकृति की वजह से इस आक्रमण के रास्ते सशक्त प्रतिरोधक के रुप में दिखायी देती है। पूँजी की लिप्सा और तृष्णा के लिए यह व्यूह रचना फूटी आँख से नहीं सुहाती। लोक-संस्कृति के मजबूत किले में आम आदमी का शोषण संभव नहीं, इसलिए उसे इसके बाहर निकालना होगा। या तो भौतिक तरीके से जड़ों में कुल्हाड़ी मारकर जीवन से अलग कर दिया जाय या रासायनिक तरीके से उसे बिल्कुल गला दिया जाय। ऐसा करना आसान नहीं, इसके लिए एक उच्च तकनीकी युक्त आक्रमण प्रणाली को ईजाद करना होगा। यह मनोवैज्ञानिक-आर्थिक यथार्थ पूँजी के संज्ञान में अच्छी तरह था। एक तरीका यह था कि शक्ति का प्रयोग करते हुए लोक-संस्कृति के सभी रुपों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जाय। लेकिन ऐसा नहीं हो सकता था क्योंकि इतिहास आड़े था। दूसरा तरीका था परम्परा को हीन दिखाना और उसके ऊपर आधुनिकता की चमक-दमक, वैभव, विलास का कलात्मक विक्षेप। पूँजी के शातिर दिमाग ने दूसरा वाला रास्ता ही चुना। इस कारनामें को अंजाम देने के लिए एक शब्द उछाला गया-'ग्लोबल विलेज'। यूँ तो भारत जैसे अनेक देशों में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की बात की जाती थी लेकिन इस तरफ शायद ही किसी ने इतना ध्यान दिया हो, जितना कि 'ग्लोबल विलेज' की ओर। इसके पीछे स्पष्ट कारण था, जब पूरब पूरी धरती को कुटुम्ब कहता था तो हजारों मील की दूरियों, संस्कृतियों, परिवेश में भिन्नता के बावजूद वह मनुष्य होने के नाते भावनात्मक रुप से नजदीक पाता था। उस समय बिरले लोगों के लिए ही एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप में यात्रा करना संभव था। जो ऐसा कर भी पाते थे वे बड़े साहसी लोग होते थे। आज साधारण आदमी भी दुनिया के किसी देश में आसानी से पहुँच जाता है। संचार-क्रांति ने तो सचमुच दूरियों के मायने ही खत्म कर दिये हैं। टेलीविजन और इंटरनेट पर सूचनाओं का इतना अम्बार है कि कुछ भी छिपाया नहीं जा सकता। हाँ, अगर आज भी छिपा है तो मनुष्य की मनुष्यत। यहाँ तक कि इरादे भी स्पष्ट हैं, थोड़ी बहुत लाग-लपेट के साथ। जिनकी आँखों में स्वार्थ और दिलों में नफरत भरी है वे ग्लोब को गाँव इसलिए नहीं कहते हैं कि पड़ोसी के दुःख-सुख में काम आयेंगे, काज-परोजन में हाथ बटायेंगे, बल्कि उनके लिए यह दुनिया गाँव इसलिए है कि कोई उनकी पहुँच से दूर नहीं है। वे सबको देख रहे हैं। कोई आंख तरेरने की जुर्रत करे तो उसका टेटुआ दबाने में

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

देर नहीं लगेगी।

वैश्वीकरण, दरअसल, साम्राज्यवादी-उपनिवेशवादी मानसिकता की नई उपज है, जिसे अधिक ग्राह्यता के लेबल के साथ पेश कर दिया गया है। जब राजनीतिक उपनिवेश बनाना बहुत खर्चीला और दुस्साध्य हो गया तो बीसवीं सदी में आर्थिक उपनिवेश बनाने की नई सोच पश्चिम में पैदा हुई। इस रणनीति के तहत वाशिंगटन या लंदन में बैठे पूरी दुनिया पर हुकूमत चलायी जा सकती थी और किसी देश की नीतियों में अनुकूल परिवर्तन कराये जा सकते थे। न तो भारी भरकम सेना रखने का खर्च और न विद्रोहों से निबटने की जहमत। 'रिमोट कंट्रोल' के आविष्कार ने जीवन की सभी विधियों में नये सिरे से सोचने और कुछ करने की सोच पैदा की। ऋणों और अनुदानों के चारे के साथ बड़ी से बड़ी मछली को फंसाया जा सकता है। फिर भी, यदि आवश्यकता पड़ी तो एफ-16 और जेगुआर किस लिए खड़े हैं।

सामन्ती संस्कृति में आम आदमी का शोषण कम हुआ, ऐसी बात नहीं है। किन्तु पूंजीवाद के शोषण का चेहरा और चरित्र एकदम भिन्न है। पूंजीवादी अर्थ-तन्त्र में व्यक्ति एक संसाधन है, उसका साध्य अधिक से अधिक लाभ कमाना और वर्चस्व स्थापित करना है। उसके लिए नियमों, नीतियों सभी में परिवर्तन किया जा सकता है, बगैर इस बात की परवाह किये कि उसके साधन कैसे हैं। ज़रुरी है कि कारखानों में उत्पादित माल के लिए अच्छा बाजार तलाशा जाय, उपभोक्ताओं को आकर्षित किया जाय। उन्हें क्या अच्छा लगता है, यह तो पता हो ही, साथ ही उनकी रुचियों का विस्तार और प्रसंस्करण भी संभव हो। 'ग्लोब-गाँव' की बात होती है तो सबसे पहले यही ध्वनित होता है कि उनकी पहुँच हम तक कितनी आसान है। आधुनिक सूचना माध्यमों से औद्योगिक रुप से सम्पन्न राष्ट्रों की बात तो हम तक पहुँच जाती है पर गरीब मुल्कों की आवाज या तो उन तक पहुँचती नहीं या प्राय: अनसुनी कर दी जाती है। 'ग्लोबल गाँव' का सिक्का सम्पन्न राष्ट्रों की टकसाल में ढला और उसका प्रचलन पूरे विश्व के लिए अनिवार्य हो गया। इस काम को सहज बनाया उपग्रहों ने जो अभिजात-संस्कृति के बीच टेलीविजन की आवश्यकता नहीं है।

हमारी चिन्ता फिर आकर उस बिन्दु पर ठहरती है कि इस हमले से रक्षा कैसे हो। अपनी सशक्त प्रतिरोधक प्रणाली 'लोक-संस्कृति' को कैसे बचाया जाय। इसके लिए वैश्वीकरण के आयामों को अच्छी तरह समझना होगा। हमारे सार्वजनिक जीवन में यह तीन रुपों में सामने आता है –

(1) आर्थिक स्तर पर – अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का विस्तार और पुन: संरचना।

(2) सांस्कृतिक स्तर पर – होमोजीनियस संस्कृति का विकास।

(3) राजनीतिक स्तर पर – आर्थिक और सांस्कृतिक आयामों के फलस्वरुप राजनीति के संस्तर एक जैसे नहीं रहते। अर्थात् राज्य की स्वायत्तता और नीति-निर्माण की क्षमता आर्थिक और सांस्कृतिक गतियों से प्रभावित होती है।

इन आयामों का मुकाबला कहीं अलग-अलग तो कहीं एकीकृत सुरक्षा-प्रणाली से करना होगा। मेरे विचार से इस उद्देश्य के लिए दुनियाभर के संस्कृति-कर्मियों को आगे आना होगा। अभिजात और लोक-संस्कृति के भेद को रेखांकित करने भर से काम नहीं चलने वाला। अब लड़ाई खुल कर आमने-सामने है। मार्क्स को इस समस्या का अच्छी तरह पूर्वानुमान था। उत्पादन प्रक्रिया सिर्फ जरुरतों की पूर्ति के लिए वस्तुएँ ही उत्पादित नहीं करती, बल्कि उत्पादित वस्तुओं के लिए आवश्यकताओं का भी उत्पादन करती है। प्रारंभ में आवश्यकताएँ मौलिक तथा तात्कालिक होती हैं और इसी अनुसार उत्पादन भी प्राथमिक होता है। फिर उत्पादन विकसित होकर इच्छाओं को जन्म देने लगता है।

मुनाफाखोर प्रवृत्ति और सांस्कृतिक बहुलता के बीच भयंकर द्वन्द्व छिड़ गया है। संस्कृति और प्रकारान्तर से बाहर निकलकर हमें अपनी संस्कृति के साथ खड़ा होना होगा और जरुरत के मुताबिक लड़ाई भी लड़नी होगी। इसी अर्थ में साहित्य नैतिक निर्देशों की रचना मात्र नहीं, बल्कि एक एक्टिविस्ट भी है।

('संवेद' वाराणसी से साभार)

□□□

64-डी, गणेशधाम कालोनी,
नेवादा, सुन्दरपुर वाराणसी
फोन – 09415353044

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कबिरा खड़ा बज़ार में सबकी माँगे खैर

(याने बाज़ार एक विचार)

जीवन यदु

बाज़ार का रुप निरंतर सम्मोहक और लुभाऊ होता जा रहा है और बाज़ार भी। यदि आप कल्पनाशील हैं तो एक ऐसे चुड़ैल की कल्पना कर सकते हैं, जो अभी-अभी ब्यूटी-पार्लर से निकलकर चौराहे पर खड़ी हो गई है और आने-जाने वालों पर कटाक्ष फेंकती हुई, पूरी बेहयायी से सीटी बजा रही है। लोग उसके कृत्रिम रुप के पीछे छिपी भयावहता को जानकर भी अनदेखा करने के लिए मजबूर हैं। तात्पर्य यह कि बाज़ार का जो रुप लोग देख रहे हैं, वह उसका वास्तविक रुप नहीं है। परिवर्तित रुप है। नकली रुप है। इस रुप को पाने में बाज़ार में काफी वक्त लगा। आप उस युग की कल्पना करें, जब बाज़ार को रुप मिलने की प्रक्रिया शुरु ही हुई थी। तब लोग अपने-अपने सामान लेकर तयशुदा स्थान पर एकत्रित होते थे और सामान के बदले अपनी इच्छित वस्तु लेकर घर लौटते थे। कभी-कभी इच्छित और ज़रुरत की चीज़ नहीं मिल पाती थी, क्योंकि उस एकत्रित समूह में उसके सामने की आवश्यकता वाला कोई भी व्यक्ति नहीं होता था। यह बड़ी असुविधाजनक स्थिति थी। क्रय-विक्रय के लिए प्रतीकात्मक साधन ने (मुद्रा की तरह) इस असुविधा जनक स्थिति को सुविधाजनक स्थिति में बदला। यहीं से बाज़ार के रुप में परिवर्तन शुरु हो गया। बाज़ार के उस रुप को जिसने भी सबसे पहले समझा होगा, वह विश्व का प्रथम धनपति बना होगा-धन कुबेर। यह केवल कल्पना है, किन्तु कल्पना में थोड़ी-बहुत सचाई तो होगी।

कबीर के काल तक आते-आते बाजार ने कई रुप धारण किए होंगे। उत्पादन के साधन में परिवर्तन की गति बहुत धीमी थी। अतः परिवर्तन बहुत धीमा रहा होगा। कबीर के काल में बाज़ार भले ही एकदम अमानवीय नहीं हुआ हो, किन्तु अमानवीयता की ओर बढ़ने का संकेत अवश्य दे रहा होगा। कबीर ने उस संकेत को समझ लिया था, कि जैसे प्रेमचंद ने महाजनी-सभ्यता की क्रूरताओं को जान लिया था। तभी कबीर यह कह सके- ''कबिरा खड़ा बजार में, सबकी मांगे खैर।'' सबके लिए खैर मांगने की जगह बाजार ही थी तो निश्चय जानिए कि बाजार का रुप कुछ ऐसा अवश्य हो चुका था कि वहाँ से सबका शुभ चाहने की आवश्यकता एक फकीर को पड़ी थी।

बाज़ार का सर्वाधिक अमानवीय रुप पूंजीवादी सभ्यता की देन है। पूंजीवादी सभ्यता में एक पूरा देश एक बाज़ार में परिगणित होता है। अपने द्वारा उत्पादित माल को खपाने के लिए पूंजीवादी देश राजनैतिक और कूटनीतिक स्तर पर ऐसे देशों को अपने प्रभाव में लेते हैं (प्रभाव के अनेक रंग हो सकते हैं) जो अपनी आखिरी सम्पत्ति उपभोक्तावादी मानसिकता के तहत बगैर किसी हुज्जत के पूंजीवाद देश को सौंप दे। वैसे कहा तो यह जाता है कि तीसरी दुनिया के सारे देश यूरोप और अमेरिका के लिए देश न होकर, बाजार मात्र है।

विद्वानों का कथन है कि विचार पहले भाषा में प्रवेश करता है और धीरे से विचार में उतर जाता है। आजकल, जबकि इलेक्ट्रानिक मीडिया मनुष्य-विरोधी विचारों को परोसने कमर कस चुका है, तब बाज़ार को वह अनुकूल क्यों न लगे। जब बाज़ार मानव-विरोधी हो जाए तो वहाँ मानव का प्रवेश एक मनुष्य के रुप में वर्जित है। ऐसे में व्यक्ति एक निर्जीव वस्तु में तब्दील हो जाता है। उपभोक्ता को जो चाहिए, उसे बाज़ार हाज़िर करता है। यदि उपभोक्ता मानव-मांस चाहता है, तो बाज़ार उसे भी उपलब्ध कराता है। 31 जुलाई 2003 के जनसत्ता में श्री अजय तिवारी ने अपने लेख के माध्यम से एक दिल दहला देने वाली सूचना दी है- ''मानव-माँस का यह चलन सबसे पहले बाज़ार-शिरामणि अमेरिका में हुआ। जिन देशों के साथ अमेरिकी पूंजी के साथ उदारीकरण हुआ और बाजार-व्यवस्था फैली, वहाँ भी उसका चलन हुआ। अब मानव-मांस का शौक ताईवान, थाईलैण्ड, म्यामाँ, मलेशिया, उत्तरी और दक्षिणी अफ्रीका के कुछ देशों में भी फैल चुका है। चीन में भी उसकी शुरुआत हो चुकी है और फ्रांस, जापान, सिंगापुर में भी जिज्ञासा फैल

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रही है। मानव-मांस की खपत में अमेरिका के बाद दूसरे नंबर पर ब्रिटेन है। सारांश यह कि बाज़ार-व्यवस्था के साथ नरभक्षी संस्कृति का भूमंडलीकरण हुआ।'' यह उपभोक्तावादी बाजार का एक शर्मनाक उदाहरण है। श्री अजय तिवारी ने उस तरह की उपभोक्ता संस्कृति को 'नरभक्षी संस्कृति' कहा है। लेकिन हम इन पदों को सीमित अर्थ में लेंगे। डा. राजेश्वर सक्सेना ने अपनी सैद्धांतिक पुस्तक ''उत्तर आधुनिक सौंदर्य शास्त्र और द्वंद्ववाद'' में उस भयावहता को गहराई और सूक्ष्मता के साथ दार्शनिक जमीन पर पकड़ा है-''बाज़ार और एक उपभोक्ता की संस्कृति में प्रकृति और मानव दोनों की स्वतंत्रताएं विखंडित हो गई हैं। प्रकृति की और मानव की कोई अर्थ-मीमांसा ही नहीं बची है (पृष्ठ 31)। इसका अर्थ यही निकलता है कि मनुष्य चाहे अपने घर में रहे, तब भी उसे अपने आप को बाज़ार में समझना चाहिए- ख़रीदता हुआ या ख़ुद बिकता हुआ और इस बाजारी क्रिया-कलाप पर उसका कोई वश नहीं है, जैसे वस्तु को अपने जड़त्व पर कोई वश नहीं होता, क्योंकि बोध, मानस, चेतना जैसे पदों से उसका सरोकार प्रकृतित: नहीं है। बाजार मनुष्य को कि हाल में पहुंचा चुका है, यह सोचने की छूट बाज़ार मनुष्य को नहीं देता। नए फैशनों की होड़ को बढ़ावा देने की क़वायद करतीं बाज़ार-बालाएँ अपने अंग-प्रदर्शनों के साथ, क्या 'वस्तु' में रुपांतरित नहीं हो चुकी है? यद्यपि उन्हें वस्तु कहना 'मनुष्य' जाति को अपमानित करना है, तथापि स्थिति यही है।

जब तक मनुष्य बाज़ार में पहुंचता रहा है, तब तक मनुष्य की इतनी बुरी दशा नहीं थी। ख़तरनाक बात तब हुई जब बाज़ार स्वयं मनुष्य के द्वार पर पहुंचने लगा। आज व्यक्ति बाहें फैलाकर उसका स्वागत करने दरवाजे पर खड़ा मिलता है। पहले बाज़ार घर में चोर दरवाज़े से घुसता था। अब खुले-आम गर्व से सिर उठाये घर में प्रवेश करता है। और उपभोक्ता की हैसियत को मुहल्ले में बढ़ाता है। बाज़ार के सर्वशक्तिमान होने और उपभोक्ता संस्कृति द्वारा मनुष्य को शिकंजे में कसे जाने की यही सामान्य और सरल पहचान है। जब पूंजीवाद जन-सामान्य पर अनेक असरदार माध्यमों से अपना प्रभाव बढ़ाता है, तब मनुष्य के मन में एक प्रश्न सिर उठाने लगता है कि वह अपने आसपास के लोगों से उपभोग के मामले में पिछड़ तो नहीं रहा है? दिसम्बर 2002 के 'कथादेश' में सुधीश पचौरी ने उपभोक्तावाद पर बैब्लेन के विचारों को उद्धृत करते हुए लिखा है कि आदमी अपनी हैसियत के प्रति ज़रुरत से ज़्यादा सचेत हो जाता है और 'दिखावे की संस्कृति' जीने की कोशिश में लग जाता है। वह इलेक्ट्रानिक मीडिया द्वारा प्रचारित विज्ञापनी-फैशनों को अपनाने की दौड़ में शामिल हुए बिना नहीं रह पाता। उनके लिए वही 'आधुनिक' होना है। युग और जमाने का अर्थ सिमटता हुआ 'फैशन' में समाहित हो जाता है। उनके लिए नए फैशन का आना ही युग-परिवर्तन है। अपनी हैसियत के प्रति सचेत होना एक मानस-क्रिया है, एक मानवीय-वृत्ति है। इसे ही पहचान कर उकसाने और सीमांत तक तानने की कोशिश पूंजीवादी बाज़ारों ने की है। यह वृत्ति इस सीमा तक तन गई है कि बाज़ार में नए उत्पादों के आते ही उपभोक्ता टूट पड़ता है, यह सोचे बग़ैर कि वह उत्पाद उसके जीवन के लिए ज़रुरी है अथवा ज़रुरी नहीं है।

अब सवाल यह उठता है कि लोक बाज़ार में किस तरह प्रवेश करता है और इसके मानी क्या है? क्या बाज़ार ने लोक-मानस का भी टटोल कर आदिम सुप्त-वृत्ति को उकसाने की कोशिश की है? बाज़ार लोक के अंतस में किस रुप में प्रवेश करता है- स्थूल या सूक्ष्म? लोक की सारी शक्ति उसकी संस्कृति में निहित होती है। अत: बाज़ार के निशाने पर लोक की संस्कृति प्रथम है। एक छोटा-सा उदाहरण इसके लिए काफी होगा। इस वर्ष शास्त्रीय तिथि-गणनाकारों की कृपा से बहुत से पर्व दो-दो दिन मनाने पड़े। छत्तीसगढ़ के नगरों के लिए पोला-पर्व ज़्यादा महत्व का नहीं है, किन्तु गांवों में यह पर्व धूमधाम से मनाया जाता है। लोकजीवन मे यह बड़े महत्व का पर्व है। वास्तव में यह पर्व कृषकों के कृषि कर्म में सहयोगी की भूमिका निभाने वाले मूक प्राणियों के प्रति धन्यवाद का ज्ञापन है। कृषक उस दिन बैलों की पूजा प्रतीकात्मक रुप में करते हैं। इस पर्व में बच्चों, युवक-युवतियों, प्रौढ़ों-बुजुर्गों सबके लिए पूरे उत्साह के साथ भाग लेने का अवसर होता है। शाम होते-होते यह पर्व 'युवा-उत्सव' में बदल जाता है। इसके बावजूद श्रमजीवी समाज को शास्त्रीय गणनाकारों के अनुसार त्यौहार को दो-दो दिनों तक मनाने की छूट नहीं होती। वह तो एक ही दिन में अपना सारा उत्साह प्रकट करते हुए काम में जुट जाना चाहता है। लोक-समाज के तीज-त्यौहारों की तिथि गणना एकदम सहज-सरल होती है। उसकी गणना के अनुसार 'पोला' सोमवार को मनाया जाना था। किन्तु 'बाज़ार' को यह मंजूर नहीं था। उस दिन पर्व होने के

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कारण ग्रामीण-ग्राहक कस्बे के बाज़ार में नहीं आ पाते। तब 'बाज़ार' की स्थिति बंद जैसी होती। दूसरे दिन शासकीय नियमों के अनुसार 'बाज़ार' को बंद रखना पड़ता। बाज़ार लाभ पर टिका होता है। वह हानि का सौदा नहीं करता। रविवार के दिन पूरे कस्बे में ध्वनि-विस्तारक यंत्र से मंगलवार को 'पोला' मनाये जाने की घोषणा करायी गई। जिस पर्व को ग्रामीण-जन सोमवार को मनाते, उसे मंगलवार को मनाने के लिए बाध्य होना पड़ा। तात्पर्य यह कि 'बाजार' लोक-परम्पराओं में भी दखल देकर उसे अपने अनुसार चलाने की कोशिश में लगा हुआ है।

बाज़ार उन परम्पराओं पर आघात नहीं करता, जो उसके लिए लाभप्रद हैं, अपितु वह उन्हीं में प्रवेश करता है और उसे अपने घेरे में लेकर उनका बाजारी रुप निर्मित करके पुन: 'लोक' को परोसता है। तात्पर्य यह कि लोक की परम्पराओं को वह कच्चे माल की तरह उपयोग में लाता है। लोक कलाओं और लोक-संस्कृति का निम्नान्तरण इसी का परिणाम है। जिन परम्पराओं से उसे कोई लाभ न हो, उन्हें तोड़ता-मरोड़ता हुआ आगे निकल जाता है। मेला-मड़ई लोक-संस्कृति का एक लोकप्रिय और उत्साह जनक कलाप है, किन्तु आज बड़े मेले उन्हीं स्थानों पर लगते हैं, या लगाए जाते हैं, जहाँ बाज़ार को लाभ कमाने की भरपूर सुविधा होती है। कभी-कभी बाज़ार अपनी ओर से किसी स्थान को धार्मिक-स्थल का चोला पहना देता है।

बाज़ार का मानवीय संवेदना से कोई आत्मीय सरोकार नहीं होता। यदि वह सरोकार रखे तो उसका सारा मेला उठ जाए। वह वस्तु का एक मायावी संसार रचता है, जहाँ वस्तु के जड़त्व के आगे 'चेतन' की 'चेतना' आभाहीन दिखाई देती हैं। किसी ज़माने में परिवार-नियोजन पर अमेरिका में एक विचार बड़ा लोकप्रिय हुआ था। ''एक बच्चा पैदा करने से अच्छा है कि एक कार खरीदी जाए।'' ऊपर से यह विचार शिक्षा-प्रद और सुन्दर लगता है। वास्तव में यह विचार एक उपभोक्तवादी समाज और उसके बाज़ारवादी नज़रिए से उत्पन्न है और खतरनाक है। बच्चे के बदले कार ही क्यों? 'चेतन' के बदले जड़ ही क्यों? क्योंकि बाज़ार की सर्वप्रिय चीज 'कार' ही है, जिससे आदमी की सामाजिक और आर्थिक हैसियत का पता चलता है। जब यह विचार आगे बढ़ता है, तब इसके ख़तरनाक इरादे की पोल खुल जाती है। यदि भीड़ में कोई बच्चा कार के सामने आ जाता है, तो आप बच्चे को नहीं, कार को बचायें। क्योंकि वह आपकी हैसियत का विज्ञापन है, मुखौटा है, नक़ाब है। बाज़ार संवेदना के विरुद्ध खड़ा होता है। चूंकि संवेदना का सम्बंध 'चेतन' से है, जड़ से नहीं। अत: बाज़ार विकास की परिभाषा को बदलता हुआ लोगों को विश्वास दिलाने का सतत प्रयास करता है कि संवेदनाओं के परे जाकर ही विकास के अनंत द्वार खोले जा सकते हैं। कैसा विकास? किस दिशा में विकास? इन प्रश्नों उत्तरों को वह गहरे अंधेरे में रखता है।

जिन गाँव-देहातों में इलेक्ट्रानिक-मीडिया की पहुंच हुई, वे पूंजीवादी बाज़ारों के घेरे में आ गए। शुरु में ग्राम-विकास के रुप में 'टी-व्ही' को देखा गया। इसके पीछे उद्देश्य भी यही था। लोगों ने सोचा था कि ज्ञान के प्रसार का एक नया और प्रभावशाली साधन आदमी के हाथ लग गया है। अब पता चला कि उस माध्यम से अपसंस्कृति पहुंच रही है, बाज़ार घुसा जा रहा है। क्योंकि बाज़ार उस माध्यम को अपने लिए नयी ज़मीन बनाने के लिए कर रहा है। टी.व्ही. प्रचारित संस्कृति के फैलाव को बाज़ार का फैलाव मानना गलत नहीं है। वस्तु को बेचने के लिए एक से बढ़कर एक लोकाकर्षक विज्ञापन आ रहे हैं। उससे लोक जीवन भी प्रभावित हो रहा है। बाजार की अजब माया है, कि वह पहुँचता बाद में है, उसके दुर्गुण पहले पहुँच जाते हैं। गांव के व्यक्ति को विदेशी 'कोल्ड ड्रिंक्स' से क्या मतलब? आज उस वस्तु के लिए लोक-समाज में ललक पैदा हो रही है। वह उसे उत्सुक नजरों से देखता है। मुझे लगता है कि टी. व्ही. में उक्त वस्तु का विज्ञापन ख़ास तौर से ग्रामीण-जन को लुभाने के लिए ही बनाया गया है। विज्ञापन में दिखाया जाता है कि एक युवा-कृषक ने अपने खेत के कुएँ में 'कोल्ड ड्रिक्स' छुपा रखा है, जिसे पिलाकर वह शहरी-बालाओं को लुभा लेता है। शहरी-बालाओं को वहाँ कोल्ड-ड्रिक्स होने की कोई उम्मीद नहीं थी, किन्तु उस सुदूर गाँव में उन्हें प्यास-बुझाने के लिए विदेशी-पेय मिल गया। उन्हें आश्चर्य-मिश्रित-खुशी हुई। कोल्ड-ड्रिंक्स का एक असरदार मंत्र टी.व्ही. के माध्यम से बाज़ार ने गांवों में, लोक-समाज के ऊपर फूंक दिया है। अगर इसका असर कम होगा तो दूसरा विज्ञापन-मंत्र में फूंकेगा। इसी तरह का एक विज्ञापन इन दिनों 'स्टार क्रिकेटर' और एक पहाड़ी बच्चे को लेकर दिखाया जा रहा है। जिसका अर्थ है कि वह पहाड़ी बच्चा उस कम्पनी की कार के लिए लालायित है, उसमें बैठकर सफर करना चाहता है। बच्चा

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

एक प्रतीक है वर्तमान और भविष्य की पीढ़ी का। उसके माध्यम से बाज़ार यह संदेश देना चाहता है कि यदि आपने 'कार' नहीं खरीदी तो आपके बच्चे दूसरों की कार में चालाकी से बैठेंगे, जैसा कि विज्ञापन में वह पहाड़ी बच्चा बैठता है। उक्त विज्ञापन में यह बात गुप्त है, कि बिना कार वाले पिता का बच्चा बड़ा होकर अपनी चालाकी को विस्तार देते हुए कार के लिए छल-छद्म और फरेब रचेगा। ये दोनों विज्ञापन तो उदाहरण मात्र हैं। इस तरह के अनेक लोक-लुभाऊ विज्ञापन बाज़ार के पास हैं। इन दिनों टी. व्ही. चैनल्स बाजार के प्रमुख 'ढिंढोरची' की भूमिका निभा रहे हैं, जो ढोल पीटते हुए गांवों में भी पहुंच रहे हैं। चाहे फिल्मी कलाकार हों, चाहे स्टार क्रिकेटर, चाहे बच्चे हां या युवा, चाहे प्रौढ़ हों या वृद्ध-सभी का उपयोग बाज़ार बख़ूबी कर रहा है। वास्तव में प्रचार के चल-माध्यम मनुष्य के मनोविज्ञान को पकड़ते हैं और उन्हें बार-बार उसकी हैसियत क्या है? मोटर सायकल है आपके पास? कार है आपके पास? यदि आपके पास फ्रिज, टी.व्ही, कूलर, इंटरनेट आदि नहीं है तो आप समाज में मुंह दिखाने के क़ाबिल नहीं है। आप अपनी हैसियत सुधारें- चाहे किसी भी तरह हो। आप कालाबाज़ारी करें चाहे चोर बाज़ारी या चाहे चोरी-डकैती। मगर हैसियत सुधरना चाहिए। बाज़ार आपको गले लगाने के लिए बांहें फैलाये खड़ा है। यह है बाज़ार का मूल संदेश। अर्थशास्त्र का एक प्रसद्ध सिद्धांत है कि बाज़ार में यदि प्रतिद्वंद्विता बढ़ती है तो लाभ ग्राहकों को मिलता है। चीजों के दाम कम हो जाते हैं। यह प्रतिद्वंद्विता तो चल ही रही है, किंतु बाज़ार ने अपने पक्ष में इस सिद्धांत के समानान्तर एक नया सिद्धांत प्रस्तुत कर दिया है। उसने ग्राहकों के बीच प्रतिद्वंद्विता जगा दी है। इसमें बाज़ार को लाभ है। उपभोक्ता के बीच की प्रतिद्वंद्विता का आधार व्यक्ति की सामाजिक-आर्थिक हैसियत ही है। एक फिल्म में नायक सह-नायक से पूछता है-''मेरे पास कार है, बँगला है, बैंक-बैलेन्स है, तुम्हारे पास क्या है? वास्तव में यह संवाद बाज़ार का है और लहज़ा भी बाज़ार का।

मेरे विचार से उच्च और निम्न जीवन-स्तर जैसे पद अब बाज़ार से संबंध रखने लगे हैं। यदि आप अधिक से अधिक भौतिक-साधनों को जुटा लेते हैं, तो आपका जीवन-स्तर ऊंचा माना जायेगा। अन्यथा निम्न । लोंगों का विचार है कि आज़ादी के बाद ग्राम्य लोगों का जीवन-स्तर ऊंचा हुआ है। यह सच भी है कि खान-पान, रहन-सहन, पहनावा-ओढ़ावा सबमें परिवर्तन आया है। रोटी-कपड़ा और मकान सबको सुलभ हो-यही तो था आज़ादी के बाद का सपना। फिर इसी सपने में बाज़ार का प्रवेश हुआ। बाज़ार की प्रतिद्वंद्विता धँसी और गाँवों मे भी अपनी हैसियत जताने के लिए लोग बाज़ार में उतर आए। आज यह प्रति प्रतिद्वंद्विता गाँवों में अधिक नहीं है और न उपभोक्तावाद का प्रभाव स्पष्ट है। किन्तु नई उपभोग्य चीज़ों के प्रति ललक स्पष्ट है। ''फलाँ आदमी के पास जो चीज़ है, वह मेरे पास क्यों नहीं? मेरे पास उससे बढ़िया चीज़ होना चाहिये।'' इसी का फ़ायदा तो बाज़ार उठाता है। अनेक बार मनुष्य सारे भौतिक साधनों को दिखाने प्रदर्शन -प्रियता और फैशन के कारण एकत्रित कर लेता है। आज 25-30 वर्ष पहले कोई यह सोच भी नहीं सकता था कि गाँव का अधकचरी शिक्षा प्राप्त लड़का 'जीन्स' पहनकर 'फैशन' टी.व्ही. चैनल में प्रदर्शित बाज़ार-बालाओं के अंग-प्रदर्शन की चर्चा अपने मित्र मंडली से करेगा। गाँवों में अभी जो युवा-पीढ़ी आ रही है, वह 25-30 वर्ष पहले वाली पीढ़ी की तरह नहीं है। उस अनेक प्रभावों के साथ ही बाज़ार की संस्कृति का भी प्रभाव पड़ा है। बाज़ार के आघात से स्थानीय, क्षेत्रीय और राष्ट्रीय संस्कृति भी जख्मी हो रही है। ऐसा लगता है, आने वाले दिनों में सारे संसार में एक ही संस्कृति रह जायेगी-बाज़ार की संस्कृति। तमाम दुनिया की संस्कृतियों में आपस में भेद नहीं रह जायेगा। न चार कोस में पानी बदलेना (क्योंकि सभी बोतल बंद पानी पिएँगे) न आठ कोस में बानी (क्योंकि बाजार निर्मित भाषा ही सबकी भाषा होगी) कुछ अत्याधुनिक कहलाने और अपने आपको उत्तर आधुनिक मानने वाले लोग इसे अच्छा समझते हैं। वे समझते हैं कि सारे संसार की संस्कृति जब एक हो जायेगी, सारी भाषाएँ एक में मिलकर एक नया रुप गढ़ लेंगी, तब सारे झंझट मिट जायेंगे। किन्तु यह सोच आधारहीन है। एक भाषा और एक संस्कृति के लोग भी आपस में शोषण करना छोड़ नहीं देते। सारे पक्षी एक-दूसरे की भाषा को समझते हैं। (खग ही समझे खग की भाषा) किन्तु उनमें एक गिद्ध भी होता है, जो सबके माँस को खाता है।

बाज़ार माँग और पूर्ति का स्थान है। माँग जैसी और जिस चीज़ की होती है, पूर्ति वैसी और उस चीज़ की कर दी जाती है। जहाँ खरीद-फ़रोख़्त न हो, उस पर बाज़ार का नाम चस्पा हो सकता है, यदि वहाँ माँग और पूर्ति का संबंध बनता है। सांस्कृतिक क्रिया-कलापों पर बाज़ार का वज्राघात बहुत स्पष्ट है। एक छत्तीसगढ़ी गीत-संगीत

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

दल के संचालक महोदय से जब मैंने ऐसी पार्टियों के गिरते स्तर पर बात की, तब उन्होंने उत्तर दिया–''मंचों पर द्विअर्थी और घोर श्रृंगारिक गीत ही सफल होते हैं। यदि हम दर्शक–श्रोताओं की माँग की अनदेखी करेंगे तो मंच नहीं चलेगा।'' याने उसे मंच की चिंता अधिक है, संस्कृति की बिल्कुल नहीं। आज बाज़ार में छत्तीसगढ़ी गीतों के जो कैसेट्स चलते हैं, उन्हें यह सोचकर स्वीकार कर पाना मुश्किल है कि वे छत्तीसगढ़ के हैं तात्पर्य यह कि बाज़ार किसी क्षेत्र में अपने रुप के साथ प्रवेश करता है, तो किसी क्षेत्र में अपने गुणों के साथ।

इसमें दो मत नहीं कि 'लोक' में बाज़ार का प्रवेश हो चुका है। बाज़ार 'लोक' से उन्हीं चीजों को छीनता है, जो उसके लिए अति आवश्यक हैं। यह कभी सोचा भी नहीं गया था, कि प्रकृति के सबसे कीमती तोहफे यानी पानी को भी खरीद कर पीना पड़ेगा। पानी को बोतल बंद करने के लिए बड़ी–छोटी अनेक कंपनियाँ नदियों को भी खरीदने का प्रयास कर रही हैं। यदि आप बोतल बंद पानी पीयेंगे, तो आपकी हैसियत उन लोगों से एक हाथ ऊँची समझी जायेगी, जो गली के नल से पानी पीते हैं– यही सोच बाज़ार को बढ़ावा देती है।

एक ज़माना वह था, जब हम और हमारे पूर्वज बाजार उस स्थल को कहते थे, जहाँ लोग इकट्ठे होते और अपनी ज़रुरत की चीज़ों को खरीदते और बेचते थे। अब बाज़ार अपने रुप में परिवर्तन कर रहा है, कर भी चुका है। वह अपने भौतिक रुप को उतार कर अभौतिक रुप यानी 'विचार' में तब्दील हो रहा है, हो भी चुका है। आपके मन में किसी चीज़ की इच्छा एक 'विचार' की उठती है और आप उसे उसके 'डाट–कॉम' से आर्डर प्रेषित कर घर बैठे पा लेते हैं। बाज़ार आपको सलाम मारता हुआ आपके दरवाज़े पर हाज़िर हो जाता है। आखिर यह 'शेयर मार्केट' क्या है? वहाँ किन चीज़ों का क्रय–विक्रय होता है? यदि होता है, तो क्या वे चीजें इतनी महत्वपूर्ण है, कि उसके बिना मनुष्य का जीवन संकट में पड़ जायेगा या समाप्त हो जायेगा?

आदरणीय कबीर जी। अब आप कहाँ पर खड़े होंगे? आपके खड़े होने की जगह तो 'विचार' में तब्दील हो चुकी है, और विचारों में आपको कोंई घुसने भी नहीं देगा और आप किसकी खैर मनाएँगे? लोगों के दिलो–दिमाग पर कच्ची दारु की तरह बाज़ार ऐसा हावी हो चुका है, कि वह बाज़ार की अंधी–दौड़ में स्वयं ख़ैर मनाना भूल गया है।

□□□

गीतिका, दाऊचौरा
खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)
पिन–491881
मो. 94252–17747,
07820–234018

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लोक संस्कृति की भूमिका

परितोष बैनर्जी

यदि शब्द की व्युत्पत्ति के हिसाब से देखा जाये तो अंग्रेजी शब्द 'कल्चर (Culture) का प्राथमिक अर्थ कृषि से जुड़ा हुआ है और दूसरा अर्थ विकास एवं संस्कार दर्शाता है। इस शब्द का देशीय अनुवाद 'संस्कृति' रवीन्द्रनाथ ठाकुर को पसंद नहीं आई क्योंकि इसमें कृषि संबंधी प्राथमिक अर्थ का समावेश नहीं हो सका इसलिये उन्होंने 'संस्कृति' के स्थान पर 'कृष्टि' शब्द का प्रयोग किया। हिन्दी में यद्यपि इस 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग करते हैं पर लोक- 'संस्कृति' के प्रकृत स्वरुप का निरुपण करने के लिये उसे लोक-कृष्टि कहना ही अधिक समीचीन होगा। लोक की स्वतःस्फूर्त पैदावार परिष्कृत और सुसंस्कृत नहीं होती, वह कच्चे माल की तरह है जो कभी-कभी संस्कृत होकर मुख्यधारा में अपना नया रुप ले लेती है।

किस प्रकार लोक की पैदावार परिष्कृत होकर एक नया रुप ग्रहण करती है इसका ज्वलंत उदाहरण संस्कृत भाषा का उद्‌भव है। वेदों की रचना के वर्षों बाद वैदिक भाषा उत्तरीभारत के विभिन्न भागों में आंचलिक भाषा के रुप में पनपती रहीं वैदिक भाषा के बहुत से शब्द लुप्त हो गये और कुछ स्थानीय भाषा के नये शब्द इन बोलियों में संयुक्त हुए। इन बोलियों ने प्राकृत रुप अपनाया और वे लोक-संस्कृति की वाहक बनी। इस प्रकार ईसा पूर्व पाँचवी सदी में जिसे पाणिनि का काल माना जाता है बहुत सी ऐसी लोक-बोलियाँ प्रचलित थीं। प ाणिनि ने जो आधुनिक अटक के पास स्थित सालातुर के निवासी थे, उत्तर-पश्चित में बोली जाने वाली बोली को अपने व्याकरण का आधार बनाकर भाषा को परिमार्जित एवं सुसंस्कृत बनाने का बीड़ा उठाया। उन्होंने अन्य बोलियों के विविध प्रयोगों पर भी ध्यान दिया और अपने व्याकरण में उनपर भी विवेचन किया। इस प्रकार उन्होंने दो हजार धातुओं के आधार पर संस्कृत भाषा की विराट शब्दावली की रचना की और चार हज़ार व्याकरणिक नियमों के अनुसार एक सुव्यवस्थित एवं सुसंस्कृत भाषा की नींव डाली। पाणिनि का यह व्याकरणिक उद्योग प्राचीन जगत् की सर्वोत्कृष्ट बौद्धिक उपलब्धि के रुप में गिना जाता है। पाणिनि ने न केवल लोक-बोलियों के आधार पर संस्कृत भाषा को स्वीकृत किया, साथ ही साथ भारत में मौलिक भाषिक एकता के बीज भी बोये।

संस्कृति प्रकृति और मानव-यानी मानवीय श्रम, बुद्धि एवं भावना के योग से बनती है। लोक-संस्कृति में ही इन दोनों का संतुलन रहता है। जैसे-जैसे सभ्यता की कृत्रिमता का विकास होता रहता है, वैसे-वैसे संस्कृति में मानव-तत्व का आधिपत्य और प्रकृति तत्व का अभाव होता जाता है और यह संतुलन बिगड़ जाता है। इस संतुलन को पुनः स्थापित करने में लोक-संस्कृति की हमेशा विशेष भूमिका रही है।

जब-जब मुख्यधारा के साहित्य और उसकी भाषा में जड़ता और कुत्रिमता आई है और उसकी प्रतिक्रिया में क्रांतियाँ हुई है, यह देखा गया है कि इन क्रांतियों की मूल प्रेरणा लोक-संस्कृति और और लोक-साहित्य से ही आई है। मुख्य धारा की कविता जब प्रकृति से दूर चली गयी और उसकी भाषा किताबी बन गयी है तब लोक-संस्कृति ने उसको प्रकृति के पास लौटने का पथ दिखाया है और शास्त्रीय भाषा में लोक-भाषा ने जान डाली है। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजी साहित्य के रोमांटिक आंदोलन की यही कहानी है। इस आंदोलन का मूल ध्येय था प्रकृति एवं लोक-भाषा की ओर प्रत्यावर्तन अट्‌ठारहवीं सदी का बुद्धि-तर्क-भित्तिक साहित्य प्रकृति एवं लोक की स्वाभाविक भावनाओं से बहुत दूर चला गया था। इसके विरोध में रोमांटिक आंदोलन का जन्म हुआ। टामस परसी (Thomas Percy) के मध्य युग के लोक-गीतों के संग्रह ने रोमांटिक कवियों को विशेष रुप से प्रभावित किया और उनके उद्योग को सफल बनाया। इस आंदोलन के पुरोधा वर्डस्वर्थ ने अपने काव्य-संग्रह की भूमिका में, जिसे इस आंदोलन का घोषणा-पत्र माना जाता है, अपने पूर्ववर्ती कवियों की कृत्रिम भाषा की भर्त्सना कर लोक-भाषा को, जो स्वभावतः प्राणमुखर होती है, काव्य की भाषा बनाने का प्रस्ताव रखा और उसको किसी सीमा तक कार्यान्वित भी किया परन्तु सुमित्रानंदन पंत ने जिन्होंने इन रोमांटिक कवियों से प्रेरणा ग्रहण की, अपने 'पल्लव' की भूमिका में, जिसे कई आलोचक छायावाद का घोषणा पत्र मानते हैं, भाषा के बारे में बहुत कुछ कहते हुए भी लोक-भाषा के विषय में एक शब्द भी नहीं कहा।

यद्यपि पन्त जी उत्तराखण्ड के पहाड़ी अंचल के थे और उस अंचल की प्रकृति उनकी कविता में अच्छी तरह प्रतिबिम्बित

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

होती है, पर पहाड़ की भाषा और उसकी संस्कृति से उनका जीवंत संबंध नहीं रहा। यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि छायावादी कवियों में लोक-भाषा एवं लोक गीतों के प्रति विशेष अनुराग नहीं देखा गया। यही कारण है कि उनकी भाषा में वह सजीवता नहीं आई जो लोक की भावमयी परम्परा से जुड़ी हुई भाषा में सहज में आ जाती है। इस संदर्भ में आचार्य शुक्ल जी ने भी इंगित किया था कि हमारी काव्य-धारा यदि परम्परा से चले आते हुए मौखिक गीतों के मर्मस्थल से शक्ति लेकर चलने पाती तो वह अधिक सजीव होती। यह सच है कि छायावादी कवियों ने रवीन्द्र नाथ की बंगला से प्रेरणा ली और सरस तत्सम शब्दावली को चुना, पर वे उस भाषा के मर्म को पहचान न सके। हर भाषा का अपना एक नैसर्गिक स्वभाव एवं चरित्र होता है। रवीन्द्रनाथ की भाषा का प्राण-स्रोत वास्तव में बाउलों का लोक-गीत था और उनकी भाषा लोक-मानस में घर कर चुकी थी। इस परिस्थिति में बाहरी प्रभाव से छायावादी कवियों की भाषा की प्राण-प्रतिष्ठा न हो सकी और वह बुद्धिजीवियों और 'शिक्षित' जनों की भाषा बनकर रह गयी ओर उनके गीत काव्य-संग्रहों के ठण्डे पृष्ठों में दर्ज रह गये। दूसरी तरफ रवीन्द्रनाथ के गीत आज मौखिक स्तर पर पहुंचकर घर-घर में और गाँव-गाँव में गाये जाते हैं। किसी कवि की इससे बड़ी और क्या उपलब्धि हो सकती है कि उसके गीत मौखिक होकर लोक साहित्य के साथ घुलमिल जाएं? लोक-संस्कृति की यही महिमा है।

भारतीय संस्कृति, समाज, धर्म, दर्शन और विचार-धारा के क्षेत्र में लोक-संस्कृति का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इसका सर्वोत्कृष्ट दृष्टांत शायद भक्ति आंदोलन है। भक्ति आंदोलन को ठीक से समझने के लिए यह जानना ज़रुरी है कि वेद और उपनिषद् की मुख्य्य में किस प्रकार दक्षिण भारत की भक्ति संवलित लोक-संस्कृति का समावेश हुआ और भारतीय मुख्य धारा में अभूतपूर्व बदलाव आया। यह केवल'आर्य और द्रविड़ संस्कृति के समन्वय की कहानी ही नहीं, शास्त्र और लोक के बीच के द्वन्द्व के समन्वय की कहानी भी है।

दक्षिण में आर्य-संस्कृति का प्रसार समाज के उच्च वर्गों के माध्यम से प्रारंभ हुआ। उत्तर से ब्राम्हण लोग वैदिक विचारों को लेकर आये और उन्होंने द्रविड़ देश में उनको फैलाया। वेद एवं उन विषयों के विचारों से दक्षिण की मुख्यधारा विशेष रुप से प्रभावित हुई। पर दूसरी ओर समाज के निम्नवर्ग के लोग अपनी प्राचीन परम्परा से चली आती हुई लोक-संस्कृति में ही लिप्त रहे। छठी और सातवीं ईसवी सदी से भक्ति की यह लोकधारा वैष्णव आलवारों और शैव नायनारों के गीतों से बहती रही और काफी जनप्रिय हुंई।

आलवारों की यह भक्ति-संवलित लोकधारा वेद-उपनिषद् की मुख्य्य धारा में इस प्रकार के ईश्वरवाद के विचार थे ही नहीं। वेदों में तो यज्ञों का विधान है। उपनिषदों में बुद्धि से परे उस पर ब्रह्म के विराट रुप की खोज है जो साधारण जन की पहुंच के बाहर है इसलिए आर्य मुख्यधारा की तुलना में द्रविड़ भक्ति की लोक धारा अधिक आकर्षक सिद्ध होने लगी।

तामिल भक्ति की यह लोक-धारा क्रमशः इतनी प्रबल हो गयी गयी कि इसे शास्त्र-सम्मत मुख्यधारा में जोड़ने या आत्मसात करने के प्रयास चलने लगे। इस तरह की प्रक्रिया कोई-नई चीज नहीं है, इतिहास में ऐसे प्रचुर दृष्टांत मिलेंगे। दक्षिण में उदारवादी आचार्यों की एक संस्था ने उपनिषद् के ब्रह्मवाद और तामिल सन्तों के लोक-प्रचलित भक्तिवाद के बीच सेतुबंध बनाने का काम अपने हाथ में लिया।

तमिल में बारह आलवारों का उल्लेख किया जाता है जिसके गीतों के संग्रह को प्रबंधक कहा जाता है। इन गीतों को विश्व-धर्म-साहित्य में भारत के सर्वश्रेष्ठ अवदान के रुप में सम्मानित किया जाता है। वे आचार्य आलवारों के भक्तिवाद से इतने प्रभावित हुए कि वे आलवारों को विष्णु के वाहन के अवतार के रुप में पूजनीय मानने लगे और उन्होंने प्रबन्धक को पञ्चम वेद का मान दिया। उन आचार्यों ने वेद उपनिषद् और गीता के साथ आलवार संतों की भक्ति का सामंजस्य स्थापित किया। उन्होंने केवल भक्ति पर ही आस्था न रखकर ज्ञान और कर्मके साथ उसको जोड़ा। यहाँ तक कि वे वेद, उपनिषद्, गीता आदि की व्याख्या आलवारों की भक्ति के शब्दों में करने लगे। इसलिए उनको 'उभय-वेदान्तिन' कहा जाता है। इन्हीं आचार्यो की परम्परा में रामानुज का आविर्भाव हुआ जिन्होंने इस समन्वय को चरम परिणति दी। उन्होंने अपने श्रीभाष्य में वादरायण व्यास के ब्रह्मसूत्र की व्याख्या करते हुए सगुण ईश्वरवाद की स्थापना की। इस प्रकार उन्होंने लोक भक्ति की धारा को शास्त्रीय मान्यता दी और वेदांत के निर्गुण ब्रह्म को भक्त का करुणामय भगवान बनाया। उनके विशिष्टा द्वैतवादी दर्शन ने भक्तियोग को सर्वोच्च आसन का अधिकारी बनाया। यही धारा बाद में उत्तर में भक्ति आंदोलन के रुप में उभरी और एक विराट उच्चकोटि के साहित्य का जन्म हुआ।

''दक्षिण की लोक-संस्कृति भक्तिधारा ही आज हिन्दू धर्म की मुख्य्य धारा बन गयी है।

□□□

269 जोधपुर पार्क
कोलकाता-700068
दूरभाष : (033) 24736409

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

टूटती परम्पराएँ तथा बाज़ारवाद की नई सृष्टि

डॉ. नरेश भार्गव

परंपरा, आधुनिकता तथा उत्तर आधुनिकता एक दूसरे से जकड़े हुए शब्द हैं। यह एक इतिहास दृष्टि भी है। परिवर्तन की एक लंबी श्रृंखला इतिहास में वर्तमान हैं। लोक परंपराओं और सामाजिक प्रचलनों का ताना बाना सामाजिक संरचना का विशद हिस्सा है। पारंपरिक समाज, आधुनिक समाज और उत्तर आधुनिक समाजों में लोक और सामाजिक प्रचलनों की अपनी परिभाषाएं तथा विश्लेषण हैं इन सभी प्रसंगों में वर्तमान में एक दृष्टि महत्वपूर्ण है। प्रथमतः यह दुनिया अब बहुत तेजी से दौड़ रही है। इतनी तेज रफ्तार से समाज कभी भागे नहीं है। गिडिन्स की बात यदि मान लें तो इस 'रन अवे' दुनिया में बहुत सी चीजें छूट रही हैं। दूसरे वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने एक खासा बाजार खड़ा कर दिया है जो निर्मम और औपचारिक अधिक है। इसकी लगाम पुराने पूंजीवादी संपत्तिशाली देशों के हाथ में है। यह पूंजीवादी कहानी वैसे बड़ी पुरानी है।

परिवर्तन की इन प्रक्रियाओं में एक और प्रक्रिया नई संरचनात्मकता की है। पिछले चालीस पचास वर्षों में एक विशिष्ट प्रकार की सामाजिक संरचना आर्थिक भी है और सामाजिक भी। वैश्वीकरण, आर्थिक सुधारों की नीतियों तथा ऐसे ही अनेक तत्वों के कारण सामाजिक तथा सांस्कृतिक मान्यताओं तथा प्रचलनों पर प्रभाव पड़ा है। असल में इन प्रभावों ने सामाजिक रुचियां तथा सामाजिक उपयोग को बदलने का प्रयत्न किया है। भारत की विविधता को एकरुपता में बदलने का प्रयत्न किया है। भारत की विविधता को एकरुपता में बदलने की यह संरचनात्मक प्रक्रिया काफी खतरनाक रही है। बहुत सारे सांस्कृतिक तथा सामाजिक प्रचलन इस प्रक्रिया से गायब हो गये। यह प्रक्रिया अभी भी जारी है और बहुत कुछ नुकसान की संभावना भी है। कुछ और शक्तियों ने भी इन संरचनाओं को बनाने में मदद की है। वैश्वीकरण का जितना शोर सुना जाता है, भारत में यह उतना प्रभावशाली नहीं रहा है। वैश्वीकरण के आर्थिक पक्ष की अपेक्षा सामाजिक तथा सांस्कृतिक पक्ष कम प्रभावित हुए हैं। भारत में सीधे सीधे पाश्चात्यीकरण की प्रक्रिया बहुत प्रभावी रही है। उपनिवेशवाद इसका बड़ा कारण रहा है। इसी समय में सांस्कृतिक तथा दार्शनिक विचारों की टकराहट भी हुई है। एक तरह से यह अपनी ही रचनात्मकता की सोच तथा स्व आधारों पर प्रहार था। अंग्रेजी रचनाएं श्रेष्ठ बनने लगी और अंग्रेजी सोच आधुनिकता का प्रतीक बनी। यह सोच इतनी बलशाली बनी कि लोक आधारों को इनके सामने निम्न आधारों पर देखा जाने लगा। लोक कला के बहुत से स्वरुप इस प्रक्रिया से अपना अस्तित्व खोने लगी। बहुत से आधार जो अब धरोहर कहे जाते हैं, वस्तुतः एक आम जिंदगी के सूत्र थे। पाश्चात्यीकरण की प्रक्रिया ने यदि बहुत से नये मूल्य स्थापित किये तो बहुत से पुराने मूल्य ध्वस्त भी कर दिये। निश्चित ही इस सारी प्रक्रिया का एक परिणाम आधुनिकता भी था। यह माना जाने लगा कि आधुनिकता बहुत अच्छी है और इसे हमें स्वीकार कर लेना चाहिये। लेकिन इस आधुनिकता के कई स्तर थे और इसमें भारत के सांस्कृतिक-सामाजिक जीवन पर अपने ही तरह से कई जगह प्रभाव डाला। आधुनिकता ने कई शैलियों को विकसित किया और ये शैलियां परंपरा से हर बार आधुनिक शैलियां कहलाई। आधुनिकता कुछ कुछ बाजारवाद का प्रारंभ भी था। आधुनिकता का सन्दर्भ पूंजीवाद से भी था। पूंजीवाद की एक ताकत बाजार भी थी। मार्क्सवादी रचनाओं के अनुसार बाजार की इस प्रक्रिया ने जीवन के बहुत से आधारों को अपने में लपेट लिया।

यहां एक विचित्र विरोधाभास भी देखा जा सकता है। एक और आधुनिक मशीनें, आधुनिक व्यवसाय तथा आधुनिक शिक्षा दूसरी ओर भाषा, राष्ट्रीय इतिहास, स्थापत्य तथा लोक साहित्य एवं रचनाएं हमारी पहचान के प्रतीक बन गये। स्वरुप बदलने के बावजूद लोक संस्कृति के ये पक्ष हमारी धरोहर कहे जाते हैं। कोई भी आधुनिक भारतीय इस पहचान से अपने को नकार नहीं सकता। भारत की पुरातन लोक संस्कृति न केवल समृद्ध हैं साथ ही साथ प्रजातांत्रिक भारतीय समाज में उसके विकसित होने की पूरी संभावनाएं हैं। लोक संस्कृति की परंपराएं वे परंपराएं हैं, जिनमें विभिन्नताएं है और भी एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती रही हैं। भारत में कुछ दीर्घ परंपराएं हैं जिनका विस्तार भारत के बहुत बड़े क्षेत्र पर है। ये परंपराएं धार्मिक भी हैं और सांस्कृतिक भी। भारत की अनेक परंपराएं स्थानीय हैं, पर अपनी स्थानीयता के होते हुए भी सारे देश में जानी जाती है। स्वतंत्रता के बाद विभिन्न क्षेत्रों के पारस्परिक

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

संपर्क के कारण क्षेत्रीय सांस्कृतिक तत्वों का बहुत बड़ा विस्तार हुआ है। प्रायः ये तत्व इस प्रकार स्वीकार किये गये हैं, कि उनका संबंध उस विशिष्ट क्षेत्र से नहीं होते हुए भी उसकी स्वीकारोक्ति इस प्रकार हुई है, जैसे वह उसी क्षेत्र की हो। संस्कृति के भोजन पक्ष का विस्तार तो हुआ ही है, संगीत, नृत्य, काव्य, नाट्य मंच आदि सांस्कृतिक क्षेत्रों का विस्तार अपनी ही तरह से हुआ है। स्थानीय स्तर पर परंपराओं के साथ सामाजिक प्रचलन भी जुड़ गये। इस प्रकार के संपर्को ने परंपराओं के निर्वहन तथा निरन्तरता को कहीं प्रभावित नहीं किया।

इन परंपराओं में से कुछ मौखिक थी और कुछ लिखित। आदिवासी तथा किसानी समाजों में मौखिक परंपराएं बड़ी महत्वपूर्ण रही है। समाजशास्त्रियों तथा सामाजिक मानव शास्त्रियों ने मौखिक परंपराओं को सामाजिक संरचना की समझ के लिये महत्वपूर्ण माना है। यह बात दूसरी है कि अब इन मौखिक रचनाओं को लिपिबद्ध कर लिया गया। और अब ऐसी परंपराएं मात्र मौखिक नहीं रह गई हैं। सामाजिक सांस्कृतिक संरचनाओं को समझने के लिये ये महत्वपूर्ण तथ्य हैं। आधुनिकता के संदर्भ में इन परंपराओं में परिवर्तन आया तो साथ ही इन्हें संरक्षण की प्रेरणा भी मिली।

उत्तर आधुनिकता के सांस्कृतिक संदर्भ कुछ अलग हैं। यूरोपीय समाजों में उत्तर संस्कृति का अर्थ था, आधुनिकता में रची गई संस्कृति से पीछा छुड़ाने की प्रक्रिया और एक स्वतंत्र संस्कृति के निर्माण की प्रक्रिया। विकसित देशों में इस प्रक्रिया का उद्देश्य संस्कृति के उत्तर आधुनिकीकरण के रुपांतरण में था। उत्तर आधुनिकता का एक और संदर्भ वृहद स्तर के सांस्कृतिक परिवेश में स्थानीय संस्कृतियों की रचना के परिवेश का भी है। यही उत्तर आधुनिकता संस्कृति के पदार्थीकरण की ओर भी संकेत करती है। पदार्थीकरण एक प्रकार का व्यापारी करण है। उत्तर आधुनिकता के संदर्भ में यह कहा भी गया है कि यह व्यापार संस्कृति और कला के सौन्दर्य शास्त्रीय मूल्यों को भुला देता है और कला और संस्कृति महज व्यापारिक वस्तु बन जाती है।

उत्तर आधुनिकता में कला एवं लोक संस्कृति का सामना आधुनिक जन संचार के साधनों और कलाओं के व्यापारिक संगठनों से होता है। लोक कलाओं की रचना अब प्रायः स्वान्तःसुखाय, सामाजिक प्रचलनों की आवश्यकताओं अथवा सांस्कृतिक संतुष्टि के लिये नहीं है। ऐसा कई क्षेत्रों की सांस्कृतिक गतिविधियों के साथ हुआ है। लोकप्रिय संस्कृति के सारे स्वरुप प्रायः व्यापारिक दृष्टि के हैं। टेलीविजन और सिनेमा ने एक ओर जहां इनआधारों को स्वीकार कर उसका प्रसार किया है, दूसरी ओर उनके मौलिक स्वरुपों को आघात भी पहुंचाया है। समस्या तब आती है, जब बिना जड़ों से परिचित लोग व्यापारिक दृष्टि से इन सांस्कृतिक तत्वों का प्रयोग करते हैं। वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने इन प्रयासों के लिये एकबड़ा बाजार भी खड़ा कर दिया है।संगीत की विश्वदृष्टि को वह भुना लेना चाहता है। जन संचार के ये साधन एक विशेष रुचि को पैदा करने में भी समर्थ है। यहीं नये मूल्यों को विकसित करने में समर्थ है। रुचियों की यह संरचना फिर से कलाओं को एक व्यापारिक मोड़ देती है। अब कला का अपना एक व्यापार है, जो स्थापित परंपराओं तथा आधुनिकता के प्रतिमानों को मानने के लिए बाध्य नहीं है। विशेष रुप से परंपरा की बाध्यताएँ उसे स्वीकार नहीं।

पदार्थीकरण और व्यापारीकरण की इस प्रक्रिया से एक मध्यम वर्गभी पैदा हुआ है जिसका उद्देश्य संस्कृति का व्यापारिक प्रयोग है।ऐसा भी हुआ है कि लोक कलाकारों और ऐसी संस्थाओं जो किन्ही लोक कार्यक्रमों के साथ जुड़ी हुई हैं के बीच भी ये लोग मध्यस्थता का कार्य करते हैं। इस तरह लोक रंगों का सीधा जन सम्पर्क टूट जाता है और प्रायोजित कार्यक्रम लोग संस्कृतियों के भावताव के साथ जुड़ जाते हैं। कुछ ऐसा भी होता है कि सरकारी संस्कृति विभाग ऐसे समूहों अथवा मंडलियों को अपनी ही तरह से नियोजित करने का प्रयास करते हैं इसलिय संस्कृति के बाजारवाद की यह प्रवृत्ति सरकारी भी है और गैर सरकारी भी। इसमें अधिक नुकसान लोक कर्मियों का ही होता है। बाज़ारवाद की इस दुनिया में लोक कर्मियों का कोई कॉपीराइट नहीं है, पर उनको रिकार्ड कर यदि कोई सीडी बनाले तो उसका कॉपी राईट हो जाता है। बाजार नियमों से बंधा हुआ है यही नियम इस प्रकार की व्यवस्था करता है।

इस प्रक्रियाओं में और नये यत्रों तथा नई रुचि उत्पन्न होने के कारण, लोक कलाओं की मूल संरचना प्रभावित होने का खतरा बढ़ गया है। ऐसे उदाहरण सामने आने लगेहैं कि अब ग्रामीण अंचलों में रचनाएँ बननी बंद हो गयी हैं। लोक गायकी के बहुत से से वाद्य अब समाप्त हो गये हैं या अब उनके बजाने वाले नहीं रहे। कुमाऊं क्षेत्र की एक रपट यही कहती है। स्वयं राजस्थान में बहुत से लोकवाद्य अपनी समाप्ति के कगार पर हैं। संभव है ऐसा अन्य क्षेत्रों में भी हो। गांव-गांव में शहरी सभ्यता के प्रवेश ने कठिनाइयां और अधिक बढ़ा दी हैं। वहां मनोरंजन के मूल स्रोत ही बदल गये हैं। बाजार के लिये निर्मित नव संस्कृति ने वहां अपना प्रभाव डालाहै। कुछ अग्रिम आदिवासी क्षेत्रों में भी ऐसा हुआ है। इन नये सांस्कृतिक प्रयोगों ने सामाजिक संरचनाओं पर भी अपना प्रभाव डाला है। सामाजिक आचरणों तथा सामाजिक मान्यतओं की व्यवस्थाओं में भी परिवर्तन आया है।

प्रश्न यह भी उठ खड़ा हुआहै कि उत्तर आधुनिक कला

 CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

के संदर्भों में स्थापित आधारों को नकारे जाने के प्रसंग में आखिर इन लोक संस्कृतियों का क्या होगा? ये संस्कृतियां रुपान्तरित होंगी या समाप्त होंगी? या नये निर्मित समाज की नई लोक संस्कृति होगी? इनमें से बहुत कुछ भविष्य के प्रश्न हैं। पर इन प्रश्नों की पड़ताल बहुत जरुरी है।

यह बात इसलिये भी महत्वपूर्ण है कि यह प्रक्रिया अब तेज हो चली हैकि लोकरंगों को अधिक से अधिक व्यापार की ओर कैसे मोड़ा जाय। अभी हाल में एक ऐसी कार्यशाला हुई थी जिसमें लोक कलाकारों और दस्तकारोंको यह सिखाने का प्रयास किया जा रहाथा कि आप अपनी कला से अधिक से अधिक व्यापार कैसे करें। हस्त उद्योगों में यह प्रवृत्ति बहुत अधिक देखी जा सकती है। क्योंकि बाजार में ग्राहक सर्वोपरि है और कला ग्राहकोन्मुखी है, ऐसा होना स्वाभाविक भी है। पर यही ग्राहक मुखी परिवर्तन फिर से कला के व्यापारीकण का आधार स्थापित कर देता है। यह परिवर्तन कला एम्पोरियमों तथा खुदरा व्यापारियों की मांग भी है। यही मांग उत्पादित वस्तुओं को नया प्रतीक भी दे देते हैं। राजस्थान का प्रसिद्ध मौलेली टेराकोटा आदिवासियों की सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रतीक था, पर अब सुधरे स्वरुप में बड़ी व्यापारिक वस्तु है।

इतना सब कुछ कहने के बाद इस परिवर्तनशील स्थिति में, उस जनसंरक्षण की चर्चा करनी भी आवश्यक है जो पहले मौजूद था। जहां लोक कलाएँ मौजूद थी, वहीं एक वर्ग ऐसा भी था, जो इन्हें संरक्षण प्रदान करता था। यह वह जजमानी संरक्षण हो- या सामंतवादी संरक्षण, ये कलाएं भरण-पोषण के लिये कमजोर साधन बन ही जाते थे। आजादी के बाद संरक्षण के इन आधारों में कमी आ गयी। सरकारी संस्कृति विभाग लोककलाओं के आर्थिक पक्षों को संवार नहीं पाये। व्यापार की ललक उन आर्थिक कठिनाइयों से भी जुड़ी थी, जो उनकी परेशानियों को और अधिक बढ़ाते थे। इसीलिये लोककलाओं के परिवेश में एक ओर उत्तरआधुनिकतावादी तत्व हैं, दूसरी ओर वे सामाजिक आर्थिक परिवर्तन है, जो उन्हें प्रभावित कर रहे हैं। आधुनिक परिवेशों से निकलकर, या उत्तर आधुनिकता की दार्शनिकता से उभर कर लोक कलाओं का पारंपरिक स्वरुप अब किन अर्थों को निरुपित करेगा यह भी भविष्य का प्रश्न है। अकादमिक स्तर पर यह पड़ताल का महत्वपूर्ण प्रश्न भी है।

□□□

91, गोकुलनगर
बोहरा गणेश मंदिर के पास
उदयपुर (राजस्थान)- 313001
फोन : 0294-2471721
मोबाइल : 94141-65021

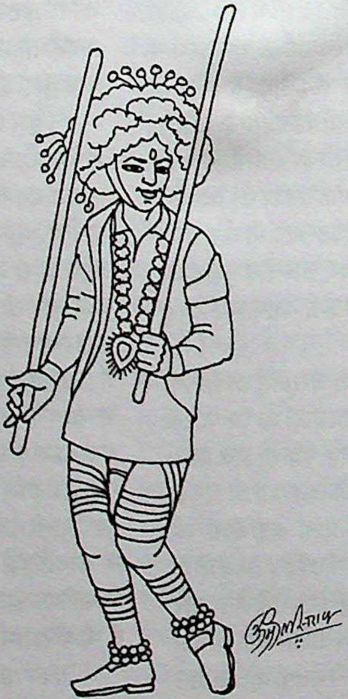

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लोक परंपरा और संस्कृति के तार

वेद प्रकाश अग्रवाल

देश काल और परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न देशों, विभिन्न अंचलों की संस्कृति में अन्तर पाया जाता है। लोक शब्द का पर्याय अंग्रेजी में 'फोक' शब्द है। अर्थात यह कि 'लोक' मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता ओर पांडित्य की चेतना अथवा दूसरे शब्दों में अहंकार से शून्य है। और वह एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्व समाहित हैं वे ही लोकतत्व हैं।

'लोक' शब्द को समझने के लिए हमें थोड़े से विस्तार में जाना पड़ेगा। 'लोक' शब्द का अर्थ 'जनपद' या 'ग्राम' नहीं है, बल्कि नगरों और गांवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत रुचि सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल, और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं। तथा परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता एवं सुकुमारिता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुयें, आवश्यक होती हैं, उनको उत्पन्न करते हैं। तात्पर्य यह कि लोकाभिव्यक्ति लोगों के जीवन की अनायास प्रवाहात्मक वह अभिव्यक्ति है जो सुसंस्कृत तथा परिष्कृत लोगों के प्रभाव से बाहर रहती है। यह संस्कृति अपने भाव में कभी कम तो कभी अधिक अपनी आदिम अवस्था में व्यक्त होती है। यह अपनी पुरातन स्थिति में रहते हुए भी वर्तमान भी होती है। 'लोक' शब्द का अर्थ ग्राम्य-जीवन अथवा जनपदीय समझा ज़ाता है, किन्तु इस दृष्टि से केवल गाँवों में ही नहीं अपितु जंगलों, पहाड़ों और टापुओं में बसा हुआ वह मानव समाज जो अपनी परंपरा, रीति-रिवाज और आदिम विश्वासों के प्रति आस्थाशील होने के कारण अभिक्षित एवं अल्प सभ्य कहा जाता है, लोक का प्रतिनिधित्व करता है।

लोक में लम्बे समय से अभिव्यक्त होती एक ही तरह की लोकाभिव्यक्ति या लोक तत्व कालान्तर में परंपरा बन जाते हैं और उनकी अभिव्यक्ति लोक परंपरा के अंतर्गत होने लगती है। ये परंपरायें लोक के जीवन में विभिन्न क्षेत्रों में अभिव्यक्ति पाती हैं। यथा गीतों में, नृत्यों, में वाद्यों में, कथाओं में, कहावतों और लोकोक्तियों में रुप पाकर संचारित होती हैं। साथ ही लोक व्यवहार, उठने-बैठने, पहने-ओढ़ने, बातें करनें, चलने, हँसने, रोने तक में भी परिलक्षित होने लगती है।

सभी अंचलों की लोक परंपरायें अपने बुनियादी चरित्र में समानधर्मी होते हुए भी किसी अंचल विशेष की लोक परंपरा अपनी विशिष्टता की पहचान अलग लिए भी हुआ करती है। लोक परंपरा के उद्भव, विकास और निरंतरता को जानने, समझने के लिए उस अंचल की भौगोलिक स्थिति, आर्थिक, परिस्थिति, तथा सामाजिक दबाव आदि को भी ध्यान में रखकर ही इसे समझा जा सकता है।

तुलसीदास जब रामचरित मानस में राम के वनवास काल में गिरिजनों द्वारा उनके सत्कार की कथा कहते हैं-

यह सुधि कोल किरातन्ह पाई, हरषे जनुनव विधि कर आई।

कंद-मूल-फल भरि-भरि दोना, चले रंकु जनु लूटन सोना।।

गरीब गिरिजन कंद-मूल-फल के दोनें भर भरके राम का स्वागत करते हैं। लोक परंपरा में स्वागत की यह कड़ी आज भी विद्यमान है। छत्तीसगढ़ के गाँवों में आज भी अतिथि को पहले लोटा भर पानी पैर धोने के लिए दिया जाता है। सरगुजाञ्चल के गाँवों में बड़ी-बूढ़ी महिलायें अभी भी अतिथि के पैर काँसे की थाली में रखकर लोटे के पानी से धोती हैं।

लोक परंपरायें अपने अंचल विशेष की, द्वेश काल और परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न भी होती हैं। विभिन्न क्षेत्र के लोगों के जन्म से लेकर मृत्यु तक के संस्कारों में जैसे, जन्म संस्कार, छठी, नामकरण संस्कार, भात खवानी-संस्कार, सगाई, विवाह आदि में अपनायी जाने वाली परंपरायें, मृत्यु के अवसर पर किये जाने वाले

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

संस्कारों में पर्याप्त भिन्नता मिलती है। यही नहीं एक ही जाति (कास्ट) के लोगों में भी उनकी लोक–परंपराओं में भिन्नता मिलती है। यद्यपि बुनियादी स्वरुप एक होते हुए विभिन्न अंचलों की लोक परंपरायें भी लगभग एक ही तरह की होती हैं। उनकी गतिशीलता का पैमाना भी लगभग एक सा ही हुआ करता है।

गतिवान और विकासशील परंपरायें कब संस्कृति का एक अहम् हिस्सा बन जाया करती हैं, पता ही नहीं लगता। शाब्दिक अर्थों में 'संस्कृति' शब्द 'संस्कार' का ही रुपांतरण है। कालान्तर में संस्कारों का परिमार्जन ही संस्कृति का आकार ग्रहण करता हुआ चलता है। संस्कृति में कृषि–कला, प्रौद्योगिकी, सामाजिक संगठन, भाषा, धर्म, कला आदि सभी का समावेश होता है। मानव अपनी आर्थिक, समाजिक तथा मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धर्म, भाषा, कला, प्रविधि, साहित्य, तथा अन्य भौतिक व अभौतिक वस्तुओं का आधार ग्रहण करता है। इन्ही सबका योग या इनकी समग्रता ही संस्कृति कही जाती है। अनेक शताब्दियों तक जब एक ही क्षेत्र के लोग साथ–साथ ,खाते–पीते, रहते–सहते, सोचते–समझते, पढ़ते–लिखते, धार्मिक कर्मकाण्ड करते–कराते, विविध कलाओं का सृजन करते, राजकाज चलाते, यथा एक विशेष दर्शन, रीति–रिवाज, आचार–विचार एवं आस्था उत्पन्न कर जीवन जीते हैं। कहीं इन सभी कार्यों में उनकी संस्कृति उत्पन्न होती है। हमारे जीवन के तौर–तरीकों उठने–बैठने, चलने, बोलने, संगीत, नृत्य, हास–विलास, गीत–कर्म और धार्मिक आस्थाओं, विचाराभिव्यक्तियों और समस्त प्रकार की अभिनयात्मक अभिव्यक्तियों से हमारी संस्कृति की पहचान होती है। तात्पर्य यह कि हम जो कुछ भी करते हैं, उसमें अधिकांश में हमारी संस्कृति झलकती है।

हमारी संस्कृति सदियों से उस समाज पर छायी रहती है, जिसमें हम जन्म लेते हैं। मिलकर रहते हैं। हम जीवन भर जो भी संस्कार करते हैं वे भी कालान्तर में हमारी संस्कृति के अंग बन जाते हैं और मरने के बाद हम अपनी संस्कृति–संस्कारों को भावी पीढ़ी को सौंप जाते हैं। संस्कृति के निर्माण की इस प्रक्रिया में वे लोक परंपरायें जिन्हें हम अपने संस्कारों के माध्यम से व्यक्त करते हुए चलते हैं शनैः शनैः संस्कृति का अंग अपने आप बनती चली जाती है अर्थात संस्कृति की बुनावट लोक–परंपराओं के तारों से ही होकर गुजरती है। लोक परंपसओं का समुच्चय जिसमें निरंतर अपेक्षित समय के साथ–साथ किंचित सुधार की प्रक्रिया भी चलती रहती है, संस्कृति का आकार ग्रहण करता हुआ चलता है। और यह प्रक्रिया निरंतर प्रवाहमान रहती है।

समाज में देशकाल, परिस्थितियों के थपेड़ों से विभिन्न समाजों की संस्कृतियों को परती पर संस्कृति ग्रहण की प्रक्रिया से भी गुजरते हुए अपने आप में काँट–छाँट, सुधार, विलोपन, विस्तार आदि की अनिवार्य परिस्थितियों से भी सामना करना पड़ता है। लेकिन परती पर संस्कृति की प्रक्रिया अर्थात हमारी संस्कृति अन्य जिन संस्कृतियों के सम्पर्क में आती है, उनसे बहुत–कुछ ग्रहण करती है, तो बहुत कुछ उन्हें देती भी है और अपने आपमें परिवर्तन करती हुई भी चलती है। यह भी एक अनिवार्य प्रक्रिया है, जिससे कमोवेश लगभग सभी जीवित संस्कृतियाँ होकर गुजरती हैं। बहुधा संस्कृति के तार लोक परंपरओं से ही अपने होने की पुष्टि करते हैं। लोकपरंपरायें जन साधारण के बीच पैदा होती हैं तथा उनका केन्द्रीय स्थान ह्रदय होता है। और वे कब आभिजात्य समाज में आकर बुद्धि का दामन थाम लेती हैं, पता ही नहीं लगता। कभी–कभी एक लोक परंपरा लोक संस्कृति और नागर संस्कृति, दोनों में ही अपना आकार बनाती हुई चलती है। अक्सर विवाह आदि के संस्कारों की प्रक्रिया, जन्म–मरण के समय प्रचलित रुढ़ियाँ, प्रायः समान रुप से लोक और आभिजात्य समूहों में अपनी गतिशीलता पाती हैं।

मानव–समाज के उदय की प्रारम्भिक अवस्थाओं में जब उत्पादन की शक्तियाँ कमजोर व सीमित थीं, तब मनुष्य के सामने एक ही उपाय था कि वह अपनी जीविका के लिए आवश्यक साधनों को सामूहिक प्रयास के द्वारा जुटाये। इस तरह की तमाम लोक–परंपराएँ, लोक–गीतों, लोक–नृत्यों, लोक–कलाओं और अन्य व्यवहारों में उद्घाटित हुई हैं। ये लोक गीत, नृत्य व कलाएँ सभी प्रत्यक्ष रुप से आदि–मानव के दैनिक जीवन, तथा उसके समाज के कार्यकलापों और उसकी श्रमक्रिया से अविछिन्न रुप से जुड़े हुए थे। समयानुसार इन लोक परंपराओं को आर्थिक सम्बन्धों में आये परिवर्तनों ने भी प्रभावित किया है। जैसे–जैसे वर्ग–समाज पुख्ता होता चला गया है वैसे–वैसे इसके अन्तर्द्वन्द्व स्पष्ट होते चले गये हैं।

सरगुजाञ्चल में पहले प्रचलित यह लोक गीत :–
भइया आवत होही, आठे कर रोटी धइर के।
बहिनी देखत होही, लोटा में पानी भइर के ।।
अब अपना भाव और अर्थ खो चुका है। भाई और

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

बहन के रिश्तों में भी अब वे भाव नहीं रहे। प्रौद्योगिकी और उपभोक्ता संस्कृति के प्रवेश ने इस तरह की तमाम लोकाभिव्यक्तियों को अब कुछ इस तरह पिरोया है –

आवत अहै मोर भइया, अब तो साहेब बन के।

अपन फेटफेटिया में ले जाही भौजी ला, फूल पैन्ट पहिन के।।

ज़ाहिर है कि इस तरह लोक परंपराएँ संस्कृति के तारों का संयोजन करती तो हैं किन्तु बहुत कुछ परिवर्तित परिकल्पनाओं के परिदृश्य में से अपने को गुजारते हुए। उत्पादन के साधन भी इस तरह की परिवर्तन–प्रक्रिया में अपनी अहम् भूमिका निभाते हैं।

□□□

जवाहर नगर, अम्बेडकर चौक,
अम्बिकापुर (सरगुजा)
मोबा. 9826906867

टीप : आठे = एक त्योहार जन्माष्टमी
फेटफेटिया = मोटर साइकिल

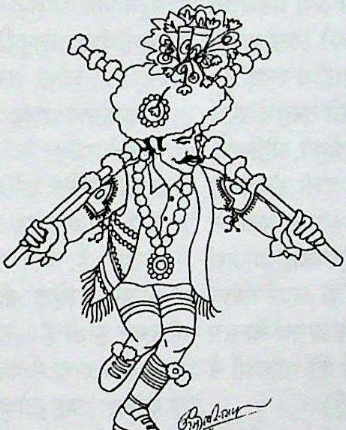

लोक गीतों में विद्रोह के स्वरों की खोज करने वालों को ध्यान रखना चाहिए कि ये किसी विचारधारा के तहत नहीं रचे गये हैं। इन गीतों की वैचारिक व भाषिक बनावट तेवर व परिप्रेक्ष्य उसी साझे विश्वदृष्टि के भीतर हैं जिनमें उत्पीड़कों, वर्चस्ववादियों का भी हिस्सा है। इसलिए, ये लोकगीत किसी राजनीतिक घोषणपत्र के निर्माण में प्रत्यक्ष भूमिका तो नहीं निभा सकते लेकिन उस सांस्कृतिक समझ को दुरुस्त करते हुए पुख्ता बना सकते हैं जिसके आधार पर कोई राजनीतिक कार्यसूची तैयार की जाती है, काम्य समाज की संरचना निर्धारित की जाती है।

साभार–बजरंग बिहारी तिवारी
''आंचलिकता, लोक साहित्य और दलित लेखन,
कथा देश, अप्रैल 2008 (पृ.75).

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लोक और उसका मंगलमय आलोक

वर्षा खुराना

''लोक शब्द संस्कृत के 'लोक दर्शने' धातु से धञ प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है।''[1]

इस धातु का अर्थ होता है 'देखना' जिसका लट् लकार में अन्य पुरुष एक वचन का रुप लेते है अतः 'लोक' शब्द का अर्थ हुआ देखने वाला वह समस्त जन समुदाय जो इस कार्य को करता है, लोक कहलायेगा।

''लोक देश का ही एक आनुभविक रुप है। 'लोक' शब्द की व्युत्पत्ति रुच/लुच से है, जिसका अर्थ प्रकाशित होना और प्रकाशित करना भी है, जो सामने दिख रहा है और जो प्रकाशित कर रहा है। इसके सजातीय शब्द हैं– आलोक, लोचन (ऑख), आलोचना (अच्छी तरह देखकर विवेचन करना), रोचन (प्रकाशमान, सुंदर, शोभन, प्रीतिकर, प्रीतिकर संदेश, संतानोत्पत्ति का संदेश, इसी से संबद्ध फारसी का रोशन और रोशनी है), अवलोकन, प्रत्यावलोकन (पीछे की तरफ देखना) लौकिक दृश्य (व्यवहार के अर्थ में) लोकोत्तर (लोक में रहते हुये लोक से उपर उठने वाला), लोकमत (ऐसा मत जो प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता हो), इस शब्द से संबद्ध अनेक शब्द यूरोप की भाषाओं में हैं, जिनमें यही अर्थ सूत्र की तरह व्याप्त है।

इस प्रकार लोक अपने में विशाल अर्थ क्षेत्र समेटता है। जो भी दृष्टिगत संसार है अथवा जो भी इंद्रियगोचर संसार है, वह लोक है। इस लोक का अर्थ है–जो यहाँ है, जो प्रस्तुत है। लोक का विस्तृत अर्थ है–लोक में रहने वाले मनुष्य, अन्य प्राणी और स्थावर संसार के पदार्थ, क्योंकि ये सब भी प्रत्यक्ष अनुभव के विषय हैं। लोक के अर्थ का और विस्तार करते हैं तो लोक–व्यवहार, लोक के द्वारा स्वीकृत व्यवहार या आचारलोक के इस अर्थ को ही लाक्षणिक रुप में लेते हुए हम कहते हैं तीन लोकभूलोक (पृथ्वीलोक) भुवर्लोक (अंतरिक्ष) और स्वर्लोक (द्युलोक)। इन तीनों को त्रिलोकी कहते हैं। पृथ्वी के उस पार को हम पाताललोक या नागलोक असुरलोक भी कहते हैं। इन सब प्रयोगों में यह अर्थ अभिव्याप्त है कि किसी सीमित और परिभाषित आकाश का नाम लोक है। यह लोक अवधारणा मात्र नहीं, यह कर्मक्षेत्र है।''[2]

''लोक शब्द व्यापक और सम है यह ब्रह्म की ही तरह अनंत अक्षर और असीम है, जीवन का प्रतीक और जन का पर्याय है। 'लोक' की सीमा केवल ग्राम या साधारण जनता तक ही नहीं है ऐसा संकीर्ण अर्थ तो बहुत बड़ी साहित्यिक ही नही सामाजिक और सांस्कृतिक भूल का द्योतक है समस्त विचार मात्र में 'लोक' की समीचीन अलंकृति ही परम उपादेय और मांगलिक है।[2]

''लोक शब्द देखने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अवलोकन शब्द इसी से बना है। लोक का अर्थ हुआ देखने वाला। वेद व्यास ने लोक को यथार्थ रुप में देखने वाले व्यक्ति को व्यक्ति माना है–प्रत्यक्ष दर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः। लो लोक को स्वयं अपनी आँखों से देखता है, वही व्यक्ति लोक को समझ सकता है। शत साहसी संहिता की इस सूक्ति से लोक की व्यापकता भी स्पष्ट होती है। वेदों के बाद उपनिषद काल में जैमिनीय ब्राह्मण ग्रन्थ में कहा गया है–'बहु व्याहितो वा अयं बहुशो लोकः।' यह लोक अनेक प्रकार से फैला हुआ है। प्रत्येक वस्तु में यह व्याप्त है। बालक पहली बार अपनी आँखों को इस लोक में खोलता है और मूंदने तक इस लोक को देखता है। इस अवधि में मनुष्य जीवन और संसार के कई अनुभवों से गुजरता है, मनुष्य अपने आसपास इसी अनुभव के आधार पर जो जीवन का तानाबाना बुनता है, वही लोक है। इस प्रकार जन और समुदाय जो देखने का कार्य करता है और जिसे देखा जाता है, वह सब लोक की परिधि में आता है। मनुष्य के देखने का अर्थ सृष्टि की हर धड़कन देखना है। लोक शब्द अत्यंत प्राचीन है। साधारण जनता के लिये लोक का प्रयोग ऋगवेद में अनेक स्थानों पर किया गया है। (ऋक 3/53/12) ऋगवेद के पुरुष सूक्त में 'लोक' शब्द का व्यवहार जीव तथा स्थान दोनों अर्थों में किया है। 'यथानाभ्यां' असीदंतरिक्ष शीर्ष्णोधोः समवर्तन। पद्भ्यां भूमिदृशः शोत्र तथा लोकां अकल्पनयन।'

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

(ऋग्वेद 3/53/12) उपनिषदों में अनेक स्थानों में लोक शब्द व्यवहृत हुआ। महावैयाकरण पाणिनी ने अपनी अष्टध्यायी में 'लोक' और 'सर्वलोक' शब्दों का उल्लेख किया है। पाणिनी ने वेद से पृथक लोक की सत्ता स्वीकार की है। वररुचि ने अपने वार्तिकों में भी लोक शब्द का प्रयोग किया है। यह सूर्य की तरह सत्य है वेदों की रचना के पूर्व लोक की सत्ता थी। परलोक की धारणा इसी लोक से उत्पन्न हुई होगी।

तीन लोक पृथ्वी, आकाश और पाताल की कल्पना अनेक मिथ कथाओं में मिलती है। सात लोकों का जिक्र अनेक बार कथाओं में आता है। पृथ्वी को पृथ्वी लोक की संज्ञा दी जाती है। लोक का रुढ़ अर्थ संसार है, लेकिन यह अर्थ लोक को बहुत संकुचित कर देता है, लोक का अर्थ बहुत व्यापक हे। लोक समूचे जीव, प्रकृति जीवन, स्वर्ग-नर्क, कल्पना-यथार्थ का नाम है। लोक सृष्टि के अन्दर और बाहर फैला हुआ है। लोक सब जगह है। लोक का अभिप्राय सामान्य जीवन है। सर्व साधारण जनता के लिये भी लोक शब्द प्रचलितं है। चराचर मात्र में लोक की उपस्थिति है। मनुष्य के आसपास लोक होता है। लोक में मनुष्य से श्रेष्ठ कोई नहीं होता है। मनुष्य की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, वैज्ञानिक और आध्यात्मिक, भौतिक उपलब्धियाँ लोक से बाहर नहीं होती।''[3]

''कश्मीर से कन्याकुमारी तक फैले हुये भू-भाग पर पनपता हुआ मानव समाज भारतीय लोक है। भारतीय लोक-जीवन हमारे सुदीर्घ इतिहास का अमृत फल है जो कुछ हमने सोचा, किया और सहा उसका प्रकट रुप हमारा लोक जीवन है। लोक राष्ट्र की अमूल्य निधि है। हमारे इतिहास में जो भी सुंदर, तेजस्वी तत्व है वह लोक में कहीं न कहीं सुरक्षित है। हमारी कृषि, अर्थशास्त्र ज्ञान, साहित्य, कला के नाना रुप में भाषायें और शब्दों के भंडार, जीवन के आनन्दमय पर्वोत्सव, नृत्य, संगीत, कथा वार्ताएं, आचार विचार सभी कुछ भारतीय लोक में ओतप्रोत है। लोक की गंगा युग-युग से बह रही है। उसके प्रवाह में हमारी संस्कृति के मेघ जल पूर्ण युगों में बरसते हैं संप्रति बरस रहे हैं और आगे भी उनकी सहस्त्र धारायें लोक जीवन की भागीरथी को आगे बढ़ाती रहेंगी। लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। लोक ही राष्ट्र का अमर स्वरुप है। लोक के ज्ञान और संपूर्ण अध्ययन में सब शास्त्रों का पर्यावसान है। अर्वाचीन मानव के लिये लोक सर्वोच्च प्रजापति है। लोक की धात्री सर्वभूतमाता पृथ्वी और लोक का व्यक्त रुप मानव यही हमारे नये जीवन का आध्यात्म शास्त्र है। इनका कल्याण हमारी मुक्ति का द्वार और निर्वाण का नवीन रुप है। लोक-पृथ्वी-मानव इसी त्रिलोकी में जीवन का कल्याण तम रुप है।''[4]

भारतीय मानस की अवधारणा लोक शब्द के साथ किसी भू-भाग अथवा परिक्षेत्र का पर्याय मानी गयी है। इस हेतु तीन लोक की परिकल्पना की गई है- पृथ्वी, आकाश और पाताल मुस्लिम समाज में चौदह लोकों की परिकल्पना है जिन्हें वे 'तबक' कहते हैं। बेबीलोनिया के निवासी भी तीन लोक मानते है। इन समस्त मान्यताओं में क्षेत्र परिसीमन का मान निहित है।

किन्तु लोक शब्द का प्रचलित भाव गांभीर्य समस्त परिवेश को व्यक्त करता है जिसमें चार तत्व प्रधानता रखते है (1) क्षेत्र विशेष, (2) उसमें निवास करने वाला समाज, (3) मानवीय समस्त मानसिक शारीरिक कार्य व्यापार, (4) उसकी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति लोक शब्द में निहित है। संक्षेप में यूं कहूं कि उस क्षेत्र विशेष के मानव समुदाय में प्रकृति के समस्त आयामों को आत्मसात करना लोक या लोक जीवन को अभिव्यंजित करता है। इस प्रकार हम कह सकते है ''समस्त विश्व में किसी विशिष्ट समुदाय की वह भौतिक संरचना जो उसे इतर समुदाय से भिन्नता प्रदान करती है। वह उसका लोक जीवन कहलाती है।'' जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में भी कहा गया है -

बहु व्याहितों वा अयं बहुशो लोकः।
क एतद् अस्य पुनरीहतो अयात् ।

अर्थात यह लोक अनेक प्रकार से फैला है प्रत्येक वस्तु में यह प्रभूत है।

लोक ऐसे गतिशील जीवन की समष्टि है जिसमें सचेतन मानव के साथ पशु पक्षी एवं प्रकृति के विभिन्न रुप समाए हुए हैं। लोक जीवन करोड़ों वर्षों की गतिशील जीवन यात्रा कर लेने के बाद भी जीवंत समाज की विराट चेष्टा को अपने भीतर बसाये हुये आज भी हमारे सामने गतिशील है। इसी लोक जीवन में मानव जाति को लोक-संस्कृति, लोक धर्म, लोकभाषा तथा लोक साहित्य जैसे अनेक जीवन रत्न प्रदान किये हैं। इसी लोक से लोक गीत, लोक मंच तथा लोक विश्वास जन्में हैं और इन्होंने लोक जीवन को जीवन की श्रेष्ठता तथा संपूर्णता प्रदान की है। व्यक्ति सीमित जीवन एकांगी है लोक व्याप्त सर्वांगी।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जब तक व्यक्ति जीवन लोक जीवन के साथ समन्वय नहीं साधेगा वह समुद्र में भटकी लहर की तरह आधार विहीन रहेगा।

भारतीय जीवन परंपरा को महत्व देते हुये ''वसुधैव कुटुम्बकम'' का समर्थन किया है। लोक जीवन सामान्य जन जीवन को अपना केन्द्र बिन्दु मानता है और विशिष्ट जीवन को भी अपनी सीमाओं में बसाये रहता है। इसी देश में निवास करने वाली अनेक जातियों प्रजातियों ने इस लोक जीवन के लोकादर्शो, लोक धर्म, तथा लोक संस्कृतियों को अपनाया है। जीवन के लोक तत्वों ने जीवन को गरिमा प्रदान की है तथा उसे शाश्वत मूल्यों से गौरवान्वित भी किया है। जिस जातीय जीवन का पुरुषार्थ थका है उसमें लोक जीवन के तत्व ह्रासोन्मुखी रहे हैं।

वसुन्धरा के आंचल में जो भी है जड़, चेतन, स्थावर, जंगम चेतन-अचेतन समग्र रुप में वह लोक ही है, आचार्यों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति के स्वरुप में लोक अंतर्निहित ही निरुपित हुआ है मेरी अपनी दृष्टि स्थूल जगत और उसकी सूक्ष्म शक्ति तक ही सीमित नहीं है वरन् दृश्यमान जगत से भी अतिसूक्ष्म जो चेतन जगत और उसका रागात्मक कार्य व्यापार है जो अपनी केंद्रीभूत सत्ता से संचालित होकर स्थूल और उसकी सूक्ष्म गतिविधियों को संचालित करता है वही लोक का आलोक है।

इस संदर्भ में लोक की सीमाएं संकुचित न होकर व्यापक एवं केंद्रीभूत होकर गहनतम हो जाती है। इसलिये इस धरती के प्रत्येक समुदाय ने लोक की अनेक प्रकार से कल्पनाएं की है। हिन्दू धर्म में लोक, परलोक अथवा पाताललोक भूलोक, आकाशलोक कहने का तात्पर्य यह है कि लोक और लोक का जीवन भारतीय मनीषा की दृष्टि में अत्यंत व्यापक है वह फोकलोर का पर्याय हो ही नहीं सकता।

लोक के परिचयात्मक स्वरुप की अभिव्यक्ति इसलिए आवश्यक है क्योंकि इसमें जीवन अंतर्निहित है जीवन के समस्त स्थूल एवं सूक्ष्म कार्य व्यापारों का विश्लेषण और संश्लेषण इसी में अभिव्यंजित होता है। अत: इसकी संख्यात्मक विवेचना न करते हुए समग्र अस्तित्व को ही लोक की संज्ञा दी जा सकती है।

वैयक्तिक अनुभूति का विस्तार जब समग्र में रुपांतरित हो जाता है वह संपूर्ण अस्तित्व के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती है तब वह उर्ध्वमुखी चैतन्यावस्था मांगलिक सृष्टि का विधान करती है। और समग्र लोक उसके इस मंगल सृजन का संवाहक बन जाता है। सृजन का यह प्रवाहमान स्वरुप जो लोक साहित्य की अन्यान्य विधाओं के दूकूल एक लोक मंगल दूसरा लोकरंजन की मनोहारी छटाओं को अपनी मर्यादा में समेट कर संपूर्ण जीवन को अभिव्यक्ति देता हुआ अनवरत निनादित हो कल कल ध्वनि से प्रत्येक आयाम को लोक साहित्य के माध्यम से उद्घाटित करता है।

''भारतीय शास्त्रों ने लोक में प्रचलित साहित्य के विभिन्न रुपों की कभी उपेक्षा नहीं की है। नवीन छंद, नवीन गीत पद्धति, नवीन नाट्य, रुपक बराबर ही लोकचिन्तन से छनकर उच्च शास्त्रीय धरातल तक पहुंचते रहे हैं।''[5]

जन कवि तुलसी ने भी अपने रचानकर्म को भले ही ''स्वांत सुखाय रघुनाथ गाथा'' कह कर प्रारंभ किया हो परंतु इस एकांतिक भक्ति के उद्घोष में वे व्यापक विस्तार को नहीं पा सकते थे जो उन्हें कालजयी कवि के रुप में प्राप्त हुआ है यह उनकी लोक मांगलिक दृष्टि ही थी जो ''सुरसरि सम सब कहँ हित होई'' के स्वीकार के बाद ही जन कवि के रुप में उन्हें प्रतिष्ठित करती है। मनुष्य की भाव दशा लोकमंगल को तभी स्पर्श कर सकती है जब उसकी अनुभूति का विस्तार क्षितिज की तरह असीम हो जाए जन सामान्य के सुख दु:ख को वह अपने ह्दय की भावभूमि पर अनुभूत कर सके इसे ही हमारे विद्वानों ने साधारणीकरण कहा है। इस स्तर पर ही मनुष्य की भाव दशा लोक मांगलिक होती है आचार्य शुक्ल ने भी लोक मंगल को ही केन्द्र में रखकर साधरणीकरण की व्याख्या की है। अनुभव का रचना के स्तर पर व्यापक और सात्विक होना ही लोक मांगलिक होती है आचार्य शुक्ल ने भी लोक मंगल को ही केन्द्र में रखकर साधारणीकरण की व्याख्या की है। अनुभव का रचना के स्तर पर व्यापक और सात्विक होना ही लोकमंगल की यात्रा की ओर उन्मुख होना है। कवियों द्वारा जागृत की गई मंगल ज्योति का प्रेरक लोक जीवन के नायको द्वारा किया गया लोक व्यवहार ही तो है। जो उन्हें उदात्त भाव भूमि पर प्रतिष्ठित कर कालजयी चरित्र का विशाल नायकत्व प्रदान करता है। राम, सीता, लक्ष्मण, उर्मिला, कृष्ण, राधा, रुकमणी और गोपियों के परिष्कृत पौराणिक स्वरुपों में स्थापित होने की यात्रा लोक के ही अनगढ़ हाथों की सौंधी मिट्टी से प्रारंभ हुई थी। आल्हा-ऊदल को भी लोक जीवन के विभिन्न अंचलों में वहीं स्थान प्राप्त है जो कृष्ण-बलराम को प्राप्त है। यह सब इनकी उन्ही चारित्रिक विशेषताओं

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

के फलस्वरुप है, जो मंगलकारी थी। मानव चेतना के अनवरत विकास क्रम में मांगलिक पक्ष के उत्थान एवं अभ्युदय को लोक जीवन का विकास क्रम कहते है। जीवन में शिव तत्व को केन्द्रीभूत और बाह्य जीवन को बोधात्मक पक्ष को स्थिर कर जीवन धारा को सांस्कृतिक विकास क्रम की संज्ञा दे सकते है। पाशविक प्रवृत्तियों का परिमार्जन एवं परिष्करण, हमारे जीवन के सूक्ष्म एवं स्थूल के संवर्द्धन एवं संस्करण को लोक जीवन का उद्देश्य कह सकते है। समस्त मानवीय चेष्टाओं और कार्यानुभवों को सामाजिक जीवन की केंद्रीभूत सत्ता ऋतधर्मा और बर्हिगमनात्मक जीवन सौष्ठव को सत्य की संज्ञा से अभिहीत किया जाता है यही सब कुछ हमारे लोक जीवन का सांस्कृतिक पक्ष है।

''लोक राष्ट्र की अमूल्य निधि है। हमारे इतिहास में जो भी सुंदर और तेजस्वी तत्व है वह लोक में कहीं न कहीं सुरक्षित है हमारी कृषि, अर्थशास्त्र, ज्ञान, साहित्य, कला के नाना रुप, भाषाएं और शब्दों के भण्डार जीवन के आनंदमय पर्वोत्सव, नृत्य, संगीत कथा वार्तायें, आचार विचार सभी कुछ भारतीय लोक में ओतप्रोत है। लोक की गंगा युग युग से बह रही है उसके ओजायमान प्रवाह में हमारी संस्कृति के मेध जल पूर्व युगों से बरसते रहे हैं संप्रति बरस रहे और आगे भी उनकी सहस्त्र धारायें लोक जीवन की भगीरथी को आगे बढ़ाती रहेंगी। लोक, लोक की धात्री सर्वभूत माता पृथ्वी और लोक का व्यक्त रुप मानव यही हमारे नये जीवन का आध्यात्म शास्त्र है। इनका कल्याण हमारी मुक्ति का द्वार और निर्वाण का नवीन रुप है। लोक-पृथ्वी-मानव इसी त्रिलोकी में जीवन का कल्याणतम रुप है।''[6]

पृथ्वी से अनंत ब्रह्मांड तक समस्त ग्रहों नक्षत्रों की रासायनिक, भौतिक संरचना मानव के स्थूल एवं सूक्ष्म को गहरे तक प्रभावित करती है। हमारे जीवन का संरक्षण, पालन-पोषण सूक्ष्मतर अज्ञात शक्तियों से प्रभावित होता रहता है। यही ज्ञात और अज्ञात शक्तियां जीवन के कार्यव्यापार, क्रियाकलापों विचारों एवं भावों के माध्यम से चेतना के गहरे तल तक पहुंचती है और मनुष्य की आस्था और विश्वास को संबल देती है। इंद्रियगम्य जीवन ही जीवन नही है वरन् मन बुद्धि चित्त अहंकार की सूक्ष्म शक्तियों को प्रभावित करने वाली वृत्ति भी संगठित स्वरुप में लोक को संचालित करती है जिनका परिष्करण होते ही जीवन लोक मांगलिक स्वरुप ग्रहण कर लेता है। कल्याणकारी हो जाता है और अपने प्रवाहमय स्वरूप के साथ लोकरंजन भी करता है। क्योंकि जीवन का चरम लक्ष्य सत्य, शिव, सुंदर, आनन्द और मंगल ही है यह अपनी विशिष्ट अवस्था में भले ही भिन्न भिन्न अर्थ रखते हों किन्तु समग्र स्वरुप में समायोजित होकर सत्य ही शिव है शिव ही सुंदर और सुंदर ही मंगलकारी है और सब मिलकर आनंद है।

हमारे जीवन का एक मात्र उद्देश्य आनंद और मंगल है जिसके लिए समस्त लोक में समग्र अस्तित्व क्रियाशील है और यही अवस्था लोक का मंगलमय आलोक है।

□□□

प्राध्यापक एवं अध्यक्ष (हिन्दी विभाग)
शा. महाविद्यालय मुलताई,
जिला-बैतूल (म. प्र.)
फोन : 07147-220884
मोबा. 9425659584

संदर्भ

1. लोक का स्वर (लोक और लोकातीत) विद्यानिवास मिश्र, पृष्ठ 11
2. श्री रामलाल भारतीय लोक संस्कृति की आध्यात्म भूमि, सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति अंक, पृष्ठ 86
3. लोक संस्कृति-वसंत निरगुणे, पृष्ठ 22-23
4. लोक का प्रत्यक दर्शन, डॉ वासुदेव शरण अग्रवाल, सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति अंक, सन् 1995, पृष्ठ 67
5. हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास षोडस भाग नागरी प्रचारिणी सभा काशी पृष्ठ 6 संपादक राहुल सांस्कृतायन, डॉ. कृष्ण देव उपाध्याय
6. चौमासा, संपादक-कपिल तिवारी, अंक 65, पृष्ठ 17, लोक की अवधारणा-वसंत निरगुणे

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लोक की गत्यात्मकता

अशोक सिंघई

एक लोक कथा सुनी थी कि बहुत समय पहले एक राजा हुआ करता था जो कि सही अर्थों में प्रजापालक था। उसने घोषण कर रखी थी कि शाम तक बाजार में जो चीज़ अनबिक़ी रह जायेगी, उसे राज्य खरीदेगा। ऐसा ही होता रहा। कोई भी उपज, वस्तु, उत्पाद उस राज्य में आता और अन्ततः सब कुछ बिक़ ही जाता। कोई न खरीदे तो शासन द्वारा क्रय के स्थायी आदेश तो थे ही। एक दिन एक व्यक्ति प्रेत बेचने ताया। अब भला प्रेत कौन खरीदे। आखिरकार बात राजा तक आई। राजा अपने कौल का पक्का था। मंत्री ने सौदा किया। प्रेत की शर्त थी कि वह खाली नहीं बैठेगा। काम न मिला तो वह नरभक्षण का काम करेगा। यह सौदा न उगलते बने, न निगलते। आखिरकार राजा ने प्रेत को खरीद ही लिया और मंत्री के हवाले कर दिया।

मंत्री ने प्रेत को व्यस्त रखने के लिये बहुतेरे छोटे-बड़े काम निकाले। चट उन्हें पूरा कर प्रेत सेवा में फिर सर पर सवार। राजा चाहे कैसे भी रहे हों इतिहास में, मंत्री हमेशा होशियार ही बखाने गये हैं। मंत्री ने तरकीब लगाई। प्रेत से कहा- जाओ, जंगल में तलाश कर 100 गज का एकदम सीधा पेड़ उखाड़ कर लाओ। मंत्री ने पैर सीधे भी नहीं किये थे कि पेड़ लिये प्रेत हाजिर। मंत्री ने कहा- इसे साफ-सूफ करके एक खंभे में बदलो। पलक झपकते ही खंभा सामने। फिर कहा-इसे रोज 20 गज तक जमीन में गाड़ दो। लो साहब, पलक झपकते स्तूप तैयार। प्रेत फिर सर पर सवार, काम दो या फिर जान दो। मंत्री ने आदेश दिया कि अगले आदेश तक इस पर चढ़ते-उतरते रहो। अब प्रेत बँध गया, सिद्ध हो गया। वह गतिशील तो रहा, पर प्रगतिशील नहीं हो सका।

राजे-महाराजे वंश-परम्परा से होते हैं, पर मंत्री वंश से नहीं लोक से आता है। आम-जनता के बीच से आता है। जब कला शास्त्र से बँध जाती है, तो वह ऐसे ही खम्भे में बदल जाती है जिस पर शास्त्रज्ञ अभ्यास करता है, चढ़ता-उतरता रहता है, और मजे की बात यह है कि राजा ही उन्हें पाल सकता है। उसकी गत्यात्मकता अनुपयोगी और दिशारहित होती है। इसके विलोम में लोक की सहज बुद्धि की निर्मिति लोक-संस्कृति और इस संस्कृति की काया, लोक-कलायें प्रगतिशील होती हैं, प्रयोजनमूलक होती हैं, सर्वोपयोगी और सर्वहितकारी होती हैं। वे विनाश की आशंकाओं से रहित, जीवन के बीज बोती रहती है। सभी देवताओं ने अमृत पिया हो या न पिया हो, देवता ही जानें, पर हर बीज अमृतजीवी होता है। बीज में ही अमृत का घट छुपा होता है। बीज को सबसे समृद्ध विरासत के रुप में संरक्षित रखने और संवर्धित करते रहने में ही लोक की गति है।

सोचने की बात है कि लोक तो कभी परतंत्र हुआ ही नहीं। ये तो बड़े नगर, कस्बे और राजधानियाँ थी जिन्होंने गुलामी का स्वाद चखा। यह भी गौरतलब है कि आजादी भी कभी सभी भारतीयों का समवेत स्वप्न नहीं रही। उनकी भी संख्या कम नहीं थी जिन पर आजादी थोपी गई, बहुमत के द्वारा। अँग्रेजों के समय में ऐसे सुविधाभोगी वर्गों की कमी नहीं थी जो आज़ादी को अभिशाप और अंग्रेज़ों की व्यवस्था को बीसवीं सदी का वरदान समझते थे। आज भी उनकी नस्ल बाकी है।

वे लोग जिन्होंने सात समंदर लाँघे, उन्हें जल्दी ही समझ में आ गया कि वे विश्व में किस पायदान पर खड़े हैं। यह बात गाँवों-देहातों-छोटे-मोटे कस्बों में रहने वाले हिन्दुस्तान के बड़े तबके को अपने पारंपरिक विवेक से पहले ही समझ में आने लगी थी। 1857 की क्रांति नये लक्ष्य और नई संकल्पबद्धता का शंखनाद थी। महाभारत प्रारंभ हो चुका था। इसमें भी भाई ही भाई के सामने थे। लेकिन इस समय गीता का उपदेश देने की भूमिका में लोक था। लोक गीतों में आज़ादी संभवतः साहित्य से पहले ही आ गई थी। आज़ादी की लड़ाई में लोक एकजुट हो इसीलिये गाँधी जी गाँव-गाँव घूमे थे और अपनी अहिंसक सेना के लिये उन्होंने गांवों से लोग जुटाए थे गांधी जी ने यूँ ही पदयात्राओं का हथियार नहीं ढाला था।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आधुनिक दधीचि की हड्डियों की कड़कड़ाहट से साम्राज्यवादी ताकतें भाग खड़ी हुई थीं। इतिहास में लोक की प्रगतिशीलता ने समय के बरक्स अपनी गत्यात्मकता की लय कभी भी टूटने नहीं दी।

इतिहास में, भूगोल में समूचे भारत में कहीं भी चले जाईये, भारतीय संस्कृति और कलाओं की, अलग-अलग समय में, अलग-अलग चोलों में आत्मा की तरह व्याप्ति की आपको प्रतीति होगी। जिनको एक ही जीवन के दर्शन से संतुष्टि नहीं, जो रिश्तों का बंधन जन्म-जन्मांतर का मानते हों, जिन्होंने प्रेम, सहानुभूति और करुणा जैसे मानवीय सरोकारों को अपनी हर संक्रियाओं में रचा-बसा लिया हो, उनकी गत्यात्मकता की पहली परत को ही टटोलने में मेरी कलम की साँस फूलने लगती है। लोक कलाओं की विविधता के सामने साहित्य का संसार बौना है। कविता, कथायें, कहानियाँ, व्यंग्य, यात्रा-वृतान्त आदि जो भी नाम आप लें, अपने लोकीय कलेवर में सभी विराट रुप में समुपस्थित हैं। बोली, भाषा, गीत-संगीत जब भद्रजनों के हाथ लगते हैं, तब वे चावल में बदल जाते हैं। चावल वंशहीन होता है। उससे कुछ नहीं उपजता। इस भद्र-क्रीड़ा में मुझे खंभे पर चढ़ता-उतरता प्रेत नज़र आता है। दिक़्कत यह है कि समय के पास अपने खानों में सुमंत्री, राजाओं की तुलना में बहुत कम पाये जाते हैं। हमारे समय में तो ये डायनासोर हो गये है। गनीमत है कि लोक के स्वरुप में विक्रमादित्य अभी भी काफी बचा है।

भिलाई में सितम्बर, 2007 में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी स्मृति व्याख्यान में डॉ. नामवर सिंह ने पुनर्नवा का उल्लेख करते हुये कहा था, 'सब कुछ रचा जा चुका है, सब कुछ लिखा जा चुका है, सब कुछ सोचा जा चुका है, हम सिर्फ बासे को ताजा करते है, पुराने को नया करते हैं। जीवन में हम बासे प्रेम को भी ताजा करते है।' उनकी यह बात सटीक लगती है। ठीक ही तो है, हम उसी-उसी मिट्टी को फिर-फिर रौंदकर कुछ-कुछ नया-नया गढ़ते रहते हैं जैसे बच्चे कागज पर पेड़, पहाड़, पतंग, तितली, मकान, झोपड़ी आदि बनाता है और अपने हाथों से रची अपनी रचना पर मुग्ध रहता है। क्या ईश्वर, अथवा कहें प्रकृति भी ऐसा ही आचरण नहीं करती। यही तो गत्यात्मकता है।

नित नूतन नवीन करने की कला में लोक से अधिक निष्णात मनुष्य का और कोई विभाजित समाजशास्त्रीय वर्ग नहीं है। एक ही भाव, एक ही काव्य-व्यंजना, एक ही कथा सारे महाद्वीपों में पाई जाती है। भाषायें और लिपि तो बहुत बनीं, पर सुर सात ही रहे। यह मन और बुद्धि के कौन कितना निकट है, इस पर निर्भर करता है। मन जोड़ता है, बुद्धि बाँटती है। अपनी जमीन पर, अपने समय में खड़ा लोक हर चीज को बदलना जानता है। बातों को, तर्कों, किस्सों को नया और तरोताजा करना इनसे सीखना चाहिये। अपनी खीझ मिटाने के लिये कमअक्ल ग्रामीणों और गँवारों को समानार्थी बताते हैं और लोक के लिये भद्रजनों के पास यह विशेषण हमेशा हाथ में रहता है।

एक शोक प्रसंग में धमतरी जाना हुआ। रवि श्रीवास्तव, बसंत देशमुख और विनोद साव साथ थे। देर रात भिलाई लौटते समय कई गाँव पड़े जहाँ दुर्गोत्सव तथा दशहरा पर्व के संधि-अंतराल में सांस्कृतिक उत्सव देखने को मिले। हम रुके और संस्कृति का लोकतंत्र है। हम लोग भी भद्र कम गँवार ज्यादा है। गाँवों से औद्योगिक तीर्थ में बसने निर्वासित हैं। अनुभव पहला नहीं था, पर बासे से ताज़ा हुआ था। सैकड़ों महिला-पुरुष-बच्चे मंत्रमुग्ध होकर देर रात, और बहुधा सारी रात अपने सांस्कृतिक खजानों को निहारते हैं, आनंदित होते हैं। सुख और आनंद का भेद यहीं समझ में आता है। सुखी दुःखी हो सकता है, होता भी है पर आनंद का क्या है। सुई गिर जाये तो आवाज़ हो, ऐसा सतत अनुशासन मुझे भद्र से भद्र सभाओं में भी आज तक देखने को भी नहीं मिला।

लगभग तीन दशक पहले आरंग के पास एक गाँव में 'नाचा' देखने का अवसर मिला। मैं शिक्षक था चम्पारण हाईस्कूल में और मेरा मित्र मोतीलाल शर्मा गुरुजी था उस छोटे गाँव में, जिसका नाम अब मुझे याद नहीं है। बड़ा गुरुजी होने के नाते मैं दरी बिछी मूँज की खाट पर विराजित किया गया। बड़ी आवभगत, दिली-सम्मान और खालिस छत्तीसगढ़ी गम्मत और नाचा का आस्वाद। वैसे राजसी सुख का अनुभव मुझे उन पाँच-सितारा होटलों में भी नहीं मिला, जहाँ मुझे पहचाना जाने लगा है। सरकारों के संस्कृति विभागों के आयोजनों में कलाकार तो लोक से आते हैं पर सह-श्रोता और सह-दर्शक वहाँ कहाँ। वहाँ तो अट्टहास मुस्कान के रुप में बोनसाई होने को अभिशप्त है। बासी कढ़ी में उफान नहीं आ पाता। यह मेरा निजी दारिद्र्य है। लोक तो अपने स्वर्ग में ज़मा हुआ है। हम तो अपने समय के नहुष हैं। दरअसल साहित्य, संस्कृति और कला के अजस्त्र स्त्रोत लोक की परिसम्पत्तियाँ हैं। और जो बचा-खुचा है, उसे अधिकांशतः वे संस्कृतिकर्मी ही शीर्ष पर ला पा रहे हैं, जो लोक से

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

विस्थापित है पर जिनके पास जातीय स्मृतियाँ हैं, संस्कार हैं, परिवेश और अनुभवों की गंध है। महानगरों में, राजधानियों में कुछ नहीं उपजता, अलबत्ता उपज वहीं खपती है।

भारतीय संस्कृति की यह अनूठी विशेषता है कि इसका कोई एक प्रवर्तक नहीं है और न ही समय का कोई ऐसा विशेष कालखण्ड है जिस दिन से यह लोक पर लागू हुई हो। यह तो समय के नैरंतर्य में मानवता के विकास के साथ-साथ विकसित होती रही। भारतीय ऋषि-मुनियों ने एक जीवन-पद्धति का विकास किया जिसे निरन्तर परिष्कृत किये जाने की स्वीकृत परम्परा भी है। इसी कड़ी में राम एवं कृष्ण आते हैं। इनमें से कोई भी प्रवर्तक नहीं है, बल्कि ये कठोर-अनुगामी रहे। फर्क सिर्फ इतना है कि अपने पूर्वजों से ये अधिक प्रभावी साबित हुये तथा भारतीय जनमानस के आदर्श बने। इन्हीं के जीवन वृतांत रामायण और महाभारत, श्रीमद्भागवत गीता है जिनको लोक अपना जीवन दर्शन मानता है। ये भारतीय जीवन-पद्धति के भाष्य हैं। इन आदर्शों के बगैर भारत, भारत नहीं हो सकता। महाभारत अनूठा महाकाव्य है और श्रीकृष्ण जैसा महानायक किसी समय में, किसी साहित्य में नहीं पाया जाता। श्रीराम का भौतिक चरित्र आदर्श मानव चरित्र है। यही कारण है कि समस्त भारतीय भाषाओं में रामकथाएं है, सूत एक है, ताना-बाना भले ही अलग हो, बुनावट बदल सकती है। कहा गया है, **''स्वसूक्तीनां पात्रं रघुतिलकमेकं कलयतां, कवीनां को दोष: सतुगुण गजानामवगुण:। यदेतैर्नि: शेषैपरगुनलबधैरिवजगत्यसावेकश्चक्रै सतत सुख संवासवसीत:।।''** अर्थात् कविगण अपनी सूक्तियों का पात्र श्रीराम को ही बनाना चाहते हैं, इसमें कवियों का दोष नहीं है वरन् श्रीराम के गुणों का दोष है, जो लोगों को मुग्ध कर श्रीराम में ही पूँजीभूत या केन्द्रित कर लेते हैं। अयोध्या के नरेश श्रीराम के उत्तर रामायणी चरित्र को वह जब मान्यता नहीं मिली जो अयोध्या के युवराज, वनवासी राम को मिली है। कारण युवराज श्रीराम लोक में विलीन हो गये थे। जितना विपुल साहित्य इस एक चरित्र को केन्द्र में रखकर रचा गया है, वैसा कोई दूसरा उदाहरण विश्व में आज तक नहीं है। लोक संस्कृति की प्रगतिशीलता अपनी गत्यात्मकता में ईश्वर तक के उन चरित्रों को स्वीकारती है जो जीवन पद्धति पर गुणात्मक असर छोड़ते हैं। नीर-क्षीर विवेक के धनी लोक को भद्र समाज गँवार और पिछड़ा मानता है तो मानता रहे, लोक अपने साम्राज्य में जल्दी किसी को नागरिकता नहीं देता।

हर वस्तु का अपना अलग-अलग गुण-धर्म होता है। जैसे बर्फ का गुण-धर्म शीतलता और कठोरता है पर जब वह अपने इन दोनों गुणों को छोड़ देता है तो वह मात्र पानी रह जाता है। उसे कोई बर्फ नहीं मानता। लोक के साथ भी यही बात है। व्यापक तौर पर सभी जन लोक के अंतर्गत आते हैं। निर्मल वर्मा ने अपने वैचारिक लेखों में लोक को वर्गों में बाँटने की प्रक्रिया की खिलाफत की है। पर यह श्रेणी विभाजन तो साफ-साफ दिखता है कि लोक क्या है और भद्र क्या। भारत के टुकड़े हुये, पर पाकिस्तान और बंग्लादेश को क्या भारत कहा जा सकता है। ये दोनों भूभाग भारत के खाँटी गुण-धर्म को खो चुके हैं, या तेजी से खोते जा रहे हैं। सभ्यतायें बदलती हैं, पूजा-पद्धतियों या उपासनाओं की विधियाँ बदलती है, पर पूर्वज नहीं बदलते। भूगोल बदलता है, पर इतिहास कभी बदला नहीं जा सकता।

जब भी समाज का ताना-बाना कमज़ोर होता दिखाई पड़ता है, जहां क़हीं भी, जब कभी भी समाज में शिथिलता या विकृतियाँ प्रवेश करती हैं, वहाँ अपने सांस्कृतिक हस्तक्षेप से लोक वृहत्तर समाज को मार्ग में लाने पुरज़ोर प्रयास करता है। व्यंग्य, साहित्य का पैना और धारदार हथियार है। कभी किसी गाँव-मड़ई में 'नाचा', 'गम्मत' या कोई भी सांस्कृतिक आयोजन देखें और समझें कि तथाकथित गँवारों के व्यंग्य बाण किसी सतसैया के तीर से कम नहीं होते। परम्परा से ज्ञान और आधुनिकता से शक्ति से लैस लोक अपनी सीमा और भूमिका अच्छी तरह समझता है। लोक के पास न तो पश्चिम का रुपवादी शिल्प होता है और न ही महानगरीय जीवन का आस्वाद, एलीट का ग्लैमर, चकाचौंध, फिल्म और टी.वी जैसे प्रयोगों की गुंजाईश होती है। उसके पास रंगमंच की ठोस पुरातन ज़मीन राजनैतिक-सामाजिक प्रश्नों से टकराती हुई प्रत्यक्ष रचनात्मक जीवन्त मानवीय शक्ति होती है। तात्कालिकता, लोकप्रियता और जनसामान्य जैसे तत्वों से लोक एक नई तरह की रवानगी हर दौर में अपने दौर को देता आया है। वह अपनी भाषा और भाव-भंगिमाओं से सम्प्रेषण के सारे संकटों की नज़र उतारता रहता है। लोक में गजब की सादगी होती है, पर लहजा सबका, सबसे अलग-अलग।

अपने हर परिवेश की सामाजिक-राजनैतिक विसंगतियों, समस्याओं, विडम्बनाओं और खल-चरित्रों को रेखांकित करते हुये, अपने संवाद अथवा अभिनय से तत्काल लोक कलाकार कैसे साहस के साथ प्रहार

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

करता है, यह अनुभव करने की बात है। सिद्धांत शब्दों में बँधता है। सिद्धाँत को समझने के लिये शास्त्र बाँधने होते हैं। अनुभव के रास्ते बिल्कुल अलग हैं। यह शब्दों के बोझ से मुक्त होता है तथा उन्मुक्त करता है। अनुभूति नि:शब्द होती है। शास्त्रीय ज्ञान कोरा हो सकता है पर अनुभूति से आचरण पनपता है। इसी लोकानुभूति से लोकाचरण की निर्मिति होती है और लोक खामोशी से अपने समय का अंतहीन सफर तय करता रहता है।

हमारे युग में हिंसा उफान पर है। फिर अहिंसा के अनुभव का क्या रास्ता हो सकता है? श्रीराम और श्रीकृष्ण की तुलना में जरा महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध का जीवन–चरित देखें। लोक जानता है कि ज्ञान बोलता है, पर बुद्धि सुनती है। हमें जो दिखाई पड़ता है, उसे हम पकड़ लेते हैं। इन महानताओं के आचरण को हम देखते है और सोचते हैं कि यदि हम भी वैसा ही आचरण करें, तो शायद जो अनुभव उन्हें मिले थे, हमें भी मिल जाये। हम आचरण का अभ्यास करते हैं पर अभ्यास से तो अभिनय सधता है, अनुभव हाथ नहीं लगता। अनुभव से आचरण बनता है, आचरण से अनुभव नहीं मिलता। आचरण और अनुभवों की द्वन्द्वात्मकता में 'स्व' की भूमिका सबसे अहम् होती है। इसीलिये पूरी भारतीय मीमांसा में सारा जोर 'स्व' पर ही दिया गया है। यह लोक ही है जो विशिष्टता और इंटलेक्चुअलिज्म को भेदकर जीवन के अनुभवों के विशाल रेंज में घुसकर ऐसे अमूर्त लोक–शास्त्र की स्थापना करता है जो प्रथमत: निजता की रक्षा में सन्नद्ध रहते हैं। यह सही है कि कागज के फूल रास्ता रोकते हैं, पर हमें उधर ही जाना ही चाहिये जहाँ से सौरभ का निमंत्रण हो।

अमृता प्रीतम ने क्या पते की बात कही है, ''हम सब जानते हैं कि जड़ता सोई हुई चेतना का नाम है और चेतना जागी हुई जड़ता का। और में मानती हूँ कि किसी शायर या अदीब का सबसे बड़ा सुख यह है कि वह रचना के क्षण में उस क्षण को देख सकता है, जो सोई हुई जड़ता के जागने का क्षण है।'' गत्यात्मकता की रचना के नैरंतर्य में चरैवेति–चरैवेति पुरातन आदिम धुन है जो मंद–द्रुत लयता में भाषित होती है, पर सनातन है। लोक की चर्चा निर्बाध है। बहरहाल इसे यहीं समेटना होगा। सारांश में अनुभव, अभिव्यक्ति और चरित्र ऐसी त्रि–अंतर्धारायें हैं जो जीवन के यथार्थ में मनुष्य को अपने साथ बहा ले चलती हैं। इस वसुंधरा पर जो दरवाजे, खिड़कियाँ, रोशनदान, झरोखे आदि हैं, वे कभी अधखुले या पूरी तरह खुले थे। आज उनके जंग लगे पल्लों को फिर से खोलने की जरुरत है। इक्कीसवीं सदी के मनुष्य का मन भी ऐसा ही हो गया है। लोक के साथ सब जुड़ें, एक व्यापक लोक की पुन: निर्मिति हो और हो समवेत प्रयास, थोड़े से प्रकाश के लिये, थोड़ी नमी और सबके लिये थोड़ी सही हवा के लिये। अकबर हमीदी साहब याद आते है,

''हमारी जंग अँधेरों से है, हवा से नहीं,
दिया जला के न यूँ, सामने हवा के रख।''

□□□

7 बी, सड़क–20, सेक्टर–5
भिलाई (छत्तीसगढ़)
फोन : 0788–2228122,
099071–82061

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

गिरिजन भाषाओं में रामायण

डॉ. विजयराघव रेड्डी

देश की आबादी में गिरिजनों की संख्या करीब 8% है। गिरिजनों की भाषाओं में साहित्य है, इसकी जानकारी पुरानी मुख्य भाषाओं की साहित्य-परंपरा है। कुछ भाषाओं में तो कुछ समय पहले से लिखित रुप में साहित्य प्रकाश में आ रहा है। कुछ गिरिजन भाषाओं को जैसे बोड़ो और संथाली को भारत सरकार ने संविधान की अष्टम सूची में स्थान प्रदान किया तो केंद्रीय साहित्य अकादेमी ने कुछ वर्ष पहले से गिरिजन भाषा के साहित्यकारों को 'भाषा सम्मान' के नाम से उनकी रचनाओं को पुरस्कार प्रदान कर रही है। बोडो, संथाली, मिजो और काकबरोक (त्रिपुरी) आदि ऐसी भाषाएँ जो अब तक इस सम्मान के तहत पुरष्कृत हुई। लिखित रुप से उपलब्ध है और कुछ में राम-कथा का संबंध है कुछ गिरिजन भाषाओं में पूरी रामायण है जो लिखित रुप में उपलब्ध है और कुछ में राम-कथा, राम-सीता की कथा और राम-सीता विवाह आदि गेय रुप में लोक गीतों के रुप में प्राप्य है।

एक सर्वे के अनुसार हमारे देश में कुल 427 गिरिजन जातियाँ है। इनमें चीनी-तिब्बती, एस्ट्रो एशियाटिक, द्रविड़ और आर्य परिवार की भाषाएँ बोलनेवाले गिरिजन है। सब से अधिक गिरिजनों की आबादी चीनी-तिब्बती परिवार की भाषाएँ बोलनेवाले को किरात और ऐस्ट्रोएशियाटिक भाषा (मुंडा) परिवार की भाषाएँ बोलने वालों को निषाद कहा गया है। किरातों में कार्बी, खामती और मिजो जैसे समुदाय हैं जिनमें रामायण उपलब्ध है। इसी प्रकार निषादों में मुंडारी और उरांव ऐसे समुदाय हैं जहाँ हम रामायण की कथा पाते हैं। इस आलेख में केवल पाँच गिरिजन समुदाय, कार्बी, खामती, मुंडारी और उरांव समुदायों में प्रचलित रामायण का परिचय देने का प्रयास किया गया है।

कार्बी लोग असम प्रदेश के गिरिजन है। पहले ये 'मिकिर' नाम से पुकारे जाते थे। अविभाज्य असम में एक जिले का नाम था 'मिकिर हिल डिस्ट्रिक्ट'। यह ज़िला अब 'कार्बी अङ्लाङ' कहलाता है। यह असम का स्वायत्त ज़िला है। अब इस ज़िले के निवासी कार्बी एवं इनकी भाषा भी 'कार्बी' कहलाती है। कार्बी बोलने वालों की संख्या लगभग दो लाख है। प्रमुखत: ये झुम खेती करते हैं। और ये प्रकृति के उपासक हैं। इनमें से अब कुछ लोग ईसाई बन गये हैं। शेष सभी अपने प्राचीन संप्रदाय के अनुसार पूजा आदि अनुष्ठानों का पालन करते हैं। कार्बी लोगों के देवता बरिथे कहलाता है। ईसाइयों ने कार्बी भाषा के लिए रोमन लिपि का प्रचार किया था। अब कार्बी भाषा रोमन लिपि में लिखी व पढ़ाई जाती है। कार्बी भाषा में अपार लोक साहित्य है। कार्बी आङ्लाङ के जिला मुख्यालय डिफु में स्थित डिफु साहित्य सभा ने कार्बी लोक साहित्य का संकलन कर प्रकाशित किया। इसी सभा ने सन् 1979 में कार्बी रामायण प्रकाशित की जिसका नाम छाबिन आलुन है। गेय रुप में प्रचलित यह काव्य 2,500 पंक्तियों में प्रकाशित है। स्थानीय वाद्य यंत्र को बजाते हुए गायक रात भर कथा का गायन करते हैं। कार्बी लोग अपने को श्रीराम के तरकस को ढोने वाले वंशज मानते हैं। इसलिए वे इस काव्य का गायन बड़ी निष्ठा से करते हैं। अपने गुवाहाटी के 4 वर्ष प्रवास के दौरान मुझे 1981 में कार्बी रामायण का गायन सुनने का अवसर मिला था। अपने पारंपरिक वेशभूषा धारण कर पूजा पाठ के बाद गायक गायन शुरु करते हैं। वाल्मीकी रामायण या माधव कंदली (14 वीं सदी) की असमिया रामायण की अनुकृति न होकर कार्बी रामायण कार्बी जनों के सदियों के सामाजिक व सांस्कृतिक संप्रदाय, आचार-विचार, रहन-सहन, रीति-रिवाज और विश्वासों को प्रतिबिंबित तथा असम प्रदेश में परंपरा से प्रचलित लोक रामायणों का संग्रह जैसी लगती है।

'छाबिन आलुन' की मुख्य कथा यों हैं-''पुराने जमाने में लंका में राक्षस रावण नाम का बड़ा-अत्याचारी राजा था और उन्हीं दिनों सागर के किनारे ही 'दहरम' नाम का एक बड़ा धार्मिक राजा राज्य करता था। रावण का अत्याचार दिनों दिन इतना बढ़ गया था जिससे देवतागण

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

बड़ी चिंता में पड़ गये थे। लाचार होकर देवतागण सृष्टिकर्ता 'हेमफ्रु' को साथ लेकर नारायण के पास पहुँचे और उनसे रावण-वध का उपाय करने की प्रार्थना की। देवताओं का अनुरोध नारायण टाल न पाये। नारायण ने आश्वासन दिया कि वे स्वयं राम-लखन के रुप में 'दहरम' के यहां जन्म लेंगे। रावण-वध का कारण बनने हेतु लक्ष्मी देवी को 'हेमफ्री' बहुमती की कन्या 'छिनता कुँरी' के रूप में वामनप राजा के यहां जन्म लेने का निर्देश दिया। 'हरदम' राजा की दो रानियों के गर्भ से राम-लखन का जन्म हुआ और वामनप राजा जिस भूमि पर झुम खेती करता था, वहाँ मिले मोरनी के एक अंडे से 'छिनता कुँरी' का जन्म हुआ।

'छिनता कुँरी' के विवाह के लिए वामनप के एक स्वयंवर का आयोजन किया। हेमफ्रु के परामर्श से राम-लखन भी उस स्वयंबर में उपस्थित हुए। वामनप ने घोषणा की-हमारे पूर्वजों के जमाने से हमारे पास रखे हुए इस हर (शिव) धनुष पर प्रत्यंचा-चढ़ा कर जो इसे तोड़ सकेगा, आज मेरी इकलौती कन्या 'छिनता कुंरी' उसे ही पति रुप में वरण करेगी। उस स्वयंबर में लंका राजा रावण भी उपस्थित था। उसीने पहले पहल उस धनुष पर डोर चढ़ाने की कोशिश की, मगर व्यर्थ रहा। लज्जा और अपमान से जर्जर होकर राजसभा परित्याग कर वह निकल गया। जाते जाते वह कह गया समय आने पर 'छिनता कुँरी' के बारे में सोचा जायेगा। राम ने बायें हाथ से धनुष को उठा लिया और अनायास उसे तोड़ डाला। तब वामनप राजा ने 'छिनता कुँरी' को बुलवा कर प्रण के अनुसार उसे राम के हाथ समर्पित किया। 'छिनता कुँरी' को साथ लेकर राम घर की ओर चल पड़े। राह में दुर्जेय कुठार हाथ में लेकर महावीर वरपुराम उनके सामने आये, परंतु उन्हें अनायास पराभूत कर राम अपने राज्य को वापस आ गये और सुख-चैन से बिताने लगे।

दहरम राजा की तीसरी रानी ने राजा के पास जाकर उन्हें प्रतिज्ञा आबद्ध कर लिया और राजा से वर मांगते हुए निवेदन किया- ''आपके बड़े पुत्र राम के बदले, मेरे पुत्र को राजपाट सौंप दें और राम को बारह साल के लिए वन में भेज दें।'' राम ने सारी घटना सुनकर हास्य-मुख से वन में जाने को तैयार हो गया। उनके साथ भाई लखन और 'छिनता कुँरी'' भी चल पड़े और लांलुंक बन में एक छोटी-सी कुटिया बनाकर तीनों सुख से दिन बिताने लगे।

लांलुंकवन रावण के राज्य के समीप स्थित था। रावण की बहन मेछ माहादि उन दिनों वहां विचरण कर रही थी। वन में अकेले चक्कर लगाते उसने एक दिन राम-लखन और छिनता कुँरी को देखा। लक्ष्मण के पूर्ण यौवन और अपरुप सौंदर्य से वह बड़ी मोहित हो उठी। साथ ही युवती का रुप धारण कर वह छिनता कुँरी के पास पहुँची और लखन को पति रुप में पाने की इच्छा प्रकट की। छिनता कुँरी लखन को काफी समझा-बुझा कर भी सहमत नहीं कर सकी और मेछ महादि को खुद लखन के पास जाने का सुझाव दिया। तब माहादि ने जाकर लखन से निवेदन किया- हे, महावीर लखन, आज मै। तुम्हें पति-वरण करने आयी हूँ। तुम मुझे अपना लो। मेछ माहादि की बात पर लखन को बड़ा क्रोध आया और तुरंत उसके नाक-कान काट लिये। लाज-अपमान से जर्जरित होकर वह उसी क्षण लंका चली गयी और बड़े भाई से अपनी दुख दुर्गति की बात बताकर कामातुर रावण से छिनता कुंरी के अपरुप लावण्य की बात विस्तार से बताई रावण ने छिनता कुँरी को हरण करने का निश्चय किया और स्वर्ण मृग रुप धर कर राम-लखन की झोंपड़ी के सामने चरने लगा। उस मृग को देखकर उसे पाने हेतु छिनता कुँरी व्याकुल हो उठी। राम मृग को पकड़ने निकले और छिनता कुँरी को देखभाल का दायित्व लखन को सौंप गये।

कुछ देर बाद जंगल से एक चीख सुनायी पड़ी-हे लखन, मैं राम मर गया। चीख सुनते ही छिनता कुँरी भय-विह्वल हो उठी और राम की खोज में जाने हेतु लखन को निर्देश दिया। जमीन पर बाण से कुछ लकीरें खींच दीं और उन लकीरों को पार न करने का अनुरोध भाभी से कर वे राम की खोज में निकल पड़े। रावण एक बैरागी का वेश बनाकर पानी पीने के छल से छिनता कुँरी के समीप आया। और चतुराई से उसे उन लकीरों से बाहर निकाल कर बलपूर्वक रथ पर चढ़ा कर लंका रवाना हो गया। रावण को रोकने की कोशिश करने के कारण रावण की तलवार से पंख कटे, धरती पर पड़े माया वमू रामवेशी से उनकी भेंट हुई। माया वमू रामवेषी से सारी बातें जानकर लंका जाने का आयोजन करते ही-उनसे वायुपुत्र महावीर उलिमन की भेंट हुई।

लंका में बड़ी खोज-ढूँढ के बाद उलिमन से शोकाकुल छिनता देवी की भेंट हुई। उलिमन के लंका प्रवेश का समाचार पाते ही रावण ने उसे पकड़ लाने के लिए पुत्र मेघनाद को भेजा। मेघनाद के हाथ उलिमन बंदी हो गया। और उलिमन की बात पर उसकी पूंछ में एक हजार मन

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रुई लपेट कर आग लगाकर मार डालने का आदेश दिया। उलिमन की पूँछ की आग से लंका नगरी भस्म हो गयी। रावण का भाई विविहन ने छिनता कुँरी को मुक्त कर देने हेतु बड़े भाई से अनुरोध किया। उस बात पर नाराज होकर रावण ने उसे राज्य से निकाल दिया। तब विविहन से सारी बातें जानकर रामं लखन ने हिक्रे की सेना की मदद से सागर पर सेतु बनाया और सदल-बल लंका पहुँच गये। रावण का छोटा भाई महि रावण सोये हुए राम-लखन को पाताल ले गया और चिंदी देवी (पाताल की देवी) के सामने बलि देने की व्यवस्था की। फिर भी उलिमन के हाथ वह भी मारा गया। बाद में राम के हाथ रावण की भी पराजय हो गयी। इस तरह स्वयं लंका विनष्ट हो गयी।

ऊपर के विवरण से ज्ञात होता है कि कार्बी रामायण की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो अन्य रामायणों में नहीं मिलती। राजा जनक का झुम खेती में काम करने जाना, जब खेत में काम करने वाले एक व्यक्ति को मोरनी का अंडा मिलता है और जब वह उसे खाना चाहता है तो उससे यह कहकर कि वह जहरीला है, अंडे को अपने घर ले जाता है और उस अंडे से सीता का जन्म होता है। इस रामायण में रावण के 12 सिर हैं और उसकी 12 रानियाँ हैं। दशरथ के तीन पत्नियाँ है जिनमें से दो पत्नियाँ मानव स्वभाव वाली तथा तीसरी हियफी राक्षस स्वभाव की। संतान पाने के लिए रानियों को खाने के लिए संतरा दिया जाता है, संतरा मिलने पर हियफी फॉकें खुद खाकर छिलका शेष दो को दे देती है। यहाँ स्वयं रावण माया मृग वेषधारण कर जाता है, मारीच नहीं। इस कथा का एक वैचित्र्य यह भी है कि यहाँ सीताजी खुद लक्ष्मण से अनुरोध करती हैं कि वह शूर्पणखा से विवाह करें। रावण कार्बी वाद्य यंत्र बजाते हुए सीता की कुटी पर पानी माँगने जाता है। जब लक्ष्मण को मूर्छा से निवृत्त करने हनुमान संजीवनी बूटी लाने जाता है तब सूर्योदय को रोकने के लिए सूरज को हनुमान अपनी काँख में दबाकर रखता है।

इसी प्रकार रामायण के पात्रों के नाम पूर्णत: कार्बी समाज के रख गये हैं-जैसे दहरम (दशरथ) वरपुराम (परशुराम) हेमफ्रु (ब्रह्मा) वामनप (जनक), छिनता कुँवरी (सीता) मेछ्मंहादी (शूर्पणखा) विहिवन (विभीषण) हियफी (क़ैकेई) रामवेपी (जटायु) उलियन (हनुमान) आदि।

खामती समाज में एक रामायण है, जो चाक-चालो-लामाङ (श्रीराम अवतार कथा) के नाम से विख्यात है। खामती भाषा ताई लिपि में लिखी जाती है। यह रामायण 12,678 पंक्तियों में अंकित है। खामती जनजाति के लोग बौद्ध हैं। खाम का अर्थ स्वर्ण और ति का अर्थ देश होता है। इस प्रकार खामती का अर्थ हुआ स्वर्ण देश के लोग। खामती जाति अहोम की प्रशाखा मानी जाती है। इतिहास बताता है कि अहोम वंश के राजा राजेश्वर (1751-1769) के शासन काल में खामती लोगों ने बर्मा के रास्ते से असम में प्रवेश किया। उस राजा की अनुमति पाकर 18 वीं सदी के मध्य में अपर असम में तेंगापानी नदी के किनारे 'नामसन' स्थान पर अपना प्रथम आवास बनाया था। इसके बाद से आगे के सौ साल तक खामती लोग कई दलों में आकर असम में बसते रहे। खामती रण बांकुरे होते हैं। जब अहोम राज्य कमजोर पड़ गया तो उन्हें खामती लोगों की सहायता लेनी पड़ी थी। इसलिए तत्कालीन अहोम राजा ने सन् 1793 में खामती के मुखिया चाउमु-मङ्-लुंग को सदिया प्रांत का सूबेदार बनाया था। शौर्य की दृष्टि से खामती संपन्न हैं। संस्कृति और साहित्य की दृष्टि से भी वे अधिक संपन्न हैं। खामती भाषा की अपनी लिपि है, जो ताई लिपि कहलाती है। खामती साहित्य समृद्ध है। उसमें पिटक, जातक कथाएँ, रामायण, महाभारत एवं ऐतिहासिक दस्तावेजों का भण्डार है।

खामती रामायण की भी अपनी विशेषता है, जो अन्य भाषाई रामायणों से भिन्न है। यह अभी पाण्डुलिपि के रुप में उपलब्ध है। पांडुलिपि में कुल 12,678 पंक्तियाँ हैं। इसकी रचना कब हुई है, इसकी कोई जानकारी नहीं है। लेकिन इसके प्रतिलेखन का काल 1960 अंकित किया गया है। चूँकि इस रामायण के कुछ प्रसंग माधव कंदली कृत पंचकांड रामायण (असमिया रामायण) एवं माधव देव कृत आदि कांड जो क्रमश: सन् 1400 एवं सन् 1560 के माने जाते हैं, से मिलते-जुलते हैं। इसलिए अनुमान है कि इस रामायण का रचना काल 1560 के बाद ही होगा। मेरे विचार में चूंकि खामती समुदाय का भारत में पहला प्रवेश 1751-1769 के मध्य माना जाता है, इसलिए लिक-चाओ-लामाङ की रचना 18 वीं सदी की ही मानी जा सकती है।

चूंकि यह बौद्धों की रामायण है, इसका प्रारंभ अन्य रामायणों से भिन्न तरीके से बुद्ध स्तवन 'नमो तस्य भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्य' से हुआ है। अंत में भी बौद्ध धर्म के उद्घोष-''बुद्धम् शरणम् गच्छामि, धर्मम् शरणम् गच्छामि, संघम् शरणम् गच्छामि'' से कहानी की परिसमाप्ति

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

की गयी है। यह रामायण कांडों के स्थान पर अध्यायों में विभक्त है। इसमें कुल 35 अध्याय हैं। विभिन्न प्रसंगों एवं अध्यायों के आरंभ एवं समाप्ति पर बुद्ध नीति एवं बुद्ध वचन कहे गये हैं। अनेक पात्र भी योग्य अवसर आने पर बुद्ध वचन का कथन और उपदेश करते दिखाई देते हैं। सारे पात्रों के नाम खामती भाषा और उसके उच्चारण के अनुरुप है, जैसे : तातसलाथा (दशरथ), कोसलेत हो-खाम (कौशल्या) नाङकेइके (कैकेइ), सुमिकताला (सुमित्रा),चाओ-नालाता (नारद), लामाङ (राम), लासामाङ (लक्ष्मण), फालाता (भरत), छातारु (शत्रुघ्न), नाङसीता (सीता), सरायु (जटायु), पिक्सा मिक्त्रा (विश्वामित्र) इत्यादि।

खामती समाज की अनेक रीति-नीतियों, लोक विश्वासों की झलक इस रामायण में स्थान-स्थान पर मिलती है। जैसे श्रेष्ठ और श्रद्धेय जनों को फल-मूल इत्यादि का उपहार स्वरुप अर्पित करना, सात दिनों तक लगातार उत्सव मनाना, अलौकिक कथाओं और चमत्कारोत्पादक प्रसंगों आदि में खामती समाज की संस्कृति परिलक्षित होना। खामती रामायण सही अर्थ में खामी समाज का दर्पण है। इस रामायण के वैशिष्ट्य को हम दो दृष्टिकोणों से परख सकते हैं। (1) छोड़ दी गयी कथाएँ- ताड़का वध, अहिल्या उद्धार, चित्रकूट प्रसंग, अत्रि आदि अनेक ऋषियों के प्रसंग, खरदूषण-त्रिशरा वध, कबंध व विराध वध, शबरी पर राम की कृपा, वानरों द्वारा सीता का अन्वेषण, स्वयं प्रभा प्रसंग, संपाती प्रसंग, (2) नवीन उद्भावनाएँ जो जोड़ी गयीं-सामंत को राम द्वारा राज्य व सेवक विषयक उपदेश देना, सुग्रीव अभिषेक के पश्चात सीता अन्वेषण का वर्णन न कर राम का ससैनिक लंकापुरी के लिए प्रस्थान, सेतुबंधन के समय विशाल कान्थाम (केकड़े) का लात मार कर सेतुभंग करना, सीता के पाताल प्रवेश का वर्णन कर उन्हें राजमहल में वापस लौटा लाना एवं उनका सुख शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करना। लगता है कथावाचन के माध्यम से ग्रंथकार बुद्ध वचन को सामान्य जन समाज में प्रचारित करना चाहता है। इस कारण इसे मूल रुप से प्रचार धर्मी रचना कह सकते हैं।

अविभाज्य असम में लुशाई हिल्स के नाम से जो जिला था वह राज्य का दर्जा पाकर मिजोरम कहलाने लगा। इस राज्य में चीनी-तिब्बती परिवार के कुकी-चिन समूह की मिजो, हमार, लखेर और पाइते और बोडो शाखा की रियाउ, भारोपीय परिवार की नेपाली और चकमा भाषाओं के अतिरिक्त थावान्थू जैसी अल्प संख्यक भाषाएँ बोली जाती है। यहाँ की अधि संख्यक आबादी ईसाई है। चकमा थेरावादी बौद्ध है तो जो गोरखाली कहलाते हैं उनकी भाषा नेपाली है। ईसाई बनने से पहले मिजो लोग प्रकृति के उपासक थे। उन्हीं दिनों में मिजोरम का एक ऐसा समुदाय था जो थावान्यू कहलाता था। मेजर शेक्सपियर नामक एक आई.सी.एस. अफसर ने जो मिजोरम में ब्रिटिश शासन के द्वारा तैनात था, अपनी पुस्तक 'मिजो लेह वाई थोनु थू' में यो लिखा है थावान्यू भाषा में जो मिजो जाति की एक भाषा है उसमें रामकथा का प्रचलन था। लोग शाम को प्राय: ग्राम प्रमुख की चौपाल पर एकत्र हो जाते थे और रामकथा को प्रेम से सुनते थे। मिजो वाउलपू अर्थात् मिजो ग्राम का पुजारी कथा से पूर्व 'राम ते' अर्थात् भगवान राम की पूजा करता था। उसके बाद राम कथा शुरु होती थी।

मेजर सेक्शपीयर ने लिखा है कि मिजो की जनजाति थावान्यू भाषा की रामकथा में लक्ष्मण का नाम खेता है। मिजो भाषा में भी खेना लेहरामते उनाउ थाउनाथू नामक लोक कथा घर-घर सुनी जाती है। खेना लेह का मतलब है खेना बोली। रामते अनाङथाउना थू का अर्थ है राम और उसके भाई की कथा। मिजो वाउलूप पूजा करते हुए राम के गुणगान में यों कहता है--रामते तुम हमारे माता और पिता हो। रामते तुम हमारे खेत-खलिहान के धान हो। रामते तुम हमारे घरों की जड़ हो। जब थालन रेक्या अपना खुवाचावी करे। जब धीरे धीरे लेमुर की आग पवित्र अग्नि से ले। जब धरती के केंचुए धरती की शक्ल बनाए। जब प्रकृति माता संसार को बनाने लगे। तब खेना और रामते उन्हें आशीर्वाद मिले। तब खेना ओर रामते तुम उनके रक्षक बनों। हे सत्य के रक्षक खेना और रामते। तुम ही सत्य की रक्षा करते हो। हम इस सत्य को गाकर तुम्हें मन की गहराई से प्रणाम करते हैं।

इस तरह राम की पूजा कर रामकथा शुरु की जाती है। मिज़ो रामकथा छह अध्यायों में विभाजित है जैसे खामती रामायण भी अध्यायों में विभाजित है, कांडों में नहीं।

अध्याय - 1: राम और खेना के जन्म होते ही स्वर्णमृग के शिकार पर जाते समय तक उन्हें कई प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ता है। वे तब तक पिता के दर्शन से वंचित रहते हैं। राम जब राजसिंहासन पर बैठने की तैयारी करते हैं तो उन पर स्वर्ग के सात भाई मिलकर आक्रमण कर उन्हें मारकर राजसिंहासन ले लेना चाहते

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हैं। राम और खेना उनसे युद्ध करते हैं तथा स्वर्ग तक पीछा करते हुए जाते हैं। वहाँ ईश्वर से वे मदद मांगते हैं। ईश्वर उन पर कृपा करता है तथा उनके कष्ट दूर होते हैं। ईश्वर राम को रोक लेते हैं और सीता स्वयंवर में भाग लेकर जाने के लिए कहते हैं। सीता उनकी सबसे सुंदर पुत्री है। उसे लोग स्वर्ग देवता अर्थात ईश्वर की पुत्री कहते हैं। स्वयंवर का चित्रण विचित्र है। जैसे सीता को एक लोहे के संदूक में बैठा दिया जाता है। जो सीता सहित उस संदूक को उठा लेगा उसी से सीता का विवाह होगा। एक-एक कर सभी स्वर्ग देवताओं ने उठाने की कोशिश की मगर उनमें से कोई भी सफल नहीं होता है। तब अंत में स्वर्ग के ईश्वर राम से भी कहते हैं। तब राम स्वर्ग के ईश्वर को प्रणाम करते हैं तथा आगे बढ़कर सीता सहित लोहे के संदूक को उठा लेते हैं। स्वर्ग देवता राम को पुरस्कार रुप में सीता का विवाह उनसे कर देते हैं।

अध्याय 2 : लुसारिहा सात शिरोंवाला मृग (लृ=शीश-सरिहा=सात) राम और सीता के सामने स्वर्ण मृग बनकर सामने आता है। सीता राम से उसे पकड़कर लाने के लिए कहती है। सीता की बात को मानकर राम उस स्वर्णमृग को पकड़ने की कोशिश करते हैं। वे स्वर्ण मृग के पीछे चले जाते हैं। जब राम नहीं लौटते तब सीता खेना से कहती है कि वह राम को खोजकर लाए। खेना सीता को अकेला छोड़कर जाने के लिए तैयार होता है। अंत में खेना राम को ढूंढ़ लेता है। घर लौटते समय रास्ते में हावलावमन (हनुमान) से खेना की मुलाकात होती है। हावलावमन उसकी मदद करता है। अंत में हावलावमन भी खेना और राम को मिलकर उनका भक्त बन जाता है।

अध्याय -3 : राम और खेना के चले जाने के बाद लुसारिहा जबर्दस्ती सीता को पकड़कर ले जाता है। खेना, राम और हावलावमन सीता की खोज में निकलते हैं। हावलावमन सीता को खोजकर लूसारिहा के यहाँ से लेकर लौटता है। सीता को सुरक्षित अपने लोगों के संरक्षण में छोड़ देता है और खेना राम की खोज में निकलता है। खेना और राम बहुत कोशिश के बाद मिल जाते हैं। रास्तें में तीनों बहुत थक जाने के कारण गहरी नींद में सो जाते हैं। तब लूसारिहा आकर खेना राम को लेकर समुद्र पार चला जाता है। हावलावमन समुद्र को तैरकर पार करता है तथा लंका में सात सिर वाले लूसारिहा को हराकर खेना और राम को छुड़ा लेता है। जब वह खेना और राम को लेकर चलने की तैयारी करता है तभी उसे मालूम होता है कि लूसारिहा ने सीता के लाकर महल में छिपा रखा है तो वह लूसारिहा से पुन: लड़ने चल देता है। लूसारिहा की सेना उससे लड़ती है। हावलावमन घायल होता है, मगर युद्ध में वही जीतता है। वह सीता को नहीं पाता है तो लंका में आग लगा देता है। लूसारिहा इससे सीता को लेकर भागता है तो रामते उसे मारकर सीता को छुड़ा लेता है। द्रष्टव्य है कि कार्बी रामायण में रावण के 12 सिर वर्णित है जबकि यहाँ मात्र 7 सिर वर्णित है। खामती रामायण की तरह मिजोरम की रामायण में भी स्वर्णमृग (मायामृग) का रुप धारण कर रावण खुद वन में सीता को लुभाने जाता है न कि अन्य रामायणों की तरह मारीच।

अध्याय - 4 : इस अध्याय में लूसारिहा-हावलावमन, लूगारिहा-खेना तथा लूसारिहा-रामते के साथ हुए युद्ध का वर्णन है।

अध्याय - 5 : लूसारिहा के पहले लंका का राजा एक पुजारी था। जिसे लूसारिहा ने धोखे से पराजित किया था। पुजारी राम के पास आता है। वह लूसारिहा के अस्त्र-शस्त्रों के बारे में बताता है। कई गुप्त विद्याएँ और युद्ध के तरीके बताता है। रामते और खेना उन्हें सीख लेते हैं। लूसारिहा जब देखता है कि रामते, खेना और हावलावमन को पराजित नहीं कर सकेगा तो वह रामते को धोखे से मारने के लिए निहत्था होकर राम से मल्लयुद्ध करने के लिए तैयार होता है। राम पुरोहित की बताई विद्या से लूसारिहा को नाभि से शक्ति खींच लेता है। और हाथ से मार देता है। मरणासन्न लूसारिहा रामते से क्षमा मांगता है तथा कुछ उपदेश देता है।

अध्याय 6 : लूसारिहा के बताए स्थान से रामते सीता का उद्धार करता है। रामते को सीता के चरित्र पर संदेह होता है। सीता यह देखकर खुद ही वन चली जाती है। रामते अश्वमेघ यज्ञ करता है। अश्वमेघ के घोड़े को लेकर सीता के पुत्रों के साथ युद्ध होता है। (मिजोरम में एक नदी के तट पर घोड़े के पदचाप जैसे चिह्न अंकित है। एक किंवदंती है कि वे चिह्न उस अंश्वमेघ यज्ञ में छोड़े गये घोड़े के हैं जहाँ घोड़ा पानी पीने के लिए रुका तो सीता के पुत्रों ने घोड़े को पकड़ा था।) घायल रामते को सीता के पुत्र माँ के पास ले जाते हैं। सीता रामते तथा उसके पुत्रों का परिचय कराती है।

मिजो की इस रामायण में रामते, खेना, हावलावमन, वाओनुमान (जंबूवान), लूफिरामन (अहिरावण) के अतिरिक्त दशरथ, कैकई, सुमित्रा, भरत, जनक, मंथरा,

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सुग्रीव और रावण के सगे-संबंधी आदि नहीं है।

मुंडारी गिरिजन भाषा का लोक साहित्य-भंडार विपुल है। जनजातीय संस्कृति, सांस्कृतिक चेतना तथा जीवन के सभी पहलुओं की झलक इसके लोकगीतों एवं कथाओं में मिलती है। छोटा नागपुर के लड़ाकू मुंडाओं ने उत्थान-पतन के अनगिनत झंझावात झेले हैं। लेकिन हर परिस्थिति में प्रकृति के प्रति इनका अटूट प्रेम जरा भी कम नहीं हुआ। बांसुरी की ताल, गीत-संगीत और नृत्य के रुप में इन्होंने इसे जीवित रखा, अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रति इनकी गहरी आस्था रही, इसी कारण राम, सीता और हनुमान इनके गीतों तथा कथाओं में हमेशा आये हैं।

एक क्रूर राजा था। एक गरीब आदमी ने राजा से ऋण लिया था। वह आदमी ऋण चुकाने में असमर्थ हो गया। लेकिन राजा उसे परेशान करने लगा। राजा के रोज-रोज के उलाहने से तंग आकर आखिर उसने एक उपाय ढूँढ़ ही लिया। वह एक दिन बाजार से मिट्टी का नया चुक्का (कुल्हड़) खरीद लाया और अपनी जांघ चीर कर, उसमें अपना खून भर दिया, फिर चुक्के का मुंह बंद कर वह राजा के पास पहुंचा, राजा को चुक्का सौंपते हुए उसने कहा -''मैं अपना ऋण चुका रहा हूँ, मगर इसे मेरे जाने के बाद ही खोलना।'' राजा की उत्सुकता तीव्र हो चुकी थी, उस व्यक्ति के जाते ही उसने बर्तन का आवरण हटाया-''यह क्या ! इसमें तो खून भरा है।'' राजा क्रोध से तिलमिला गया, उसने खून से भरे चुक्के को अपने महल के पिछवाड़े फिंकवा दिया।

कालांतर में राजा के राज्य में भारी अकाल पड़ा। नदी, नाले सूख गये, पेड़-पौधे निर्जीव हो गये ओर धरती में दरारें पड़ गयीं। चारों ओर हाहाकार मच गया, लोग कीड़े-मकोड़ों की तरह मरने लगे। राजा की चिंता बढ़ गयी। एक दिन अचानक आकाशवाणी हुई। सबने सुना, राजा ने भी सुना उस अद्भुत आवाज को- ''अगर राजा खेत में जाकर स्वयं हल चलाये तो पानी अवश्य बरसेगा।'' राजा तब हल लिये महल के पिछवाड़े के खेत में पहुँचा और हल चलाने लगा। लेकिन हल किसी चीज से टकरा कर रुक गया। राजा ने वहाँ जा कर देखा, वही चुक्का था, जिसे कभी उसने फिंकवा दिया था। उसने चुक्के को धरती से निकाला। चुक्का निकलते ही उसके भीतर से किसी शिशु के रोने की आवाज आयी। राजा ने शिशु को बाहर निकाला- एक सुंदर सी बच्ची थी, राजा बच्ची को लेकर महल में आया और मूसलाधार बारिश शुरु हो गयी। राजा ने उस बच्ची का बड़े जतन से पालन-पोषण किया। चूँकि वह हल चलाते समय मिली थी, इसलिए राजा ने उसका नाम सीता रख दिया। कार्बी रामायण के सीता का जन्म मोरनी के अंडे से होता है तो मुंडारी रामायण में खून से भरे कुल्हड़ से होता है। दोनों के स्वभाव का संबंध व्यवयाय से है। एक मुंडारी गीत में सीता का चरित्र चित्रण मिलता है। गीत में कहा गया है कि धीरे-धीरे सीता बड़ी होने लगी और घर के कामकाज में हाथ बंटाने लगी। वह प्रायः झाड़-बुहार करती और गोबर से आंगन लीपती। एक दिन राजा जनक बड़े आश्चर्य में पड़ गये। महल के एक कोने में पूजा स्थल था। वहां एक लोहे का भारी धनुष पड़ा रहता। वह इतना भारी था कि कोई व्यक्ति उसे उठा नहीं सकता था। लेकिन उस दिन पूजा के लिए गये राजा को लगा कि धनुष अपनी जगह से थोड़ा हट गया और पूजास्थल अन्य दिनों की अपेक्षा अधिक साफ-सुथरा है। पूछने पर पता चला कि सीता ने उस स्थान की सफाई की थी। यह जानकर राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई, किन्तु साथ ही वे चिंतित भी हुए, सीता जैसी बहादुर लड़की के योग्य वहर ढूँढ़ पाना कठिन होगा।

पर सीता का विवाह तो निश्चित था। राजा ने सीता के स्वयंबर की घोषणा करवायी और शर्त रखी कि जो भी राजा या राजकुमार लोहे के धनुष को उठायेगा, उसी के साथ सीता ब्याही जायेगी। आखिर वह दिन भी आ ही गया। राजा जनक के नगर में चहल-पहल दिखाई देने लगी। दूर-दूर के राजकुमार और राजे-महाराजे अपनी शक्ति आजमाने आ पहुँचे। राजा ने महल के प्रांगण के मध्य उस लोहे के धनुष को रखवा दिया था। राजकुमारी सीता हाथ में वर माला लेकर राजमहल के मुख्य द्वार पर खड़ी हो गयी। बारी-बारी से राजे-महराजे और राजकुमार धनुष के पास पहुँचने लगे, किंतु उसे तोड़ना तो दूर, कोई भी धनुष को अपने स्थान से हिला तक नहीं सका, यह देख राजा गहरी चिंता में पड़ गये, सोचने लगे, क्या उनकी बेटी आजीवन कुंवारी रह जायेगी।

स्वयंबर-स्थल पर दर्शकों की भारी भीड़ थी, उसी भीड़ में एक मुनि भी थे, जिनके साथ उनके दो शिष्य राम और लछुम (लक्ष्मण) भी उपस्थित थे, अंत में राजा ने पुनः घोषणा की ''भीड़ में कोई भी अपने को अगर लायक समझता हो तो घनुष तोड़ दे।'' यह सुनकर राम और लक्ष्मण आपस में बातें करने लगे। राम ने कहा- ''लक्ष्मण, जाओ और अपनी शक्ति का परिचय करा आओ।'' इस पर लक्ष्मण बोल उठे, ''भइया, धनुष तो मैं तोड़ सकता हूँ, किंतु मैं छोटा हूँ, सीता मेरी हो जायेगी तो दूर से ही,

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पानी भी आपको देगी, इसलिए आप ही जाइए।''

इसके बाद दोनों ने मुनि से आज्ञा मांगी। मुनि की आज्ञा मिलते ही राम अपनी जगह से उठे और धनुष की ओर बढ़ने लगे उन्हें देख कर सब हँसने लगे, क्योंकि वे अत्यन्त साधारण-से दीख रहे थे। धनुष के निकट पहुँच कर राम ने पहले उसे जोअर (प्रणाम) किया ओर फूल की तरह उठा कर उसकी प्रत्यंचा चढ़ा दी, फिर सिर की ओर उठा कर ज्यों ही डोरी खींची धनुष दो टुकड़ों में बंट गया।

तब सीता को लेकर राम और लक्ष्मण मुनि के साथ अपने अजाइदन (अयोध्या) लौट आये और वहाँ बड़ी धूमधाम के साथ राम और सीता का विवाह हुआ।

यद्यपि उरांव भाषा झारखंड की गिरिजन भाषा है। उरांव भाषा में कोई लिखित ग्रंथ नहीं है, जिसमें रामकथा का जिक्र हो, पर इनके पीढ़ी दर पीढ़ी से प्रचलित लोक गीतों में रामचंद्र की कहानी पूरी की पूरी वर्णित की गई है। एक लोक गीत, जो उरांव भाषा में है-''जोद्धा हात रे जानोम् लेमयम् रामाहा, ओंडों खुद्दस मनें लड़आऽऽई केनम् रामाहा...'' (अयोध्या में जन्म लिया राम ने, और बचपन से ही युद्ध-विद्या सीखी...)।

पर सबसे रोचक एवं प्रसिद्ध कहानी कुछ इस प्रकार से है-''धरती हिंसा के बोझ से दबती जा रही थी, अत्याचारों और अमानवीय प्रवृत्तियों का बोलबाला था। इन्हीं दिनों परशुराम ने क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों सभी को संहार करने का बीड़ा उठाया था, उनका विश्वास था कि धरती सिर्फ ब्राह्मणों के लिए ही बनी है। 21 बार वे सबका संहार कर चुके थे। परशुराम जब-जब संहार के लिए खड्ग उठाते राज्य के राज्य साफ हो जाते जंगल के जंगल आग की लपटों में जलकर राख हो जाते और वर्षों दावाग्नि जलती रहती। सबसे ज्यादा विनाश वनवासियों का ही होता था। इस क्रम को 21 वीं बार जब पुनरावृत्ति हुई तो धरती से यह कारुणिक दृश्य देखना असह्य सा हो गया...। माता धरती शेषनाग को अपना शिशु बना कर, परशुराम की शरण में पहुँची। परशुराम ने बेसहारा ब्राह्मणी समझ कर उसे शरण दे दी। एक दिन परशुराम जब कहीं बाहर गए हुए थे, उनकी अनुपस्थिति में बालक ने सारे शस्त्र तोड़ डाले, सिर्फ शिवजी के धनुष को छोड़ दिया। जब परशुराम घर लौटे और देखा तो आग-बबूला हो गए, पर न तो वहाँ औरत थी, न शिशु..उस दिन के बाद से संसार संहार से बच गया। इस शिशु ने असंख्य जाने बचाई। आदिवासियों की भाषा (उरांव) में शिशु को खुद्दस या सरह कहा जाता है। अत: तब से प्रति वर्ष...माह की पंचमी के दिन सारे आदिवासी गण सरहुल नामक त्यौहार मना कर शेषनाग की पूजा करते हैं। साथ ही विजयी राम के वापस लौटने का पर्व मनाते हैं-'सरहुल'। रामलीला भी आदिवासियों का एक धार्मिक खेल है, जिसे वे देवकड़ियाँ के नाम से पुकारते हैं।

ऊपर चर्चित कार्बी, खामती, मिजोरम की थावान्यू भाषा, मुंडारी एवं उरावं के अतिरिक्त अन्यान्य गिरिजन भाषाओं में भी रामायण व राम कथा से संबंधित लोक साहित्य ढूँढ़ने पर विपुल मात्रा में प्राप्त हो सकेगा। भिन्न-भिन्न भाषाओं व बोलियों में अभिहित होने पर भी भारतीय साहित्यकारों के चिंतन में रामायण एवं अन्य पुराण की अमिट छाप है। भारतीय साहित्य की अवधारणा को परिपुष्ट करने के लिए प्रमुख व मुख्य धारा की भाषाओं के अतिरिक्त गिरिजन भाषाओं के साहित्य का अध्ययन नितांत आवश्यक है। हमारे शोधार्थियों को इस ओर भी उन्मुख होने की आवश्यकता है।

□□□

'विजयविलासम्'
3-13-1/10, श्रीनिवासपुरम्
हैदराबाद-500013
फोन : 040-27037156
मोबा. : 09441929947

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सुमेरी पुराकाव्य 'गिल्गिमेश और 'सावित्री' के पुराख्यान में मृत्युबोध का तात्विक अन्तर

प्रकाश परिमल

''प्रियतम, तुम किस गहरी नींद में सो रहे हो?
किस अंधकार ने घेर लिया है तुमको और
क्यों नहीं सुन पा रहे हो तुम मेरी बात?
बोलो एकेन्दु बोलो, चुप क्यों हो गये हो तुम-
कहो, कौन जायेगा शिकार पर अब मेरे साथ,
किसके हाथों मारा जायेगा, वनका बाघ?
अब हम कभी नहीं चढ़ सकेंगे दुर्गम पहाड़ी साथ
खेल ही खत्म हो चुका है, अब तो जिन्दगी का हाय।
क्यों छीन लिया है- तुमको मुझसे
इस अनहोनी मृत्यु ने ओ प्रिय।
छोड़कर मुझे यहां-निरुपाय।''

(- सुमेरी पुराकाव्य 'गिल्गमेश' से)

विश्व के प्राचीनतम इस पुराकाल में (2200-2500 ई. पू.) महाबली दुर्जेय आदि नर-नायक 'गिल्गमेश' को एकेन्दु का सर गोद में लिए विलाप करते हुए वर्णित किया गया है, जिसे एक दैव-वृष द्वारा द्वन्द्व में मार दिया गया है। (मृत्यु सम्बन्धी यह प्राचीनतम आलेख सेमेटिक भाषा की कलिकाक्षर लिपि में विश्व के अब तक के उपलब्ध सबसे पहले काव्यमय आलेख के रुप में प्राप्त हुआ है)

गिल्गमेश वह नायक है, जिसने अपने पराक्रम से देवता और दानव दोनों ही बिम्बों को पदाक्रान्त कर रखा है। उसके सामने घटा अपने परम प्रिय एकेन्दु की मौत का प्रसंग, जीवन की डोर को काटकर यह बता रहा है कि मनुष्य चाहे कितना ही बलवान क्यों न हो जाय, मृत्यु की अटल संभावना के आगे वह असमर्थ ही है। फिर भी हार मान लेना, गिल्गमेश के स्वभाव में नहीं। वह एकेन्दु की जिंदगी लौटा लाने के लिए-अमरत्व का पता लगाने निकल पड़ता है-भूखा प्यासा और पहुंच जाता है-जीवात्माओं को बांधने वाली देवी नेपिशतिम के पास जो उसके अदम्य साहस और संकल्प को देखकर, उसे एक मौका देती हुई- अमरता का पता और रास्ता बताती है-

''देखो मृत्यु का एक सहभाव है-
निंद्रा-हाँ निद्रा ही है उसका नाम।
छह दिन और छह रात
यदि रह सको बिना नींदं बिना विश्राम
तो निस्संदेह पा जाओगे तुम।
अमरत्व का वरदान।''

नेपिशतिम उसे यहां परोक्ष रुप से समझाना चाह रही थी कि जिस देह को वह अमर बनाए रखना चाहता है, मृत्यु के स्पर्श से उसको बचाना असंभव है, क्योंकि देह वस्तुरुप है, और क्षरणशील है। ''उसे अमाना कर निकल पड़ता है, गिल्गमेश क्योंक मानव सुलभ-भावना के वशीभूत हो अपने प्रिय एकेन्दु को वह बचा लेना चाहता है। किन्तु इस कठिन परीक्षा में सफल नहीं हो पाता वह। अपने सामर्थ्य की सीमा को मृत्यु के आगे पस्त देखकर उसे अब विश्वास हो जाता है कि देह विश्वासघाती है, उसका बोझ ही हम अस्तित्व का अधिकाधिक बोध न होने के कारण आजीवन ढोते रहते हैं-पर वह व्यर्थ है। मनुष्य का जीवन सीमा में बँधा है, उसे एक अलंघनीय नियति नियंत्रित करती है, यही इसकी विवमिषा है, सिंदूरी से हुए संवाद में वह गिल्गमेश से पहले ही कह चुकी है -

''वृथा है तुम्हारा सब परिश्रम गिल्गमेश
जिस अमरत्व को इस जीवन में
खोज रहे हो तुम, वह कहीं नहीं मिलेगा तुम्हें।
मानव की सृष्टि के साथ उसमें
मृत्यु का बीज रोप दिया है, देवताओं ने
ओ गिल्गमेश।
आदि-युग से अब तक
कोई बांध नहीं पाया है
मृत्यु-सागर को।
वह दरवाजा बंद है
तुम उसे कैसे खोल पाओगे गिल्गमेश।'

इस तरह मृत्यु-बोध से अटी पड़ी है, महानायक गिल्गमेश की यह सुमेरी काव्यमयी पुराकथा। एक ऐसे मृत्युबोध से जो जीवन के प्रति अदम्य विश्वास से,

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अस्तित्व की अधिकारिक चेष्टाओं से फलीभूत हुआ है, और जीवन की सीमा को उसकी बेहूदगियों के माध्यम से उजागर करता है। क्या है जिंदगी, कभी पूरा न हो सकने वाली वासनाओं का एक जखीरा? मनुष्य के अदम्य पौरुष और साहस का सिर्फ एक त्रासद पटाक्षेप–निष्करुण मृत्यु के आगे मानवीय कर्म के चरमोत्कर्ष पर पहुंचकर भी–सदैव अधूरी, निर्भर (अनफुलफिड)। असहाय ।। फिर भी संकल्प की अनन्त दूरियों एवं समयबद्ध जीवन की सीमा से ही गुरुत्तर हुई है, मनुष्य की दुनिया संकल्प से अनन्त की ऊँचाइयों का स्पर्श करने वाले गरुड़ के प्रतीक से तभी एक कवि ने कहा –

संकल्प से बनती जाती है प्रजातियाँ
गरुड़ ने चाहा होगा
जमीन पर पैदल चलना
और उससे बन गया होगा निश्चय ही
एक ओरांग उटांग,
या कोई गिल्गमेश अदम्य।
नव–पर्वतों को लांघता बदहवास
खोजता फिरता अपना सानी।

इस तरह मृत्यु से पराभूत हो जाने के उपरान्त इतिहास के वक्ष पर वज्राक्षरों से लिखी समलिंगी प्रेम की यह पुराकथा गिल्गमेश को हमारी स्मृति में एक ऐसी अमरता प्रदान कर देती है, जो देवताओं द्वारा दिये जा सकने वाले अमरत्व के किसी भी वरदान से बड़ी है।

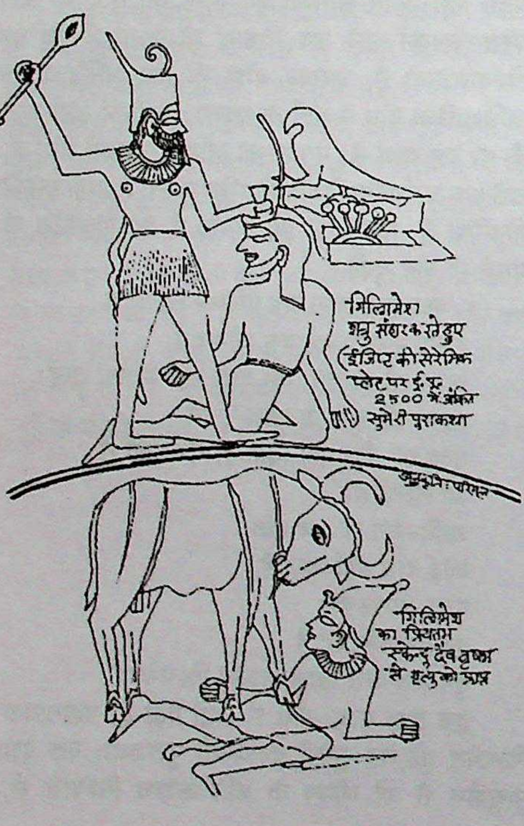

पर हमारे पुरेतिहास में एक स्त्री चरित्र उभरता है, जिसने मृत्यु पर विजय प्राप्त करके अपने पति की प्राण–रक्षा की है। यह पुरागाथा है, सत्यवान सावित्री की। वन में लकड़ी काटते समय सत्यवान की आकस्मिक मृत्यु हो जाती है, पर वह अपने मृत पति के सिर को गोद में रखकर विलाप करने के बजाय यह परिकल्पना करती है कि जीवित और स्वस्थ सत्यवान के अभाव में वह अपने जीवन के शेष सम्मिलित, अभिलषित गृहस्थ, सामाजिक और आनुष्ठानिक कर्मो को कैसे पूर्ण कर पायेगी, जिसके लिए उसे ऋक (सूर्य) संस्थान से बाहर करके पृथ्वी पर भेजा गया, सत्यवान और सावित्री एकात्म है और देह भाव को उन्होंने अपने प्रथम पारस्परिक दृष्टि निक्षेप में ही तिरोहित कर लिया है, अस्तु इसकी सीमा से और भिन्न देहों के खण्डित प्रयोजनों से जब वे दोनों बँधे ही नहीं है, तब, यह काल कौन है, जो इनके इस सदा सत्व एकात्म भाव में बाधक बनकर सामने आ खड़ा है? सूर्यों में जो निरंत और अखण्ड ऋकू भाव है, उसी का अंश है, सत्यवान और जो सूर्यों को लगातार पुष्ट करनेवाली भर्तारिक सावित्र्याग्नि है उसी का संदोहन (दुहिता–पुत्री) है सावित्री–इनकी भौतिक रुप से ही असन्निधि सौर भाव जाग्रत हो जाने के उपरान्त संभव नहीं है, काल के किसी भी निक्षेप की बाधा वहाँ स्वभावत: अमान्य है, अस्तु सत्यवान की काया (भौतिक रुप से मृत) पर जब तक सावित्री का पहरा है तक तक स्वयं यम उसके प्राणों को अपनी रज्जु में बांधकर ले जाने में असमर्थ है, और वे सत्यवान के प्राणों को उन्हें सौंप देने की प्रार्थना ही कर सकते हैं। ऐसी अलौकिक भाव में रंगी लौकिक पुराकथा की काव्यभाषिक पराचेतना के स्तपर पर अभिव्यक्ति इस युग के कांतचेता योगी अरविंद ही पुनर्संभव कर सकते थे- उसी आर्ष चेतना का प्रभाव है उनका सावित्री–महाकाव्य। इसके पुरोवाक् में श्री अरविंद ने जो लिखाते वह इस पुराकाव्य का आधार सूत्र है, उसे यथावत् लिख रहा हूँ–

The Tale of satyavan & Savitri

The tale of Satyavan and Savitry is recited in the Mahabharat as story of conquening love congulring death. But this legend is, as shown by many features of hu-

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

man tale, is on of many symbolic myth of the vedic cycle. Satyavan is the soul carrying the divine TRUTH. of BEING, within itself, but desended into the grip of death, ignosrance, Savitri is the divine WORD, daughter of the Sun-goddess of thud supreme Truth, why comes down and is BORN TO SAVE.

Ashwapati, the lord of horses, her human father is the lord of Tapasya. The concentrated energy of spritual end endeavour that helps us to rise from mortal to the immortal planes; Dyumatsona, the lord of shinning hosts, father of Satyavan, is the Divine Mind here fallen blind losing its celestial kingdom of vision and through that loss its kingdom of glory. Still this is not a mere allegory, the characters are not qualities but incarnation or emanating of living and conscious forees with whom we can enter with concrete touch and they take human bodies in order to help man and show him the way from his mortal state to a divine conciousness and immortal life .

हाँ तो, सत्यवान की मृत देह को गोदी में लिये उसे महसूस हुआ मानो जीवन के अंधेरे बीज को आकार देती! दुःख, वेदना और दोषों से लदी तीखे नाखूनों वाली मृत्यु की भयावह अंगुली, अमरता का अंश लिए जीवन की धड़कन पर रख दी गयी हो जैसे । भरी पूरी सचेत जिंदगी के प्रत्येक कोने में किसी आक्रमण और विकृत मानस ने प्रवेश पा लिया है, ऐसे अपने विकारसूत्रों के जरिए सत्य को व्यभिचरित करती षड्यंत्रकारिणी मौत। सभी दिव्यतम वस्तुओं को क्रूरता पूर्वक भंजित करती एक खौफ़नाक ताकत! दुरात्माओं द्वारा लिखा गया हो जैसे एक काला फरमान दुर्भाग्य और आपके कानून को लागू करता, भोले भाले जीवन को ऐसी वेदनामय दृष्टि और विस्मय मिश्रित भाव से देखने को मजबूर करती मृत्यु ।

मृत्यु के इस रुप को देखकर कुछ समय के लिए सावित्री भूल गयी कि उसका अस्तित्व ही, प्राण रक्षा अग्नि के तेज से बना हुआ है और एक साधारण औरत की तरह सत्यवान को ठण्डी होती देह, के परिणाम से विचलित हुई उसने देखा अपने भावी दिनों का मरुस्थल। जो हरेक एकांकी प्रहर के बीतने के साथ बढ़ता जा रहा है, अपने प्रियतम के मन शरीर के साथ अपनी काया को भी चिता में जलते देखा उसने, पर दूसरे क्षण ही त्याग दिया उसने अपने कायरता का यह विचार अपने कर्तव्य में पूर्ववत् स्थित होकर सावित्री ने सोचा सत्यवान के उदास और खिन्न माता-पिता के बारे में, जिन्हें इस समय उसकी सहायता की अधिक जरुरत होगी, उसे बहुधा यह लगा कि वृद्ध आयु की तकलीफों ने उनकी जर्जर जीवात्माओं को उसके अपने दुःख के साथ और गहराई से जोड़ दिया है। इस तरह अपनी आत्मा के शांत निस्तब्ध कक्ष में अपनी व्यथा को मन ही मन दबाए एक गूंगी पुजारिन की भाँति मूक प्रार्थना काल की बलवेदी पर मंदिर के देवताओं के समक्ष अपना बलिदान करने के संकल्प के साथ दिन बिता रही है। सत्यवान के अभाव में उसे उसकी और अपनी दोनों की भूमिका निभानी है, अधिक जिम्मेदारी से।

उसे याद आता है, जब कभी सत्यवान जंगल में निकला होता है, उसकी जाग्रत आत्मा अक्सर उसके पीछे-पीछे चल देती थी और सत्यवान द्वारा वहां सम्पन्न सभी श्रमपूर्ण कार्यों को वह ऐसे जान लेती थी जैसे कि वह उसकी आत्मा के भीतर की वनखण्डी में उसकी आंखों के आगे विचरण कर रहा हो। सावित्री की इस आत्मिक शक्ति को वह वहां अकेला होकर भी प्रत्यक्ष महसूस कर लेता था प्रायः अपने भीतर। सावित्री की तो यही कल्पना भी अपनी दुनिया की अपने स्वर्ग की एक मात्र यही कामना कि उनकी आत्माएँ इसी तरह पारदर्शी रहें। देह के झूठे भेद को लगातार तोड़कर एकात्म का स्पर्श करती हुई।

दिन, सप्ताह, मास बीतते गये- सत्यवान् की मृत देह को गोदी में लिए वह यूँ ही बैठी रही-तभी एक दिन उसने महाकाल की आवाज सुनी -

''तू आयी ही क्यों थी यहाँ
इस गूंगी और मृत्यु पाश में बंधी दुनिया में
बेरहम आकाशों के नीचे, अपनी जिंदगी का वरण कर
समय के (काल के) कत्लगाह में बलि की तरह बंधी ओ आत्मा, ओ अमृतमयी ऊर्जा
क्या तेरा अस्तित्व इस असहाय मानव हृदय
की वेदना की चाकरी के लिए है

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

और उसी में रमकर अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा
सूखे आंसुओं से करने के लिए है?
और उसी में रमकर अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा
सूखे आंसुओं से करने के लिए है?
इसलिए उठ ओ अमृतांशिनी, जाग
और काल और मृत्यु को अपने स्वभाव के अनुकूल ही
भूलजा शोकार्त होना तुझे शोभा नहीं देता
क्षण भंगुर मृतदेह वालों के लिए।

पर सावित्री ने उस तमसभरी संवदेना निहित रात में मृत्यु (यम) की पारे जैसी भारी आवाज से अविचलित होकर कहा –

मेरी तो शक्ति (सत्यवान) ही छीनकर मौत को दे दी गयी है।
मैं क्यों तब स्वर्ग की मनुहार के लिए हाथ उठाऊं
और नियत से संघर्ष करती रहूं
क्या कोई ऐसा ईश्वर है,
जिसे मेरी सात्विक करुण चीखें विचलित कर सकेंगी।
वह तो निपट निश्चिंत हो बैठा है,
और मर्त्यों की कमजोर ताकत को उसने
अपने सर्वशक्तिमान कानून के आगे असहाय
और निर्बल छोड़ दिया है–मौत के सुपुर्द करके
ऐसे में मुझे और मेरे सत्यवान को
उसके श्रवण शून्य दरवाजों को खटखटाने की
क्या दरकार है?
और जीवन के बंद कर दिये गये कक्ष में
चकाचौंध रोशनी को व्यर्थ में फेंकने का क्या प्रयोजन?
इससे तो यही अच्छा है कि जो है मेरे भाग्य में
उसे सहन करुं और प्रिय की मृत्यु के रास्ते पर
बढ़ते हुए कदमों का पीछा करुं
और अंधेरी रात में यूं ही चलते–चलते
पृथ्वी और स्वर्ग की सीमा रेखा को पारकर
भोर के उजास और सूर्य तक चली चलूं
तभी तो हम वहां अपनी जुदा हो रही जीवात्माओं का
चोला छोड़कर दिल से दिल मिलाकर एकात्म होंगे।''

लैला और मंजनू की लोककथा में एक ऐसा सर्वात्म अस्तिभाव मजनूं (कैस) की अन्तरात्मा में विद्यमान , कि उसे सारी दुनियां लैला के प्रेम की रोशनी से ही उजागर नजर आती थी, उससे भी प्रगाढ़ भाव सावित्री के भीतर आलोकित था, और उसे जब से यह बोध हुआ कि वह खुद तो साक्षात् 'भर्तारक रक्षक अग्नि ही है, (सावित्र्याग्नि) तब तो मृत्यु के वीभत्स त्रास का डर भी उसके अन्तरात्मा से जाता रहा। उसके भीतर जाग्रत हुए इसी अमरत्व भाव को देखकर यम विस्मित हो गया और उसके रहते सत्यवान के निकट नहीं फटक सका। यम को तो इसी प्रसंग में इस अभूतपूर्व दृष्टान्त के घटित होने का पूर्वाभास होने लगा था कि जब तक सावित्री वहाँ उपस्थित है, उसके अभिन्नात्म पति सत्यवान को अवश्यमभावी मृत्यु भी उससे जुदा नहीं कर सकेगी। एक इसी ऐतिहसिक प्रसंग में यह अभूतभावी घटित होने वाला है और वह पहलीबार उसका केवल अवश, दृष्टा होने को हैं। स्वयं यम ने सावित्री को संसार में रहते हुए अनन्त काया को संभावना और मृत्यु को विजित करने की उसकी शक्ति का स्मरण कराया और परमात्मा के क्षेत्र में, प्रवेश करने का उद्बोधन दिया ताकि वह (यम) अपने दायित्व से बरी हो जाय और तब सावित्री की अमरता के उस स्वर्णपथ की यात्रा शुरु होती है, जहां उसकी और सत्यवान कायाधारी आत्माओं का एकात्म अस्तिवान है–

''तब वह अनंत चट्टान से खोदकर निकाली गयी सुरंग के जरिए उस स्थान पर आ गयी जहां अमर सूर्य की रोशनी से सारा क्षेत्र आलोकित था–
वह ऐसा भुवन था जो अग्निशिखाओं व
पावन प्रकाश से बना था और
जीवन्त अग्नि की द्वारहीन दीवार को पार कर

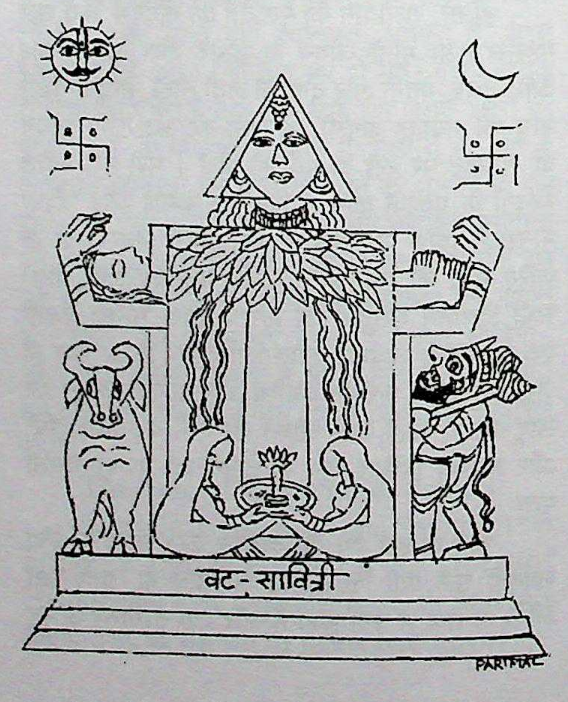

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सावित्री ने परमात्मा में समाहित अपनी आत्मा से भेंट की ओर जीवात्मा से उसके भेद को प्रत्यक्ष में पहचाना।

अपनी इसी यात्रा में समापन पर वह परमात्मा के अनुग्रह को प्राप्त कर सत्यवान का जीवन लौटा लाने में सफल हो जाती है। अभूतपूर्व वरदान भरे शब्द है ये परमात्मा के जो यह कहते हैं –

''अपने ह्रदय की कामना के अनुरुप ले जावो
तुम अपने सत्यवान को ओ आलोकमयी सावित्री
मैं तुम्हारे साथ अपना वह अनुग्रह भी भेजता हूं
जिससे मृत्यु के पाश में बँधा कोई प्राणी
उससे मुक्त हो जाता है, अमरत्व का अंश पाकर
क्योंकि ओ सावित्री ! अब तू मेरी ही आत्मा
की शक्ति बन गयी है और देशकाल और
समय की सीमा से ऊपर उठ गयी है।
और तेरा संसार दिव्य जीवन का संगीत बन गया है
और इस प्रकार एक परमशक्ति झुक गयी
और सावित्री की प्रसन्नता को अपना घर मिल गया
समस्त पृथिवी में अनन्त आनंद नाचने लगा।

दुर्दम्य मृत्यु बोध और प्रगाढ़ अस्त चेतना को मूर्तिमान करते पश्चिम और पूर्व के जो दो दृष्टांत विश्व की प्राचीनत पुरागाथों से हमने विश्लेषित किये वे परस्पर विपरीत धुरियों पर खड़े होते हुए भी जीवन के लिए जिस अखण्ड सत्य को विज्ञप्त कर रहे हैं, वह है मानव कर्म का अदम्य उत्कर्ष! पुरागाथाओं में अनुस्यूत ये मिथक मानव की ऐसी साहसिक सांस्कृतिक यात्रा और अदम्य जिजीविषा को रुपायित करते हैं जिनमें कुछ उसकी सफलता और बहुत कुछ उसकी दुःखान्तिका भी कथा बन जाते हैं परन्तु दोनों ही स्तरों पर मानवकर्म और उसके द्वारा अब तक अनुपलब्ध को सुलभ और असंभव को संभव बनाने के उसके अनथक प्रयासों में कही कोई कोताही नहीं दिखाई देती। इसी कशमकश में पृथ्वीं पर स्वर्ग उतार लाने समुद्रों को बांध लेने, पर्वत–बाधाओं को लांघ लेने तथा आकाश की निस्सीम ऊंचाईयों को माप लेने की शताधिक यथातथ्य कर्म–समष्टियां सुलभ होती हुई दिखती है।

आधुनिक दृष्टि में भी

'मृत्यु' हमारे आसपास सिर्फ एक घटना है, वह हमारे अस्तित्व बोध को छू नहीं सकती। उसे न तो व्यक्तिगत स्तर पर और न सामूहिक अवसर पर कभी अनुभव किया जा सकता है। इसलिए 'मृत्युबोध' जैसी अवधारणा शतशः खरी और प्रामाणिक नहीं हो सकती।

''करने और जीने के मुहूर्त को
इतनी तीव्रता से अनुभव करने का उपक्रम
निश्चय ही पंडितों ने किया होगा
अपने लिये (वैसे ये दोनों अपने आप में कुछ भी तो नहीं)
जन्म को सजा दिया गया है।
व्यर्थ ही भविष्य के सपनों से
और मृत्यु को लाद दिया गया है
भूत की उपलब्धियों से...
जबकि सचाई यही है कि
घटना का तथाकथित प्रारंभ भी
घटना ही है और अंत भी
मात्र एक घटना
मृत्यु हो अथवा जन्म
होना केवल सीधा और सपाट
होने के अलावा और कुछ नहीं है।
(रचनाकाल 1963 प्रकाशित संवेदन इति 1967)

जब तक में जिंदा हूं तब तक तो मैं मरा नहीं, इसलिए मृत्यु को अपने स्तर पर कहाँ देखा और जब मैं मर गया फिर तो मैं हूं ही नहीं, वहाँ मृत्युबोध की यथातत्व कोई गुंजाइश ही नहीं। मृत्यु संबंधी इस दुनिया को कठोपनिषद् में यम ने नचिकेता के सामने इन शब्दों में अंकित किया है–

''मन सैवेदमाप्रत्यं नेह नानास्ति किंचन
मृत्योः स मृत्युं गच्छति, य इह नानेव पश्यति।
– कठोपनिषद 2–1–11

अर्थात् मन से ही 'मृत्यु' के बारे में जाना जा सकता है, या फिर आप्त (वेदादि) के द्वारा, इसके अलावा उसे जानने का दूसरा कोई रास्ता नहीं है परन्तु मृत्यु के आते ही जब प्राणी निष्प्राण हो जाता है, तब प्राणी द्वारा उसे देखने और जानने की कहां संभावना रहती है? इसलिए जब नचिकेता यम से मृत्यु विषयक लोक व्यापी इस धारणा के बारे में पूछता है कि कुछ लोग मानते हैं, कि जीवात्मा मरने के बाद भी अस्तिमान रहता है और कुछ लोग इसे सर्वथा असंभव मानते है ऐसे में आपकी क्या राय है, इसके खुलासा हेतु मुझे तीसरा वर दीजिये, तो यम इसके उत्तर को टाल देते हैं–

ये यं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽ स्तीत्येके नायमस्तीति चैके।

एत द्विद्यामनुशिष्टस्त्ववाहं, वराणामेष वर स्तृतीयः।
कठोपनिषद ।। 2/1/20

इस तरह इस अवश्यमभावी 'मृत्यु के और मौत के

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

दंश से निकल आ सकने वाली अदम्य अस्ति चेतना की विलक्षण धुरियों का हमने अवलोकन किया परन्तु इस संदर्भ में गहराई से समझने वाली बात यही है पृथ्वी पर जो समाज जितने प्राचीन रहे हैं, उनमें, अमरत्व के इस भाव को किसी न किसी स्तर पर सुस्थिर करने के अथक प्रयास चलते रहे हैं और ऐसी पुरागाथाएं भी लगातार बनती रही है जिसमें मृत्युचेतना के अटल विधान के विरुद्ध अस्तिमूलकता को उसका अतिक्रम करते हुए बताया गया है। ये भाव जीवन के तत्व को ही अन्ततः पुष्ट करने वाले तत्व है, जो विशिष्ट निजी अनुभवों के माध्यम से संकलित होते–लोक चेतना के स्थायी अंग बन गये हैं इसलिए ये यथार्थ चाहे न हो, परन्तु मनुष्य की लोक व सांस्कृतिक चेतना के सनातन 'सत्य' बनकर प्रस्तुत हुए हैं और आगे भी होते रहेंगे।

□□□

भूऋषि सिद्धपीठ, टोंक रोड
डी–39 देवनगर
जयपुर–18

संदर्भ

पठनीय सामग्री – SAVITRI- SRI AUROBINDO -

1. रसिक बिहारी : अमरकाव्य गिल्गमेश
2. Thus spake Zarathustra : Fredrich Nietzsche
3. Preface : Eceltomo : Fredrich Nietzsche
4. Situations : Zean Paul Stare.
5. Nausea : Zean Paul Stare
6. Intimancy : Zean Paul Stare
7. Outsider : Albart Camus Resistence, Rebellion & Death
8. The plague : Albart Camus Resistence, Rebellion & Death
9. Six existential Thinkers : Blackham
10. Irrational man : William Barett
11. Age of Defeat : Colion Wilson
12. Being and Time : Heideggar
13. कठोपनिषद (गीता प्रेस)
14. ऋग्वेद संहिता : वेद संस्थान, अजमेर

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

गन्ना और गुड़

श्यामसुन्दर घोष

आपके भी क्या अजीब भुख है....आत्मन ने कुटिलता से मुस्कराकर कहा.......

क्यों, तुम मेरे शीर्षक को पढ़कर अस्त-व्यस्त हो गये? अस्त-व्यस्त ही नहीं, त्रस्त भी। आत्मन ने सहानुभूति प्रकट की दुनियाँ कहाँ से कहाँ जा रही है। और आप गन्ना और गुड़ विषय को लेकर लेख लिख रहे हैं...

इसमें बुरा क्या है? मुझे ताज्जुब हो रहा था आत्मन के रुप पर........

तो अच्छा क्या है, आप यही बताइये-कितने घिसे-पिटे विषय आप लेते हैं और शुरु हो जाते हैं। कोई भी विषय घिसा-पिटा नहीं होता। विषय वही अच्छा होता है जो तुम्हारे अनुभव में हो, जानकारी में हो, जो तुम्हारे-जीवन में रहा हो। अपरिचित-अनजाने विषयों पर लिखना क्या ठीक है? मुझे तो यह नहीं आता और न ही भाता है।

तो यह गन्ना और गुड़ आपके अनुभव में है? आपकी जानकारी में है? यह आपके जीवन में रहा है? अवश्य....

तो मैं भी जरा जानूँ कि इस विषय में आपके अनुभव क्या हैं, आपकी जानकारी क्या है?...

यह मेरे जीवन की सम्पृक्ति है, आसक्ति है। मैं इसे धुर बचपन से जानता हूँ। देहात का पला बढ़ा हूं। गन्ना और गुड़ से कैसे नहीं जुड़ा होऊंगा? और जिससे जुड़ा हूँ उसी की बात तो कर सकता हूँ।...

तो क्या आप आज भी उससे जुड़े हैं? क्या आज भी गन्ना चूसते हैं? गुड़ खाते हैं? क्या ऐसा करते आपको हिचकिचाहट नहीं होती। असुविधा नहीं होती? अब आपके दाँत वैसे कहाँ है कि गन्ने छील सके?...

हाँ, यह ठीक है कि अब मेंरे दाँत वैसे नहीं रहे कि मैं गन्ना छील सकूं। लेकिन गन्ने का रस मैं अब भी पीता हूँ। पीना पसंद करता हूँ....

क्या आपके नाती-पोते आपका मज़ाक नहीं उड़ाते? क्यों उड़ायें मजाक? क्या मैं उनको चॉकलेट खाने का मजाक उड़ाता हूँ? मैं तो उल्टे उनसे चॉकलेट माँग लेता हूँ.......

क्या आप चॉकलेट भी खाते हैं? आत्मन को ताज्जुब हो रहा था।

क्यों न खाऊँ मैं चॉकलेट? वह भी तो गुड़ का ही भाई बन्द है?.....क्या......हाँ, शर्तिया।

और आपकी कही बात बच्चे मान लेते हैं? आज के बच्चे? आत्मन को ताज्जुब हो रहा था।

हाँ, उनको ताज्जुब होता है, जैसे तुमको हो रहा है। पर समझाने पर, बताने पर मान लेते हैं, अधिक तर्क नहीं करते-जैसे बड़े करते हैं। बच्चे सहज ही विश्वासी होते हैं। हाँ, अब कुछ बताइये बचपन और गन्ने के बारे में। गन्ना कहाँ से लाते थे? क्या वे बाज़ार में बिकते थे और-और सामानों की तरह?

नहीं, गन्ने बाज़ार में नहीं बिकते थे आजकल तो खास मौकों पर ही गन्ने बिकते हैं जैसे जेठांवनी एकादशी पर छठ, या नवान्न के मौक़े पर या किसी मेले-ठेले में, ख़ास तौर पर । आज तो ये अधिकतर ठेले पर ही दिखाई देते हैं, इनके रस निकाले जाते हैं....

आप यह रस पीते हैं?

शौक से....

घिन नहीं आती?

क्यों, घिन क्यों आयेगी? बचपन से पीता आया हूँ। पहले कुल्हड में जाकर पीता था। तब गागल रस, कड़ाहे का गाढ़ा रस, घर में आता था। उससे मां 'रसिया' बनाती थी। उसे हम प्रेम से खाते थे। दही या दूध डाल लेने पर वह और भी स्वादिष्ट हो जाता था।

कुछ गुड़ के बारे में भी बताइये....

गुड़ और गोरस ये हमारे बचपन के बड़े प्रिय संगी रहे हैं। कभी खाली गुड़ और कभी दोनो, कभी अन्न के साथ, चूड़ा-मूढ़ी और सत्तू के साथ, तो कभी पकवान के अनुसंगी के रूप में।

गुड़ का संबंध पूजा-पाठ से भी खूब रहा है। देवताओं

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

के नैवेद्य में अक्षत के साथ गुड़ तो होता ही है आज भी होता है, साथ में तिल भी होता है।

गुड़ का संबंध वैसे तो घी और तेल दोनों से है, पर गाँव-देहात में, आज भी, और पहले भी, गुड़ और तेल के पकवान कुछ ज्यादा ही बनते और चलते थे। आज भी शायद चलते हों, पर इधर शहरीकरण और बाबूकरण की जो प्रवृति चली है, या कहिये कि फैशन चला है, उसके कारण गुड़ कुछ-कुछ अदृश्य-सा हो गया है।

गुड़ का तिल से बड़ा घनिष्ट संबंध है। गुड़ और तिल के लाड़ या लड्डू पहले भी खूब चलते थे और अब भी चलते हैं। तिल दो तरह के होते हैं-एक काला तिल और दूसरा सफेद तिल। आजकल सफेद तिल ज्यादा चलता है। इसका सफेद चीनी से अच्छा रिश्ता बनता है। इसलिये तिलकुट सफेद तिल से ही बनाये जाते हैं। पर तिल तो असल में काला तिल है। सुन्दरियों के कपोलों पर, ठुड्डियों पर काले तिल ही शोभते हैं, लोग उन्हीं की बलैंयां लेते हैं। कल्पना कीजिये सुन्दरियों पर सफेद तिल हैं तो जानते हैं क्या होगा? सुन्दरियां त्यक्त समझीं जाने लगेंगी, कोई उनकी ओर देखना भी पसंद नहीं करेगा। इसलिये मेरा मानना है कि तिल तो असल में काला तिल है। पूजा-पाठ में काला तिल ही चलता है। सफेद अक्षत के साथ काला तिल ही सुशोभित होता है। काला तिल सफेद बनाया जा सकता है पर सफेद तिल काला नहीं बनाया जा सकता। गाँव-घर में जो घरैतिनें कुछ ज्यादा नफ़ासत चाहती हैं वे काले तिल को रात में पानी में डालकर भीगने और फूलने के लिये रख छोड़ती है। सुबह वे जूट के रुखड़े बोरे पर हाथ से रगड़-रगड़ कर उनका काला छिलका छुड़ाकर उसे सफेद कर लेती हैं और फिर उसे गुड़ में डालकर लाडू या लड्डू बना लेती है। ये लड्डू जाड़े के मौसम में खूब चलते हैं और बच्चे बूढ़े और जवान इन्हें खूब चाव से खाते हैं।

तेल पहले तिल से ही निकाले गये होंगे। इसीलिये उसे तेल कहा गया। बाद में जितने भी तेलहन पदार्थ हुए उससे भी तेल निकालने का चलन हुआ। वे भी पेरे जाने शुरु हुए,पर उससे निकले तेल के अलग-अलग नाम नहीं चले। चाहे सरसों हो, या तीसी मूंगफली हो, या गुठली या भूसी, सूरजमुखी हो, या और कुछ जिसमें भी आदमी को तेल की कुछ सम्भावना दिखी,सब पेरे जाने शुरु हुए, सबका तेल निकाला जाने लगा। और तो और, आदमी के भी तेल निकाले जाने शुरु हुए-मोटे तोंदियल आदमी भी पेरे गये, आज भी पेरे जाते हैं, और सूखे बेजान इंसान भी पेरे जाते हैं-भले ही उनसे तेल की वह मात्रा न मिलती हो। पर कुछ तो मिलती है।

गुड़ का चने से भी नजदीकी रिश्ता है। भिगोये गये चने जिसे हम औंकरी कहते हैं, और गुड़ सुबह का अच्छा नाश्ता होता है-कम ख़र्च और बालानशी। नाश्ता तैयार करने में कोई झंझट नहीं और बासी होने का भी कोई अंदेशा नहीं। भिगोये चने एक दो दिन रह गये तो अंकुरित होकर और फायदे मन्द हो जाते हैं। पर आजकल लोग यह नाश्ता लेना पसन्द नहीं करते। कारण यह कि यह नाश्ता जेल में कैदियों को दिया जाता है। जिसने भी जेल में गुड़ और चने के नाश्ते का प्रावधान किया होगा-वह बहुत चतुर रहा होगा। और उसे भारतीय खान-पान और अर्थव्यवस्थाओं का भी अच्छा ज्ञान रहा होगा । जेल में उतने-उतने कैदियों को, उनके लिये स्वीकृत राशि में, चने और गुड़ के अलावा और क्या दिया जा सकता है। यह नाश्ता जेल में न जाने कब से चला हुआ है। और कब तक चलता रहेगा। पर जेल में इसके चलन का यह दुष्परिणाम हुआ कि अब आम घरों में इसका चलन समाप्त हो गया है। बिरले ही लोग अब सुबह में गुड़ और चना लेते हैं।

आज बात-बात में चीनी का चलन है। पहले बच्चे गुड़ के ढेले के पीछे दीवाने रहते थे, अब चीनी फाँकते नज़र आते हैं। पर चीनी में वह स्वाद और रस कहाँ जो गुड़, खाड़ या शक्कर में है।

पहले घर पहुँचे पाहुन को जल और गुड़ की भेली दी जाती थी, तब उनको कुछ और दिया जाता था। आज तो गुड़ की भेली का स्थान चाय ने ले ली है। पकवान की जगह बिस्कुट आ गये हैं। पहले कुछ लोग, जो अधिक सम्पन्न और नफ़ासत वाले होते थे, वे पाहुनों के आगे दूध का गिलास और मिसरी रखते थे, कुछ मेवे भी रखते थे, आज मिठाई रखी जाती है, पर गन्ना और गुड़, ही सबकी गंगोत्री है। ये सभी वहीं से निकले हैं।

गन्ने का दाँतों से मजबूत रिश्ता रहा है। हम बचपन में गन्ना छीलने में प्रतिद्वन्द्विता करते थे। जो गन्ने का जितना लम्बा छिलका निकालता था, वह उतना ही जाबिर समझा जाता था। चार-चार गाँठ के छिलके हम एक साथ निकाल लेते थे। यह दाँतों और मसूड़ों के बल पर ही होता था। आज तो बच्चे गन्ने को दाँत भी नहीं लगा सकते। आज के बच्चों के दाँत इतने कमज़ोर हैं कि कुछ पूछिये मत। तभी तो दाँत मजबूत करने के इतने विज्ञापन दिये जाते हैं।.....चीनी और चॉकलेट दाँत के दो बड़े

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

दुश्मन हैं। टॉफी का भी काफी चलन है। अब तो कुछ बड़े भी, पाकिट में टाफी लिये घूमते हैं। जरुरत पड़ने पर बच्चों को तो देते ही हैं, खुद भी मुख शुद्ध कर लिया करते हैं।

पहले हमारे यहाँ मुहावरा या कहावत प्रचलित थे– गुड़ खाते हैं पर गुलगुले से परहेज़ करते हैं। पहले हमारा ऐसा ही रवैया था। पर आज हमने इस कथन को उलट दिया है–गुलगुले खाते हैं पर गुड़ से परहेज़ करते हैं। यह तो ऐसा ही है मानों हम जड़ और धड़ की तो अवज्ञा कर रहे हैं पर डाल–पात और फुनगी और फूल पर फिदा है। नहीं जानते कि डाल–पात और फुनगी फल की शोभा और स्वास्थ्य जड़ और धड़ से ही है। ये गये तो सब गये। गन्ना गया, तो गुड़ गया, गुड़ गया चीनी गई तो मिठाइयाँ गई, मिठाइयाँ गईं, तो सारी मिठास गई।

मैंने ग़ौर किया कि आत्मन मेरी बातों को बहुत ध्यान से सुन रहे हैं। ऐसा कम ही होता है। वे बीच–बीच में रेड मारने के फेर में रहते हैं। लेकिन आज बड़ी शांति से मेरी बात सुन रहे हैं। मुझे संतोष हुआ। मैने कहना जारी रखा।

मिठास की जड़ गन्ना और गुड़ ही हैं। मिठास का हमारे जीवन में क्या स्थान है और महत्व है, यह इसी से समझा जा सकता है कि कोई अच्छी–भली बात ही सोचते हैं– मिठाईयाँ ही बाँटते हैं, कोई शुभ–संवाद सुनाता है, तो हम उसके मुंह में घी–शक्कर डालने की ही बात करते हैं। भोज–भात में भी मिठाइयों का विशेष महत्व है। हम कई–कई तरह की मिठाईयाँ परोसते हैं। साधारण खानपान में भी मधुरेण समापन की बात कही जाती है। मीठा के बिना हमारा कोई काम नहीं होता।

नमक जो मीठे का विलोम है, वह भी हमारे लिये महत्वपूर्ण है। उसी से सलोना और अलोना शब्द बना है। नमक रहने से ही कोई चेहरा नमकीन होता है। पर यह सब होने पर भी यदि नमक अकेला रहता है, तो रंग नहीं जमता, रंग जमता है मीठे के साथ। भोजन में यदि नमक प्रधान हो, तो अंत में मीठा, और भोजन में यदि मीठा प्रधान हो तो अंत में नमक आवश्यक हो जाता है। ये दोनों एक दूसरे के विरोधी होकर भी विरोधी नहीं है। कभी–कभी तो आधे–आधे फिफ्टी–फिफ्टी मिलते हैं और कभी किसी भी अनुपात में। कभी–कभी साथ–साथ मिलते हैं, कभी आगे पीछे और कभी अगल–बगल। इनके मिलने से जो कशिश और स्वाद पैदा होता है उसका क्या कहना।

गुड़ की बात चली है तो केवल गन्ने वाले गुड़ की बात ही की जाय, यह भी ठीक नहीं। गुड़ और भी प्रकार के होते हैं और बनते हैं। दो तो बहुत आम फहम है– खजूर–गुड़ और ताड़–गुड़। खजूर और ताड़ के पेड़ से रस निकाल कर भी गुड़ बनाये जाते हैं। खजूर के गुड़ बहुतायत से मिलते हैं। ताड़ के गुड़ उतने नहीं मिलते। ताड़ है भी तो दुर्लभ वृक्ष। जैसे गन्ने की खेती होती है वैसे खजूर और ताड़ बड़े पैमाने पर नहीं लगाये जाते। इसलिये खजूर–गुड़ और ताड़–गुड़ का प्रचलन कम है। पर उनका स्वाद और तासीर कुछ अनोखा होता है। कुछ लोग तो खीर में खजूर–गुड़ ही डालते हैं। गन्ने वाला गुड़ या चीनी नहीं डालते। ताड़–गुड़ से ताल–मिसरी बनाई जाती है जिसका घोल छोटे बच्चे के लिये बहुत फायदेमंद होता है। डाक्टर वैद्य माताओं को सलाह देते हैं कि ताल–मिसरी का घोल बच्चों को नियमित दें। शायद यह बच्चों की लम्बाई पर भी असर डालता हो। ताड़ लम्बू जो ठहरे।

आत्मन इतनी देर तक चुप सुनते रहे। अंत में कहा– यह गन्ना और गुड़ पुराण इतना गूढ़ हो जायेगा, यह नहीं सोचा था।

मुझे संतोष हुआ–चलो, आत्मन ने कभी तो कुछ को गूढ़ माना और कहा।

□□□

ऋतंवरा, गोड्डा
झारखण्ड–814133
फोन : 06422–222239

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लोकगीतों का सुनहला संसार और उसके समर्पित क़द्रदान

स्वामी वाहिद काज़मी

इस लेख का श्रीगणेश हरियाणा के प्रसिद्ध विद्वान और शाइर स्व. 'जावेद' वशिष्ठ के एक शब्द-चित्र की अपने शब्दों में प्रस्तुति से कर रहा हूँ :-

''हृदय, जो जीवन और सृष्टि का केन्द्र है, इसके किसी गुमनाम कोने में एक मंदिर है। इसी मंदिर में विराजमान है एक देवता।

जब दिल की नई-नवेली, हसीन और मासूम, नर्म नाज़ुक धड़कनें बनाव-सिंगार करके, प्रीत के दीप जलाकर, आरती का थाल सजाकर, मन-मंदिर के द्वार पर, मधुर सुरों में, चंचल मन की चपल तरंगों का मुधर साज़ छेड़ती हैं। तो आप ही आप मंदिर के पट खुल जाते हैं। देवता की मनमोहिनी, मनोहर मूर्ति की छवि देखते ही दिल की मतवाली धड़कनें, देवदासियों की तरह झूम-झूमकर नृत्य करती हैं और लहक-लहक कर देवता के गुन गाती हुई आरती उतारती हैं। आरती के झिलमिलाते दीप थिरक-थिरक कर लौ देते हुए, देवता की बलाएँ लेते हैं। रंगारंग फूलों की मुलायम पंखुड़ियाँ, देवता के चरणों में रंगीन तितलियों की भाँति थिरकती हैं और जब पायल के छनाके समताल के साथ संगीत के गले से गले मिलते हैं, तो देवता के सुर्ख तिकोने अधरों पर मुस्कान की रेखाएँ जाग उठती हैं। देवता जाग उठता है और फिर अपनी बाँसुरी में ऐसा नगमा फूंकता है कि राग की आग तीव्रतर हो जाती है। सब मिलकर रास रचाते, नाचते गाते हैं। हर तरफ राग-रंग और उसकी फुहार पड़ने लगती है। इसी मंदिर में लोक-गीतों का जन्म होता है। यही देवता लोक-गीतों का जन्मदाता है और दि़ल की यही नाज़ुक धड़कनें गीतों में ढल जाती हैं।''

यह केवल शब्द ही नहीं सच्चाई का सुन्दर चित्रण भी है। गीत और संगीत, शेर और नग़मा के सम्बंध में किसी गीतकार ने कहा है-

जब दिल पर ठेस लगी होगी,
तख़लीक़े शैर हुई होगी।
जब दिल में दर्द उठा होगा
धड़कन से गीत उगा होगा।

गीत तथा कविता के जन्म के बारे में एक प्रसिद्ध कवि सुमित्रा नंदन पंत का यह दोहा भी अपनी जगह यथार्थ है :-

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उजा होगा गान।
निकलकर नयनों से चुपचाप
बही होगी क़विता अनजान।

लोक गीतों का सीधा संबंध मानव के भावजगत तथा भावनाओं से है। किसी लेखक का अनुमान है, कि-'संभवहै, पाषाण एवं धातु-काल से पूर्व का मानव भावनाओं के अतिरेक में कभी चीख उठा हो। हर्ष तथा विषाद मिश्रित, भीतर से उपजी उन चीखों में निश्चय ही स्पष्ट अन्तर रहा होगा। जैसे रोने और हँसने में। मेरा अनुमान है कि उन्हीं चीखों से आदि कविता तथा आदि संगीत का आरंभ हुआ। पहले-पहल ये चीखें भाव और भावनाओं का मिला-जुला रुप रही होंगी, तदुपरान्त, विकास की मंजिलें तय करती हुई, ये ही चीखें, बोलियों तथा भाषाओं में बदल गयी।'

आधुनिक काल में संस्कृत के एक विदेशी विद्वान ने तो यहां तक विचार व्यक्त किया है, कि पवित्र वेदों के मंत्र तथा श्लोक आदिकालीन गड़रियों तथा चरवाहों के लोकगीत हैं। यद्यपि यह मुद्दा बहस-तलब है, फिर भी उक्त विद्वान के इस विचार से लोकगीतों की सत्ता तथा प्राचीनता तो उजागर होती ही है। ब्राम्हण काल से लेकर सामंतकाल बल्कि महाजन-काल, और अधिक गहराई से देखें, तो अब मज़दूर-काल तक। दूसरे शब्दों में सतयुग से यात्रारत, त्रेता, द्वापर और कलियुग तक लोकगीत तो हर काल और युग में, हर रंग और हर हाल में सदाबहार रहे हैं। सच तो यह है, कि लोकगीतों की सीपियों से ही, हर भाषा व समुदाय में गीतों के विशाल मुक्त-भण्डार आए हैं।

इंसान और अवाम के दुःख-सुख, प्यार-रीति-रिवाज, चाल-चलन, आचार-विचार, तीज-त्यौहार, अनुष्ठान, ज़बान, अदब, तहज़ीब कल्चर, धर्म, आस्था, विश्वास तथा आर्ट के आंगन में वीणा के तारों की झंकार से लोकगीत, लोक संगीत और लोकनृत्य ही नहीं लोक कथा (ओं) का भी इतिहास उभरता है और मेघ मल्हार गाता हुआ लोक जीवन में प्रवेश कर लाता है। उस गायक की आवाज़ में लोच है, दर्द है, रस है और उसके गले में नूर है। आम जन यानी अवाम, हर स्थान के

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अवाम, हर भू-भाग के अवाम, उसकी लय में लय मिलाकर, अपनी-अपनी बोली में, अपने-अपने विशेष अंदाज के साथ, अपनी मौज में आकर गा उठते हैं। अपने सुख-दुख के गीत, धरती और आकाश के गीत, मेघ और सावन के गीत, कोयल और पपीहे के गीत, चाँद और तारों के गीत, ज़िन्दगी और उसके जादू के गीत अर्थात लोकगीत।

विषयों या कहें प्रसंगों के लिहाज़ से, लोकगीतों के विस्तार का कोई ओर-छोर अथवा सीमा नहीं है। मसलन-शादी, ब्याह के गीत, फ़सलों के गीत, विरहा के गीत, पनघट गीत, झूलागीत, फिर चूल्हे-चक्की के गीत, दूध बिलाने के गीत, उपले थापने के गीत, मेले-ठेले के गीत। विभिन्न समुदायों तथा जातियों के अपने ख़ास लोकगीत होते हैं। जैसे धोबीघाट के गीत, कोल्हू के गीत, धुनियों के गीत आदि। इनका नामकरण भी जाति विशेष के नाम के साथ किया जाता है, मसलन-धोबियों के गीतों में 'धुबियाऊ ढीमरों (कहारों) के गीतों को 'ढिमरयाऊ' और गड़रियों के गीतों को 'गड़रियाऊ' गीत कहते हैं।

इन गीतों को यदि ग्राम की 'गीतबद्ध परम्परा' अथवा 'कविताबद्ध रीति-रस्म' कहा जाए तो सही होगा। पुराने युग में ग्राम के अनपढ़ लोग अपनी परम्पराओं तथा रीति-रस्मों को गीतों के माध्यम से ही सुरक्षित रख सकते थे और आज भी, ज्ञान-विज्ञान की प्रगति के इस दौर में गाँवों में परम्परा पूजन का पुराना रिवाज़ मौजूद है। इन गीतों से गाँवों की जिन्दगी, गाँवों की प्रकृति यानी मिज़ाज, गाँवों के विश्वास तथा आस्थाएँ ही नहीं, ग्राम जीवन के राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और तेहज़ीबी दृष्टिकोण का पूरा इतिहास तैयार किया जा सकता है। तात्पर्य यह कि ग्राम और ग्राम जीवन लोकगीतों से ही चित्रितहै। लोकगीत ही अवाम की भावनाओं तथा जीवन का सबसे उजला दर्पण होते हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि आमजन अर्थात अवाम ही सही अर्थों में लोकगीतों के रचनाकार होते हैं। संक्षेप में यही बात सुविख्यात लेखक मैक्सिम गोर्की ने कही है। उसने स्वीकार किया है, कि 'अवाम ही आदि गीतकार है।'

इसी प्रकार के सारगर्भित विचार रुस के ही एक प्रसिद्ध लेखक विचारक **निकोलाइ गोगोल** ने इन शब्दों में व्यक्त किए हैं-'गीत ही मेरी प्रसन्नता का मूल स्रोत है। गीत मेरी जिंदगी है और मुझे उनसे दीवानगी की हद तक प्रेम है। प्रत्येक गीत, लोक इतिहास का एक टुकड़ा है- जीता-जागता, रौशन और चमकदार रंग और सचाई से भरपूर आमजन के सम्पूर्ण जीवन का दर्पण जो साहित्यकार बीते युगों की आत्मा को महसूस करने का इच्छुक है, गीत उसके लिए सबसे बहुमूल्य चीज है।' एक और लोकगीत-प्रेमी **एण्ड्रयू फ़लीचर** ने तो यहाँ तक लिखा है, कि 'मुझे लोकगीत बनाने दो, फिर मुझे परवा नहीं होगी कि देश के लिए कानून कौन बनाता है।'

लोकगीतों के संदर्भ में एक ओर हक़ीकत का ज़िक्र करना भी आवश्यक है, वह यह कि पुरुष की तुलना में स्त्री ने अधिक गीत गाये हैं कदाचित इसलिए कि औरत अपने आप में स्वयं एक गीत है। स्त्री, प्रकृति का श्रेष्ठतम शाहकार है। उसकी हर अदा, हर अंदाज़ मतलब यह कि उसकी प्रकृति का हर पहलू जैसे गीतसम है। वह जब सरस्वती का रुप धारण करती है, तो मन-वीणा के तार इस प्रकार छेड़ती है कि राग, रंग और रस की फुहार पड़ने लगती है और जब चण्डी का रुप धारण करती है, तो उसके खप्पर से अग्नि, रक्त तथा प्रतिकार का भयानक राग फूटने लगता है। स्त्री चूंकि पुरुष की तुलना में स्वभावतः अधिक संवेदनशील और नाज़ुक है, इसलिए यह अनुमान करना अनुचित नहीं होगा, कि सबसे पहले स्त्री ने ही अपने अहसास तथा भावनाओं को गीत में ढाला होगा। इसके बाद पुरुष भी उसके स्वर में अपना स्वर मिलाकर उसका साथी बन गया।

इस संदर्भ में **नरोत्तमदास स्वामी** ने लिखा है-''नारी ने कितना गाया है। माँ के मुंह से निकली लोरियों की गोद में नवजात शिशु सोया और जागा। बालक ने यज्ञोपवीत धारण किया, गीत गाए गये। वह पढ़ने बैठा, गीत गाये गये। सगाई हुई, गीत गाए। विवाह हुआ, हर्ष में पागल बनी माता 'बनड़े' गवाने बैठी। नव वधू घर आई, गीतों ने उसका स्वागत किया। घर में उत्सव हुआ, बिना गीतों के कैसे मनाया जाए। त्यौहार आए, गीतों का गाया जाना अनिवार्य हो गया। हमारा समस्त गृहस्थ - जीवन नारी का गान है।'

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी जब शांति निकेतन में थे तो उन्होंने लोकगीतों का महत्व जिन शब्दों में उजागर किया था, वे शब्द भी अपने आप में कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। उन्होंने लिखा था-'लोकगीतों की सहायता से हम एक पुराने संसार को प्राप्त कर लेंगे, जिसे या तो हम भूल चुके हैं या जिसे गलत समझ बैठे हैं। राजनीतिक रुप से तो आर्यों ने हिन्दुस्तान को जीत लिया था, पर इस सभ्यता को जो पहले से यहाँ मौजूद थी और इस विशाल देश के हर भाग में ज़रा-ज़रा साँस ले रही थी-आर्य लोग पराजित नहीं कर सके थे। पुरातत्व विभाग वालों को यह बात बुरी न लगे तो मैं कहना चाहूँगा, कि प्राचीन, लोकगीतों का महत्व मोहन-जोदडों सरीखे खण्डरों से कहीं ज़्यादा है।'

यह जो लोकगीतों के विषय में हम आज इतना कुछ जानते, मानते, पहचानते और स्वीकारते हैं। इसके लिए वास्तव में हमें लोकगीतों के खोजी, संकलनकर्त्ता उन पर शोध कार्य करने वाले उन देशी-विदेशी विद्वानों का आभार मानना चाहिए, जिन्होंने अपने जीवन में सबसे बढ़कर, बतौर अभियान, जो एक स्पष्ट लक्ष्य सामने रखा उस पर केवल एक शब्द अंकित रहा- लोकगीत। आइए जरा अतीत से लेकर वर्तमान तक झांक

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कर देखें।

भारत में ब्रिटिश शासन के दौरान जो अंग्रेज आए और लम्बे समय तक यहाँ रहे, उनमें से अधिकतर गोरी सत्ता और उसके शासन के मनसबदार मात्र थे। उनका एक ही कार्य था। काले गुलामों पर मनमाने ढंग से हुकूमत करना। इसके लिए वे साम, दाम, दण्ड भेद तो दूर अनीति व अन्याय से लेकर जुल्म व अत्याचार तक को हथियार बना लेते थे। किंतु थोड़े से अंग्रेज ऐसे भी थे जिन्हें यहाँ की संस्कृति, इतिहास, भाषा, कला, प्राचीन साहित्य से लेकर परम्पराओं तथा रीतिरिवाजों तक में गहरी दिलचस्पी के कारण इन विषयों पर दत्तचित्त होकर कार्य करते रहना अच्छा लगता था।

यह उन्हीं चन्द सहृदय और ईमानदार विदेशी विद्वानों के श्रम, लगन तथा प्रतिभा का नतीजा है कि क्या भाषाएँ, क्या व्याकरण, क्या इतिहास तथा पुरातत्त्व और क्या साहित्य व ललित कलाएँ। इन पर विपुल कार्य हुआ। महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे गये जो आज भी सम्बन्धित विषयों का अध्ययन और शोधकार्य करने के लिए प्रकाश-स्तम्भ का काम करते हैं। लोक साहित्य, लोकगीत, लोकसंगीत जैसी विधाएं उन खोजी और पारखी विद्वनों की दृष्टि में उपेक्षित कैसे रह सकती थी। मैं यहाँ उन विद्वानों का उल्लेख करना एक परम कर्तव्य मान रहा हूँ।

उन्नीसवीं सदी के पाश्चात्य विद्वानों और बुद्धिजीवियों में बिशप पियरे, जौन ब्रांड, मैक्समूलर, सनहेट स्मिथ, जेम्स फ्रेजर आदि विद्वानों ने लोकगीतों पर सबसे विशद तथा काबिले-क़द्र कार्य किया है। जी.ए. ग्रावर ने सन् 1872 ई. में पहली बार दक्षिण भारत के लोकगीतों का संकलन किया। इसी जमाने में जॉर्ज ग्रियर्सन ने लोकगीत के अलावा बिहार तथा भोजपुरी क्षेत्रों के लोकगीत भी संकलित किए। सन् 1905 ई. के लगभग सी.एफ. ऑसबोर्न ने पंजाबी लोकगीतों और लांगवर्थ डेम्प ने बिलोचीजनों के लोकगीतों का संकलन कर उन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित भी कराया।

पाश्चात्य खोजी विद्वानों में से जिन्होंने भारत, विशेषकर उत्तर भारत के लोकगीतों को अपने शोध तथा कार्यो का मुख्य विषय बनाया, उनमें कर्नल टॉड, मार्समैन, सर एच.एम.ईलियट, हर्नले, डॉ. टर्नर और बेरियर एल्विन आदि अपने-अपने विषय के आफताब-माहताब कहे जाने योग्य हैं। वेरियर एल्विन का यह कथन लोकगीतों की उपादयेता स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है-'लोकगीत अथवा लोककथा केवल अजायबघर की वस्तु नहीं। इसमें नई पीढ़ियों के साथ-साथ नए परिवेश और नए संघर्ष भी जुड़ते रहते है।'

उपरोक्त विदेशी विद्वानों से प्रेरणा लेकर उनके लोकगीत विषयक शोधकार्यो से प्रभावित होकर, उनकी डगर पर चलते हुए भारत के जिन विद्वानों ने विभिन्न इलाकों की भाषाओं व बोलियों के लिहाज से, महत्वपूर्ण कार्य किए है, उनमें सूर्य के समान जगमगाता हुआ और स्वर्ण-अक्षरों में लिखने योग्य नाम है- श्री देवेन्द्रनाथ सत्यर्थी। इनके अलावा हिन्दी में ही श्री रामनरेश त्रिपाठी, बंगला में लालबिहारी डे, आशुतोष चौधरी, जसीमुद्दीन, गुजराती में नमर्दाशंकर,झवेरचंद मेघानी, ब्रजभाषा में सत्येन्द्र चन्द्रभानु, सिद्धेश्वर नाथ, वास्तव प्रधान, राजस्थानी में सीताराम लालस, गणपति स्वामी, मुरलीधर व्यास, मैथिली में श्रीराम इकबाल सिंह, भोजपुरी में उदय नारायण तिवारी, गणेश चौबे,उड़िया में कामेश्वर विद्याभूषण, नन्दशर्मा, नीलमणि विद्यारत्न, मुंशी शेखअब्दुल मजीद, चन्द्रशेखर बहिनीपति, राघवानन्द दास, गोपालचंद प्रहराज, लक्ष्मीनारायण साहू, चक्रधर महापात्र और कुंजबिहारी दास आदि ने लोकगीतों पर कार्य विषयक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

उड़िया लोकगीतों के संबंध में भी श्री सत्यार्थी जी की सेवाएँ अविस्मरणीय रही है। उन्हें से प्रेरणा पाकर चक्रधर महापात्र ने 'गांवों मी गीत' नामक उड़िया लोकगीतों पर एक महत्वपूर्ण पुस्तक संपादित की है। किन्तु इस विषय में सबसे महत्वपूर्ण कार्य कुंजबिहारी दास ने किया है। उनका शोध प्रबंध इसी विषय पर है। उड़िया लोकगीतों पर इनका ग्रंथ 'पलीगीति संचयन' संभवतः भारत की तमाम भाषाओं व बोलियों के गीतों पर सबसे विशद ग्रंथ। आगे चलें।

कश्मीरी लोकगीतों पर गूर मुहम्मद 'रोशन', मोतीलाल 'साक़ी' नाज़ी मुनव्वर, पुस्करभान, अख्तर मुहीउद्दीन, गुलाम नबी नाज़िर, बशीर भद्रवाही, टाकजीनागरी, मुहम्मद अंहसन 'अहसन' आदि ने सराहनीय कार्य किया है।

गुजरात में झवेरचंद ने, राजस्थान में सूर्यकिरण पारीक ने गीतों का गहन अध्ययन कर बड़ी मेहनत से संकलन भी किया है। मराठी लोकगीतों को साने गुरुजी और कुमार दुर्गाभागवत ने संपादित किया है। इसी तरह राम-नरेश त्रिपाठी, राम इकबाल सिंह 'राकेश' कृष्णदेव उपाध्याय, रामनारायण उपाध्याय, श्याम परमार, श्यामचरण दुबे और चन्द्रभान शर्मा ने क्रमशः अवधी, मैथिली, भोजपुरी, निमाड़ी, मालवी, छत्तीसगढ़ी और बुंदेलखंडी लोकगीतों पर अच्छा कार्य किया है। भोजपुरी लोकगीतों के संदर्भ में डॉ.राजेश्वरी शांडिल्य का नाम भी उल्लेखनीय है। बिहार के लोकगीतों के लिए गणेश चौबे मशहूर हैं।

कन्नड़ देश के कुछ गीतों को जमा करने के बाद राहुल सांकृत्यायन ने अपनी कृति 'आदि हिन्दी की कहानियाँ और लोकगीत' में मुजफ्फ़र नगर (उत्तरप्रदेश) के गीत भी पेश किये हैं। बंगाल में मन्सूरुद्दीन और जसीमुद्दीन ने, आसाम में पद्मधर चिल्हा, उड़िया में लक्ष्मीनारायण साहू। आंध्र में एन.गंगाधर्म

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

और तमिलनाडु में बी.जगन्नाथ ने लोकगीतों पर बहुत काम किया है। उत्तरप्रदेश में अज़हरअली फ़ारुकी तथा हरियाणा में देवीशंकर प्रभाकर ने भी लोकगीतों पर प्रशंसा योग्य कार्य किया है। इसके अलावा आज़म करेवी, बिस्मिल्लाह बेग़म, जफ़रअदीब आदि ने भी लोकगीतों पर विभिन्न दृष्टिकोणों से रोशनी डाली है।

अब ऐसे लेखकों के नाम यहाँ दर्ज करना अनुचित नहीं होगा, जिन्होंने गंभीर लेखों के रुप में लोक गीतों पर काम किया है। वे भाषाएँ व लेखक हैं, डॉ.भूपेन्द्रराय चौधरी (असमिया), डॉ. सुधाँशु कुमार नायक (उड़िया), डॉ. शाहिना तबस्सुम (उर्दू), डॉ. टी.जी.प्रभाशंकर 'प्रेमी' (कन्नड़), चन्द्रकांता (कश्मीरी), मनुजा जोशी (कोंकणी), डॉ. कृष्णा गोस्वामी (गुजराती), डॉ. एन.सुन्दरम (तमिल), डॉ.भीमसेन निर्मल व डॉ.एन.वी.एस.प्रसाद (तेलुगु), बलवीर माधोपुरी (पंजाबी), डॉ. देवजानी सेन (बंगला), डॉ.जयमल सिंह (मणिपुरी), डॉ. पदमजा घोरपड़े (मराठी), डॉ.एस.तंकमणि अम्मा (मलयालम), डॉ.रश्मि रमानी (सिंधी) और डॉ.हरमहेन्द्र सिंह (पंजाबी)।

जिन संस्थाओं ने बहुत पहले से लोकगीतों के संकलन, संपादन और प्रकाशन का काम शुरु कर दिया था, उनमें सबसे पहला नाम है, 'अंजुमन तरक़्क़ी पसंद मुसन्निफ़ीन' का। उस संस्था ने सन् 1936 ई.से विभिन्न भाषाओं तथा बोलियों के लोकगीतों को आधुनिक शैली का रंग देकर प्रस्तुत करना शुरु किया था, मगर वह सिलसिला अधिक समय तक ज़ारी नहीं रह पाया, इसके बाद जो संस्था सबसे अधिक उल्लेखनीय रही, वह है-कलकत्ता युनिवर्सिटी। वहां डॉ.दिनेशनंद सेन ने लोकगीतों के कई संकलन प्रकाशित कराये। बम्बई युनिवर्सिटी के डॉ.गोविंद सदाशिव घोरे ने अपने छात्रों के द्वारा सामाजिक दृष्टिकोण से लोकगीतों के संकल्प छपवाए। लखनऊ युनिवर्सिटी के डॉ.धीरेन्द्र नाथ मजुमदार की निगरानी में एक नवीन दृष्टिकोण से लोकगीतों पर कार्य हुआ है। लखनऊ में 'लोक संस्कृति सभा' की स्थापना का श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त है। यह संस्था लोक साहित्य पर भी अच्छा कार्य कर रही है। आजकल जो संस्था न केवल लोकगीत बल्कि लोक संस्कृति, लोक साहित्य, लोकनृत्य आदि सभी लोक विषयक विधाओं पर बहुत अच्छा कार्य कर रही है, वह है -'रावत नाच महोत्सव समिति, बिलासपुर (छ.ग.)। यह संस्था अधिकारी विद्वानों से इन विषयों पर गंभीर और विस्तृत लेख तैयार करके 'मड़ई' नामक भारी-भरकम वार्षिक पत्रिका में प्रकाशित करती है और ऐसी संग्रहणीय तथा महत्वपूर्ण पत्रिका निःशुल्क वितरण करती है।

किन्तु कोई भी संस्था इतनी अधिक संख्या में लोकगीतों का संकलन नहीं कर सकी, जितना अकेले श्री देवेन्द्रनाथ सत्यार्थी जी ने कर दिया है। 'धरती गाती है' 'धीरे बहो गंगा' 'बेला फूले आधीरात' 'गाए जा हिन्दुस्तान' और 'जय लोग' उनके द्वारा गाये लोकगीतों के संकलन हैं। उनके द्वारा एकत्रित लोकगीतों की कुल संख्या लगभग तीन लाख है।

रमेश तैलंग ने एकदम सही लिखा है, कि -'लोक साहित्य के अन्वेषण में सत्यार्थी जी की देन न' भूतो न भविष्यति' की तरह है। सत्यार्थी जी के मौलिक सृजन तथा लोक साहित्य के अन्वेषण, संपादनों एवं प्रकाशनों की तो एक लम्बी सूची है। उनका जीवन और व्यक्तित्व भी एक चलता-फिरता, जीता जागता इतिहास है। लोक साहित्य के सच्चे उद्धारकर्ता और लोकगीतों के संकलन, संचयन को निष्ठापूर्वक समर्पित सत्यार्थी का कार्य अद्वितीय है, पर यह उनकी विनम्रता है, कि वे उन लोगों का बहुत ही कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते हैं, जो किसी न किसी रुप में उनके प्रेरक अथवा मार्गदर्शक एवं शुभचिंतक रहे हैं। ऐसे लोगों में गुजराती के मूर्धन्य साहित्यकार झबेरचंद मेघाणी, ग्राम साहित्य के विख्यात अनुसंधानक एवं लेखक रामनरेश त्रिपाठी, सूर्य किरण पारीख, श्री ठाकुर राम सिंह, नरोत्तम स्वामी, राम इक़बालसिंह 'राकेश' कृष्णदेव उपाध्याय, श्यामचरण दुबे और बासुदेवशरण अग्रवाल शामिल हैं।

जिन्होनं लोकगीत सुने हों, सुनकर जिनका दिल धड़कता हो, रोया हो, हंसा हो, जिनका रोम-रोम उनमें रमा हो। जो लोकगीतों के उन्मादी प्रेम के कारण उनके विरह में उन्हें पाने के लिए दर-दर भटके हों और यहाँ-वहाँ से कन-कन बीनने, जोड़ने की दीवानगी उन्हें रास आई हो वास्तव में तो लोकगीतों पर उन्हें ही कार्य करना चाहिये। करते भी ऐसे ही दीवानें हैं वर्ना एक पुस्तक या अखबारी लेखों की चार कतरनें सामने रखकर एक मामूली लेख कौन नहीं लिख सकता। बस्ती-बस्ती भटकने के लम्बे-लम्बे संस्मरण श्री सत्यार्थी जी ने अपनी पुस्तक'धरती गाती है' में पेश किये हैं। मुंह का स्वाद बदलने के लिए मैं यहां तो संस्मरण प्रस्तुत कर रहा हूँ।

श्री रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा है- 'मैं जौनपुर से प्रयाग आ रहा था। स्टेशन पर कुछ स्त्रियाँ, जो संभवतः अहीर या छोटी जाति की थीं, कुछ मर्दों को स्टेशन पर पहुंचाई आई थीं, जो कलकत्ता जा रहे थे। स्त्रियों को रोती हुई छोड़कर ट्रेन चल दी। परदेसियों की स्त्रियों ने गाना शुरु कर दिया। एक ही कड़ी मुझे याद है- 'रेलिया सवति मोर पिया लेके भागी।' रेल की तुलना सौत से होती सुनकर मैं चौंक पड़ा। मुझे गीत रचने वाली की सरसता बड़ी मधुर जान पड़ी। बसी इसी घटना के बाद से मैं ग्राम गीतों के संग्रह की ओर आकर्षित हुआ।'

प्रणम्य बाबा राहुल सांस्कृत्यायंन जिन दिनों हिमांचल प्रदेश के किन्नौर क्षेत्र में प्रवास पर थे तो, यद्यपि वे अन्य कार्यों में व्यस्त थे, जैसे-तैसे समय निकालकर उन्होंने वहां के स्थानीय लोक गायक-गायिकाओं से सम्पर्क कर बहुत से

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लोकगीत सुने। फिर उन्हें हिन्दी में लिपिबद्ध कर उसका हिन्दी अनुवाद भी किया। गीतों के रचनाकार व रचनाकाल तक की खोज की। कई-कई पृष्ठों में एक-एक समाए ऐसे लम्बे-लम्बे गीत उन्होंने अपने यात्रा वृतांत 'किन्नर देश' में प्रस्तुत किये हैं।

लोक संस्कृति की दीवानी, विदुषी लेखिका डॉ. मालती शर्मा ने अपनी पुस्तक 'ब्याहुलों की लोक परम्परा और महादेव का ब्याह' के लिए लगभग 30-35 वर्ष तक कन-कन जोरी सामग्री जमा की। जाने कहाँ-कहाँ के जोगियों, भोपों, लोक गायकों के पीछे पड़कर, घर-परिवार की बड़ी-बूढ़ियों से सुन-सुनकर गीत लिपिबद्ध किये, रिकॉर्ड किये। तब वह पुस्तक तैयार हुई। कहना यही चाहता हूं, कि लोकगीतों पर वास्तव में कुछ ठोस और महत्वपूर्ण कार्य न तो लायब्रेरियों के बूते पर हो सकता है न ड्राइंग रुम की शीतलता में बैठकर हो सकता है। इसके लिए तो भटकने की तपस्या करनी ही पड़ती है।

लोकगीतों पर शोधकार्य के लिए एक उर्दू विद्वान और शाइर का नाम भी उल्लेखनीय है। ये हैं-स्व.जावेद वशिष्ठ। उन्होंने 'उर्दू में गीतों का सरमाया' विषय पर इसी नाम से शोध प्रबंध प्रस्तुत किया। जिन दिनों वे हरियाणा के जिला फ़रीदाबाद और पलवल में लोकगीतों की खोज में यायावरी कर रहे थे, उन दिनों का एक सरस संस्मरण भी उन्होंने अपनी पुस्तक 'हरियानवी ब्रज के मेघ मल्हार' की भूमिका में टांक दिया है। जो उन्हीं के शब्दों में यों है :-

एक गांव में बड़ा दिलचस्प वाक़या पेश आया। इत्तिफाक से जिस ब्रज नार के द्वारे में गीत की भिक्षा लेने गया, वह गांव की 'ग्राम सुन्दरी' भी थी और गीतकार भी। लेकिन अपना यह आलम था-

तुझको देखूं कि तेरे गीत लिखूँ।

बड़ी देर तक वह लजती रही। आख़िर इस शर्त पर गीत लिखाने पर आमदा हुई कि मैं उसकी तरफ पीठ करके बैठूं यानी वह गाती रहे, मैं लिखता रहूँ। जैसे ही मैं मुड़कर देखता, गीत की तान टूटजाती। आख़िर मुझे यह इकरार करना पड़ा:-

हम तो जोगी प्रेम के, नगरों-नगरों घूमे हैं,
तुम-सा लेकिन एक न देखा
देखे हैं दिलदार बहुत

जब उसे मालूम हुआ कि मैं भी शाइर हूँ, तो उसने फ़ौरन मेरा इम्तिहान लेने की ठान ली। मेरी नोटबुक मुझसे ले ली और एक दर्द भरा बिरहा का गीत सुनाया। टीप का तोड़ा था- 'मरुँ कि जियूं रे।' बस इसी तरह का मिस्र यानी समस्या पूर्ति की पंक्ति ठहरी। दूसरे दिन इस पर गीत लिख लाने की फ़रमाइश और साथ ही, यह चेतावनी भी कि अगर गीत नहीं लिख़ा तो कल ही गांव छोड़ना पड़ेगा। इस तरह उसने गीत रचने पर उकसाया। आख़िर दूसरे दिन जाकर उसे गीत सुनाया।'

डॉक्टर साहब ने गीतों की रचयिता गायिका उक्त ग्राम सुन्दरी का नाम तो स्पष्ट नहीं किया। फिर भी उन्होंने जिन स्त्रियों से सुन-सुनकर गीत लिपिबद्ध कर अपनी पुस्तक में दिये हैं, उन्हीं के नामों में एक उस सुन्दरी का नाम भी होगा। डॉक्टर साहब ने तो गीत रचकर उसे सुनाया था, वह पुस्तक में पूरा दिया है। गीत चूंकि काफ़ी बड़ा है, पूरा तो उद्घृत करना संभव नहीं। उसके आरंभिक अंश का रसास्वादन कर संतोष कर लीजिये। जो इस प्रकार है :-

टूटे शीशमहल सपनों के, टूटी गीत की तान
रुठ गयी मन के होठों से, जीवन की मुस्कान
हर चेहरा अनजान! मरुँ कि जियूँ रे?
सूनी सेज, सुलगती धरती और भरी बरसात,
नींद कहाँ जो सपने देखूँ, सपना माँगे रात।
रात परायी बात! मरुँ कि जियूं रे ?

बहरहाल 'हरि अनंत, हरि कथा अनन्ता' की भाँति लोकगीत और उन पर लिखने की कोई सीमा नहीं हो सकती। इसलिए इस लेख पर यहीं विराम लगाना कुछ अनुचित नहीं होगा।

□□□

10 राज होटल,
पुल चमेली,
अम्बाला छावनी-133001 (हरियाणा)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

नज़ीर अकबराबादी की कविता में लोकतत्व

डॉ. सुधेश

नज़ीर अकबराबादी का असली नाम वली मुहम्मद था और नज़ीर उनका उपनाम था। अकबराबाद अर्थात आगरा में लम्बे समय तक रहने के कारण वे अकबराबादी हो गये, पर उन का जन्म दिल्ली में हुआ था। आसी लखनवी द्वारा सम्पादित 'कुल्लियाते नज़ीर' में उनका जन्म वर्ष सन् 1735 ई. लिखा गया है। प्रो. शहबाज द्वारा लिखित नज़ीर की जीवनी 'ज़िन्दगानी-ए-बेनजीर'[1] में भी उनका जन्म सन् 1735 ई. में होना बताया गया है। नज़ीर के पुत्र ख़लीफ़ा गुलज़ार अली 'असीर' जो स्वयं एक शायर थे, अपने एक कतअ में उनकी मृत्यु का वर्ष सन् 1830 ई. लिखते हैं। इस प्रकार नज़ीर ने 95 वर्ष की लम्बी उम्र पाई। 22-23 वर्ष की आयु में वे दिल्ली छोड़कर अपनी मां और नानी के साथ आगरा चले गये और फिर वहीं के हो गये। वे ऐसे आगरा के हुए कि आगरा पर कई नज्में लिख डालीं, जिनमें 'मदाह-ए-अकबराबाद' 'रोज़ा-ए-ताजगंज' और 'शहर आशोब' उल्लेखनीय हैं। 'शहर आशोब' तो आगरा की बदहाली पर लिखा गया शोकगीत ही है। शोक गीत को उर्दू में मर्सिया कहते हैं। 'शहर आशोब' में मर्सिया की शैली नहीं अपनाई गई है।

नज़ीर की कविता में लोकतत्व या अवामी अनासिर की चर्चा से पहले उनकी कविता पुस्तकों की बात कर ली जाए। नज़ीर ने 95 वर्षों की उम्र पाई पर उन के जीवनकाल में उन का कोई दीवान नहीं छप सका। वे किसी दरबार की शोभा नहीं थे, बल्कि एक सच्चे जनकवि थे। उन का सबसे पहला काव्य-संग्रह 'कुल्लियाते नज़ीर' नाम से उन के हिन्दू शिष्यों ने उनकी मृत्यु के बाद मेरठ से छपवाया था। उनमें राजा बिलास राय के बेटे हरबख्श राय, गुरु बख्श राय, मूलचन्द राय, बनसुख राय, बंसीधर और शंकरदास शामिल थे, जिन्होंने मतबा-ए-इलाही, कम्बोह दरवाज़ा, मेरठ से नज़ीर का पहला संग्रह छपा था। इसका दूसरा संस्करण भी मेरठ से छापा और तीसरा संस्करण नवलकिशोर प्रेस, कानपुर से सन् 1880 में छपा। मैंने जिस 'कुल्लियाते नजीर' का अध्ययन किया वह अज़हर राही के सम्पादन में रामनारायण लाल ने सन् 1976 में इलाहाबाद से छापी थी।

''कुल्लियात'' शीर्षक से लगता है कि उसमें नज़ीर की सब रचनाएं होंगी, पर ऐसा नहीं है। इस के अतिरिक्त उन के तीन दीवान और थे, दो उर्दू में और एक फारसी में। इनके दो उर्दू दीवान अंजुमन तरक्क़ी-ए-उर्दू द्वारा सन् 1942 ई. में छापे गये थे, पर उनका फ़ारसी दीवान शायद अब तक अप्रकाशित है। नज़ीर की 'कुल्लियात' और उन के तीन दीवानों के आधार पर वे उर्दू के बड़े शायर ठहरते हैं, यद्यपि अठारहवीं शताब्दी में उनकी उपेक्षा की गई। 19वीं शताब्दी की कुछ पत्रिकाओं के सम्पादकों ने उनकी अवामी शायरी को देखते हुए उन्हें मुस्तनद शायर ही नहीं माना। इस उपेक्षा का एक कारण यह भी हो सकता है कि उनकी रचनाएं लम्बे समय तक अप्रकाशित रहीं। दूसरा कारण यह है कि वे उर्दू शायरी के प्रचलित दबिस्तानों (अर्थात काव्य धाराओं) से अलग-थलग एक लोककाव्य धारा के कवि थे। उर्दू कविता के अध्येता जानते हैं कि उर्दू शायरी का एक गढ़ दिल्ली था और दूसरा लखनऊ। दिल्ली की शायरी दाखली अर्थात भावना प्रधान या भावव्यंजक अधिक थी और लखनऊ की शायरी 'खारिजी' अर्थात अभिव्यंजना शिल्प प्रधान अधिक थी। लखनऊ के शायर 'भाषा' की शुद्धता और कविता के कलापक्ष पर ज़्यादा जोर देते थे, जबकि दिल्ली के शायर हृदय के उद्गारों और जीवन के यथार्थ की व्यंजना को अधिक महत्व देते थे। यही कारण है कि उर्दू काव्य भाषा में से संस्कृत तथा लोकभाषा के शब्दों को बाहर निकालने अर्थात 'मतरुकात' का जो आन्दोलन चला, उसका गढ़ लखनऊ था और उसके नेता 'आतिश' और 'नासिख' थे। नज़ीर कविता के इन दोनों गढ़ों (या दबिस्तानों) से अलग थे। वे जनता के शायर थे, जनकवि थे। यही कारण है कि उर्दू के प्रारंभिक तज़करों में नज़ीर की चर्चा नहीं मिलती जबकि गार्सा द तासी जैसे विदेशी इतिहासकारों ने उनका उल्लेख किया है। नज़ीर के शिष्य

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

बातिन ने अपने तजकरे में बड़े विस्तार से नज़ीर का मूल्यांकन किया है। उर्दू आलोचकों का ध्यान नज़ीर की तरफ आकर्षित कराने में बातिन की विशेष भूमिका रही। पर वास्तविकता यह है कि नजीर जैसे सच्चे कवि की उपेक्षा हमेशा के लिए नहीं की जा सकती थी। बाद में उन पर बहुत से ग्रन्थ लिखे गये और लिखे जा रहे हैं।

नज़ीर की कविता लोकतत्व से भरपूर है। इस पर विचार करने के लिए सबसे पहले हमारा ध्यान उनकी कविता के विविध विषयों की ओर जाता है। जिस युग में शायरी का प्रधान विषय हुस्नोइश्क का बयान और भाषागत चमत्कार के प्रदर्शन के साथ कल्पना की ऊंची उड़ान दिखाना था, वहां सामान्य जनजीवन से जुड़े विषयों को कविता का आधार बनाना एक बड़ी चुनौती थी। नज़ीर के समकालीन हिन्दी कवि प्रायः श्रृंगार के श्लील–अश्लील वर्णन, तथा संस्कृत काव्यरीतियों का हिन्दी में अनुवाद करने में लगे थे और उनके समकालीन उर्दू कवि ग़ज़ल के माध्यम से भाषागत चमत्कार की नुमाइश और हुस्नोइश्क़ की गहराइयों में डूबे थे। इसके विपरीत नजीर अनेक धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक विषयों पर नज्में लिख रहे थे। नज़ीर का युग उर्दू शायरी में ग़ज़ल का युग था, पर उन्होंने ग़ज़ल के साथ नज्म के काव्यरुप को अपनाया। यदि धार्मिक विषयों को लें तो 'कुल्लियाते नज़ीर' में ख़ुदा की तारीफ के साथ हज़रत मुहम्मद, हज़रत अली, हज़रत अब्बास बिन अली, सूफी गंजबख्श, सलीम चिश्ती पर नज्में हैं और श्रीकृष्ण, महादेव, गुरुनानक पर भी कई लम्बी नज़्में हैं। कन्हैया जी का जन्म, बालपन बांसरी बजैया, कन्हैयाजी की बाँसुरी, कन्हैया जी का रास शीर्षक नज्में पढ़ते हुए मुझे हिन्दी कवि सूरदास की याद हो आई। हिन्दी में कृष्ण की बाल लीलाओं पर बहुत लिखा गया है, पर उर्दू में नज़ीर ने कृष्ण विषयक जो नज्में लिखी, उन में वे एक कृष्णभक्त कवि नज़र आते हैं। 'महादेवजी का ब्याह' उनकी एक लम्बी नज़्म हैं, जिसमें शिव भक्ति के साथ हिन्दू समाज में फैले लोक विश्वासों, मिथकों की जीवन्त झांकी प्रस्तुत हुई है।

सामाजिक विषयों में आम आदमी की ग़रीबी, सामाजिक शोषण, पैसे के महत्व, मंहगाई, बेरोजगारी आदि पर नज़ीर की ढेर सारी नज़्में हैं। इस प्रसंग में 'आदमी नामा' 'आटे दाल का भाव' 'रोटियां', 'चपाती', 'शहरआशोब', 'क्लजुग', 'तमाशागाह–ए–आलम' शीर्षक नज़्में विशेष महत्वपूर्ण हैं। 'आदमीनामा' की ये पंक्तियां देखिये–

यां आदमी को जान पै वारे है आदमी,
और आदमी पै तेग़ को मारे है आदमी,
पगड़ी भी आदमी की उतारे हैं आदमी
चिल्ला के आदमी को पुकारे है आदमी,
और सुनके दौड़ता है सो है वह भी आदमी। (1)

अनेक नीतिपरक कविताएँ भी नज़ीर ने लिखी हैं, जिनमें 'कनाअत', 'सख़ावत' 'बेसबाती दुनिया' और 'पैसा,'रुपया', 'ज़र' आदि नज़्में उल्लेखनीय हैं। ये कोरी उपदेशात्मक कविताएं नहीं हैं, बल्कि उदात्त जीवन मूल्यों की वकालत करने वाली श्रेष्ठ कविताएं हैं।

सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक विषयों पर भी नज़ीर ने खुलकर लिखा है। ईद, शब बरात पर जहां उनकी नज्में हैं वहाँ होली, दिवाली, रक्षाबंधन, मेलों पर भी उनकी क़लम चली है। 'कुल्लियाते नज़ीर' में होली पर उनकी ग्यारह नज़्में हैं और दीवाली पर भी लम्बी नज़्म है। 'बलदेव जी का मेला' में उन्होंने कृष्ण के अग्रज बलदेव की स्मृति में लगने वाले मेले का जीता जागता चित्र प्रस्तुत कर दिया है, जिसमें लोकजीवन का मार्मिक चित्रण है। उसकी ये पंक्तियां देखिये।

कोई आकर बहाने और मिस से
मिल रहा है मिला है दिल जिससे,
होते हैं आ मिलाप जिस तिससे
लड़ रहा है कोई कहीं रिस से
कुहनी बाजू में लग रहे घिस्से
और धकापेल और घुमाघिस्से। (पृ. 242)

'मिस', 'रिस', 'जिसतिस', 'घिस्से', 'घमाघिस्से' जैसी लोक शब्दावली के इस्तेमाल से इस नज्म में अवामी ज़िन्दगी का रंग गहरा हो चला है। बलदेवजी का मेला नज़ीर के लिए ऐसा सांस्कृतिक एवं सामाजिक उत्सव है, जिसमें हिन्दू, मुसलमान, सिख, किसान, मज़दूर, छोटे बड़े, मर्द, औरतें, बच्चे सबके लए आकर्षण है। इसे कवि ने भारतीय संस्कृति के दर्पण के रुप में पेश किया है।

विभिन्न मौसमों, फलों, जानवरों, पक्षियों पर लिखी नज्में तो अवामी ज़िन्दगी की ज़िन्दा तस्वीरें हैं। बहार, 'चांदनी', 'अंधेरी', 'तरबूज', 'ककड़ी', 'हंस', 'कबूतर', 'बुलबुल', 'गिलहरी का बच्चा', 'हिरन', 'रीछ का बच्चा', 'अजदहा' शीर्षक नज़्में इस बात का सबूत हैं कि जनजीवन की कितनी गहरी पहचान नज़ीर को थी। आगरे की ककड़ियों के बारे में उन्होंने लिखा है–

क्या प्यारी प्यारी मीठी और पतली पतलियां है,

 CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

गन्ने की पौरियां है रेशम की तकलियां हैं,
फ़रहाद की निगाहें शीरीं की हँसलियां है,
मजनूं की सर्द आहें लैला की उंगलियां हैं।
क्या ख़ूब नर्मों नाजुक इस आगरे की ककड़ी
और जिसमें ख़ास काफ़िर इसकन्दरे की ककड़ी।
(पृ. 311)

यद्यपि 'कुल्लियाते नज़ीर', में 'विसालेयार' शीर्षक़ से दो नज़्में हैं और 'दिलवरी', 'शौक़ेदीद', 'गिला', 'फिराक़', 'सोजे फिराक़', और 'दीदबाज़ी', शीर्षक नज़्में हैं, जिन में कविता के परम्परागत विषयों प्रेम और सौन्दर्य का खुला पर शिष्ट वर्णन है, तथापि अन्य विषयों पर नज़्मों की संख्या अधिक है इस आधार पर कहा जा सकता है कि नज़ीर मुख्यत: नज़्म के शायर थे, और ग़ज़ल के दौर में उनका आवामी नज्में लिखना लीक से हटकर चलने के बराबर था। पर इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि नज़ीर ग़ज़ल के भी उस्ताद थे। 'कुल्लियाते नज़ीर' में उनकी 52 ग़ज़लें हैं, जो रदीफ़ 'अलिफ़' से लेकर रदीफ़ 'हे' तथा 'ये' पर आध्र है। एक मुश्किल रदीफ़ 'ड़े' पर भी उनकी एक ग़जल है। उस का एक शेर है –

रुक रुक के अश्क चश्म के लाया है अनक़रीब,
ऐ गुन्चा–ए–लब तू अब न दिल–ए–मुब्तला को छेड़। (पृ. 460)।

मैं समझता हूं कि बड़ा शायर सिर्फ एक विधा तक सीमित नहीं हो जाता। वह अनेक काव्य विधाओं में अपने काव्य कौशल का परिचय देता है। नज़ीर ऐसे ही शायर थे, जिन्होंने नज़्में अधिक लिखीं, पर ग़ज़ल की विधा तथा खमसा, मुसद्दस, मुस्तजाद और वासोख़्त आदि छन्दों में भी शायरी की। 'कुल्लियात' में उनकी फारसी की दो वासोख़्त भी शामिल है।

नज़ीर की कविता में लोकतत्व की मुख्यता का प्रमाण उनके विविध विषयों तक सीमित नहीं है, जिस की चर्चा मैं पहले कर चुका हूं, बल्कि उनकी भाषा, काव्यरुप अलंकारों और छन्दात्मक प्रयोगों में भी लोकतत्व भरा पड़ा है। पहले उनकी भाषा पर विचार किया जाए। नज़ीर आगरा में रहते थे, जोकि ब्रजभाषा का क्षेत्र है, पर वे खड़ी बोली के शायर थे। 17 वीं और 18 वीं शताब्दी के कवि जो खड़ी बोली लिखते थे, उसमें ब्रजभाषा, अवधी, फारसी और संस्कृत के शब्दों की ख़ूब मिलावट होती थी। दकनी में भी ब्रजभाषा और तेलगु की मिलावट थी। यह मिलीजुली भाषा हिन्दू और मुसलमान दोनों कवियों की होती थी। यह जितनी हिन्दी थी, उतनी उर्दू थी। इस मिलीजुली भाषा को अनेक नामों से पुकारा गया जैसे 'भाखा', 'हिन्दी', रेख़्ता, उर्दू, हिन्दुस्तानी। सन् 1800 में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना के बाद जॉन गिलक्रिस्ट के नेतृत्व में एक भाषा को हिन्दी और उर्दू के रुप में बाँटने का बीड़ा उठाया गया, पर उसके पहले एक मिलीजुली भाषा की जो परंपरा थी, नज़ीर अकबराबादी की भाषा का उस परम्परा से सम्बन्ध है। इस मिलीजुली भाषा परम्परा की जड़ें विभिन्नि धर्मों, जातियों से जुड़े लोगों के एक जैसा जीवन जीने के तरीक़ों, एक जैसी मुश्किलों को झेलने के संयुक्त संघर्ष और एक जैसी आकांक्षाओं में थी। व्यापक जनजीवन में यह संघर्ष और ये आकांक्षाएं प्रकट होती थीं। कह सकता हूँ कि इस मिली जुली भाषा परम्परा की जड़ें लोकजीवन में छिपी थीं। लोकजीवन से नज़ीर का गहरा रिश्ता था। तब वे अपनी शायरी में उसी मिलीजुली अवामी ज़बान को ही अपना सकते थे, जो लोकजीवन के निकट थी। इसी संदर्भ में उनकी काव्यभाषा पर विचार किया जा सकता है।

नज़ीर की भाषा बोलचाल की खड़ी बोली, उर्दू–ए–मुअल्ला (अर्थात लालक़िले के भीतर दरबारियों की ज़बान) नहीं है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि उनकी भाषा अभिजात वर्ग की भाषा नहीं है, बल्कि जनता के बीच प्रचलित मिलीजुली और बोलचाल की भाषा उसमें प्रचलित संस्कृत, फारसी शब्दों के साथ लोक भाषा के अनेक शब्द, अनेक लोकोक्तियां आदि मौजूद हैं। उनकी नज्म 'बालपन बांसरी बजैया' की ये पंक्तियां है –

सब मिल के यारों किशन मुरारी की बोलो जय,
गोविंद का छैला कुंज बिहारी की बोलो जय,
दूधचोर कुमारी नाथ बिहारी की बोलो जय,
तुम भी नजीर किशन बिहारी की बोलो जय। (पृ.67)

कृष्ण की बांसुरी के बारे में कवि लिखता है :–

जिस आन कान्ह जी की वो बंसी बजावनी
जिस कान में वो आई वां सुध भुलावनी । (पृ.73)

ऐसा लगता है कि यह भक्ति काल के किसी कृष्णभक्त की वाणी है। ऐसी अनेक पंक्तियां उनकी शायरी में बिखरी पड़ी हैं।

नज़ीर की काव्यभाषा में उर्दू फारसी शब्दों के बीच तद्भव, देशज शब्दों, लोक शब्दावली का कलात्मक प्रयोग अनेक स्थलों पर देखा जा सकता है। ऐसे प्रयोग उनकी कविता को लोकजीवन से जोड़ देते हैं। 'कलयुग' नज़्म का यह अंश देखिये –

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

शोख़ी, शरारत मक्र–ओ–फ़न सबका बिसेखा है यहां,
जो जो दिखाया और को वो आप भी देखा है यहां,
खोटी खरी जो कुछ कि है तिस का परेखा है यहां,
जो जो पड़ा तुलता है दिल तिल तिल का लेखा है यहां। (पृ. 131)

बिसेखा, तिस का परेखा, तिल तिल का लेखा ऐसे ही शब्द है। 'कन्हैया जी का रास' नज़्म में एक शेर में 'आसमां तईं' प्रयोग आया है, जिस का अर्थ है 'आसमां तक'। 'बालपन बांसरी बजैया' में एक पंक्ति है– 'मालिक थे वो तो आपी उन्हें बालपन से क्या।' यहां 'आपी' आपही या स्वयं के लिए आया है। इस नज़्म में और दूसरी कई नज्मों में 'आपी' का प्रयोग मिलता है। इसी नज्म में 'चलने लागे' भी आया है, चलने लगे नहीं। ऐसे शब्दों की सूची बनाई जाए तो वह काफी लम्बी होगी।

मैंने नज़ीर की कविता में प्रयुक्त लोक शब्दावली की सूची बनानी शुरु की तो वह द्रौपदी के चीर की तरह लम्बी होती गई। जैसे दु:शासन ने हार कर द्रौपदी का चीर छोड़ दिया था, वैसे ही मैंने उस सूची का पीछा छोड़ दिया। पर कुछ रोचक शब्दों का उल्लेख मैं उदाहरण सहित करना चाहता हूँ। होली पर लिखित एक नज़्म की चार पंक्तियों में नज़ीर ने छक्कड़, फक्कड़, कक्कड़ और लत्थड़ पत्थड़ शब्दों का कलात्मक प्रयोग किया है। बोलने पर ये लफ्ज बड़े सख़्त और काव्यभाषा के प्रतिकूल लगेंगे पर नजीर का कमाल यह है कि उन्होंने मौजमस्ती के बयान के लिए इन सख्त, रुखे शब्दों का प्रयोग किया है। वे पंक्तियां यों हैं–

यह धूम मची हो होली की और ऐश मज़े का छक्कड़ हो,
उस खींचा खींच घसीटी और भड़वे रण्डी का फक्कड़ हो,
माजून शराबें नाच मजा और टिकिया सुल्फा कक्कड़ हो,
लड़भिड़ के नज़ीर फिर निकला हो कीचड़ में 'लत्थड़ पत्थड़ हो,
जब ऐसे ऐश झमकते हों तब देख बहारें होली की। (पृ. 231)

बलदेव जी का मेला 'नज़्म में मेले का जीवन्त दृश्य और प्रेम के मार्मिक प्रसंग इन चार शेरों में यों प्रस्तुत किये गये हैं –

नाच और राग के खड़ाके हैं,
घुँघरु और ताल के झनाके हैं,
नक़लें क़िस्से कहानी साके हैं,
खण्ड, दुहरे कवित कथा के हैं,
कहीं आगोश के लपाके हैं,
कहीं बोसों के सौ छपाके हैं
थरथरी दाँत पर कड़ाके हैं
तिस पै जाड़े के सौ झड़ाके हैं। (पृ. 242)

खड़ाके, झनाके, साके,लपाके, कड़ाके, झड़ाके जैसे शब्द किसी शब्दकोष में नहीं मिलेंगे। इन के लिए भाषा वैज्ञानिकों को नया शब्दकोष तैयार करना पड़ेगा। लपक कर किसी को आगोश में लेने की बेताबी को कवि ने 'लपाके' शब्द से प्रकट किया है। इसी तरह 'छपाके' का भी सूक्ष्म अर्थ है। आशिक किसी का बोसा लेने पर उतारु होता है तो सौ से कम नहीं मानता। ऐसे में गाल पर छापे गये निशान 'छपाके' नहीं कहलाएंगे तो उन्हें क्या कहा जाएगा? नजीर ने शब्द तो मामूली इस्तेमाल किये हैं पर उनके अर्थ ग़ैर मामूली हैं। भारी भरकम शब्दों में अर्थ अक्सर ओझल या सूक्ष्म हो जाता है, पर उर्दू आलोचक शब्दों की ऐसी जादूगरी को 'इबहाम' अलंकार का नाम देते हैं। नज़ीर को शब्दों की ऐसी कीमियागिरी आती थी कि जंग खाये लोहे जैसे शब्द को सोना बना देती थी। इस कीमियागिरी का राज उनकी अवामियत या जनवादिता में है।

लोकभाषा का प्रयोग नज़ीर की नज़्मों में ही नहीं गजलों में भी मिलता है। आजकल भी बहुत से उर्दू शायर और हिंदी कवि ग़जलें लिख रहे हैं, और पक्के इरादे मगर किसी तैयारी के बिना गजलें लिख रहे हैं। बहुत से ऐसे हैं जो आज के जनतांत्रिक युग में अपनी ग़ज़लों में आसमानी जबान का इस्तैमाल करना जरुरी समझते हैं। पुराने जमाने के उर्दू शायर ग़ज़ल में अक्सर माशूक़ से बातें किया करते थे। आजकल हिन्दी, उर्दू के अनेक शायर अपनी ग़ज़लों में खुदा से बातें करते हैं या खुदा की तरफ से कुछ फरमाते हैं। लेकिन 18 वीं शताब्दी के सामन्तीयुग में नज़ीर अपनी ग़ज़लों में परम्परागत अभिजात भाषा का इस्तैमाल करते हुए भी उसमें अवसर मिलते ही लोकभाषा के शब्दों को जगह देते थे। मेरा विचार है कि उन्होंने ग़ज़लें शायरी की परम्परा का पालन करने के लए ही लिखीं है। जैसे आजकल के लोग अंग्रेजी बोल कर अपने शिक्षित होने का प्रमाण देते हैं, वैसे पिछले जमाने के शायर ग़ज़ल लिखकर अपने शायर होने का सबूत देते थे। नज़ीर अपने जीवनकाल में इतने अभागे थे कि उन्हें

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

ग़ज़लें लिखने और फारसी में पूरा दीवान लिखने के बावजूद मुस्तनद शायर नहीं माना गया। आज यह भ्रम पूरी तरह टूट चुका है।

यह सही है कि ग़ज़ल एक सुरुचि,सौन्दर्यानुभूति और अनुशासन की मांग करती है, जिसके कारण उसकी भाषा नज़्म की भाषा से कुछ बातों में अलग हो जाती है। यह अन्तर हम नजीर की नज़्मों की भाषा और ग़ज़लों की भाषा में भी देखते हैं। मेरा विचार है कि उनकी गज़लों की भाषा कुल मिलाकर परम्परागत है जबकि नज़्मों की भाषा परम्परा से हटकर है। पर ग़ज़ल की परम्परागत भाषा को भी नज़ीर ने तोड़ने की कोशिश की है,जिस में उन्होंने लोक शब्दावली से मदद ली। उनकी एक ग़ज़ल का शेर है–

चोटी की गुँधावट कहीं दिखलाई हैं लहरें,
रखती है कहीं जुल्फें परेशान तमाशा। (पृ. 448)

उर्दू शायरों ने गैसुओं और ज़ुल्फ़ों की तारीफ़ों के बड़े बड़े पुल बांधें हैं, पर किसी ने 'चोटी की गुँथावट' का जिक्र नहीं किया है। नज़ीर ने न केवल उस का जिक्र किया है, बल्कि चोटी के गूंथने से बालों में पड़ी लहरों पर भी ध्यान दिया। एक और मिसाल लीजिए। नजीर की एक दूसरी गजल का यह शेर देखिये –

गम में हम भानमती बन के जहां बैठे थे,
इत्तफाक़न कहीं तो शोख़ भी वां आ निकला। (पृ. 451)

भारतीय जनता भानमती के पिटारे से खूब परिचित है। लोक साहित्य में भानमती की उल्लेख कई तरह से हुआ है। ऊपर के शेर में 'भानमती' शब्द एक प्रतीक के रुप में प्रयुक्त हुआ है। इसके बाद का शेर भी देखिये ..

सीने की आग दिखाने को दहन से मेरे
शोले पै शोला भभूके पर भभूका निकला। (पृ. 451)

भभूका भी ठेठ लोकशब्द है, जिसकी मदद से नज़ीर ने ग़ज़ल का काफिया बांधा है। 'अलिफ़' की रदीफ़ का निर्वाह तो यहां हुआ ही है।

पर ऐसे प्रयोग उनकी गजलों में ज्यादा नहीं है। इसीलिए मेरी राय है कि उनकी ग़ज़लों की भाषा परम्परागत है, पर उन में भी लोक विश्वास, जनता में प्रचलित मिथकों, और जनता की भावनाओं का चित्रण हुआ है।

उनकी नज़्मों में 'अंखड़ियां लड़ियां, है पड़ियां, घड़ियां, बड़ियां (बलदेव जी का मेला नज्म में–पृ. 244) और हैगा, हैगी जैसे पंजाबी लोकशब्द भी मिलते हैं। इससे भी अनुमान लगाया जा सकता है कि नज़ीर की शायरी भाषा की दृष्टि से भी लोकतत्व के गहरे रंग में रंगी है।

काव्यरुपों और छन्दों की दृष्टि से भी उनकी कविता पर विचार किया जाए। नज़्म और ग़ज़ल किसी छन्द का नाम नहीं है। ये दोनों काव्यरुप हैं। नज़ीर की नज़्मों के विधान पर लोकगीतों की शैली का गहरा असर है। लोकगीतों में गीत की टेक को या प्रथम पंक्ति को बार बार दुहराया जाता है या पहले बोल में ही कुछ नया संदर्भ जोड़कर उसी बोल को दुहराया जाता है। नज़ीर की बहुत सारी नज़्मों में दो शेरों के बाद जो शेर आता है वह दो शेरों वाले अगले खण्ड के अन्त में गीत की टेक की तरह दुहराया जाता है। हर खण्ड का तुकान्त विधान अलग–अलग होता है। मूलत: ये लोकगीतों का विधान है। इस विधान के कारण ये नज्में गाई भी जा सकती हैं। ये गीत न होकर नज्में इसलिए हैं कि इनमें किसी एक विषय का ही क्रमिक वर्णन होता है। पर ये गीतात्मक नज़्में हैं।

नज़ीर की नज़्मों के बारे में एक और उल्लेखनीय बात यह है कि उनके ढाँचे में उन्होंने कुछ प्रयोग भी किये हैं। कई नज्मों में हर बन्द के निश्चित स्थान पर फारसी का एक शेर दुहराया गया है और कहीं हिन्दी का दोहा दुहराया गया है। उदाहरण के लिए 'सोज़ेफिराक़' नज़्म के चार शेरों के बन्द में तीसरा शेर फ़ारसी का है और हर बन्द के बाद टेक की पंक्तियां दोहा छन्द में हैं। यही विधान सात खण्डों वाली इस नज़्म में अपनाया गया है। यहां दोहे को दुहराने की विधि लोकगीत की टेक को दुहराने जैसी है। इसी प्रकार 'बुढ़ापे की आशिक़ी' नज़्म में दो शेरों के हर बन्द के बाद फारसी का एक शेर रखा गया है अर्थात् हर बन्द के बाद यह फारसी शेर दुहराया गया है–

पीरे कि दमज, इश्क़जन्द बस ग़नीमत अस्त,
अज शाख़े कुहना मेवा–ए–नोरस गनीमत अस्त। (पृष्ठ 268)

यह उर्दू में प्रचलित सिलसिलेवार जन्म का विधान नहीं है, बल्कि नज़्म का ऐसा रुप है, जिस पर लोकसाहित्य का गहरा प्रभाव है। यह नज़ीर की नज़्मों के विधान की मौलिकता का भी परिचायक है।

'कुल्लियाते नज़ीर' में खमसा, मुसद्दस, मुस्तजाद, वासौख्त छन्दों में निबद्ध रचनाएं भी हैं। खमसा चार पंक्तियों का छंद है। खमसा और मुसद्दस में भी तुकान्त पंक्तियां होती है। यह इन छन्दों का परम्परागत विधान है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

नज़ीर की विशिष्टता केवल इतनी नहीं है कि उन्होंने इन छन्दों में रचना की, बल्कि यह भी है कि उन्होंने खमसा की चार पंक्तियों के बाद एक पंक्ति और जोड़ दी। इसी प्रकार मुसद्दस की छ: पंक्तियों की छठी पंक्ति को हर बन्द को छठी पंक्ति में रखा गया । अर्थात छठी पंक्ति बार बार दुहराई गई। मुझे लगता है कि नज़ीर ने परम्परागत छन्द तो ले लिये, पर उनका उपयोग अपनी तरह से किया। उनका उद्देश्य छन्दोबद्ध कविता लिखना नहीं था, बल्कि उनमें ग़मे-जानां और ग़मे-दौरा का बयान ही उनका मकसद था। इस तरह कहा जा सकता है कि काव्य रुपों और छन्दों को भी नज़ीर ने अवामी नज़रिये से देखा। यों भी कह सकता हूँ कि नज़ीर ने शायरी के एक नये स्कूल या दबिस्तान की नींव डाली। इसे जनकाव्यधारा का नाम भी दिया जा सकता है। यहां मैं मजनूं गोरखपुरी के एक मजमून का संदर्भ देना चाहता हूँ जो लखनऊ की पत्रिका 'निगार' के नज़ीर विशेषांक में छपा था। इस निबंध में मजनूं ने लिखा था-''उन्होंने (अर्थात् नज़ीर ने) बिलक्सद दिल्ली और लखनऊ दोनों के दबिस्तानों से बिल्कुल अलग अपना एक रंग निकाला। इसलिए कि वह यह देख रहे थे कि मुरव्विजह उर्दू शायरी को न मुल्की रसूमो रवायात से कोई ताल्लुक़ है और न अवाम की ज़िन्दगी से और वह मुक़द्दस इलहामी किताबों की आयात की तरह हमेशा एक चीदा और बरगज़ीदा लोगों के हलक़े की चीज़ बनी रहेगी।[11]

ऊपर मैंने जिस जनकाव्य धारा का उल्लेख किया उस का विकास नज़ीर के युग में अर्थात 18 वीं शताब्दी में नहीं हुआ। उर्दू काव्य पर सामन्ती जीवन मूल्य और दरबारी संस्कृति हावी रही। 19 वीं शताब्दी में मीर तकी मीर ऐसा शायर है, जिसने उर्दू ग़ज़ल को सामन्य जनजीवन से जोड़ने की कोशिश की। मीर ने ग़ज़ल में जो भाषा लिखी, उस ज़माने के अनेक शायरों की भाषा से अलग है। वह ऐसी सहज, जनोन्मुखी और लोकप्रिय खड़ी बोली है, जिससे ग़ालिब को भी ईर्ष्या हुई। मेरा अनुमान है कि मीर की ज़बान पर नज़ीर अकबराबादी का प्रभाव रहा होगा।

अन्त में कहा जा सकता है कि नज़ीर की कविता के विषयों, उसकी भाषा, उसके काव्यरुपों, छन्दों, अलंकारों, प्रतीकों के आधार पर यही लगता है कि उनकी कविता लोकतत्व की दृष्टि से बड़ी समृद्ध है। लोकजीवन की सच्ची झांकी उनकी कविता में मिलती है। लोकतत्व की दृष्टि से उनकी ग़ज़लों की तुलना में उनकी नज़्में अधिक अवलोकनीय है पर ग़ज़लों में भी उनकी लोकवादी दृष्टि की झलक मिलती है।

□□□

ए 34 न्यू इंडिया अपार्टमेंट्स
रोहिणी-सैक्टर 9
नई दिल्ली - 110085
फोन : 011-27557142

संदर्भ

1. कुल्लियाते नजीर - सं. अज़हर राही - प्रकाशक रामनारायण लाल बेनीमाधव, इलाहाबाद, पृ. 172, 1976 का संस्करण। एवं विभिन्न पत्र पत्रिकाएँ तथा इंटरनेट
2. कुल्लियाते नज़ीर - सं. अज़हर राही की भूमिका से (पृ. 10)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

नज़ीर अकबराबादी के काव्य में चित्रित भारतीय पर्व

डॉ.अब्दुल अलीम

लोक कवि नज़ीर अकबराबादी हिन्दुस्तानी गंगा-जमुनी संस्कृति के प्रतीक हैं। उनका कार्यकाल अठारहवीं सदी के मध्य से उन्नीसवीं सदी के मध्य का है। नज़ीर अकबराबादी के रुप में हिन्दी और उर्दू साहित्य में एक विशेष परम्परा का सूत्रपात हुआ। जो तत्कालीन भारत के सांस्कृतिक रंगों से ओत-प्रोत थी। लम्बे समय तक नज़ीर अकबराबादी लोक कवि की परम्परा में रहकर साहित्य की दीर्घा से बाहर खड़े रहे। धीरे-धीरे उनकी अपनी विशिष्ट शैली-भाषा और भारतीय संस्कृति के प्रति एक विशिष्ट दृष्टि के कारण उन्हें हिन्दी और उर्दू साहित्य में महत्ववपूर्ण स्थान मिला। नज़ीर की सांस्कृतिक दृष्टि के निर्माण में उनके काल में प्रवाहित सांस्कृतिक धारा और विशेषकर आगरा और उसके आसपास की संस्कृति की विशेष भूमिका रही है। आगरा मुगल सम्राट अकबर की राजधानी रह चुका था। जिससे वहाँ मुस्लिम संस्कृति का वातावरण और ताजमहल के रुप में उदारतावादी संस्कृति के प्रतीक मौजूद थे। ताजमहल उस शाश्वत प्रेम का प्रतीक बना खड़ा था जो भारतीय संस्कृति का प्राण तत्व है। आगरा के चारों ओर कृष्ण भक्ति का वैष्णव आंदोलन भी फैला हुआ था। आगरा के निकट मथुरा-वृन्दावन में राधा-कृष्ण के प्रेम और भक्ति के गीत गूंज रहे थे। इन गीतों के साथ मेलों की पर्वों और परम्परा भी ब्रज के साथ जुड़ी रही। इस मिली-जुली संस्कृति ने नज़ीर की सांस्कृतिक दृष्टि को नये आयाम दिये। जिनकी अभिव्यक्ति सामासिक संस्कृति के रुप में उनके काव्य में हुई।

नज़ीर अकबराबादी के काव्य में पर्वों का वर्णन संस्कृति के एक विशिष्ट आयाम को प्रकाशित करता है। कवि नज़ीर ने अपने काव्य की सांस्कृतिक प्रकृति के अनुरुप हिन्दू और मुसलमान वर्गों के पर्वों को उनकी समग्र सांस्कृतिक चेतना के साथ चित्रित किया है। उनका उद्देश्य पर्वों को शुद्ध सांस्कृतिक संदर्भ में प्रस्तुत करना रहा है। यही कारण है कि उन्होंने पर्वों की धार्मिक चेतना को बहुत अधिक गंभीरता से नहीं लिया। हिन्दुओं के पर्वों होली, दीवाली, रक्षाबंधन एवं बसंत पंचमी तथा मुसलमानों के त्यौहारों में शब्बरात एवं ईदुलफित्र ही उनके आकर्षण के विषय रहे हैं। इन पर्वों के लोक प्रचलित रुप पर ही कवि की दृष्टि टिकी है। टिके भी क्यों ना, कवि नज़ीर तो लोक चेतना के कवि हैं लोक ही उनकी काव्य चेतना का स्रोत है और लोक ही अभिव्यक्ति का आधार।

कविवर नज़ीर अकबराबादी के काव्य में चित्रित पर्वों पर दृष्टिगत करते हुए उसके सूक्ष्म विवेचन और विश्लेषण के माध्यम से हम इस संदर्भ में सांस्कृतिक स्वरुप की झांकी प्रस्तुत कर सकेंगे।

रक्षा बंधन :

रक्षा बंधन हिन्दू समाज की एक विशिष्ट भावना का प्रतीकात्मक पर्व है। राखी में ब्राम्हण के द्वारा यजमान की रक्षा की भावना तथा बहिन के द्वारा भाई के कल्याण की कामना निहित होती है। हिन्दू समाज में यह पर्व बड़े उत्साह के साथ मनाया जाता है। कवि नज़ीर ने अपने कविता 'राखी' में रक्षाबंधन के अवसर पर उत्साहपूर्ण वातावरण और राखी के प्रति भावात्मक आकर्षण का मनोरम वर्णन किया है-

मची है हर तरफ़ क्या-क्या सलोने की बहार अब तो।
हर इक गुलरु फिरे है राखी बाँधे हाथ में खुश हो।
हवस जो दिल में गुजरे हैं कहूँ क्या आह में तुम को।
यही आता है जी में बनके ब्राम्हन आज तो यारो।
मैं अपने हाथ में प्यारे के बाँधू प्यार की राखी।

राखी का यह मनोरम त्यौहार श्रावण मास की पूर्णिमा को मनाया जाता है। लोक में इसे 'सलूने या 'सनूने' कहते हैं। कवि नज़ीर ने रक्षाबंधन को इस नाम से भी अविहित किया है। रक्षा सूत्र में प्रेम का रंग अनेक भव्य रंगों के रुप में व्यक्त होकर आता है। इस पर्व के अवसर पर तरह-तरह की राखियाँ भव्य और सुन्दर रंगों में देखते ही बनती हैं कवि नज़ीर ने राखियों का इसी रुप में चित्रण किया है। जो रक्षाबंधन की सांस्कृतिक यात्रा का संकेत

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

भी देता है–

अदा से हाथ उठने में गुले राखी जो हिलते हैं।
कलेजे देखने वालों के क्या–क्या आह छिलते हैं।
कहाँ नाज़ुक यह पहुंचे और कहाँ यह रंग मिलते हैं।
चमन में शाख़ पर कब इस तरह के फूल खिलते हैं।
जो कुछ खूबी में है इस शोख़गुल रुख़सार की राखी।[2]

दीवाली

दीवाली या दीपावली भारतीय संस्कृति की एक धारा का सांस्कृतिक पर्व है। यह पर्व अंधकार में प्रकाश, निराशा आशा और भावी जीवन की आशामयी लालसा का प्रतीक है। दीपावली के इस पर्व को मनाने के सभी उपकरण आशा के दीप जलाने का प्रयास करते हैं। अमावस्या की अंधेरी रात्रि में दीपों का प्रकाश, धन की देवी लक्ष्मी का पूजन, भाग्य को आज़माने के लिए जुआ खेलने की प्रथा, सभी समृद्धि की लालसा को संकेतित करते हैं। कविवर नज़ीर ने दीपावली के इस सांस्कृतिक स्वरुप का बड़ा यथार्थपरक और मनोरम चित्र प्रस्तुत किया है। दीवाली एक ऐसा पर्व है जिसे गरीब, अमीर सभी बड़े उत्साह से मनाते हैं। कवि नज़ीर के शब्दों में देखिये–

हर एक मौंकों में जला फिर दिया दीवाली का।
हर एक तरफ को उजाला हुआ दीवाली का।
सभी के दिल में समां भा गया दीवाली का।
किसी के दिल को मज़ा खुश लगा दीवाली का।
अजब बहार का है दिन बना दीवाली का।।[3]

दीपावली पर दीपकों के अतिरिक्त खील–बताशे–खिलौने आदि का विशेष महत्व है। अतः इस पर्व के अवसर पर बाज़ारों में चारों तरफ इनके ढेर और खरीदने वालों का आकर्षण देखते ही बनता है। बाज़ार के बाज़ार इन्हीं चीज़ों से भरे होते हैं और लोगों में चाहे उनके पास पैसा हो या न हो इन चीज़ों के प्रति एक विशेष आकर्षण भरी ललक होती है, जिसे वह किसी न किसी प्रकार पूरी करते हैं कवि नज़ीर ने इस त्यौहार के सांस्कृति स्वरुप के साथ–साथ लोगों की बेबसी का चित्र प्रस्तुत किया है–

जहां में यारों अजब तरह का है यह त्योहार।
किसी ने नकद लिया और कोई करे है उधार।
खिलौने खीलों बताशों का गर्म है बाजार।
हर एक दुकां में चिराग़ों की हो रही है बहार।
सभी को फ़िक्र अब जा बजा दीवाली का।[4]

हिन्दुओं में प्रचलित प्रतीक, पूजा मिट्टी के खिलौनों के रुप में दीवाली के अवसर पर भी देखने को मिलती है। मिट्टी के बने हुए गणेश और लक्ष्मी के खिलौने भी बाज़ार में खरीदते और बेचते हुए देखे जा सकते हैं। कवि दुकानदार और खरीददार के संवाद के माध्यम से दोनों की चेतना का स्वरुप स्पष्ट करते हैं–

कोई कहे है इस हाथी का बोलो क्या लोगे।
ये दो जो घोड़े हैं इनका भी क्या भला लोगे।
कोई कहे है कि इस बैल का टका लोगे ।
यह कहता है कि मियाँ जाओ बैठो क्या लोगे।
टके को ले लो कोई चौधड़ा दीवाली का।[5]

दीपावली के सांस्कृतिक स्वरुप में हुआ भी एक महत्वपवूर्ण उपकरण है दीपावली पर किसी भी माध्यम से धन के आगमन को भाग्योदय का सूचक माना जाता है। इसी विश्वास की एक कड़ी जुए के रुप में देखने को मिलती है। कवि नज़ीर ने दीवाली के संदर्भ में जुए के स्वरुप को और जुए के संदर्भ में दीवाली के स्वरुप को रखकर जांचा परखा और प्रस्तुत किया। दीवाली के अवसर पर जुए के प्रति किस प्रकार उत्साह होता है नज़ीर के शब्दों में देखिये–

मकान लीप के ठिलिया जो कोरी रखवाई।
जला चिराग को कोड़ी यह जल्द झँकाई।
असल जुआरी थे उनमें तो जान सी आई।
खुशी से कूद उछलकर पुकारे और भाई
शगुन पहले करो तुम जरा दीवाली का।।[6]

जुआ दीवाली केसंदर्भ में नज़ीर के समय तक एक सामाजिक विकृति बन चुका था। मियां नज़ीर के काव्य में सामाजिक संदर्भ मे जुए की उन विसंगतियों को भी चित्रित किया गया है। जुए में किस तरह जुआरी अपनी सारी सम्पत्ति को दांव पर लगा देते हैं किस प्रकार जुए की आदतों में फंसकर निदिंत आचरण करते हैं, नज़ीर ने इसका यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया –

किसी ने घर की हवेली गिरो रखा हारी।
जो कुछ थी जिन्स मयस्सर बना–बना हारी
किसी ने चीज किसी की चुरा–छुपा हारी
किसी ने गठरी पड़ोसिन की अपनी ला हारी
यह हार जीत का चर्चा पड़ा दीवाली।

कवि नज़ीर हुए के इस विकृत रुप को तिरस्कृत करते हुए दीवाली के सांस्कृतिक संदर्भों में उसके महत्व को स्वीकार करते हैं और उसके साथ अपने को एक रस करते हुए कहते हैं –

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

नज़ीर आप भी हैं जुआरिया दीवाली का।[8]

इस प्रकार दीवाली वर्णन में कविवर नज़ीर ने लोक संस्कृति के एक महत्वपूर्ण स्वरुप का मनोरम और यथार्थपरक चित्रण प्रस्तुत किया है जो पाठकों को पर्व विशेष की सांस्कृतिक यात्रा और सांस्कृतिक महत्व को सोचने को बाध्य कर देता है।

होली

भारतीय संस्कृति में दीपावली जहां आशा, आस्था विश्वास का प्रतीक है वहीं होली प्रेम सौहार्द्र, समता, प्रसन्नता का सूचक पर्व है। होली का पर्व फाल्गुन महीने की शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा को मनाया जाता है। इस दिन सभी लोग सारे भेदभाव भूलकर खुशियों के रंग में एक रंग हो जाते हैं। इस पर्व का धार्मिक महत्व उतना नहीं है जितना सामाजिक। कविवर नज़ीर ने अपने काव्य में होली के सांस्कृतिक महत्व को स्वीकारते हुए उसे विशिष्ट स्थान दिया है। होली की विभिन्न छटाओं के चित्रण में कवि का मन इतना रमा है कि लगभग 21 रचनाएँ केवल होली को लेकर प्रस्तुत की गयी हैं। इन रचनाओं में कवि ने होली के संदर्भ में विभिन्न मानसिक दशाओं का चित्रण किया है। होली के अवसर पर सभी प्रकार के बैर-भाव प्रेम और सौहार्द्र के रंग में रंग जाते हैं। नज़ीर के शब्दों में-

मियाँ तू हम से न रख कुछ गुबार होली में।
के रुठे मिलते हैं आपस में यार होली में।
मची है रंग की कैसी बहार होली में।
हुआ है ज़ोरे चमन आशकार होली में।
अब यह हिन्द की देखी बहार होली में।[9]

होली के संदर्भ में यदि ब्रज की होली का प्रसंग न आये तो होली का सांस्कृतिक स्वरुप अधूरा ही रह जाता है। यही कारण है कि कविवर नज़ीर अपने होली वर्णन में इस संदर्भ की उपेक्षा नहीं कर सके। उनके होली वर्णन में ब्रज प्रदेश की होली का चित्रण इतना स्वभाविक है कि यह प्रत्यक्षदर्शी द्वारा ही संभव माना जा सकता है। कवि नज़ीर ने स्वयं ब्रज प्रदेश की होली का अपने को प्रत्यक्ष द्रष्टा माना है-

यह सैर होली की हमने तो ब्रज में देखी।
कहीं न होवेगी इस लुत्फ की मियां होली।
कोई तो डूबा है दामन से लेके ता चोली।
कोई तो मुरली बजाता है कह कन्हैया जी।।[10]

ब्रज की होली का महत्वपूर्ण स्वरुप है खुलकर खेलना। आपूरित उत्साह और उसके मुख्य केन्द्र बिन्दु हैं राधा और कृष्ण। कविवर नज़ीर ने ब्रज की होली के इन महत्वपूर्ण स्वरुपों को बड़ी तन्मयता के साथ उठाया है। होली के खुले स्वरुप का वर्णन कवि के शब्दों में देखिये-

जो कुछ कहाती है अबला बहुत पिया प्यारी।
चली है अपने पिया पास ले के पिचकारी।
गुलाल देख के फिर छाती खोल दी सारी।.
पिया की छाती से लगती वह चाव की मारी
न ताब दिल को रही ना करार होली में।[11]

ब्रज की होली कवि नज़ीर के ह्रदय पर इतना रंग जमा चुकी थी कि उसका एक-एक दृश्य उसके मानस पर सुरक्षित था। उन्ही दृश्यों को शब्दों के माध्यम से कवि ने अपनी रचनाओं में उतारा है। राधा-कृष्ण और गोपिकाओं के भाव का व्यक्त रुप होली के रुप में लोक में और काव्य में देखने को मिलता है। कवि नज़ीर ने इस लोक सांस्कृतिक परंपरा का चित्रण करते हुए राधा-कृष्ण और गोपियों के द्वारा होली खेलने का बड़ा ही सरस और भावपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया।

घनश्याम उधर से जब आये वहां होली कर तैयारी
और आई उधर से रंग लिए खुश होती वाँ राधा प्यारी
जब श्याम ने राधा गोरी के एक भरकर मारी पिचकारी
सब मुख पर छीटे आन पड़ीं और भींग गई तन की सारी।।[12]
जब देर तलक मनमोहन ने वां होली खेली रंग भरी
सब भीगी भीड़ जो आई थी साथ उनके ग्वाल और बालों की
तन भीगा किशन कन्हैया का यों रंगों की बौछार हुई।
और भीगी राधा गोरी भी और उनके संग सहेली भी।[13]

नज़ीर का ह्रदय होली के वातावरण को देखकर आनंद से झूम उठता है। जब वह अपने चारों ओर गाते-बजाते होली खेलते लोगों को होली के रस में रस-सिक्त होते हुए देखते हैं उनके इस पद में होली की सांस्कृतिक चेतना कितनी स्पष्ट होकर आई है-

नज़ीर होली का मौसम जो जग में आता है
वह ऐसा कौन है होली नहीं मनाता है।
कोई तो रंग छिड़कता है कोई गाता है।
जो खाली रहता है वह देखने को जाता है।
जो ऐश चाहो सो मिलता है यार होली में।[14]

इस प्रकार इस महान कवि ने होली के रुप में होली के सांस्कृतिक स्वरुप की हर दिशा का चित्र प्रस्तुत करते हुए अपनी 'होली' नाम की रचनाओं को होली की

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

तरह ही अनेकसांस्कृतिक रंगों में सराबोर कर दिया है।

कविवर नज़ीर और उनका काव्य भारतीय संस्कृति के सामासिक रुप का प्रतिनिधि है और इसी विचारधारा की कड़ी के रुप मे उनका पर्वोत्सवों का वर्णन आता है। उन्होंने जिस भावना, तन्मयता और जिस सच्चाई केसाथ हिन्दुओं के पर्वों को लिया है वही भावना, वही तन्मयता मुसलमानों के पर्वों के वर्णन में मिलती है। इनके पर्वों को भी कविवर नज़ीर ने आध्यात्मिकता और धार्मिकता के घेरे से दूर रखने का प्रयास करते हुए उनके सांस्कृतिक संदर्भो को प्रकाशित करने का प्रयास किया। कविवर नज़ीर द्वारा वर्णित मुसलमानों के पर्वों के वर्णन को देखकर ही प्रस्तुत किया जा सकता है।

शब्बरात –

शब्बरात भारतीय संस्कृति की मुस्लिम धारा का आशा, विश्वास, आस्था, समृद्धि–कामना और जीवन को आध्यात्मिकता की अनुभूति के क्षणों की ओर ले जाने वाला पर्व है। एक प्रकार से देखा जाये तो यह खुशियों के साथ आशा की किरणें देने वाला पर्व है। इस पर्व की सांस्कृतिक चेतना की समानता कुछ सीमा तक हिंदू सांस्कृतिक धारा के दीपावली पर्व की सांस्कृतिक चेतना से की जा सकती है। कविवर नज़ीर ने शब्बेरात के स्वरुप और उसके पीछे निहित स्वस्थ सांस्कृतिक चेतना को अपने काव्य में चित्रित किया है। इस पर्व पर हलवे का विशिष्ट महत्व है। लोग तरह–तरह के हल्वों के साथ दाल–चपाती आदि अपनी–अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार तैयार करते हैं। कवि नज़ीर शब्बे रात अवसर पर हलवे के आकर्षण और उसके महत्व का काव्यमयी भाषा में बड़ा ही मनोरम और भावपूर्ण वर्णन करते हैं–

क्यों कर करें न अपनी नमूदारी शब्बरात।
चल्पक, चपाती, हलवे से है भारी शब्बरात।
ज़िन्दों की है ज़ुबॉ की मजेदारी शब्बरात
मुर्दों की रुह की है मददगारी शब्बरात।
लगती है सब के दिल को गरज प्यारी शब्बरात।[13]

शब्बरात पर्व के साथ दान और परोपकार की चेतना भी जुड़ी है। इस भावना के परिणामस्वरुप गरीबों को खाना देने की परम्परा है। सौहार्द्र, प्रेम, सहानुभूति के बंधन को दृढ़ बनाये रखने की भावना के फलस्वरुप अपने प्रियजनों, संबंधियों आदि में हलवा भेजने की परंपरा है।

प्रसन्नता की अभिव्यक्ति के रुप में शब्बरात के दिन आतिशबाजी छोड़ने की परम्परा भी भारतीय मुस्लिम वर्ग में चल रही है। यह परम्परा भारतीय संस्कृति की दोनों धाराओं के आदान–प्रदान का जीता–जागता नमूना है। आतिशबाजी छोड़ने की प्रथा मान्य न होते हुए भी इस वर्ग ने हिन्दू सांस्कृतिक धारा के प्रभाव से इस प्रथा को लिया है। कविवर नज़ीर आतिशबाजी की इस प्रथा को स्वीकरते हुए उसके विषम प्रभावों का भी वर्णन करते हैं। आतिशबाजी से होने वाली घटनाओं का वर्णन नज़ीर एक प्रत्यक्ष द्रष्टा की तरह करते हैं –

चेहरा किसी का जल गया आंखे झुलस गयीं।
छाती किसी की जल गयी बाँहे झुलस गयीं।
टाँगे बची किसी की तो रानें झुलस गयीं।
मूछें किसी की फुंक गयीं पलकें झुलस गयीं।
रक्खे किसी की दाढ़ी पे चिंगारी शब्बरात।[16]

शब्बरात के वर्णन क्रम में अन्त में कवि उसकी मूल सांस्कृतिक चेतना को रेखांकित करता जाता है– शब्बरात आने वाले वर्ष की कल्याण कामना का पर्व है। कवि नज़ीर भी अन्त में ईश्वर से इसी रुप में प्रार्थना करते हैं–

कहता है वाँ 'नजीर' भी आतिश की देख सैर
या रब तू सबकी कीजियों बरसा–बरस की खैर
बे तरह कर रही है नमूदारी शब्बरात।।[17]

ईदुलफित्र

ईद या ईदुलफित्र मुसलमानों का एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक पर्व है। यह पर्व प्रसन्नता, प्रेम, समता, परोपकार और सद्वृतियों की प्रतिष्ठा का प्रतीक है। रमजान के एक महीने तक रोजों के माध्यम से मानसिक वृत्तियों का नियमन करते हुए आध्यात्मिक और धार्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा का वृत्त और अभ्यास का संदेश इस पावन –पर्व में निहित होता है। ईद के आने की खुशी में चारों तरफ उत्साह और प्रसन्नता का वातावरण छा जाता है। ईद की तैयारियाँ भी लोग बड़े जोश से करते दिखाई देते हैं इसी का वर्णन करते हुए कवि नज़ीर कहते हैं –

रोज़े की खुशकियों से जो है ज़र्द–ज़र्द गाल।
खुश हो गयें वह देखते ही ईद का हिलाल।
पोशाकें तन में ज़र्द सुनहरी सफेद लाल।
दिल क्या के हँस रहा है पड़ा तन का बाल–बाल।[18]

ईद के पर्व पर सिवइयाँ बनाने और ईदगाह जाने का विशेष महत्व होता है। बच्चे–बूढ़े जवान, स्त्री–पुरुष सभी में इनके प्रति एक नवीन उत्साह भरा हुआ होता है।

कविवर नज़ीर इस वातावरण का बड़ा ही सुन्दर, मनोरम और यथार्थ चित्रण करते हैं –

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant.

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पिछले पहर से उठ के नहाने की धूम है।
शीरो शक्कर सिवय्याँ पकाने की धूम है।
पीरों जवाँ को नैमतें खाने की धूम है।
लड़कों को ईदगाह के जाने की धूम है।
ऐसी न शब्बरात न बकरीद की खुशी।
जैसी हर एक दिल में हैं इस ईद की खुशी।[19]

ईद के इस वर्णन क्रम में कवि नज़ीर हर गरीब-अमीर मुसलमान के हृदय में जाकर झाँक आते हैं और वहाँ चित्रित ईद की खुशी को अपनी कविता में बड़ी सुन्दरता से चित्रित करते हैं । सरल और सीधी भाषा में इस प्रकार के असाधारण चित्रण मिलना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। कितने तन्मय होकर सभी के साथ एकाकार होकर वह ईद का भावात्मक चित्र प्रस्तुत करते हैं यह देखने योग्य है-

हैं करते वस्ल शहर के सब खुर्द और कबीर।
अदना गरीब अमीर से ले शाह ता वज़ीर
हर दम गले लपेट के मेरे यारे दिलपिज़ीर
हँस-हँस के मुझसे कहता है क्यूँ ऐ-मियाँ नज़ीर।[20]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते है कि कवि नज़ीर ने विभिन्न पर्वों के वर्णन द्वारा भारतीय संस्कृति के एक सांस्कृतिक स्वरुप को शब्दों के माध्यम से जीवन्त रुप में प्रस्तुत किया है। हर पर्व में निहित सांस्कृतिक चेतना अपनी स्वभाविक रुपों में व्यक्त होकर आई है. जो पर्वों के सांस्कृतिक विकास की ओर संकेत करती हुई उनकी सांस्कृतिक स्वरुप का चित्र प्रस्तुत करती है। नज़ीर काव्य में पर्वों के इस वर्णन को एक परिधि में रखकर देखने से भारतीय संस्कृति की अखण्ड रुप की झाँकी मिलती है। जो भारतीय जनमानस को भावात्मक एकता में बाँधने का प्रयास करती हुई स्वस्थ चिंतन की दिशा का शुभ सराहनीय, श्लाघनीय और और अनुकरणीय संकेत हैं।

□□□

रीडर हिन्दी विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,
अलीगढ़ (उत्तरप्रदेश)
फोन : 0571-2720267
मोबा. : 9837201779, 9837000604

संदर्भ

1. नज़ीर ग्रन्थावली-सम्पादक-डॉ. नज़ीर मुहम्मद, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ-1992, पृष्ठ-379.
2. वही, पृष्ठ-380.
3. वही, पृष्ठ-371.
4. वही, पृष्ठ-371.
5. वही, पृष्ठ-372.
6. वही, पृष्ठ-373.
7. वही, पृष्ठ-374.
8. वही, पृष्ठ-375.
9. वही, पृष्ठ-338.
10. वही, पृष्ठ-339.
11. वही, पृष्ठ-340.
12. गुलजोर नज़ीर, सम्पादक -सलीम जाफर हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, पृष्ठ-42.
13. वही, पृष्ठ-43.
14. नज़ीर ग्रन्थावली-सम्पादक डॉ.नज़ीर मुहम्मद, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ- 1992, पृष्ठ-340.
15. वही, पृष्ठ-315.
16. वही, पृष्ठ-318.
17. वही, पृष्ठ-318.
18. वही, पृष्ठ-326.
19. वही, पृष्ठ-326.
20. गुलजोर नज़ीर, सम्पादक सलीम जाफर हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, पृष्ठ-35.

CC-0.Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हिन्दुस्तानी लोक संगीत और हिन्दी सिनेमा : प्लस, बतौर-मिसाल

'एक कली दो पतियाँ, जाने हमरी सब बतियाँ'

अजातशत्रु

हिन्दुस्तान का बोलता हुआ सिनेमा शुरु से ही फिल्म-संगीत के मामले में देश के शास्त्रीय और लोक संगीत पर आधारित रहा। किसी भी देशका वर्तमान संगीत अपने मूल में अतीत की असीम संगीत-विरासत से बचकर कहाँ जा सकता है? एक धुन- अगर वह संगीतकार के सोच/श्रम से उपजी है या इलहाम की तरह उस पर उतरी है-सदियों के सामूहिक अवचेतन से आती है और जाने-अनजाने उसके पीछे एक समूचा राष्ट्र होता है। शून्य से कुछ नहीं उपजता। 'एक मीठी, देशी धुन हम सब हैं।'

हमारे देश में गीत-संगीत सिनेमा का अविभाज्य हिस्सा रहा, क्योंकि राग-रागिनियों और लोक संगीत से समृद्ध इस देश का अवाम और बुद्धिजीवी वर्ग संगीत सुनने, उसे सराहने और उससे आनंदित होने का आदी रहा है। लेकिन प्रश्न यह था कि भारी पैसा लगाकर जब फिल्में बनाई जाती हैं और एक व्यवसाय के तहत लाभप्रद रिटर्न प्राप्त करने की कामना उससे संयुक्त रहती है तो क्या किया जाये? फिल्म निर्माताओं के लिए तब ज़रुरी हो गया कि वे अपने संगीत-निर्माताओं पर ज़ोर डालें कि फिल्म का संगीत-पक्ष और गाये जाने वाले गीत दर्शक बनाम ग्राहक को ज़्यादा से ज़्यादा थियेटर की तरफ खींचे। यह केवल 'मेलडी' के कारण संभव हो सकता था । तो -मेलडी हिन्दी सिने-संगीत का प्राण बनी। फिर चाहे, नृत्य गीत हों, महिला दुगाने हों, ग़ज़लें हों, भजन हों, क़व्वाली हो, यहाँ तक कि गम के गीत हों- सबमें माधुर्य आता चला गया। इसी के साथ, साज-संगीत को भी जीवंत और कर्णप्रिय बनाया गया। तबला फिल्म संगीतकारों का माई-बाप हो गया।

000

देखा जाये तो मिठास, अपील और पुरअसर शायरी से भरे हुए नग्में हमें चालीस से पचास के बीच की फिल्मों में ही मिलना शुरु हो जाते हैं। उनकी एक लंबी लिस्ट यहाँ पेश की जा सकती है। मगर स्थानाभाव से उसे रोकना पड़ रहा है। फिर भी कुछ मुखड़े पेश हैं -

'अंगना बोल काग रे (शमशाद बेगम/डोली/1947)/ अब राजा भये मोरे बालम (खुर्शीद/तानसेन/1943) दो जुल्मी नैना मारे गये (ज़ोहराबाई/आई बहार/1946)/नैनों में नैना दीन्हों डाल (कौशल्या गिदवानी व जी.एम. दुर्रानी/अंगूरी/1943)/मोरी भाभी के नैनों में भइया, देखा प्यासी खड़ी रे ननदिया (कौशल्या व नलिनी गुप्ते/1943) तथा जोश मलीहाबादी का लिखा वह गीत, जिसे लेकर सारे देश में तहलका मच गया था हालाँकि उसका भी बाप 'मेरा पेंटसेक्सी, मेरे गाल सेक्सी, मेरा सब कुछ सेक्सी, जैसा निर्लज्ज गीत हमारे पास अब आ चुका। ...जोश साहब के गीत का मुखड़ा था। 'मोरे जुबना का देखो उभार पापी।' इसे जोहरा बाई ने सन्'44 में 'मन का गीत' फिल्म में गाया था। इसमें 'नुकीले, उभरे हुए वक्षों' की रसीली विरुदावली में कोई भी उत्तेजक उपमा छोड़ी नहीं गयी थी। इस दौर के गीतों में तीज-त्यौहार, मेले, पनघट, अमराइयों व खेत-खलिहान से मुताल्लिक अनेक गीत आये। इन सबमें हमारे देश के लोक संगीत का ही रस-रंग था। 'छोटा सा बलमा मेरा अंगना में गुल्ली डंडा खेले/गाड बाबू, गाड बाबू झंडी ने हिलइयो, पलेटफारम पे रह गई गठरिया हमारी/मार कटारी मर जाना,ना अँखियाँ किसी से मिलाना ना/टमटम से झाँकों न रानी जीःकदर मोरी न जानी छोड़के जाने वाले/लट उलझी सुलझा जा रे बलम हाथों में मेंहदी लगी (बाद में, सन् 54 में 'शोभा' फिल्म में शमशाद बेगम द्वारा गाया हुआ)/व छल्ला दे जा निशानी तेरी मेहरबानी जैसे प्रायवेट व फिल्मी गीत इसी दौर के हैं। कहना बस इतना है कि पचास के पहले का यह संगीत, जैसा समझा जाता है, बोर-क्रूड, और ठंडा नहीं है। यहाँ एक से एक मेलडी मिलती है। आप जगह से हट न पायें ऐसी।

000

लेकिन, जय हो माँ शारदा की! हमारे हिन्दी फिल्म संगीत का अत्यंत मीठा दौर सन् 50 के बाद आया और छिटपुट फुहारों की तरह (अधिक से अधिक) सन् 68 तक रहा। आज जिस हिन्दी सिने-संगीत का डंका हिन्दुस्तान से लेकर पाकिस्तान, अफगानिस्तान, बंगलादेश, अरब, रुस और प्रवासी भारतीयों

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

के बीच बजता है, वह इस दौर का ही कर्णप्रिय संगीत है। ग़ज़ल, भजन, नृत्यगीत, क्लब गीत, फिजाई गीत, छायावादी गीत (फार-अवे इफेक्ट वाले) वेदनागीत बुलंद संदेशी गीत... सब-सब अवाम को आनंद से सराबोर कर गये। इनकेसाथ जो इंस्ट्रूमेंटल संगीत आया (यानी आर्केस्ट्रा) वह भी रुह के तारों को झकझोर गया। एक तरह अनिल विस्वास, नौशाद, एस.डी बर्मन, रोशन, मदनमोहन, सलिल चौधरी, हेमंत कुमार और शंकर जयकिशन जैसे संगीतकार आये, जिनके खून में मिश्री पिघलकर बहती थी, तो दूसरी तरह लता, रफी, गीता, आशा, सुमनकल्याणपुर, मन्नाडे, तलत और मुकेश जैसे गायक रहे, जिनके गलों में मोगरा फूलता था। इन सबने मिलकर माधुर्य का तूफान बरपाया और देश धन्य हो गया। इन्ही लोगों के रचे-बसे गीत हैं, जिनमें आज बुढ़ापा सुकून हासिल करता है और बीते जमानों की याद में उतरकर कुछ पल वक्त को झुठला आता है। मेरे एक मित्र कंचन चौबे, हरदा ने ठीक ही कहा था- 'सन् पचास के बाद ऐसा कोई हिन्दुस्तानी नहीं मरा, जिसके आखिरी क्षणों में विगत हिन्दी सिनेमा की एकाध मेलडी जेहन में अटकी न हो! ''मैं 'मोरे सैंयाजी उतरेंगे पार' (लता, कोरस/ उड़नखटोला/नौशाद/1955) सुनते हुए विदा लेना चाहता हूँ''

000

गरज़ कि हिन्दी सिनेमा हमारे रग-रग में घुल चुका है। हमारी 'साइकी' उससे ओतप्रोत है। हमारे अवचेतना का एक हिस्सा इन्हीं फिल्म कथाओं, किरदारों और मधुर गीतों की याद से तैयार हुआ है। सिनेमा को नकारना यह कहना है कि मेरी देह पर त्वचा नहीं है। मैं यह भी समझता हूँ कि सिनेमा और उसके संगीत को अर्से तक सड़क-बगल नहीं जा सकता, जैसा देश के अंग्रेजीपरस्त बुद्धिवादी, नैतिकवादी आचार्य और छोटे-मोटे पंडितजन करते हैं। वह दिन ज्यादा दूर नहीं, जब, अतीत से स्वभावतया सम्मोहित और प्रभावित, आगामी पीढ़ी, सिनेमा को कला और साहित्य की तरह एक गहरा व सम्मानीय सृजन मानेगी औरी उस पर समीक्षकीय काम करेगी। यूँ यह काम छिटपुट बूंदाबादी के तौर पर शुरु भी हो चुका है, निष्कर्ष यह है कि जीनियसों को देर तक टाला नहीं जा सकता और सिनेमा में अनेकानेक स्तरों पर जीनियसें लगी है। 'अल्ला तेरा नाम' (गायन)/रहें न रहें हम (लेखन) और 'ऐ दिलरुबा नजरें मिला (आर्केस्ट्रेशन) - जीनियसों के ही काम हैं।.... समझ्यो,पांडेजी !

000

'मड़ई' लोक संस्कृति/लोक संगीत पर एकाग्र पत्रिका है। अतः बेहतर होगी कि पिछले सिनेमा के मैं उन गीतों को कोट करुँ, जो हिन्दुस्तानी लोक संगीत पर आधारित हैं और जिनकी मेलडी असंदिग्ध है। वैसे अच्छा होगा कि आप इन्हें स्वयं सुनें और इनके भीतरी सौन्दर्य को, सुनने से आगे जाकर, पहचानें!... गुज़रा संगीत आत्मा का च्यवन-प्राश है।

नोट कीजिये –

कौन रंग मुंगवा कौन रंग मोतिया (सुधा मल्होत्रा व सुमन कल्याणपुर/हीरा मोती)/फुलवा बन महके, देखो लहके डारी-डारी (गीतादत्त व सुमन कल्याणपुर/हम भी इंसान हैं)/तेरी उम्मीद हमने लाखों मोती बीने, बन्नी (जोहराबाई, राजकुमार व कोरस/धुन)/ कलकत्ते से आया जहाज, सखी, मेरे बलम, नहीं आये (सुलोचना कदम व कोरस/एक्टर) ढलकी जाये चुनरिया हमारी हो राम (आशा/नौ दो ग्यारह) बैठे बलमा हमारे नज़र फेरके (लता/नास्तिक)/रिमझिम बरसे पानी, आज मोरे अंगना (मीनाकपूर व कोरस/परदेशी)/ओ बेदर्दी आ मिल जल्दी मिलने के दिन आये (लता व कोरस/हीरा मोती) चली आज गोरी पिया की नगरिया (लता/गोदान)/हमार कहा मानो राजा जी (आशा व उषा/दुल्हन एक रात की)/जाओ रसिया, हटो जाओ रसिया, कसम झूठी खाके न जलाओ रे जिया (आशा व उषा/कल हमारा है)/महाराज किबड़िया खोल रस की बूँदें पड़ी (मुबारक बेगम/सुल्ताना डाकू)/जानूँ जानूँ री काहे खनके रे तोरा कंगना (आशा व गीता/इंसान जाग उठा)/धीरे से गगरी उतार रे मोरा धुल-धुल जाये सिंगार/ लता/जिंदगी और हम)/छाई कारी बदरिया बैरनिया हो राम (लता/जीवन-ज्योति)/....बरखा की रात में...रस बरसे नील गगन से (गीतादत्त, साथी/सरदार)/ओ माँझी अलबेले....मन की नैया डगामग डोले (गीतादत्त/बाज)/व जुल्मी संग आँख लड़ीं (लता, सहेलियाँ/मधुमति) वगैरह। लिस्ट और भी दूर तक जाती है।....देखा जाये तो इसी तरह की तमाम पुनी मेलडियों पर हमारे ही देश के लोकसंगीत का करजा है और सच भी यही है कि जब तक सिने-संगीत और सिने-गीतों में हिन्दुस्तानी मिट्टी, आबो-हवा...महकती रही, उन्होंने हमारे दिलों पर कब्जा जमाये रखा।... आज सिने-संगीत थकाने लगा है, मन को उमंग से नहीं भरता, रुह को धोने का काम नहीं करता। यही कारण है कि वह हास्यास्पद दुर्गति का शिकार हुआ! यह दुर्गत कला-साहित्य के क्षेत्र में भी हुई-क्योंकि गाँव-गुठान, पनघट, वन-खेतों की हरियाली, मेले, चूल्हा-चक्की, स्वार्थरहित मेल जोल, मेहमान नवाजी, धोखा देने के बजाय धोखा खाने का शौक....एक शब्द में कहूँ तो...हमारा पुरातन-पहचाना 'हिन्दुस्तानीपन' हमारे बीच से गायब हो गया।...

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

संगमर्मर की यह दुर्गत होनी थी-क्योंकि उससे माटी की सोंधी महक नहीं आती।

'तुम चलो हमारे साथ बलमा, आग लगे बंगले में' - आशा ने गाया था कभी। (फिल्म, हाऊस नं.44/सन् 1955)

000

और अभी जब मैं ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ, तो एक-अपराध-बोध मन में तैर आता है कि फिल्मी लोक संगीत की चर्चा हो, और मैं अनिल बिस्वास साहब के किसी कालजयी कम्पोजिशन के बारे में न लिखूं। अनिल बिस्वास का नाम खास तौर पर इसलिये लिया कि उनकी सृजन-क्षमता और रचनात्मक सूक्ष्मता... बहुत आगे की चीज़ है। उनकी मेलडी, आर्केस्ट्रा की बारीकियों और प्रभावोत्पादकता तक अन्य संगीतकार नहीं पहुंच पाते, हालाँकि एस.डी.बर्मन, नौशाद, सलिल चौधरी और रोशन जैसे चोटी के संगीतकार कम वंदनीय नहीं है, - अनिल भी सज्जाद हुसैन के अलावा किसी अन्य को तरजीह नहीं दे सके। ख़ैर!

तो बात कोरस-गीतों से शुरु करता हूँ। हिन्दी फिल्मों में लोकधुनों पर आधारित अनेक कोरस गीत आये हैं।उनकी मिठास, गुणवत्ता और मार्मिक अपील को लेकर छलनी लगाई जाये, तो भी कुछ ऐसे 'कम्पोजिशन्स' निकल आयेंगे, जो सदाबहार हैं, कालजयी हैं। इनमें भारत के किसान-मजदूर का उल्लास और विषाद फूट पड़ा है।'फूटल भाग हमार' का पुट है, तो इनमें 'हमरहु दिन अइबे करी' का उद्दाम आशावाद भी है। देखिये (कोरस सन्निहित) सरसों पीली धान सुनहरे, सजन मोरा साँवरिया हो (पारुल घोष, अरुण कुमार/ज्वारभाटा)/ अररर, सररर, गाओ कबीर (अनिल बिस्वास/ज्वारभाटा)/ ज़िंदगी की राह में तेज़ चल, कभी न थम (रफी, अमीरबाई/ शहनाज) चक्कू छूरी धार, बोलो चक्कू, छूरी धार (रफी, प्रमोदिनी देसाई, शैला, सरदार मलिक वगैरह/राज/ 1949)/अजब तोरी दुनिया हो मोरे रामा/धरती कहे पुकारके/ हरियाला सावन ढोल बजाता आया (तीनों गीत/दो बीघा जमीन)/जागो और जगाओ (लता व हेमंत/पायल)/ ...तेरे हाथों में जीवन की जीत हार है (रफी व गीता/ दानापानी)/नाच रे धरती के प्यारे, तेरे अरमानों की दुनिया सामने हैं तेरे (हेमंत व लता/हीरा मोती)/मेहनत कर इंसान जाग उठा (रफी व आशा/इंसान जाग उठा) मेहनत से मत डर बंदे हिम्मत से काम ले (रफी, बलवीर/बँटवारा)/साथी हाथ बढ़ाना (रफी व आशा/नया दौर)/दुःख भरे दिन बीते रे भैया (रफी, मन्नाडे, आशा व शमशाद/मदर इंडिया)/गाड़ी वाले गाड़ी धीरे हाँक रे (रफी, शमशाद/मदर इंडिया)/गम की बदली में....आज अपना हो न हो, पर कल हमारा है (रफी, सुधा मल्होत्रा/कल हमारा है)/वगैरह। इन्हें 'सनीमा' के गीत मानकर मुँह बिदकाना कला-सौन्दर्य के नाजुक तंतुओं को झुठलाना है। ये हमको निर्दोष आनंद देते हैं। ओस से भीगे हुए हरे-भरे खेत की ताजगी बख़्शते हैं। हमें भीतर से धोते हैं।

000

आइये, आज उसी दौर के एक हसीन कोरस गीत से आपको मिलवाऊँ। देखिये, किस तरह उसमें उत्तर भारत के मेहनतकशों की वेदना फूट पड़ी है। किस तरह आंशिक भोजपुरी जुबान में भोले-भाले, मासूम दर्द का पनाला उफन आया है।देखिये कि अनिल विश्वास, कितनी बारीकियों, डिटेल्स और तकनीकी कल्पना के आश्चर्यजनक टुकड़ों को जुटाकर इस कोरस गीत को क्लासिक बनाते हैं और हमारी यादों की चादर पर गहरे ठप्पे के साथ छाप देते हैं। 'एक कली दो पतियाँ' और 'रामा हो राम' जैसा कोरस खंड, बैक ग्राउंड में, लांगशाटी आवाज सा, गूंजता जाता है और उस पर मुख्य गीत चलता जाता है। स्थायी कोरस के नोट को, पीछे से उठाकर, तेज समानांतर से, अनिल दा यूँ मिलाते हैं, जैसे जंगल से एक जलधार, कट मारकर, नदी के बड़े जल में समा गई हो। यह आयोजन तकनीकी कल्पना और 'नास्टेल्जिया' जगाने की ऐस्थेटिक समझ का अनोखा नमूना है, जिसे अनिल दा ही सिरज सकते थे। फिर यह देखिये कि गीत के भावपक्ष को उन्होंने कितना मधुर और मर्मस्पर्शी बनाया है। भोजपुरिया ग़रीबी, उसकी सामूहिक वेदना, उसकी कातरता और 'विधनापरस्ती' हाथ से छूटे खपरी के सत्तू सा, हमारे मन की मुँई पर, पसर-फैल जाती है। यह कोरस गीत कारुण्य में अपने सभी भाई-बहनों को पार कर गया है और अनिल दा को उनकी मौत के बाद और भी याद करने के लिए विकल कर गया है। ऐसे अनोखे अद्भुत कम्पोजिशन, मनुष्य के खोपड़े में से, वही विधाता पैदा करता है, जो हमारी मुस्कान है, हमारा आँसू है, हमसे पखारा हुआ पाँव है।

000

गीत के बाद कुछ सूचनाएँ बाद में। पहले टैक्स्ट पढ़ जाइये-

000

हेमंत (धीमी आवाज में)-एक कली दो पतियाँ जाने हमरी सब
बतियाँ, एक कली दो पतिया.....हो रामा
(पृष्ठभूमि में महिला कोरस)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

एक कली दो पतियाँ.....सब बतियाँ

(कोरस फास्ट होना। तीन बार यही मुखड़ा। फिर)

मीना कपूर : हो हमरी सब बतियाँ - (2)/कोरसः हो राम सब बतियाँ

(मीना फिर से/कोरस फिर से)

कोरस : एक कली...सब बतियाँ....(2)

(अंतरा -1)

लता : बगिया में लहराये आँचल, पवन चले मतवाली

कोरस : ओ राम हो रामा।

लता : ओ रामा रे, रामा रे, हो!

मीनाकपूर : फिर भी मन की बगिया सूखी, कब से उजड़ी कब से भूखी

फिर भी मन की बगिया सूखी हो ऽऽऽ

फिर भी..........कब से भूखी

सावन आये, भादो जाये, पर हैं अपनी वही बतियाँ

कोरस : एक कली दो...... सब बतियाँ (2)

(अंतरा -2)

लता : छोड़ छाड़ घर बार को अपने आये देश पराये

कोरस : हो रामा, रे रामा

लता : पापी पेट ने देखो हमको क्या क्या रंग दिखाये

कोरस : हो रामा रे, रामा रे

लता : जब भी घर की याद सताए, हमसे इक पल रहा न जाए

हो ऽऽ, जब भी घर की याद सताए-होऽऽऽ

जब भीघर की .....रहा न जाए

निस दिन बरसे, निस दिन तरसे, रोयें सारी सारी रतियाँ

कोरस : एक कली दो पतियाँ....जाने हमरी सब बतियाँ

(आरोह) हमारी सब बतियाँ, ओ रामा सब बतियाँ

एक कली.......सब बतियाँ

(गीता का दूसरा भाग)

(पृष्ठभूमि से उठता कोरस, जैसे दूर से आता) हो रामा हो, दैया, हो राम...(3)

मीना : (धीमी आवाज/बदली धुन) एक कली.......बतियाँ

क्या-क्या जुलुम हम पे ढाये रे ''बिदेसिया'' (अर्थात अंग्रेज हाकिम)

(कोरस फिर बैक ग्राउंड से उठता)

हो रामा हो, हो दैया रामा हो...(3)

मीना (धीमे) से : हमरी कमैया पे मोज उड़ाये बैरी...(2)

हमही को अँखियाँ दिखाए रे बिदेसिया

कोरस (फास्ट होकर) : हमही को अँखियाँ ....(3)

हो रामा हो, हो दैया रामा हो...(3)

मीना : (विषाद स्वर में) : खून पसीने ऽऽऽ/खून पसीने से, बगिया को हम सींचे,

खून पसीने से, बगिया को हम सींचे,,

बैठे बैठे हुकुम चलाये रे बिदेसिया

कोरस : (तेज स्वर/पीछे लौटता) बैठे बैठे हुकुम चलाये रे बिदेसिया.....(2)

....और महान सिने-संगीत-शिल्पी अनिल दा का यह ऐतिहासिक कोरस गीत यहाँ समाप्त होता है। अगर आपने गीत के संपूर्ण पाठ को एक एक अक्षर पढ़ लिया है, तो प्रेम धवन की यह रचना बतलायेगी कि आसाम के चाय-बागानों में देशी मजदूरों ने, अंग्रेज मालिकों के हाथ, कितना शोषण भुगता था, कितनी पीड़ी भुगती थी। 'बैठे बैठे हुकुम चलाये रे बिदेसिया, और दो पल छाँव में बैठकर पानी भी नहीं पीने देता। उसका हंटर सटाक्।

0 0 0

यह गीत फिल्म 'राही' का था, जो सन् 1953 में बनी थी। नया संसार के बैनर तले, जो ख़्वाजा अब्बास का अपना बैनर था, खुद अब्बास साहब ने यह फिल्म बनाई थी। इसका एक संस्करण अंग्रेजी में भी ज़ारी हुआ। कथा बाहर से ली गई थी। वामपंथी विचारधारा से पोषित इस गौरवमयी, उद्देश्यपूर्ण फिल्म में देवआनंद, नलिनी जयवंत, बलराज साहनी और डेविड वगैरह ने काम किया था। फिल्म के सभी गीत हिट हुए थे- 'यह ज़िंदगी है इक सफर, कभी इधर कभी उधर (हेमंत)/ जुल्म ढा ले सितम ढा ले, हमारे भी कभी दिन हैं आने वाले (हेमंत, लता, मीनाकपूर व कोरस) चाँद सो गया तारे सो गये, सो जा मेरे लाल (मीना कपूर) और लता का यह अमर गीत, जो हर्ष और विषाद के मूड में, दो बार गाया गया है -'रुक जाना ओ ऽऽऽ आने वाले राही एक पल रुक जाना/तथा/ओ जाने वाले राही एक पल रुक जाना।'

कहने लायक ख़ास बात यही है कि अनिल विश्वास ही आज के इस मुख्य गीत में यहाँ से वहाँ तलक याद आते हैं। इतना जटिल, विराट, सम्मोहक और आला दर्जे का 'कंपोजिशन' देकर उन्होंने साबित कर दिया है, वे एक कंपोजर-जीनियस थे, जिनके पहले और बाद इस तरह की मिसाल नहीं आई 'यह भी नोट कीजिये कि ऐसी 'सरल' और जटिल संयोजना में जहाँ मेलडी को अक्सर कुरबान होना पड़ता है, 'राही' के इस गाने में, अपने अन्य गानों की तरह, उन्होंने भरपूर मिठास

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

को जगह दी। आप गीत को सुनिये। मुग्ध हो जाएंगे। आज अनिलजी हमारे बीच नहीं हैं, पर जब जब 'राही' का यह विलक्षण गीत, मेलॉडियस कन्स्ट्रक्शन, हमारे कानों में पड़ेगा, हम सर झुकाकर मानने को मजबूर होंगे कि सामाजिक यथार्थ, शाब्दिक संक्षेपण, माधुर्य, इंटेस इमोशनल अपील, और चुस्त आर्केस्ट्रेशन को एक ही झंडे तले लाया जा सकता है ओर दुनिया को एक ऐस्थेटिक, शीर्षस्थ कृति दी जा सकती है। यह सब हिन्दी सिनेमा में हुआ और हिंदी सिनेमा ने किया, इसलिए हिंदी सिनेमा को प्रणाम। और प्रणाम उस आम जनता को भी जो सिनेमा देखने जाती है और प्रसंगवश स्मरणीय, कालजयी सिने-संगीत के जन्म और विरासत का कारण बनी। यूँ कैफे-कैंपस के बुद्धिवादियों, युनिवर्सिटिया आचार्यों और जनेऊधारी महापंडितों को लेकर मुझे कुछ नहीं कहना है, जिन्हें कुछ भी पसंद नहीं आता, सिवा उसके जिसका वे झूठे गौरव और कुत्सित सुख के साथ खंडन, विध्वंस और छीछालेदर कर सकते हैं। हाँ वैसा सिनेमा में चला जाये, तो उन्हें एतराज नहीं है। 'अब सरवा चला गवा, तो हमहू यही चाहत रहन। मुदा, बोला जी केहु से।' प्रिंसिपली, हम उसका अभी भी अपोज करता हूँ।' ...अंत में धन्यवाद प्रसिद्ध फिल्म-रेकार्ड-संग्राहक सुमन चौरसिया, बड़ा सराफा, इंदौर को, जिनके सौजन्य से 'राही' का यह गीत विवेचन के लिए प्राप्त हुआ।

□□□

प्रो.आर.एस.यादव 'अजातशत्रु'
608, शिवशंकर अपार्टमेंट
रेलवे स्टेशन एरिया
उल्हासनगर-421004
फोन : 0251-2586084
पलासनेर-07577-275409

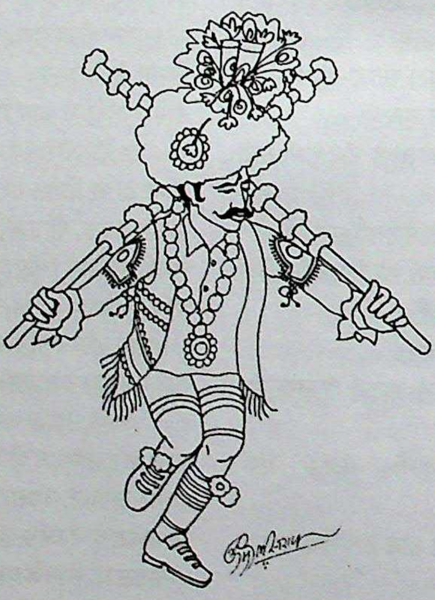

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मैंने लाहौर देख लिया

पद्मा सचदेव

ठसाठस भरे जहाज में एक बच्चे की खुशनुमा आवाज पुरवाई की तरह नमूदार है। 'अब्बू, अब जहाज उड़ेगा। देखना, अब्बू अभी उड़ेगा।' अब्बू की आवाज कहीं से भी न आई पर विमान परिचारिका का स्वर गूंजा। 'बिस्मिलाउर्र रहमाने रहीम। अस्सलामालेकुम, ख्वातीनों हजरात, अब हमारा जहाज लाहौर के लिए रवाना हो रहा है।' पाकिस्तान की तमाम उड़ानों पर तम्बाकू की मुमानियत है।

उर्दू सुन कर जी जुड़ा जाता है जैसे अपने आप का बहुत दिनों बाद देखा हो। 'असद अपनी बोली मुहब्बत की बोली, न उर्दू न हिंदी न हिंदोस्तानी।'

उर्दू मुझे बहुत अच्छी लगती है। ये न सिर्फ तहजीबो तमद्दुन की जुबान है वरन मुहब्बत की जुबान भी है। एक खूबसूरत धुन हो जैसे ।

पहले सितार की धुन, फिर बांसुरी की फिर वायलिन की जहाज में बज उठी है। जहाज उड़ चला है। मुझे अपनी मां की आवाज जैसे सुनाई देती है।

'ए कुड़िए, तेरी खल्लड़ी च डर नी । जब तुम पेट में थी तो तुम्हारे पिता जी मुझे लाहौर दिखाने ले गए थे।' ओह तो क्या मैं अब तक मां के पेट में ही थी। आज पैदा भी हो गई हूं। कहते भी तो हैं।

'जिन्न लाहौर नेई देक्खया ओ जम्मेया ही नेई। (जिसने लाहौर नहीं देखा वो पैदा ही नहीं हुआ) लाहौर के दीवाने तो कम से कम यही कहते हैं।

सहाब कजलबाश पाकिस्तान की शायरा कहलाती थीं पर पैदा दिल्ली में हुई थी। बंटवारे के वक्त रेडियो में उद्घोषक की ऐसी शहद घुली आवाज थी। रोंगटे खुल जाए। दिल्ली क्लाथ मिल वालों के मुशायरे में आई तो उनका ये शेर किसको न रुला गया।' दिल में यादों के ले के अफसाने, ऐ वतन आए तेरे दीवाने।' लंदन में उनका घर बंटवारे के पहले का हिंदोस्तान था। हाय री सहाब आपा पाकिस्तान जाकर ये भी सुना अब वो नही रहीं।

जहाज की खिड़की के बाहर आसमान अपने महबूबी रंग बिखेरने के बाद हैरानकुन खड़ा है। दिल्ली दूर हो चुकी है। एक कढ़ाई की हुई खूबसूरत चटाई की तरह लाहौर नीचे जमीन पर बिछा पड़ा है। छोटे-छोटे घर, बाग, पानी, हरियाली। यही लाहौर है। ऊंची इमारतों के कबूतरी दीड़बे मुझे अच्छे नहीं लगते। ज़मीन का स्पर्श न मिला तो क्या मिला।

हवाई अड्डे में से निकलने में कोई परेशानी न हुई। अड्डे के बाहर कई रिपोर्टर, पीले गेंदे की मालाएं लिए, लेखक, दोस्त, टीवी के, अखबारों के रिपोर्टर, कुछ छोकोर कम कम से, हार बहुत ज़्यादा। मैंने भी गले में डाल लिए हैं। ये सारी भीड़ उर्दू के रुहे रवां, नक़्काद, लेखक गोपीचंद नारंग साहेब के लिए है। कई लोगों की ड्यूटी हमें हमारे होटल हॉलीडे इन्न में पहुंचाने की है। कुछ रिपोर्टर हमारी तरफ भी आते हैं एक ख़वातीन पूछती हैं, 'आप पहली बार आई हैं।' मैंने कहा, 'अभी तो घुसी हूँ, हाँ पहली बार आई हूँ।' उसकी सवालया निगाहों का जवाब मैं देती हूँ, मैं डोगरी भाषा की कवियत्री हूँ, हिंदी की लेखिका हूँ। पाकिस्तान आने का बड़ा इश्तियाक था।

एक लंबा ऊंचा गोरा सुंदर सा लड़का आकर कहता है, 'आंटी मैंने अपको होटल में ले जाना है।' तो चलो कहां है तुम्हारी गाड़ी? वो स्टीयरिंग पर बैठता है मैं आगे उसी के साथ बैठती हूँ। इतना सुंदर लड़का देखकर आंखें जुड़ा जाती है।

आंटी आप पहली बार आई हैं न? हां बेटा इसीलिए लाहौर को देखूंगी नहीं पियूंगी। आंटी मैं आपको शहर दिखाता हुआ ले चलता हूँ। ये गुलबर्ग है। बहुत बढ़िया दुकानें हैं, रास्ता दिखाने वाला सुंदर बेटा आंटी से मेल नहीं खाता। कितना कुछ दे गए हैं अंग्रेज़ हमें, उसमें आंटी भी है न। वो मुझे मां जी कहने लगता है। अभी-अभी पैदा हुए मेरे बेटे का नाम मंसूर फ़िरोज खां है। जियो मेरे लाल।

हालीडे इन्न होटल काफी भव्य है जैसा कि होता है। मेरा कमरा भी सुंदर है। नीचे की लॉबी खूब बड़ी और भव्य है। एकतरफ लंबा चौड़ा सा डायनिंग हॉल है जहां लाजवाब खाने हैं, मुस्तैद परोसने वाले। लॉबी में बाकी के लोग भी आ गए हैं। अपने-अपने कमरों में जा रहे हैं। उन्हें छोड़ने आए लड़के मंसूर मियां के दोस्त हैं। उनमें

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

एक एम.पी. है बाकी के ज्यादा वकील। सभी मुझे ऊपर छोड़ने आए हैं तो कमरा भर उठा है। गपबाज़ी शुरु हो गई। गपबाजी में ये छोकरे मेरा क्या मुकाबला करते। गपबाज़ी के बीच चाय भी आ गई है। उसका भारी भरकम बिल, मंसूर मियां ने दिया है। मैं देख रही हूँ इन लड़कों को कोई फ़िक्र नहीं है। खुश बशाश और बिंदास। अभी तक किसी की शादी भी नहीं। हुई है मालिक इनको हमेशा खुश रखे।

उनके जाने के बाद मैंने खिड़की से पर्दे खोले हैं। सामने एक निहायत भव्य और उम्दा बिल्डिंग खड़ी है। पता चला ये बिल्डिंग अल्लामा इकबाल की याद में है। इकबाल साहेब, अभी भी सारे जहां से अच्छा हमारा हिंदेस्तान ही है।

लड़के चले गए तो हैं पर कमरा अभी उनकी खुशी व बेनियाजी की खुशबू से भरा हुआ है। मैं अपने साथ कुछ किताबें लाई थी। अंग्रेजी और उर्दू की, वो बांट दी है। हिंदी यहां बहुत कम लोग पढ़ते हैं। शायद नहीं ही पढ़ते।

अगले दिन तीन तारीख को लाहौर में अंतर्राष्ट्रीय पुस्तक मेला का उद्घाटन करने आए हैं। भारत के कई चेहरे यहां चमक रहे हैं, ये चमक लेखकों के लफ़्जों की लड़ियों से मिली होगी। खुशी होती है। हाल खचाखच भरा है। हम लोगों को बड़े सम्मान से बिठाया गया है। कार्यक्रम बड़ा भव्य है। सम्मानित होने वालों में हमारे नारंग साहेब भी हैं। उनकी पत्नी मनोरमा का सुंदर चेहरा खुशी से दमक रहा है। पुस्तक मेले में साहित्य अकादमी का भी स्टाल है। उर्दू की पुस्तकों की किताब इतनी सुंदर हैं कि मैं किसी पुरानी लाइब्रेरी को याद करने लगी हूँ। जो किताबों से प्यार करते हैं उनके दिल का अरमान है इनके मुखपृष्ठ। मेला भर गया है। सुंदर खवातीन मास्टरनिया, तलिकिलम मास्टरनियों में कई सुंदर काले बुर्कों। में हैं। लड़कियों की लाइन लगी है। एक मोटी लड़की जो शायद मोनीटर है उसमें मास्टरनियों के सारे गुण हैं, मैं सोचती हूं बड़ी होकर नामी मास्टरनी होगी। मैं थम कर एक स्टाल के पास खाली जगह में पड़ी कुर्सी पर बैठ कर तमाशाए अहले करम देख रही हूं। एक तरफ हर दिल अजीज़ नामी शायर फ़राज अहमद लोगों से घिरे अपने सिगरेट का धुआं उड़ा रहे हैं।

इसके बाद हम पाकिस्तान के प्रेस क्लब में गए हैं। लोग स्वागत में खड़े हैं। बड़ा सा हाल। हम लोग बैठ गए हैं। अभी नारंग साहेब नहीं आए। थोड़ी गप भी चल रही है। सब उर्दू बोल रहे हैं एक आवाज आई। 'ओए या पंजाबी बोले सचे बी लग्गे' (यार पंजाबी बोलो ताकि सच भी लगे) बात फरीद पर हो रही थी। एक आवाज आई भइ फरीद के क्या कहने उसे तो बंटवारा भी न मार सका। एक और आवाज़।

'अदब में तजुर्बे ज़रुरी है।' अदब जिंदगी के लिए होता है। कोई भी बड़ा लेखकर एस्टैब्लिशमैंट का दुमछल्ला नहीं हो सकता। सब जगह तर्जुमे का बड़ा जोर है। यहां पाकिस्तान में एक 'अमनदस्ता' भी है जो अमन चाहता ही है साथ में ये भी कहता है कि डिफेन्स बजट की जगह किताबें बांटो। एक अमन फैस्टिवल भी हो रहा है। अब अमन की बात खुल कर होने लगी है।

एक खातून ने पूछा, पाकिस्तान में कैसा लग रहा है। उसने मुस्करा कर पूछा था मैंने हंस कर जवाब दिया।' ये तो बिल्कुल ही नहीं लगता कि किसी दूसरे मुल्क में आए हैं। यूं लगता है जैसे मां ने अपनी गोद में से उठा कर पड़ोसन की झोली में डाल दिया हो।'

मैं सोचती हूं हम लोग इस कदर जुड़े हुए थे कि बंटवारा भी ठीक न हो सका था। उस बंदरबांट में बुरी तरह से बिछड़े अब मिलने में भी मुश्किल न होगी । जब मंसूर ने मुझे मां जी कहा था तब पूरा पाकिस्तान जैसे एक बच्चे में बदल गया और मैं उसे आंगन में देखने लगी।

रास्ते सुंदर हैं। दरख्तों पर कई रंगों के फूल खिल कर बहार के आने का ज़िक्र छेड़ रहे हैं। शायद आ चुकी है। मीर कहते थे– 'ऐ मीर इश्क पेचां इक आज नजर आई, शायद कि बहार आई जब भी नज़र आई।'

सप्तपर्णी के फूल अपनी महक से आसपास की हवा को मुअत्तर कर रहे हैं। लाहौर महक रहा है। लाहौर का जिक्र मैंने सबसे पहले अपने छोटे भाई के पैदा होने पर सुना था। वो माशालअल्ला अगले महीने रिटायर हो रहा है। चूजे जैसा था। औरतें गा रही थीं– 'अखें, एड्ड सिर गुन्दिए, कैन्ते दिए लाडलिए। अखें ल्हौरे दा कंगियां नोआओ, जे नाजो आखदी ए।' (केत की लाडली सिर गूंथ कर बैठ जाओ। नाजों की पली कहती हैं लाहौर से कंघी मंगवाओ तब केश सवारुंगी।)

आज चार मार्च है। एक छोटी बस में सवार होकर हम लाहौर देखने जा रहे हैं। माल रोड है कनाट प्लेस की तरह, लगती है। आगे लाहौर हाईकोर्ट है यहां बरसों पहले इसमत चुगताई व सआदत हसन मंटो पर अश्लीलता के आरोप का मुक़दमा चला था। इसमत आपा की 'लिहाफ' और मंटों की 'बू', आपा कहती थीं हाईकोर्ट से आकर मैं और मंटों सीधा अनारकली से जूते खरीदने गए थे। मैंने भी हंस कर रहा था इसके बाद जूते ही खरीदने चाहिए थे।

 CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लाहौर का सबसे बड़ा पोस्ट आफिस पुरानी अनारकली नई अनारकली। सड़क के बीचोंबीच एक जगह क्या भव्य तोप पड़ी थी। ड्राइवर कह रहा था महाराजा रणजीत सिंह दुश्मन से ये तोप छीन कर लाए थे। वारिस शाह की मज़ार, ख्वाज़ा गेट, और इसलामिया कालेज, इसी कालेज में बलराज साहनी और देव आनंद पढ़े थे। डीएवी कालेज लाहौर में मेरे पिताजी पढ़े थे। पुराना हो गया अब वहां कुछ और बन रहा है। ड्राइवर ने ही बताया। असल में ड्राइवर बड़ा ही दोस्त किस्म का पंजाबी था। उसकी सारंगी बजती ही रहती। उसने एक कैसेट भी लगा दी तो मैंने कहा या लाहौर देखूं या गाना सुनूं दोनों ही सुंदर है। उसने तपाक से कैसेट बंद कर दी।

रणजीत सिंह की मढ़ी बड़ा-बड़ा दालान शांत और प्रेमिल यहां बैठ कर सुस्ताने का जी चाह रहा है। महाराजा रणजीत सिंह की समाधि खूब भव्य है। इसके साथ ही शाही मस्ज़िद भी है जैसे चांदनी चौक में गुरुद्वारा साहब हैं वहीं पांचवीं पादशाही के गुरुद्वारा में मैं और मनोरमा गए वहां भाई साहेब जी ने लंगर छकने का आग्रह किया पर चूंकि सब लोग बस की तरफ जा रहे थे हमने परशाद पर संतोष कर लिया। बस के बाहर सब गाजर मूली की चाट खा रहे थे। कमबख्त हमेशा ही स्वादिष्ट होती है। गुरु अर्जुन देव जी के गुरुद्वारे में जैसे साक्षात गुरुजी विराजमान थे। मनोरमा मन की बड़ी साफ और सीधी हैं, उनको तो रोमांच हो आया। उन्हें देख कर मैंने सोचा, कैसे-कैसे विद्वान लोगों को कैसी अच्छी पत्नियां मिल जाती हैं। नारंग साहेब भाग्यशाली तो हैं। कोई शक? लव के नाम पर बना ये लाहौर ऊपर से दीवाने आम खूब आवा जाही है। बादशाह के तख्त पर कभी मक्खी भी सोच कर जाती होगी आज मच्छर तड़ातड़ तस्वीरें खिंचवा रहे हैं। किले में बादशाह की पांच ख्वाबगाहें हैं मैं सोचती हूँ आज बादशाह पता नहीं कौन सी ख्वाबगाह चुनेंगे। बारहदरी में बारिश देखने के लिए एक बाग है। भइ मजे तो कर गए बादशाह। शीशमहल में काम हो रहा है। कुछ लड़कियां भी पेंटिंग कर रही हैं। बड़े मियां नुक्स निकाल रहें हैं। उसके बाद हम बादशाही मस्जिद में गए। नमाज़ का वक्त था। अजान हुई और लोग सजदे में गा गए।

हमारे मेजबानों में एक साहेब की ससुराल जम्मू में है। उनका नाम है ऐजाज एहमद 'अजार'। मैंने छेड़ा मिया जम्मू में ससुराल है मेरी तो यहीं लाहौर में है। किशन नगर, चौक फातिमा। आजर खुश होकर बोले लो आपा बराबरी हो गई। वापिसी पर बांई ओर एक शाही मुहल्ला बताया गया जहां तवायफें रहती हैं। आजर कहने लगे मेरी नज़्म की चंद लाइनें सुनिए। इरशाद 'बरक़त से परे तेरा वो बाजार सजा है, अफलास जहां कौड़ियों के मोल बिका है। बैठी वो दरीचे में है एक हव्वा की बेटी, तजलील पै मजबूर है तकदीर की हेठी। मस्ज़िद के साए में ये खुराफ़ात का मंजर, भरपूर तमाचा है ये तहजीब के मुंह पर। जरदारी के कांधे पे ये अफलास का तोशा, आ देख ऐ इकबाल गरीबों का तमाशा।'

लाहौर की अनारकली और दिल्ली का चांदनी चौक शायद आशिक माशूक हैं। एक ही सांस जैसे दोनों लेते हैं। मैं, मनोरमा और ड्राइवर हम अनारकली गए। भरी भरी अनारकली देख ट्रक पर पढ़ा एक जुमला याद आया। 'अनारकली भर के चली।' खूब भरी भरी थी अनारकली। वहां हमने कुछ दुपट्टे, कुछ जूते, सुरमा, कढ़ाई की वस्तुएं और मैंने अपनी बेटी के लिए एक सुंदर अंगूठी खरीदी। मनोरमा की खरीदारी ज्यादा बहू के लिए है। बहू और बेटी में आजकल कोई फ़र्क नहीं।

एक दुकानदार ने लाजवाब चाट खिलाई। हमारा ड्राइवर भी साथ था। चाट खाता सी सी कर रहा था। मैंने श्रीनगर में अपनी बहनों के लिए नमाज पढ़ने के दुपट्टे खरीदे। दुकानदार कुछ हैरान था। उसकी हैरानगी बढ़ाने के लिए मैंने बड़ी आजिजी से एक शेर पढ़ दिया। 'दैर हबीब भी है बुतकदा भी काबा भी, ये देखना है सुकूं अब कहां से मिलता है।' वो हैरान होकर मुझे देख रहा था।

शाम को टाउन हाल में सेमिनार था। पूरा हॉल भरा हुआ था। मुझे बोलने का मौक़ा मिला। तो मैंने कहा मैं जब से यहां आई हूं ये पता नही चल रहा कि मैं मैके में हूं या ससुराल में। चूंकि ये शहर मेरे ससुरालियों का है तो चाव में कहीं कमी नहीं दिखाई देती मैके जैसा हम और अपनापन लिए कई भाई भी मैदान में हैं। लोग काफी भावुक हो गए थे। चाय भी ज़ोरदार थी।

उसी रात एक बड़ा ही अनूठा रात्रिभोज हुआ। न पहले देखा न सुना। लाहौर का ग्वालमंडी बाज़ार आसपास खाने की दुकानें बीच में चौड़ी सड़क पर मेज कुर्सियों। हजार के क़रीब तो लोग होंगे ही सौ के लगभग तो हम लोग ही थे। सारी दुकानों पर लजीज खाने की खुशबू की लपटें उठ रही थीं। हमारी मेजें तरह तरह के गोश्त के साथ भर गई थीं। खाए जाओ, खाए जाओ, घर भी अपना पेट भी अपना। बाजार के सिरे पर पानवाला भी था। दुकानों की छतों पर हवेलीनुमा बंद खिड़कियों की झिर्रियों से क्या कोई झांक रहा होगा। कुछ पता न चल पाया। फिरनी की एक पर दूसरी मिट्टी की तशतरी को टुक्की कहा जाता है। टुक्क़ी फेंको। दनादन फिरनी उड़ रही थी। खाने

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

के बाद पानवाले के पास भी कई लोग गए। एक ने कहा। पान आपके मसाला हमारा। मैंने कहा पान भी आपके ही हैं। एक तरफ ऊंचे लंबे मिरासी लड़के टनाटन ढोलक पर गा रहे थे। माही मैकू छल्ला पवा दे, खिच्च मेरी फोटू विच्च बटुए दे ला दे।' (माही रे माही मुझे छल्ला पहना दो। मेरी तस्वीर खींच कर अपने बटुए में लगा लो।)

वहीं एक लड़के ने मेरी बिंदी की तरफ इशारा करके कहा। क्या ये बहुत महंगी होती है? मैंने कुछ नहीं, तुम्हें चाहिए क्या वो शरमा कर चला गया। मैंने सोचा इसने मीर का ये शेर कहां सुना होगा। 'लड़के बिरहमनों के हिंदोस्तां में देखे। संदल भरी ज़बीं है होंठों में लालिमा है।'

लाहौर में रोज ही रात्रि भोज होते रहे एक दिन दोपहर का खाना 'विलेज रेस्त्रां' में था। भीतर घुसते ही लगा किसी दूसरी दुनिया में आ गए हैं। बड़ी आवभगत तरह तरह के खाने सिर्फ कश्मीरी वाजवान से कम पड़ते हैं। मैंने एक दो चीजें लीं और मकई की रोटी तोड़ने लगी साथ में बैठी एक लड़की हंस हंस कर कुरबान हुई जा रही थी। लेखिका, संपादिका के अलावा भी कुछ थी बड़ी प्यारी सी शख्शियत। साड़ी पहनती थी। वैसे पाकिस्तान में कई औरतें साड़ी पहनती हैं। उसने टाउन हाल में मुझे सुना था। कहने लगी बताइए डोगरी कैसी होती है। मैंने कहा बिल्कुल मेरे जैसी, जैसी मां वैसी बेटी। उसके इसरार पर मैंने उसे डोगरी की एक रुबाई सुनाई। पहले कलाड़ी का अर्थ समझाया। वो ध्यान से सुन रही थी। हमारे यहां गूजरों के घर जब पहाड़ पर बसते हैं तो दूध दही बहुत ज्यादा होता है। दूध दही को उबाल कर पानी मवेशियें को पिला दिया जाता है और बचे हुए पनीर से गोल गोल आटे के पेठे बना कर सुखा लिए जाते हैं। फिर कोई नीचे सामान लेने जाता है तो इन्हें बेच भी आता है। इन्हें कलाड़ियां कहते हैं। डोगरे कलाड़ियों के बड़े शौकीन हैं। इन्हें धीमा आंच पर तवे पर रख कर भूनते हैं इनमें से घी भी निकलता है और फिर सिंकी हुई कलाड़ी पर नमक बिखरा लो, कौन खाए और कौन छोड़े। खैर ये तो हुई भूमिका अब सुनो रुबाई- 'अऊं घमाई ऐ शवालक प्हाड़िया, म्हाला दिया निज नमियां लाड़िया, इन्दिए तैइऐं च बैई गुजरी कोई, गुज्ररै तै तला दी कलाड़ियां।' (मैं अपनी शिवालिक पहाड़ियों पर कुरबान जाऊं ये हिमालय की नित्य नई प्रेमिकाएं हैं इनकी तहों में बैठ कर कोई गूजरी अपने गूजर के लिए कलाड़ियां तल रही है।)

वो लड़की दूसरे दिन जब मुझे रात्रि भोज पर मिली तो कहने लगी। आपा आपकी रुबाई मेरी रुह में है और अब तक आधे लाहौर के दिल में है। पास की मेज पर कोई कह रहा था। यार बचपन में एक घर की मुंडेर पर कबूतरों का जोड़ा दिखाई देता था, और यकीन जानिए उन कबूतरों को देख देख कर हम जवान हुए हैं। हा-हा-हा। हम दोनों भी एक दूसरे को देख कर मुस्करा उठीं

रात्रि भोजों में एक मजेदार बात थी। एक वायलिन वाला हर टेबल के पास जाकर वायलिन बजाता। वायलिन पर अक्सर लता मंगेशकर के गाए गीत बजते । लोग अपने अतीत के स्वरों में खो जाते। दीदी के गीत जैसे अतीत की किताब के फड़कते पन्ने। 'बड़े अरमान से रखा है सनम तेरी कसम, प्यार की दुनिया में ये पहला कदम। मेरा लाल दुपट्टा मलमल का। आजा सनम मधुर चांदनी में हम। सावन का महीना पवन करे सोर।' लोग झूमते रहते एक ने वायलिन वादक को कहा- यार कुछ अपना भी है या नहीं अपना बजाओ। वायलिन वाले ने बजाया- 'चांदनी रातें सब जग सोए हम जागें तारों से करें बातें, चांदनी रातें....।' मैं मुस्कुराई क्या ये गीत इनका है। ये तो हम सब का है। जैसे हवा को कोई नहीं बांट सकता वैसे ही गीतों को कोई नहीं बांट सकता।

इस्लामाबाद में उर्दू की अंतर्राष्ट्रीय क्रान्फ्रेंस की वजह से जगह की तंगी थी। सारे होटल भरे हुए थे। अहमद फराज साहेब ने कुछ लोगों को पोस्ट आफिस के गेस्ट हाउस में ठहराया हुआ था।

शाम को इस्लामाबाद के एक बाज़ार में थाली जितनी बड़ी जलेबियां बिक रही थीं हम सबने गरमागरम जलेबियां खाई और बाज़ार में सूखे मेंवों की दुकानों में खरीदारी की।

उर्दू की अंतर्राष्ट्रीय कांफ्रेंस में पूरी दुनिया से नुमाइंदे शामिल हुए जब फ्रांस, चीन, जापान व और कई मुल्कों के लोगों ने उर्दू में भाषण दिए तो मज़ा आ गया। हमारे नारंग साहेब ने उर्दू में बोल कर समां बांध दिया, उनकी विद्वता के यहां हर रोज़ चार चांद लग रहे हैं। मैं अकबर का ये मिसरा बार-बार याद करती हूँ। 'आंखें मेरी बाकी उनका'। पाकिस्तान की सरजमीं में उर्दू-उर्दू हो रही है। एक मिसरा हुआं: 'तुम मेरी यादों में खेलों, मैं तेरे सपने में गाऊं।' फिल्मी गीत का मुखड़ा तो हो ही गया। सुनों माएं क्या कह रही हैं। हम जवानी में अपने बच्चे गंवा कर बहुत दुखी हैं। अब हम बच्चे पैदा न करेंगी।

□□□

बी/242, चितरंजन पार्क
नई दिल्ली-110019
फोन- 011-26278786
मो. 9811147654

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अमेरिका और उसके आमिश

सुवास कुमार

कोई नौ वर्षों के बाद पिछले साल मार्च में जब दुबारा अमेरिका जाना हुआ तो हमने प्रवास के छह महीनों में मन-माफिक पढ़ने और घूमने-फिरने का ही तय कर लिया था। वही किया भी। पिछली यात्रा में भी हम पर पूरमपूर सैलानी भाव ही था मगर डेढ़-दो महीने की उस संक्षिप्त-सी यात्रा में अमेरिका का 'अ' देखना भी संभव नहीं था। देश ही इतना बड़ा और विविधताओं-भरा है। और देश भी क्या-पूरा महादेश ही तो है। शायद ही कोई सूरमा इसका चप्पा-चप्पा छान मार चुकने का दावा कर सके। उस बार हम मिसीसिपी, न्यू ओर्लियन्स पिट्सबर्ग, कैनेडी स्पेस सेंटर और प्लोरिडा के ही डिज्नी तथा फिल्म स्टूडियोज ही देख सके थे। इस प्रवास के दौरान ज्यादा राज्यों/नगरों में घूमना और अमेरिका को थोड़ा निकट से देखना ही हो पाया।

हैदराबाद से हम-पत्नी शांति और मैं-फ्लोरिडा के लिए रवाना हुए थे पर इन दोनों शहरों के बीच कोई सीधी विमान सेवा उपलब्ध नहीं है, सो जर्मन विमान लुफ्तहान्सा और अमेरिकन एयरलाइन के तीन तरह के एयरक्राफ्टों में-वाया फ्रैंकफर्ट और कैरोलाइना के हवाई अड्डे-सफर करना पड़ा। एयरक्राफ्टों की अपनी अलग ही दुनिया होती है- कितने तो प्रकार इनके होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय उड़ानों वाले बड़े विमान किसी छोटी-मोटी इमारत से कम थोड़े हैं। फिर उनमें भांति-भांति के लोग, भिन्न-भिन्न पोशाकें, तरह-तरह की भाषा-बोली मिलती है। अन्तर्राष्ट्रीय उड़ान सेवा से जुड़ी विदेशी कम्पनियाँ अब भारतीय यात्रियों और उनकी भाषाओं की उपेक्षा नहीं कर पाती। भारत आने वाली विदेशी कम्पनियाँ, चाहे डेल्टा हो या कोई और, दशकों पहले से हिन्दी में भी घोषणाएँ करती आ रही हैं। अब जबकि यात्रियों की संख्या दिनानुदिन बढ़ती जा रही है ऐसी हालत में ट्रैवल एजेन्सी स्वभावतः बड़ा व्यवसाय बन गयी है जिनके लिए यात्री एक व्यापारिक वस्तु बनकर रह गया है। यात्रा-टिकट में इतने सारे 'कोड' उल्लिखित मिलते हैं कि बिरला ही कोई यात्री होगा जो कम्प्यूटर से निकाले गये टिकट के सारे कोड 'समझ' सकता हो। शायद सभी ट्रैवल एजेंट को भी नहीं पता हो। कुछ 'कोड' बनाये ही इसलिए जाते होंगे कि मामले को अस्पष्ट रखा जाए। आधुनिक टूरिज्म 'संस्कृति' का एक हिस्सा यह भी है। वैसे पर्यटकों को पटाने-लुभाने के लिए उनके पास अनेक सरंजाम होते हैं। देखने-दिखाने के लिए नित नयी जगहें और दिलचस्पियों के क्षेत्र ढूँढ़ निकाले जाते हैं। बहरहाल हम तो इसके लिए मानसिक रुप से तैयार होकर ही चले थे। फिर भी पूरा 'पाताल लोक' देखना कहाँ हो पाया। वैसे तो भारत में भी अनेक ऐसी जगहें रह गयी हैं जहाँ जा नहीं पाया हूँ, फिर अमेरिका की पूरी विशालता को नापने के लिए पर्याप्त साधन, स्वास्थ्य और समय चाहिए और वह अपने पास कहाँ? अमेरिका में भी वह सब है जो भारत में है और इन दोनों के पास अपना विशिष्ट भी बहुत कुछ है। खैर, इस बार हमनें फ्लोरिडा से लेकर जार्जिया, एटलांटा, कैरोलाइना, फिलाडेल्फिया, डेलावेयर-विलमिंगटन, बाल्टीमोर, न्यू जर्सी, वाशिंगटन आदि जगहों में जाकर वहाँ के जनजीवन की झलकियों से रु-ब-रु हुए। इसमें बहुत कुछ अगर साधारण, परिचित-सा था तो बहुत कुछ विस्मय जनक भी। पिछली यात्रा अमेरिका की हमारी पहली यात्रा थी और उसमें दो ऐसे अनुभव हुए कि तभी अमेरिका को अजनबी समझना छोड़ दिया था। न्यूयार्क में पहुँचते ही हम पति-पत्नी अपने होटल से बाहर शाम को घूमने निकले थे। सड़कें-गलियाँ पार करते हुए दूर चले गये थे। वापसी में राह भटक गये। दिसम्बर का महीना था। मौसम खराब होने लगा--धुंध बूँदाबाँदी, अँधेरा। गलियाँ सुनसान थीं। ऐसे में एक सरदार जी गली के छोर पर जाते दिखायी दिये। हमने जोर से हाँक लगाकर उन्हें रोका, वे रुके तो हमारी जान में जान आयी। होटल के रास्ते को उन्होंने अच्छी तरह समझा दिया और हम सही सलामत पहुँच गये। दूसरे दिन हम न्यूयार्क की बस में बैठकर घूमना चाहते थे। बस स्टाप पर बस के रुकते ही हम चढ़ गये, और ड्राइवर से टिकट माँगा। वह हँसने लगा और बोला कि टिकट तो आप मुझे देंगे। पता चला कि बस में चढ़ते ही ड्राइवर को टिकट देना होता है। टिकट किसी भी गैसस्टेशन (पेट्रोल-पम्प) से लिया जा सकता है। हम बस से उतर कर निकट के

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

गैस-स्टेशन में जा रहे थे। हमारे पास छुट्टा पैसे (डालर) नहीं थे, पत्नी कह रही थी कि क्या पता, काउंटर पर छुट्टा मिले या नहीं। तभी भीतर से हिन्दी में आवाज आयी-''जरुर मिलेगा, कितने डालर का चाहिए?'' फिर तो उन गुजराती सज्जन से हमारी देर तक आन्तरिकता के साथ बातें होती रही। हमें उसी बार यह अनुभव हो गया था कि अमेरिका के पास-पड़ोस के देशों के लोगों के अलावा यहाँ चीनी और भारतीय भरे पड़े हैं। इस बीच के दशक में तो अमेरिका सर्वथा अपरिचित न लगे मगर सच में यह दुनिया-भर के लिए पहेली तो है ही। अमेरिकी भी इसे पूरी तरह बूझने का दावा नहीं कर सकते। इतने विशाल, खुले क्षेत्रफल वाला देश, चौड़ी, सीधी, पूरे देश के सभी शहरों को जोड़ने वाली, चारों ओर खुले बड़े लान वाले घर जिनमें ओक और पाइन के विशाल वृक्ष सिर ताने खड़े रहते हैं-यह सब कुछ ध्यान खींचता है। इन मकानों की देखभाल कम बड़ी समस्या नहीं होती। अक्सर आँधी-तुफान में पेड़/डालियाँ टूटती हैं तो मकान के हिस्से भी उसके प्रभाव में आते हैं। इन पेड़ों से आमदनी तो नहीं उलटे उन्हें कटवाने-हटवाने में अच्छा-खासा खर्च जरुर हो जाता है। इन मकानों की एक नियमित परेशानी महीने में कम-से-कम दो बार लान की घास काटने की होती है जिसे हर अमरीकी गृहस्थ पूरी मुस्तैदी से अंजाम देता है। खुदा ही जाने इस देशव्यापी अभियान में कितने मैनपावर और मशीनों के हार्स पावर खर्च होते हैं। लेकिन इससे पूरा अमेरिका साफ-सुथरा और 'हरित-द्युति' वाला बिल्कुल हरा-भरा नजर आता है। बड़े क्षेत्रों में फैले हुए हरे-भरे/चट्टानी पार्क हजारों की संख्या में होंगे जहाँ घूमने-घामने और साइक्लिंग से लेकर कैम्प करने की बड़ी सुविधाएँ है। जब हम फ्लोरिड़ा की राजधानी तालाहासी में दाखिल हुए थे तो वह शहर वसन्तोत्सव (स्प्रिंग पार्टी) मनाने में जुटा था। ओक के अहर्निश झरते पीले परागों की परत-दर-परत तालाहासी के घरों की छतों, अहातों, कारों-कहाँ पर नहीं बिछ रही थी? इन्हें साफ करना असंभव था-उन्हें धो-पोंछ कर साफ करने के लिए एक अच्छी बारिश की जरुरत थी और लोग उसका इंतजार भी कर रहे थे। फिलहाल वे रोज ही अपने धरों के चतुर्दिक बिखरी पतझर की सूखी पत्तियों, फूल-पंखुरियों के साथ परागों को भी यथासंभव मशीनों से जितना बुहारते-हटाते, उतना ही अगले रोज फिर हाजिर। पर लोग हार मानने वाले थोड़े थे। तभी तो अमेरिका को स्वच्छ दर्पण की तरह चमका कर रखा हुआ है। भारत की गन्दगी देखते रहने की आदत के चलते अमेरिका की स्वच्छता में पाँव धरते ही सच पूछिये तो शाक-सा लगता है कि ये कहाँ आ गये? (इसका उलट शाक अमेरिका से भारत आने वालों को भी जरुर लगता है!) हमें एक दूसरी किस्म का गहरा शाक उस वक्त लगा जब Dillards माल में विज्ञापन की माडल के रुप में एक काले नस्ल की सजी-धजी, खूबसूरत, जीती-जागती लड़की को एक ही मुद्रा में घंटों खड़ी देखा। उसके आसपास छोटी-सी भीड़ जुट आयी थी। लड़की में गजब का संयम था। उसकी मुसकान न घटती, न बढ़ती थी। बड़ी देर बाद उसकी पलकें झपकने से ही उसके 'सचमुच की' लड़की होने का अहसास होता था। तब वह भीड़ छंट जाती और उसकी जगह दूसरी ले लेती। यह तमाशा नस्लवाद का नहीं, मनुष्यता के व्यवसायीकरण का था।

अमेरिका के लोगों के बहुत-सारे फितूर और जुनून मानों अलिखित कानून की तरह हैं, जिनका अभ्यास जाने-अनजाने लोग करते ही रहते हैं। सप्ताहान्त में छुट्टियाँ मनाने के लिए लम्बी ड्राइव पर निकलना (सच तो यह है कि वीक-एंड के इंतजार में ही अपने वीक-डेज बिताते हैं।) समुद्री तटों की ओर रुख करना ऐसा ही है। लोग गाड़ी के साथ (पीछे) छोटी नौका (स्पीट बोट), साइकिल, स्केट वगैरह अथवा मोबाइल हाउस ही लेकर किसी मशहूर नेशनल पार्क अथवा समुद्री तट का रुख करते हैं। अच्छी सड़कें, कारें, ऊँचा जीवन स्तर और सस्ते गैस (पेट्रोल) के चलते अमेरिका में भौगोलिक दूरी का कोई खास मतलब नहीं रहता। हमें शुरु में हरेक सप्ताहान्त इस तरह की आउटिंग पर जाना अच्छा ही लगता था। इस तरह हम तालाहासी से सैकड़ों मील दूर मैक्सिकों गल्फ में सेंट जार्ज आइलैंड सी-बीच, पनामा सिटी, हैंडरसन बीच स्टेट पार्क (जो दुनिया के सुन्दरतम समुद्रतटों में अन्यतम है) आदि जगहों में वीक-एंड गुजारनेवाले को देख आये। सच तो यह है कि समुद्र का सफेद झक किनारा, किनारे पर हलका हरा, फिर नीला, फिर गहरा हरा होते हुए शीतल समुद्री जल को देखना, महसूसना, छूना कितना पुर-सुकून और दिव्य अनुभव हो सकता है, यह वहाँ गये बिना समझा नहीं जा सकता। हमने ऐसे जल में घंटों तैरने का खूब लुत्फ उठाया। 'सी-साइड' नामक एक बड़ी-सी खूबसूरत जगह तो ऐसी थी मानो हम कोई 'पिक्चरबुक' देख रहे हों। और साफ-सुथरा, नया-निकोर, अतिसुन्दर लगे भी क्यों नहीं, जबकि एक जगह एक बोर्ड पर हमने यह लिखा पाया- KIDS AND PETS ARE NOT ALLOWED.हम घबराये भी क्योंकि हमारे साथ न केवल एक शिशु-हमारा पोता जोश-था, बल्कि उसका दुलारा ब्रूनो, लैब्राडोर नस्ल का प्यारा कुत्ता, भी गाड़ी में पीछे ठाठ से बैठा हुआ

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

था। फल यह हुआ कि हम गाड़ी में बैठे-बैठे ही स्वर्गोपम 'seaside' की सड़कों-लेनों का घंटों नजारा लेते रहे। ब्रूनो ने यहाँ भी हस्ब-मामूल अच्छी समझ का परिचय दिया यानी पूरे रास्ते चुप रहा। अमेरिका में ही, कुत्तों के बारे में मेरी जो अंध धारणा थी, वह आमूल-चूल हिल गयी। (कुत्तों को लेकर मेरी पत्नी के रवैये में कोई बदलाव नहीं दिखायी पड़ा।) इसलिए भी कि कुते को लेकर एक खूबसूरत और पुरस्कृत अमेरिकी उपन्यास ' Marley And Me' उसी बीच पढ़ी (पत्नी ने तो पढ़ने से ही मना कर दिया) पहले कुत्तों के प्रति मेरा रवैया लाग-डॉट वाला ही रहा किया था। बचपन से ही कुत्तों को गली-मुहल्ले में दुरदुराता हुआ ही देखता आया था और कुछ-कुछ वैसी ही बद्धमूल मानसिकता मेरी भी हो गयी थी। तब कुत्तों की खातिरदारी, देखभाल और उनसे लाड़-जैसी बातें सामन्ती-पूँजीवादी विलास लगतीं। पर मामला इतना सीधा नहीं। कुत्तों से मनुष्य का लगाव आदिम और प्राकृतिक है। इसका संबंध समाज के श्रेणी-विभाजन से नहीं। कुत्तों से प्यार करने वाले और उन्हें दुत्कारने वाले लोग हर जगह और हर वर्ग में मिल जाएँगे। मनुष्य की बद्धमूल धारणाएँ मगर जल्दी दूर भी नहीं होतीं। मैं हैरत से अमेरिका के पार्कों में सुबह-शाम प्लास्टिक की थैली और कुत्ते की चेन हाथों में मजबूती से पकड़े घूमते लोगों को निहारता रहा हूँ, संभवत: घृणा-मिश्रित व्यंग्य-भाव से भी। अमेरिका को साफ-सुथरा बनाये रखने में कुत्तों के मालिकों और जगह-जगह सुविधा के लिए करीने से रखी प्लास्टिक की थैलियों की भी छोटी-मोटी भूमिका है। कुत्तों से प्यार तो हमारे देशवासी भी करते हैं पर पूरे मुहल्ले को गन्दा बनाकर।

अमेरिका में एक और जुनून मई महीने के आखिरी सोमवार से शुरु होता है (यह दिन 'मेमोरियल डे' कहलाता है जब लगभग सभी घरों में विशेष रुप से बड़े-बड़े राष्ट्रीय झंडे लगाये जाते हैं) क्योंकि इस दिन से लोग 'बारबीक्यू' अर्थात् भूनकर grill करके, भोजन खाने के 'सीजन' की शुरुआत होती है। मांस-मछली, सब्जियाँ, सी-फूड को भून-तल कर खाने का स्वाद ही और होता है। बड़े-बड़े गैस-चूल्हे-ग्रिलर को घर के बाहर लान, सड़क किनारे या पार्कों में ले जाकर लोग बड़े चाव से घंटों पकाते और अपने पाक-कौशल/क्षुधा/पाचन-शक्ति की जाँच-परख करते रहते हैं। इस BAR-B-Q वाले जुनून से भोजन-विषयक थोड़ी जानकारी भी बढ़ी। सिर्फ शाकाहार और मांसाहार कहने से काम नहीं चलता-दोनों के कई भेदोपदभेद भी हैं जो महज पूरब-पश्चिम को ही नहीं बाँटते, बल्कि एशिया और भारत को भी बाँटते हैं। एक जैन शाकाहार होता है जिसमें प्याज-लहसुन प्रविष्ट नहीं हो सकते। पश्चिमी शाकाहर में तो अंडा भी शान से घुस जाता है। यही हाल मांसाहार का है। चीनी मांसाहार में कौन-सा प्राणी वर्जित है, इसका सही जवाब कोई खाँटी चीनी ही दे सकता है--कुत्ते-साँपों तक को वहाँ सराह-सराह कर चबाया जाता है। भारत में किसी मांसाहार में गाय तो किसी में सुअर निषिद्ध है, पर हमारे यहाँ के एक शाकाहार में 'जलतरोई' नाम से स्वीकृत मछली का तो स्वागत है, पर अंडे का नहीं। भोजन को लेकर तो यही कहना उचित लगता है कि भैया, जिसको जो रुचे और पचे सो खाए। अमरीकी आम तौर पर ज्यादा खाने, खाते रहने के लिए बदनाम हैं और इसमें अचरज ही क्या जो एक तिहाई से भी ज्यादा अमरीकी मोटा-थुलथुल होता है। अमेरिकन टी.वी. पर सैकड़ों विषयवार चैनल होते हैं। कुत्तों को लेकर दो-तीन और घोड़ों के बारे में भी उतने ही चैनल हमने देखे। पाक-कला को लेकर भी चार या पाँच चैनल हैं जो चौबीसों घंटे भोजन को लेकर ही मस्त, व्यस्त और पस्त रहते हैं। सो, रिमोट से खेलते रहना अमेरिका का राष्ट्रीय शौक-सा बन चुका है, 'इंडिया' (भारत में नहीं) में बनने की प्रक्रिया में है।

स्थानीय अमरीकी अखबार पढ़िये तो अपराध, भ्रष्टाचार आदि के मामलों में स्थान, पात्र के नामों के अलावा वह कोई भारतीय संस्करण ही लगेगा। लूट, डकैती, हत्या, बलात्कार। जंगल में, घर में आग लगने की घटनाएँ। सड़कों पर गाड़ियों की चपेट में आ जाने वाले रीछ और हिरन। अप्रैल-मई में जब हम फ्लोरिडा में थे तो बहुत ही निकट से जंगली आग का सामना हुआ। घने-काले धुएँ ने पूरे वातावरण को ऐसे ग्रस लिया था कि दो दिनों तक लोगों का घर से निकलना मुश्किल हो गया था। जुलाई में (तब हम विलमिंगटन, डेलावेयर में थे, मगर खबर त्रासद थी) मिनियापोलिस में मिसीसिपी नदी पर पुल टूटने से तेरह लोगों की जान गयी। लगा था कि हम भारत में ही हों क्योंकि वहाँ भी कारण हमारा चिर-परिचित ही था--भ्रष्टाचार और पुल बनाने वाले अभियन्ताओं की तकनीकी गलतियाँ-खामियाँ ! इसके महीने-भर बाद की खबर थी कि न्यूयार्क 9/11 कांड वाली जगह के पास डोयचे या (ड्यूशे) बैंक की बिल्डिंग में आग लगी और उसे बुझाने भेजे गये दो अग्नि-शामक कर्मचारी मारे गये। कारण का अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि बाद में तीन अधिकारियों पर कार्रवाई हुई और उन्हें पद से हटा दिया गया। लगभग उन्हीं दिनों वर्जीनिया के V-TECH युनिवर्सिटी परिसर में एक सिरफिरे छात्र ने तीसेक छात्रों-अध्यापकों की दिन-दहाड़े अन्धाधुन्ध

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

गोली चला कर हत्या कर दी। वहाँ मेरे एक मित्र का पी-एच.डी कर रहा बेटा जो घटना-स्थल के पास ही मौजूद था, संयोग से बाल-बाल बचा। मतलब वहाँ भी जीना और जिन्दा रहना वैसे ही सौभाग्य की बात है जैसे भारत में।

अमेरिका में सीधी सड़कों के होने से सफर टेढ़ा भी हो सकता है, पहली यात्रा में ऐसे भी अनुभव हुए थे। वैसे अमरीकियों को एक पावरोटी खरीदने के लिए तीसेक मील ड्राइव करने में जरा भी हिचक नहीं होती, पर एक बार अगर, ध्यान चूक जाने से, आपका मोड़ निकल जाये तो पचासेक मील घूम कर ही फिर वहाँ पहुँचना संभव होगा। अब तो खैर सैटेलाइट की सुविधा का उपयोग कर गाड़ियों में पूरे देश की सड़कों का ऐसा कम्प्यूटर मैप फिट कर दिया गया हैं जो आपको पूरे रास्ते भर कह-दिखा कर निर्देश देता चलता है कि कब आपका मोड़ आने वाला है या कब किस लेन के लिए किधर को मुड़ना है। फिर भी चूक जाएँ तो कम्प्यूटर ही भूल-सुधारने का आसान भी मार्ग सुझाता है। इस सुविधा से अनजान रास्तों पर ड्राइव करने में असीमित लाभ हुए हैं। फिर भी रोड का नाक की सीध में अन्तहीन-सा चलते चला जाना आपके भीतर ऊब और चिड़चिड़ाहट भी पैदा कर सकता है। गति का हाल यह है कि पचपन मील प्रतिघण्टा को आम अमरीकी टहलने-जैसी गति मानता है। अब वाकिंग, साइक्लिंग और जागिंग के जुनून का हाल यह है कि केवल इसी काम के लिए अलग से लम्बी सँकरी पक्की सड़कें और फुटपाथ बनाए गये हैं, जिनपर लोग हाथ में वाटर या एनर्जी ड्रिंक की बोतलें लिए, छाती, बाँह, पाँव, सिर, कान में दुनियाभर के यंत्र लगाए दौड़ते-हाँफते दिखेंगे। हरेक अमरीकी शहर और कस्बे का चरित्र एक जैसा ही है--फास्टफूड की जगहें, मोटेल, शापिंग माल, विशाल पार्किंग लाट और विशालकाय दुकानें जे.सी.पेनी, वाल मार्ट, के-मार्ट, हार्डीज़, मैकडानल्ड, पिज़ाहट, सब-वे, के.एफ.सी, गैसस्टेशन बगैरह हर जगह होंगे। भला हो माइकेल मूर का जिसने अमेरिकावासियों की मानसिकता को अपनी फिल्मों के जरिए झकझोरना आरंभ कर दिया है और लोग पूंजी और राजनीति के गंठजोड़ की बदमाशियों के प्रति जागरुक होने लगे हैं। मैंने हैदराबाद में ही मूर की फिल्म ''फारेनहीट 9/11'' देख रखी थी, जिसमें राष्ट्रपति बुश की और उनकी दुर्नीतियों की बखिया जिस कदर उघेड़ी है, वैसी सत्ता-विरोधी फिल्म भारत में तो रिलीज ही नहीं होने दी जाएगी। 2007 में रिलीज हुई मूर की अमरीकी सरकार और समाज की स्वास्थ्य-विषयक नीतियों की सारी विसंगतियों का खुलासा करने वाली धारदार फिल्म 'सीको'(SICKO) गर्मागर्म चर्चा में थी। फिल्म के प्रभाव का अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि अनेक स्कूल-कालेजों और दफ्तरों में कोला, पेप्सी, फास्ट फूड/जंकफूड पर पाबंदियाँ लगायी जाने लगी थी।

यूरोप की तरह ही अमेरिका में काम का मतलब काम और छुट्टी का मतलब छुट्टी है। अमरीकियों के अनुशासन की प्रशंसा बहुत पहले प्रसिद्ध फ्रेंच लेखक आल्बेयर कामू ने अमेरिका की अपनी यात्रा के दौरान की थी, पर साथ ही यह भी कहा था कि समझ में नहीं आता कि अमरीकी ज्यादा बुद्धिमान हैं या पागल! वे गंभीरता से मौसम, राजनीति आदि को लेकर जो थोड़ी-बहुत बातें कहेंगे वह कुल मिलाकर कुछ भी कहना नहीं होता। व्यक्तिगत आजादी और खुलेपन के भाव उनमें कूट-कूट कर भरे हुए हैं। विश्व युद्धों में यूरोप से बड़ी संख्या में निर्वासित लोग अमेरिका में आकर बस गये, लेकिन जहाँ यूरोपियनों में निराशावाद को प्रश्रय मिला, वहीं यहाँ आकर बसने वाले अब भी बड़े आशावादी हैं। ऐसा नहीं कि अमेरिका में बेकारी नहीं, अशिक्षा नहीं, गरीबी नहीं, भिखारी नहीं। यह सब है, पर थोड़ा, और अलग हटकर। बेकारी भत्ता भी है। कोई पूरा निरक्षर वहाँ शायद ही मिले। वहाँ के गरीब और भिखारी भारत के जैसे नहीं। थोड़े बेहतर हैं। वहाँ गरीब वह माना जाएगा जिसके घर में बहुत ही साधारण फ्रिज, टी.वी. या कार हो। भिखारी भी अमूमन बाकायदा पूरे कपड़ों में और पैरों में बूट से लेकर सिर पर हैट पहने नजर आएगा। अपराध का स्तर बन्दूक-पिस्तौल से नीचे का कम ही मिलेगा (दस-बीस डालर के लिए भी सीधे जान ले लेना आम बात है।) अपराध में चाकू-छूरी का इस्तेमाल तो अविकसित और विकासशील देशों के अपराधियों के जिम्में है। एक जमाना था जब अमेरिका में छात्र ज्ञान पाने के लिए पढ़ते थे, आज के छात्रों को देखते हुए अब लोगों को इसमें संदेह होने लगा है। लोगों के अवचेतन में गोरे-काले का भेद अब कहीं-न-कहीं बचा रहा गया है, हालांकि वे इसे जाहिर नहीं होने देना चाहते।

अमेरिका में आदमी कम दिखायी पड़ते हैं-वे घरों, दफ्तरों, शापिंग माल के भीतर रहने के अलावा कारों में ज्यादा रहते हैं। न्यूयार्क-जैसे बड़े शहरों में आपको रिहाइशी मकान और फ्लेट मिल जाए, पार्किंग की जगह मिलनी मुश्किल है। यहाँ तक कि पेन्सिलवेनिया विश्वविद्यालय (U-Penn) के कैम्पस, फिलाडेल्फिया, में (जहाँ के हिन्दी विभाग में प्रो. सुरेन्द्र गंभीर से मेरी मुलाकात पूर्व-निर्धारित थी) हमें पेड-पार्किंग में भी खाली जगह ढूँढ़ने में घंटा-भर समय बर्बाद करना पड़ा था। वेसे अमेरिका में बाकी क्या नहीं है जो अफरात से नहीं हो? जंगल,

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पहाड़, मरुभूमि, नदियाँ, समन्दर, बर्फ–सब कुछ तो यहाँ हैं और खूब हैं। अमेरिकी लोगों की मान्यता है कि दुनिया में उनका देश सबसे धनी और सबसे ताकतवर इसलिए है क्योंकि ईश्वर इसे सबसे अधिक चाहते हैं। (लेकिन दुनिया–भर से कहीं ज्यादा ही आँधी–तूफान भी तो हर साल वहीं वरपा रहे होते हैं) लोगों का यह भी मानना है कि अमेरिका में दुनिया का सबसे अच्छा शासनतंत्र है,खेलकूद में यह विश्व का सिरमौर है , सबसे ज्यादा कारें और सबसे सस्ता पेट्रोल यहाँ है,अनुशासित नागरिक और सबसे घातक आणविक हथियार यहीं हैं। लेकिन अमरीकी लोग वियतनाम युद्ध को भुला देना चाहते हैं। अब यही बात इराक युद्ध के बारे में कही जा रही है, हालाँकि इसमें कई अमरीकी तेल कंपनियों ने जम कर मुनाफा लूटा, ऐसा माना जा रहा है। अमेरिका में हर चीज बड़े पैमाने पर on a grand scale होती है। वहाँ की राजधानी के वाशिंगटन मान्यूमेंट का वही महत्व है जो हमारी राजधानी दिल्ली के कुतुबमीनार का। इसी तरह हमारा संसद भवन उनका कैपिटोल हिल, हमारा राष्ट्रपति भवन उनका ह्वाइट हाउस। मगर वाशिंगटन रेलवे–स्टेशन के जोड़ का भव्य और विशाल परिसर अचंभे में डालने वाला है। माउंट रशमोर में बने जार्ज वाशिंगटन, जेफर्सन, लिंकन और रुजवेल्ट के चेहरे (जिन्हें देखने से मैं वंचित रहा) मूर्तिकला के खासे आश्चर्य माने जाते हैं। वाशिंगटन का चेहरा 60 फीट ऊँचा है– उसकी आँखों का फैलाव ही ग्यारह फीट का है। अमेरिका में भारी मशीनों का निर्माण करने वाली मशीनें ही बनती हैं। छोटी, रोजमर्रे के काम की चीजें अमूमन वहाँ नहीं बनती। जूते, कपड़े, इलेक्ट्रानिक सामान वगैरह वहाँ नहीं बनते। सब बाहर से आते हैं जिसमें जरा–मरा हिस्सा भारत का भी है।

अमेरिका में खेती भी बड़े पैमाने पर होती है। वहाँ खेतों में लगी फसलों को देखकर जी खुश हो जाता है। मीलों फैले खेत, बड़े–बड़े सिंचाई के यंत्र, हवाई जहाजों से किया जाने वाला छिड़काव––कुल मिलाकर ऐसा लगता है, गोया वहाँ के किसानों ने प्रकृति को अपने वश में ही कर लिया हो। हमने पेन्सिलवेनिया के लंकास्टार काउंटी में मकई के पौधों की जो डेढ़ मर्द–ऊंची दिगन्तव्यापी लहलहाती हरियाली देखी कि जी जुड़ा गया। वहाँ जो अनाजों के लिए दर्जनों पचासों फुट ऊँचे बड़े–बड़े मजबूत कोठार (स्टोरेज) पटना के गोलघर जितने ही बड़े बने हुए थे वह स्वाभाविक ही था। कृषि भी अमेरिका में भारी मुनाफे का भारी उद्योग बना हुआ है।

गजेन्द्र और अस्मिता ने हमें लंकास्टार काउंटी जाने और वहाँ सैकड़ों वर्षों से बसे आमिश लोगों के जीवन के बारे में जानने की प्रेरणा दी थी। बल्कि उन्होंने हमें दो–दो बार वहाँ ले जाकर घुमाया। वस्तुत: लंकास्टार जिन कई लोगों, चीजों और बातों के लिए जाना जाता है उनमें पहले नम्बर पर हैं आमिश लोग जिनका रहन–सहन और सभ्यता–संस्कृति आम, मुख्य धारा, के अमरीकी जीवन और सभ्यता–संस्कृति के ठीक उलट है। कोई ढाई सौ साल पहले आमिश लोगों के कुल तीस जोड़े यूरोप से यहाँ आये थे। अब उनकी संख्या पन्द्रह हजार के आसपास है। अमेरिका में आमिश लोग ओहायो (Ohio) में भी अच्छी संख्या में हैं। और भी एकाध जगह। चूंकि उनकी जीवन शैली सामुदायिक ढंग की होती है अत: वे अकेले कहीं बस नहीं सकते। शुरु में आमिश लोग मेननाइट सम्प्रदाय के भीतर थे पर 1693 में उससे छिटक कर अपना अलग सम्प्रदाय बनाया था। अब तो इन आमिशों के खुद के ही जाने कितने उप–विभाग बने हुए हैं। अपने सीधे–सादे रहन–सहन और कट्टर धार्मिक–सांस्कृतिक विश्वासों के चलते वे अमरीकियों और दुनिया भर के पर्यटकों के लिए आश्चर्य की वस्तु बने हुए हैं। उन्नीसवीं सदी में वे जिस ढंग से रहते थे अब भी स्वयं को उसी हालत में बनाये रखने की उन्होंने सफल कोशिश की है। वैज्ञानिक आविष्कारों––विशेषकर बिजली से चलने वाले यंत्रों से वे दूर ही रहते हैं––संभव है, इन्हें वे ईश्वर–विरोधी शैतानी चीज मानते हैं। रेडियो, फ्रिज, टेलीविजन, ट्रैक्टर, कैलकुलेटर, कम्प्यूटर आदि–सरीखी, आधुनिक जीवन की पहचान वाली चीजों से वे कोई साबका नहीं रखते। कृषि, पशुपालन और हस्तोद्योग ही उनका जीवन–कर्म है। वे घोड़े विशेष रुप से पालते हैं जो खेती (हल में जुतने) के साथ–साथ उनके सीमित यातायात (बग्घी में जुतने) के बहुत काम आते हैं। आमिश लोग परम संतोषी और जमकर शारीरिक परिश्रम करने वाले जीव होते हैं। उनकी गृहस्थी, फसलें, बगीचे, हस्तशिल्प, सामुदायिक जीवन का सब कुछ अचरज, और कई मायनों में, ईर्ष्या के विषय हैं। लेकिन इन बातों से बेखबर आमिश लोग, इक्कीसवीं सदी में भी, अपनी मध्यकालीन जीवन–शैली में ही मस्त हैं। अमेरिका के बाकी जीवन से उन्होंने अपने–आपको अलहदा बना रखा है। वे जितना ही कछुआ–धर्मी हैं, उतने ही पर्यटकों के लिए दिलचस्प भी। भला ऐसी स्थिति को अमेरिका की वणिक् मानसिकता हाथ से जाने क्यों दे? लोगों की आमिशों के 'विलक्षण' जीवन में ताक–झाँक करने की प्रवृत्ति को भुनाने में गंभीरता से अमरीकी पूँजी लगी हुई है और चाँदी काट रही है। लंकास्टार में रोज हजारो–हजार पर्यटक सिर्फ आमिशों की जीवन–चर्या को देखने की उम्मीद लिए आते हैं।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

(एक हिसाब से साल में पचास से साठ लाख लोग इसी 'उद्देश्य' से लंकास्टर पधारते हैं।) फलस्वरुप वहाँ के गैर–आमिश 'बनियों' ने इसे बड़े 'बिजनेस' में बदल डाला है। उन्होंने कृत्रिम 'आमिश विलेज' बना डाले हैं जहाँ आमिशों की जीवन–प्रणाली, घर, वर्कशाप, उनके द्वारा प्रयुक्त होने वाली चीजों की प्रदर्शनियाँ लगा दी हैं, 'पार्किंग लाट' बनाये हैं, गाइड नियुक्त किये गये हैं और अच्छी–खासी टिकट–दर तय कर दी है। इसका सकारात्मक पक्ष केवल यह है कि इससे आमिशों की 'प्रायवेसी' को बनाये–बचाये रखने में किंचित् सहयोग मिलता होगा। वहाँ पर जितने होटल–रेस्तराँ, गिफ्टशाप्स, म्यूजियम्स, माल आदि हैं उनकी कुल पचास करोड़ डालर से भी ज्यादा की ही सालाना कमाई है।

आमिश लोग रहन–सहन और जीवन में सरल, सीधे–सादे और साफ–सुथरे होते हैं। उन्हें धन जमा करने की बिलकुल परवाह नहीं होती। उनके घोड़े अच्छी नस्ल के, बढ़िया ढंग से पले–पुसे और उन्हीं की तरह बहुत मेहनती होते हैं। हम जुलाई–अगस्त में लंकास्टर गये थे। उन्हीं दिनों ओहायो के आमिशों के सन्दर्भ में पत्रकार बिल फिनले ने 'द न्यूयार्क टाइम्स' में लिखा था कि आमिश लोग जिस तरह के घोड़े अपनी बग्घी खींचने के लिए तैयार करते हैं उन्हीं को अगर वे 'रेसकोर्स' के लिए तैयार करें तो एक–एक घोड़े की कीमत पन्द्रह लाख डालर से कम नहीं होगी। पर आमिश ऐसा सोच भी नहीं सकते (जबकि अमरीकी सिर्फ ऐसा ही सोच सकता है जिसके लिए महँगी कारें, विशाल,स्क्रीन वाले टी. वी. सेट, नयी से नयी माडेल की चीजें, छुट्टियों के लिए पेरिस की हवाई यात्रा उसकी 'प्रायोरिटी लिस्ट' बनाती हैं) 'रेस' शुद्ध जुआ है और जुआ आमिशों के लिए निषिद्ध और वर्जित है। ढेर सारे पैसे आमिशों के लिए बेकार हैं क्योंकि वे उनका कुछ कर नहीं सकते। एक आमिश जुन्टर यूट्जी (Juntor Yutzy) के पास बड़ी अच्छी नस्ल का, किसी भी रेस को आसानी से जीत सकने वाला, अद्भुत घोड़ा था जिसके खूब चर्चे थे, पर जुन्टर का साफ कहना था कि दरअसल पैसा आदमी के सामने यह चुनौती रखता है कि वह सोचे कि उसके लिए जीवन में सबसे महत्वपूर्ण चीज क्या है और इस धरती पर वह किसलिए है? किसी के पास अगर बहुत पैसे हैं तो ऐसा ईश्वर इसलिए करते हैं कि उसके द्वारा दूसरे मनुष्यों की मदद कराना चाहते हैं।

चिन्तन और दर्शन को जीवन में उतारने की दृष्टि से आमिश लोगों का कोई जवाब नहीं। सोलहवीं सदी के यूरोपीय अनाबैप्टिस्ट समुदाय से ये लोग निकले हैं। अनाबैप्टिस्ट वैसे ईसाई थे जिन्होंने मार्टिन लूथर किंग के धार्मिक सुधारों का––खासकर बच्चों को बपतिस्मा देने का––विरोध किया था। ये वयस्कों को बपतिस्मा देने के पक्ष में थे ताकि लोग पूरे मन और आस्था–विश्वास के साथ धर्म के मर्म को ग्रहण कर सकें। ये लोग चर्च और राज्य को अलग करने जैसे क्रान्तिकारी विचार रखते हैं। अनाबैप्टिस्टों का एक बड़ा समूह स्विटजरलैंड गया और सत्रहवीं सदी में कई लोग स्विस मेननाइटों से अलग हो गये। इनका नेता जैकब अम्मान था। ये अधिक से अधिक धार्मिक अनुशासन मनवाये जाने के पक्ष में थे कि लोगों के रहन–सहन, सफाई वस्त्रादी के बारे में धार्मिक नियमों का अत्यंत कड़ाई से पालन किया जाए। ये ही लोग आमिश कहलाए। ये 1730 में सबसे पहले अमेरिका के लंकास्टार काउंटी (पेन्सिलवेनिया) में बसे, फिर ओहाया और इंडियाना राज्यों में। अमेरिका में कुल मिलाकर आमिश लोगों की आबादी डेढ़–पौने दो लाख होगी। जनसंख्या की दृष्टि से आमिश परिवार में औसतन सात बच्चे होते हैं। बड़े होकर दस में से आठ–नौ अपने चर्च की सदस्यता लेते हैं अर्थात् आमिश धर्म और संस्कृति को अपनाते हैं। यही कारण है कि पुराने ढंग के आमिश संख्या में सर्वाधिक हैं। इनसे विद्रोह करके आमिशों के नये धार्मिक समूह भी बने हुए मिलते हैं जैसे नवीन आमीश संघ, एंडीवीयर आमिश, बीची आमिश, स्वार्जेनटूबर आमिश। इनके अलग–अलग चर्च और धार्मिक विधियाँ होती हैं मुख्यधारा वाले याने पुराने आमिश खेती के पुराने औजारों, जीवन के परम्परागत तौर–तरीकों––यहाँ तक कि कपड़ों के रंग, केशों की लम्बाई, बग्घी के आकार–प्रकार हर चीज के बारे में बेहद सावधान और सख्त होते हैं। दूसरे छोटे संघों के कोई–कोई आमिश बग्घी में बैटरी वाली रोशनी रखते हैं या बस–टैक्सी–कार का इस्तेमाल करना भी स्वीकार कर लेते हैं।

आमिश लोग बड़े ही शान्तिप्रिय, अहिंसक, परिश्रमी और सादाजीवन जीने वाले होते हैं। वे त्याग पर बल देते हैं। उनके वस्त्र सीधे–साधे, घर के बने, काले रंग के होते हैं। उनके कपड़ों में कालर या जेब जैसी ''फालतू'' चीजें नहीं होतीं। कपड़ों में हुक, पिन लगाने का प्रचलन अधिक है। उनके जुते–मोजे भी काले रंग के होते हैं। शादी से पहले सभी पुरुष अपना चेहरा सफाचट (क्लीनशेब्ड) रखते हैं लेकिन शादीशुदा मर्दों की पहचान उनकी दाढ़ी होती है। विवाहितों के लिए भी मूंछ रखने की मनाही होती है। सभी आमिश स्त्रियाँ एक जैसे कपड़े पहनती हैं। वे लम्बी बाँह वाले वस्त्र, पूरा स्कर्ट, उस पर लबादा, एप्रन डालती हैं। वे कभी भी बाल नहीं कटवातीं और उन्हें सफेद या काली टोपी के नीचे छिपाए रखती हैं। अस्सी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

प्रतिशत से अधिक आमिश बिजली, टेलीविजन, टेलिफोन, कार, ट्रैक्टर आदि का इतेमाल नहीं कर सकते। उनके विचार से ये मनुष्यों में लोभ और असमानता पैदा करने वाली चीजें हैं। भौतिकता के पीछे अंधी दौड़ में भाग रही अमेरिका को आमिश अपने जीवन से चुपचाप संदेश देते चले जा रहे हैं। पर कौन किसकी सुनता है? आमिश के घरों में बिजली या बिजली से संबंधित कोई यंत्र नहीं होता। वे घोड़ों से खींचे जाने वाली बग्घियों में चलते हैं। कुछ आमिश–समूह अपने खेतों और जानवरों की रखवाली के लिए बिजली के घेरे लगाते हैं (जिससे किसी की हानि नहीं होती) और यह बिजली पवन चक्की से पैदा करते हैं। ज्यादा पुरातनपंथी आमिश तो बैटरी की रोशनी भी इस्तेमाल नहीं करते। आमिश लोग परिवार से गहरे जुड़े होते हैं। औरत और मर्द के काम बँटे होते हैं–औरतें घर की सफाई, रसोई तथा घर के काम करती हैं। घर में सात से दस तक बच्चे होते ही हैं। पिता गृहस्वामी होता है। आमिश लोगों की आमिशों में ही शादियाँ होती हैं, बाहर नहीं कर सकते। उनकी भाषा जर्मन है,घर में भी, स्कूल में भी आमिश आठ दर्जे से ज्यादा पढ़ाई नहीं करते और उनके लिए राज्य से कानून द्वारा विशेष छूट मिली हुई है। आमिशों के अपने स्कूल होते हैं। उनमें एक ही कमरा होता है। उन्हें थोड़ा पढ़ना–लिखना, गणित, भूगोल और खेती–संबंधी शिक्षण–प्रशिक्षण दे दिया जाता है। उनकी असली शिक्षा पारिवारिक जीवन में होती है। आमिश अनिवार्यत: खेती ही करते हैं, वे हर तरह से शान्ति और अहिंसा के लिए प्रतिबद्ध हैं, अत: वे सरकार द्वारा अमिशियों को मिलने वाली ''सामाजिक सुरक्षा'' (Social security) या अन्य कोई अनुदान/सहायता नहीं स्वीकार करते। आमिश धर्मसंघ में एक बिशप, दो पुरोहित और एक उपयाजक (deacon) होते है। ये पुरुष ही होते है। आमिश लोगों का चर्च कोई अलग भवन नहीं होता बल्कि समुदाय के सदस्यों के घरों में ही धार्मिक उपासना–सभा की जाती है। इसलिए आमिश के घर की दीवारें इस तरह की बनी होती हैं कि उन्हें वक्त–जरुरत खिसकाया जा सके। जब तक कोई आमिश युवा होकर बपतिस्मा नहीं लेता तब तक उसको पारिवारिक–सामाजिक आचार–व्यवहार में थोड़ी छूट या आजादी मिली होती है। मगर बपतिस्मा लेते ही वह सांप्रदायिक नियमों–रिवाजों से कड़ाई से बँध जाता है। जो बपतिस्मा नहीं लेता वह चाहे तो आमिश समाज छोड़कर चला जाए। मगर ऐसा कम ही होता है। आमिश नियमों को तोड़ने वालों को (मसलन कोई संप्रदाय से बाहर विवाह कर ले या इसी तरह की अन्य समाज–द्वारा अमान्य स्थितियों में) बिरादरी बाहर कर दिया जाता है और परिवार–मित्र–समाज–सबसे उनके सारे सम्पर्क सदा के लिए काट दिए जाते हैं।

शादी ब्याह, उत्सव, गमी जैसे सभी मामलों में आमिश बेहद सादगी बरतते हैं। शादियाँ अमूमन पतझर के मौसम में आखिरी दिनों में फसल कटाई के बाद, मंगलवार या गुरुवार को ही हुआ करती हैं। किसी चर्च–सभा में ब्याह को जोड़े की घोषणा होने के पहले किसी को आमतौर पर इस बारे में पता नहीं चलता। दुल्हन के घर में ब्याह सम्पन्न होता है। बड़ा–सा भोज दिया जाता है। दूल्हा–दुल्हन के शादी के नये कपड़े नीले रंग के होते हैं। इसके अलावा किसी प्रकार की कोई सजावट, अलंकारों (यहां तक कि अंगूठी भी), फूलों तस्वीरों का उपयोग नहीं किया जाता। नव विवाहित को दूसरे दिन जल्दी जागकर घर की सफाई में हाथ बँटाना होता है। आमिश सम्प्रदाय में किसी की मृत्यु होने पर मृतक के घर पर संबंधित विधि–विधान का प्रबंध किया जाता है। यह विधि भी सीधी सादी होती है, न तो मृतक का गुणगान होता है न लाश पर फूल ही चढ़ाये जाते हैं। सम्प्रदाय द्वारा बनाये गये साधारण लकड़ी के बक्से ही ताबूत के काम में लाये जाते हैं। मृत्यु के तीन दिनों के बाद मृतक को सम्प्रदाय के कब्रगाह में दफनाया जाता है। लोग हाथों से कब्र खोदते हैं। सभी मृतकों के साथ समान व्यवहार किया जाता है अर्थात् सबकी एक–जैसी कब्रें होती है और उनकी पहचान नक्शे से ही की जा सकती है।

इस विवरण से यह बिल्कुल नहीं समझना चाहिए कि आमिशों का घर और समाज पर्यटकों या ''बाहरी लोगों'' (जिनमें आम अमेरिकी भी शामिल है) के स्वागत में पलक–पाँवड़े, बिछाया करता है। वस्तुत: आमिशों का अपने में एक सम्पूर्णत: बन्द समुदाय है––वे न तो बाहर के समाज की जिन्दगी में कोई हस्तक्षेप करते हैं न खुद अपने जीवन में किसी का हस्तक्षेप चाहते हैं। उनका आत्मनिर्भर और आत्मतुष्ट जीवन है। उनके घरों की लोग दूर से ही झलकियाँ ले सकते हैं। उनके घरों की एक विशेषता तो घरों के बाहर कपड़े सुखाने की अलगी (clothline) होती है जो 30–40 फीट की ऊँचाई पर पुली (Pulley) की मदद से टांगी जाती है। सड़कों पर घोड़े द्वारा खींची जाती उनकी बग्घियाँ, उनमें बैठे आमिश परिवार–पत्नी, बच्चे वगैरह–आते–जाते दिखाई देते हैं। वे (अपरिचित) सामने वालों का कोई अभिवादन भी नहीं करते, न सामने वाले से इसकी अपेक्षा ही रखते हैं। उनके बच्चे भले ही अजनबियों को देखकर हँस दे, पर आमिश अमूमन ''रिजर्व'' ही रहते हैं। वैसे सड़कों पर से ही घरों या खेतों में काम कर रहे आमिशों को देखा जा

©Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सकता है। उनकी दिनचर्या में कोई बाहरी व्यक्ति खलल नहीं डालता। यहाँ तक कि वे अपनी तस्वीरें खींचा जाना भी सख्त नापसंद करते हैं। कुल मिलाकर आमिश समाज अमरीकी समाज का प्रतिरुप या प्रतिवाद (Antithesis) बन कर उपस्थित हैं और अपने इस प्रतिरुप को भी भुनाने में अमरीकी पीछे नहीं रहते। वे पूरे का पूरा आमिश गांव का माडल बनाकर टिकट पर उसे दिखाते हैं और पर्यटक इसी से खुश रहते हैं। हमने भी ऐसे ''आमिश गाँव'' की टिकट लेकर सैर की। ''माडल'' बग्घी, पवन चक्की, लुहार का वर्कशाप, स्कूल, सिंचाई, जानवरों के बाड़े आदि के ''दर्शन'' किये। वैसे ही जैसे आप लंकास्टार के ''नेशनल टायट्रेन म्यूजियम'' देखते हैं।

लंकास्टार काउन्टी के बाहर से विभिन्न ''रुटों'' से आने वालों को लुभाने के लिए अमरीकी बनियागीरी ने अपने जाल बिछा रखे हैं। आमिशों के नाम पर कल्चर सेंटर और होटलों की भरमार तो है ही, आमिश जीवन का अनुभव कराने के लिए वैसे ही वातावरण, घर, जानवरों के माडल का कृत्रिम निर्माण करके पर्यटकों को वहाँ रहकर बिना बिजली और मशीनों के जीवन का अनुभव लेने का मौका कुछ डालर के एवज़ में दिया जाता है। हम भारतीयों के लिए इसमें नयापन ही क्या था? वे घोड़े वाली बग्घी को अजूबा समझकर उसकी सैर का मजा भी लेते हैं। बहुत-सी चीजें ऐसी हैं जो हमारे देश के लिए आम बात भले हों, अमेरिका के लिए तो ताज्जुब की बात है। लंकास्टार ही नहीं, अमेरिका के कई शहरों में पुराने-सौ, दो सौ, ढाई सौ साल पुराने घरों और दुकानों को गर्वपूर्वक बताया-दिखाया जाता है। आखिर अमेरिका दुनिया के नए देशों में से है जिसका इतिहास इन घरों और दुकानों से ज्यादा पुराना नहीं। मूल निवासियों और उनके इतिहास को अपने हाथों खुद ही जो नष्ट कर चुका हो अब वही वहाँ पर इतिहास की बची-खुची निशानियाँ ढूँढ़ कर उन्हें बचाने-दिखाने के खेल में लगा है। एक तरह से अच्छा है कि, चाहे देर आयद दुरुस्त आयद, अब ऐतिहासिक वस्तुओं के संरक्षण की ओर अमेरिका का ध्यान गया है और इस दिशा में जुटा हुआ है। आमिश भी उसकी सांस्कृतिक विरासत का हिस्सा बनते हैं। आमिशों ने लंकास्टार में जगहों और दुकानों के नाम चुनकर रखे हैं, जैसे village of Entercourse या Intercourse (1814 से बना), Blue Ball, bird in hand आदि। Intercourse News नामक अखबार पिछले चालीस वर्षों से निकल रहा है, जो फख्र से खुद को Original visitors' Friend in the Lancaster County Area कहता है और 'आमिश ऋतुओं, के आधार पर अपने प्रकाशन-समय को बताता है (जैसे अगस्त 2007 में प्रकाशित अंक में प्रकाशन का समय दिया गया था- "Watching Corn grow 2007") कोयले से चलने वाली रेलगाड़ी और समुद्री जहाज पर आमिश चढ़ सकते हैं। वे पिकनिक मना सकते हैं। आमिश बढ़िया फर्नीचर, कम्बल आदि बनाते हैं।

आमिश लोग अपने सर्वोच्च धर्माध्यक्ष--बिशप--को अपने ही बीच से चुनते हैं। कुछ योग्य लोगों के नामों की पर्चियाँ बाइबिल में रखकर फिर उनमें से कोई एक पर्ची निकाल ली जाती है और उस पर जिसका नाम लिखा होता है व्यक्ति बिशप बनता है। बिशप उन्हें हर दो सप्ताह में उपदेश-संदेश दिया करता है। जाहिर है कि इन बिशप महोदय को इसका कोई प्रशिक्षण मिला नहीं होता। बिशप, पुरोहित, डीकन किसी को कोई वेतन या सुख-सुविधा नहीं मिलती--उन्हें अपनी जीविका का उपार्जन खुद करना पड़ता है। सामाजिक रुप से आमिश उतनी ही पहुँच की दूरी पर जा कर इकट्ठा हो सकते हैं जितनी दूर तक एक बार में उनकी घोड़ागाड़ी उन्हें ढोकर ले जा सकती है। पूरे लंकास्टार में लगभग एक सौ बिशप हैं जो अपने क्षेत्रों की समस्याओं पर विचार करने के लिए आपस में मिलते भी हैं लेकिन कोई बिशप किसी दूसरे बिशप को यह नहीं बता सकता कि उसे किस प्रकार से कार्य करना चाहिए।

कहने का मतलब यह कि आमिश अपनी-अपनी जिम्मेदारी, अपने कर्त्तव्य और जीवन लक्ष्य को लेकर स्वावलम्बी, सीधे सच्चे, अहिंसक, शान्तिप्रिय, स्पष्ट निर्द्वन्द्व, पूर्णतः संतुष्ट और परम स्वतंत्र हैं। क्या बाकी अमरीकी भी खुद को ऐसा बना सकते हैं?

□□□

प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय,
सेंट्रल युनिवर्सिटी कैम्पस डाक,
हैदराबाद-500 046
(आंध्रप्रदेश)
मोबा. : +91-9490925866

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College of Education Bantalab Jammu

दम तोड़ता लोकनाट्य : नौटंकी

डॉ.रामनिवास शर्मा

वैसे मेरा बचपन उस क्षेत्र से जुड़ा रहा, जहाँ के जन-जीवन के रक्त में ही खेल-तमशो, स्वाँग मंडली का शौक समाया रहा। नौटंकी के नक्कारे (नगाड़ा) की पहली चोट पर ही बूढ़ों तक के चहरे खिल उठते थे। उन दिनों औरतें भी जल्दी काम निपटा लेती थीं। गाँव में कोई मंडली आ जाती तो नाना मथुरा प्रसाद परात लेकर आटा-दाल इकट्‌ठा करने निकल पड़ते थे। मेरे मामा जी भूदेव प्रसाद शर्मा ने 10-12 साल की उम्र से ही इस लोकप्रिय मंच नौटंकी को अपने जीवन के लगभग 50-55 वर्ष समर्पित किये हैंऔर प्रारंभिक नौटंकी मंडलियों से लेकर ख्याति प्राप्त मंचों तक एक अच्छे सफल कलाकार के रुप में काम किया। मुझे भी (17-18 साल की उम्र में) उन्हीं के साथ कई वर्षों पूर्व इस समृद्ध लोकप्रिय रंगमंच के साथ तीन-चार महीने रहने का अवसर मिला। इन कलाकारों की इस कला को बड़े निकट से देखा, इनके जीवन जगत से परिचित हुआ। उस समय इसके साहित्यिक महत्व को समझ पाने का सामर्थ्य मेरे अन्दर नहीं था। जिस रंगमंच के साथ मुझे रहने का अवसर मिला वह 'कृष्णा थेटर कम्पनी, कानपुर' के नाम से प्रसिद्ध थी। इन्हीं दिनों कानपुर, हाथरस तथा लखनऊ की बड़ी-बड़ी नौटंकी कम्पनियों के साथ सम्पर्क हुआ। ये सभी बड़े-बड़े मेलों में एक-साथ लगती थी और टिकिट से खेल दिखाती थीं। कृष्णा थेटर कम्पनी में काम करने वालों की कुल संख्या सौ से अधिक थी- जिसमें 20-25 औरतें, कुछ पुरुष कलाकार, वादक इत्यादि थे।

शिक्षा के क्षेत्र में आने पर कुछ शोधार्थियों को नौटंकी के क्षेत्र में शोधकार्य 'टेबल वर्क' के रुप में करते देखा। मैंने उन्हें देखकर अनुभव किया कि कुछ गिनी-चुनी किताबों के आधार पर ही वे उथली-पुथली जानकारी जुटा पा रहे हैं। मैंने भी उन्हीं की देखा-देखी इस विषय की कई पुस्तकें पढ़ी, लेकिन मन को संतोष न हुआ क्योंकि मैंने जो स्वरुप बचपन से देखा, अनुभव किया यह उससे कुछ भिन्न था। इन लेखों में नौटंकी का जीवन्त स्वरुप नहीं था केवल छवि थी। कुछ लिखने की इच्छा से मेरी कानपुर, हाथरस तथा लखनऊ की नौटंकी कम्पनियों में काम करने वाले कलाकारों से कई बार बातचीत हुई। इस विषय पर जो कुछ मैंने पढ़ा और जो कुछ उन लोगों से बातचीत करके पाया या साथ रहकर अनुभव किया, उसी को बड़ी ईमानदारी के साथ लिखने का प्रयास कर रहा हूँ।

हमारे यहाँ संस्कृत रंगमंच की एक सशक्त परम्परा रही है जो बाद में लुप्त-सी हो गयी। राज-आश्रय मिल नहीं सका, परिणामतः भारतीय रंगमंच मध्यकाल में केवल लोक-नाटकों के रुप में जीवित रह सका। उसका स्वरुप संस्कृत नाट्य-परम्परा से भिन्न था। संस्कृत रंगमंच विद्वानों तथा दरबारियों तक ही सीमित था, जबकि लोक-नाट्य साधारण जनता से जुड़ा हुआ था। उसी के लिए इसे लिखा गया। यह बड़े सीधेसरल ढंग से साधारण ग्रामीण जनता का आडम्बरहीन साधन था। जिसके अभिनय के लिए कोई विशेष रंगमंच या रंग-सज्जा की आवश्यकता नहीं होती थी। इनमें अभिनय के साथ संगीत और नृत्य प्रधान होता था। समय के साथ-साथ इसके रुप में भी परिवर्तन हुआ। आजभी इस लोक नाट्य की अनेक शैलियाँ भारत में उपलब्ध है, जिन्हें विभिन्न प्रांतों में अलग-अलग नामों से जाना जाता है। हिन्दी क्षेत्र खासकर उ.प्र. में भगत, ख्याल नौटंकी, तमाशा खेल, स्वाँग और मण्डली आदि नाम खूब चलते हैं। यहां हम नौटंकी नाम पर विचार करेंगे।

नौटंकीके नामकरण के विषय में इस कला से जुड़े प्रसिद्ध कलाकार भूदेव प्रसाद शर्मा से मेरी बातचीत हुई। उन्होंने अपना समूचा जीवन इस कला (नौटंकी) के प्रति समर्पित किया है। उन्होंने इस शब्द की उत्पत्ति के विषय में बताया- 'उस्ताद इन्दरमन (अतरौली, जिला अलीगढ़) ने संगीत को लेकर स्वाँग या तमाशे का रुप दिया। यह सिलसिला काफी दिनों तक चलता रहा।उसके बाद उस्ताद मुरलीधर ने संगीत के आधार पर कुछ स्वाँग-तमाशे बनाए और खेले। उसके बाद हाथरस में पं. नत्थाराम मंडली बनाकर कुछ लेखकों से सम्पर्क करके उनसे कुछ कहानियाँ तमाशे की तर्ज पर लिखवायीं, जिनमें दीपचन्द, लखमीचंद, त्रिमोहन, श्रीकृष्ण पहलवान, राधेश्याम कथावाचक आदि का नाम लिया जा सकता है। पं. नत्थाराम स्वयं भी एक अच्छे कवि थे, इसलिए उन्होंने भी कुछ खेल लिखे। एक लोकप्रिय गायक के रुप में मारवाड़ में उनका विशेष नाम हुआ। इस दौरान जो कहानियाँ, तमाशे के तर्ज़ पर लिखी गयीं, उनमें एक कहानी 'शहजादी नौटंकी, भी लिखी गयी। यह पंजाब की कहानी थी।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

इसमें फूलसिंह और भूपसिंह दो सगे भाई पात्र के रुप में प्रस्तुत किये गये, जिसमें बड़े भाई भूपसिंह की शादी हो गयी थी। छोटा फूलसिंह कुंवारा था। कुछ काम-काज भी नहीं करता था। एक दिन कुछ तेज मिज़ाज भाभी ने किसी बात पर ताना दे दिया कि यह तो 'शहजादी-नौटंकी' को ब्याह कर लायेगा। शहजादी नौटंकी मुलतान की एक रुप सुन्दरी राजकुमारी थी। उसके विषय में मशहूरी थी कि वह नौटंक फूलों से तुला करती थी। उस दिन का भाभी का ताना फूलसिंह के मन में नश्तर-सा उतर गया। कुछ कर दिखाने का साहस लेकर वह घर से निकल गया और अन्त में उसे ब्याह कर लाया। यह कहानी जनता में बहुत पसंद की गयी। जहाँ भी मंडलियाँ जाती 'नौटंकी' स्वाँग की ही माँग होती। इसलिए धीरे-धीरे लोग स्वाँग को नौटंकी ही कहने लगे। ''स्वांग'' शब्द धीरे-धीरे लोगों की जुबान से हट गया। फिर सब लोग 'नौटंकी' ही कहने लगे।' गोपीनाथ तिवारी के कथन से भी उक्त बात को बल मिलता है- 'उस्ताद लछमन ने भी प्रहलाद नौटंकी इत्यादि कई स्वाँग लिखे परन्तु साँग या स्वाँगको 'नौटंकी' नाम उस्ताद लछमन के इस नाटक ने ही दिया। नौटंकी नामक स्वाँग जनता में इतना लोकप्रिय हुआ कि स्वाँग को नौटंकी भी कहने लगे। इससे स्पष्ट होताहै कि शहजादी नौटंकी स्वाँग उस्ताद लछमन द्वारा लिखा गया और बाद में एक शैली विशेष के लिए रुढ़ हो गया। परन्तु कुछ लोग 'शहजादी नौटकी' स्वाँगको पं. मुरलीधर द्वारा लिखा मानते हैं।

नौटंकी के विकास के विषय में कलाकार भूदेव प्रसाद शर्मा की धारणा इस प्रकार है- पं. नत्थाराम नौटंकी के क्षेत्र में स्थापित हो चुकेथे। इनके यहाँ कन्नौज के रहने वाले उस्ताद त्रिमोहन नक्कारा (नगाड़ा) बजाते थे। कुछ दिनों बाद उन्होंने कन्नौज जाकर अपनी नौटंकी (मंडली) बना ली। उस मंडली से उनका काफी नाम हुआ। उसी समय कानुपर के पास मंधना के रहने वाले पं. लालमन नम्बरदार को नौटंकी बनाने का शौक लगा। वे ज़मींदार थे। पैसे की कमी नहीं थी। उन्होंने भी एक अच्छी नौटंकी मंडली खड़ी की। त्रिमोहन और लालमन नम्बरदार की नौटंकियाँ बड़े-बड़े मेलों, कस्बों तथा शहरों में टिकट लगाकर अपना खेल-तमाशा दिखाती थीं। उसके बाद आगरा के बाबू करनलाल भी इस अखाड़े में कूद पड़े और इस क्षेत्र में अच्छा नाम कमाया।

गाँव-देहात में इन्हीं के समानान्तर छोटी-छोटी मंडलियाँ काम करती रहीं। जिस व्यक्ति ने दस पन्द्रह बीस आदमी इकट्ठे करके मंडली बना ली उसी के नाम पर उस मंडली का नाम चलता था। सहसवान (जिला बदायूँ, उ.प्र.) के अलीजान ने एक छोटी-सी मंडली बनाई। जिसने एटा. अलीगढ़ और बदायूँ जिले के गाँव/कस्बों में काफी समय तक धूम मचाई। जहाँ बड़ी मंडलियाँ बड़ी साज-सज्जा के साथ मैदान में थीं वहीं ये छोटी-छोटी मंडलियाँ अपने सीमित साधनों से जनता का मनोरंजन कर रही थीं।

देहात में काम करने वाली मंडलियों का रंगमंच सीधा-साधा आडम्बरहीन होता था। रंगमंच के लिए कोई खुला-सा मैदान चुन लिया या फिर किसी खुली-सी चौपाल के चबूतरे पर ही काम चला लिया। यदि कुछ न बना तो गाँव से गुजरने वाले किसी रास्ते के किनारे पर ही बाँस गाड़कर या दो-चार तख्त जोड़े और मंच तैयार। तख्त गाँवोंमें आसानी से मिल जाते हैं। यदि तख्त कम पड़ते तो ईटों के ऊपर तख्ते या मजबूत से बड़े-बड़े किबाड़ रखकर मंच तैयार कर लिया जाता है। यदि किसी मंडली के पास कोई परदा होता था तो मंच के हिसाब से दो बाँस गाड़कर और एक ऊपर बाँधकर पर्दा लटका दिया जाता था।

बहुत पहले तो स्वाँग-तमाशों में मशालें जलाकर प्रकाश की व्यवस्था की जाती थी। फिर लालटेनों का भी उपयोग होने लगा। इसके बाद हण्डा (गैस) चल पड़े। ये भी मिट्टी तेल से ही जलते थे। इससे प्रकाश व्यवस्था में काफी सुधार हुआ। मंच के पास एक-दो बल्ली गाड़कर या फिर हल को ही उल्टा गाड़कर उन पर एक-दो हण्डा (गैस) लटका दिये जाते थे। यदि मंडली वालों के पास उनकी व्यवस्था नहीं होती थी तो किसी-किसी गाँव में किराये पर भी मिल जाते थे। हण्डा का मालिक सारी रात उसे जलाने का काम करता था। एक-दो उठती उम्र के लड़के भी हण्डा वाले के साथ जा बैठते। मंच के निकट बैठकर तमाशा देखने का आनंद लेते और जब जरुरत पड़ती तो हण्डा में दो चार पम्प मार देते थे।

कलाकारों के बैठने के लिए कोई अलग से व्यवस्था नहीं होती थी। वहीं मंच के पीछे एक-दो चादरें टांगकर श्रृंगार कर लेते थे या फिर पास लगती किसी चौपाल के कमरे में अपनी तैयारी करते थे। बच्चों की भीड़ वहां भी बाज़ नहीं आती थी। इधर-उधर से खूब डांट फटकार पड़ती लेकिन इन सबकी परवाह न करते हुए पूरा आनंद लेते। कलाकार सज-धज कर मंच पर ही किनारे पर बैठ जाते या फिर तख्त के किनारे पर कपड़ा, चटाई आदि बिछाकर बैठने की व्यवस्था कर लेते और अपनी बारी आने पर वहीं से उठकर अपनी भूमिका निभा देते थे। कभी-कभी किसी दृश्य की स्वाभाविकता बनाये रखने के लिए दर्शकों के बीच से कलाकार गरजता हुआ मंच की ओर बढ़ता। उदाहरण के रुप में -कोई शूरवीर जंगल से लौट रहा हैऔर उसकी अनुपस्थिति में किसी ने नुकसान पहुँचा दिया। रामलीला में जैसे परशुराम का आगमन।

स्वाँग और संगीत का तो चोली-दामन का साथ है। बिना संगीत के स्वाँग कैसा? संगीत में वाद्यों का महत्व है। नक्कारा (नगाड़ा) तो नौटंकी की जान है। हरमोनियम, चिमटा, ढोलक, झाँझ, मंजीरे, बाँसुरी, घड़ा आदि की ध्वनियों से समां

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

बँध जाता है। इनके मेल से गीत-संगीत और नृत्य-भंगिमाओं में विशेष आकर्षण आ जाता है। दर्शकों के दिलों की धड़कनेंऔर उनके अंग-प्रत्यंग भी थिरक उठते हैं। नक्कारा और हारमोनियम और भी अवसरों पर बजाए जाते हैं परन्तु नौटंकी के साथ इन साजों की अलग ही ध्वनि होती है।

जिस गाँव में नौटंकी लग गई उतने दिनों के लिए उस गाँव की रौनक ही अलग होती थी। इलाके भर में धूम मच जाती थी। किसी विज्ञापन की आवश्यकता नहीं। एक कान से दूसरे कान संचार का काम करते थे। रात को नक्कारे पर चोट पड़ते ही इलाके भर से हुजूम टूट पड़ता था। लोगों के बैठने को प्रभु की बिछाई असीम धरती फर्श का काम देती थी। दूर-दूर तक सिर ही सिर ठाठें मारते दिखाई पड़ते थे। औरतें पुरुषों से अलग बैठती थीं। नई उम्र के लड़कों की अपनी अलग ही दुनिया होती। कुछ आसपास खड़ी किसी बैलगाड़ी पर ही जा बैठे हैं। या पाँच-दस पेड़ों पर ही चढ़े बैठे हैं। औरतें पास में लगती छतों के मुड़ेरों पर बैठी है।

जहाँ तक पात्रों का प्रश्न है पहले नारी पात्रों की भूमिका भी कमसिन लड़के ही करते थे। साड़ी पहनकर नाचना-गाना यह सब लड़कों के द्वारा ही होता था। बाद में एक-दो औरतें भी रखने लगे। ये प्रायः नाचने गाने वाले निम्न स्तर के घराने से होती थीं। ये अपनी उत्तेजित अदाओं से छातियाँ हिलाकर, नैन मटकाकर मंच के निकट बैठे मनचले कुछ सम्पन्न लोगों के गले में हाथ डालकर झूल जातीं। गाने भी रसिक होते थे- 'गले का हार बन जाऊँगी कसम खाऊँ सैयां।' जैसे गानों का ताँता बँधा रहता था। खूब ईनाम मिलते। फिर देने वाले व्यक्ति के नाम की छाप लगाई जाती। ईनाम के रुपयों का बँटवारा मालिक और कलाकारों के बीच पहले से ही तय होता था। बीच में नाच-गाने का सिलसिला चलता फिर थोड़े ठहराव के बाद खेल शुरु हो जाता था।

छोटी मंडली वालों के पास 'मेकअप' के भी सामान्य से साधन थे। मुर्दासन, कोयला, काजल, खड़िया, गेरु, सेलखड़ी, चमकी, बिन्दी आदि का प्रयोग करते थे। बाद में आधुनिक उत्पादनों सस्ते से सस्ते क्रीम, पाउडर, लिपस्टिक, सुरखी आदि का प्रयोग करने लगे। स्त्रियों की भूमिका में पुरुष पात्र चमकीली चूड़ियाँ, रंग बिरंगे मोतियों की माला, घुंघरु पहनते थे।

नौटंकी में वेश-भूषा का कोई निश्चित रुप नहीं रहा। चमकीले तार सितारों वाला नोट राजा की पोशाक बन जाता।साधु के लिए भगवा कपड़े और कमण्डल का प्रयोग करते। डाकू की पोशाक में चूड़ीदार पजामा कुर्ता और बास्कट से काम चला लिया जाताथा। बड़ी-बड़ी रौबदार मूँछें, रौबीले संवाद उनके व्यक्तित्व को निखारते थे। कभी-कभी बांदी और नारी की पोशाक में विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। उनके संवाद से ही लोगों को पता चलता। नारी पात्रों के लिए साड़ी, ब्लाउज घाघरा, अंगिया आदि ही चलता था।

नौटंकी में मुख्य भूमिका होती थी नृत्य और संगीत की। नक्कारे की ताल तथा गायक के आलाप पर जन समुदाय मीलों से खिंचा चला आता था। दर्शकों का मन भी नाच उठता था। 'वाह-वाह' की आवाजें कलाकारों में और उत्साह, उल्लास भरती। 'नक्कारे की चोब जब-जग झपताल से स्वर उभारती तो अभिनेता के पैरों के घुंघरुओं का स्वर भी मुखरित हो-झानन्-घन्न चिन्न् धिक-धिक की ताल पर थिरकने लगता था। 'रागिनी की टेक पर पड़ने वाली मार्मिक तालों के अवसरों पर तो स्वाँग (सांग) के नर्तकों की अदायें बहुत ही आकर्षक होती थी। घूंघट के फटकारे ज़ीभ के इशारे और नयनों के कटारे दर्शकों को दीवाना बना देती थी। तख्ततोड़ नाच, अनेक अंग-भंगिमाओं के साथ लगाते फिरकी से दर्शकों के मन जीत लेते थे। उनकी गलबहियों की झूल और कूल्हों की मटकन तो भुलाए नहीं भूलती थीं। काम करने वाली तवाइफ तो अदाओं में माहिर होती ही थीं। लड़के भी स्त्रियों का सा लालित्य न होने पर भी दर्शकों की रग दबाने में पूरी तरह कुशल होतेथे। कभी-कभी साज-श्रृंगार में औरतों को भी मात दे जाते।

नौटंकी में संवाद प्रायः पद्यमय होते थे। बाद में भाषा गद्य-पद्य मिश्रित हो गयी। गद्य-पद्य में उर्दू और फारसी के शब्दों का प्रयोग होता था । नौटंकी की यह एक आदर्श भाषा थी।संवाद भले ही पद्य में चलते परन्तु इतने सरल होते थे कि हर आदमी समझ लेता था। देहात में छबीली भटियारिन, माँ का कलेजा जैसे खेल भी जुड़ गये थे। छबीली भटियारिन प्रेम कहानी थी और माँ का कलेजा प्रेम और आदर्श का मिला जुला रुप। ये खेल देहात में खूब चले। ये खेल देहात के खुले मंच पर खेले जाते थे। जो इनाम आदि मिलता था, उसको आपस में बॉट लेते थे।

धीरे-धीरे बड़ी-बड़ी नौटंकी कम्पनी बनने लगीं। उन्हें आधुनिक साज-सज्जा से सजाने के प्रयास होने लगे। मालिकों ने सामान बनाने में पैसा भी लगाया, इसलिये अब यह खुले मंच के स्वांग-तमाशे न रहकर टिकिट लगाकर खेल दिखाने वाले रंगमंच बन गये। जिनका विस्तार से उल्लेख आगे कर रहे हैं। जैसा कि पहले उल्लेख किया है इन नौटंकियों में महिला पात्रों की भूमिका भी लड़के ही निभाते थे। धीरे-धीरे वक़्त ने करवट ली और औरतों का प्रवेश हुआ। सबसे पहले ठठिया के पास वल्लभपुर पुरवा के रहने वाले कल्लू बेरिया की लड़की कृष्णाबाई ने नम्बरदार के यहाँ पचास रुपया महीने पर नौटंकी में काम किया। संभवतः इस रंगमंच से जुड़ने वाली यह पहली लड़की थी। थोड़े ही दिन बाद कुछ बंधन ढीले हुए और उसी खानदान

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

की लड़की गुलाबबाई ने त्रिमोहन के यहाँ नौकरी कर ली। काफी समय तक इन दोनों ने अदल-बदलकर काम किया। बाद में कृष्णाबाई और गुलाबबाई ने अपनी अपने नामों से बड़ी-बड़ी मंडलियाँ बनायीं।[1] कृष्णाबाई तथा गुलाबबाई दोनों ही अब हमारे बीच नहीं हैं। भारत सरकार ने गुलाब बाई को तो पद्मश्री सम्मान से सम्मानित किया था। इन्होंने इस क्षेत्र में धूम मचा दी। इन लड़कियों के आने से औरतों का रुझान भी इस क्षेत्र की ओर बढ़ा। बाद में मुज़रे वाली भी आकर मिल गयीं। इस तरह औरतों का संकट लगभग दूर हो गया। जनता का आकर्षण बढ़ा। एक विशेष रुझान और पैदा हुआ कि चर्चित महिला कलाकारों के नाम से अनेक मंडलियाँ सामने आने लगीं। जैसे-कमलेश थेटर कम्पनी, शांति थेटर कम्पनी, रीटा कृष्णा थेटर कम्पनी हिन्दुस्तान थेटर कम्पनी, कानपुर, बाबू शकील इसके मालिक थे। स्टार थेटर कम्पनी, भारतीय कला सेंटर, लालमन नम्बरदार के बेटे जयशंकर बाबू इसके मालिक थे 'मुन्नू दारा थेटर' ज्यादातर मध्यप्रदेश के मेलों में चली। ये सभी मंडलियाँ आधुनिक साज-सज्जा से सुसज्जित हो चुकी थीं। मेलों में या शहरों में टिकिट लगाकर खेलदिखाती थीं। ये 30-35 साल पुराने नाम गिना रहा हूँ। आज भी भारत थेटर कम्पनी, सम्राट थेटर कम्पनी इत्यादि नामों से कानपुर, लखनऊ हाथरस की मंडलियाँ चल रही हैं।

उपर्युक्त संदर्भ में कुंवर चन्द्रप्रकाश का कथन भी विचारणीय है- ''नौटंकी के उद्धार- परिष्करण का कार्य करने वाले या उसके प्रवर्तक बुलंदशहर (उ.प्र.) के उस्ताद इन्दरमल छीपी थे। उन्हें यह प्रेरणा अपने ईष्टदेव से मिली। उनके शिष्य चिरंजीलाल, हाथरस के पं. नत्थाराम ने इसे आगे बढ़ाया। उस्ताद चिरंजीलाल के शिष्य हाथरस के पं. नत्थाराम ने नौटंकी के सरल विधान में अनेक कृत्रिम उपकरणों का समावेश किया-भड़कीले वस्त्र, अलंकरण पात्रों की संख्या बढ़ाई, वाद्य यंत्रों में बढ़ोत्तरी की और कुछ आधुनिक वाद्ययंत्र भी जोड़ दिये गये। कृष्णाबाई ने भी इस ऋण को स्वीकार किया। उसने मुझे एक साक्षात्कार में बताया कि जो चीज उन लोगों ने छोड़ी हमने उसमें वृद्धि की।

जब आधुनिक साज-सज्जा से ये मंडलियाँ सामने आयीं तो रईसों का ख़ास झुकाव बढ़ा। विवाह-शादियों में नौटंकी ले जाना शान समझा जाने लगा। मैंने अनुभव किया कि कलाकार औरतों के कारण एक रोमांटिक माहौल पैदा हुआ, एक खिंचाव बढ़ा। रईसों के विशेष रुझान का कारण भी समझ में आया। यदि गाँव में भी कोई छोटी नौटंकी लगी है और उसमें दो औरतें भी हैं, तो इलाके भर की भीड़ में बढ़ोत्तरी हो जाती। इनाम देने का सिलसिला होड़ के साथ चलता। मन चले रईस तो यहाँ तक सोचते किअभी हमारे साथ चल पड़ेगी। वे औरतें भी (गाँव-देहात में) तरह-तरह की उत्तेजित मुद्राओं से गले में बाँहे डालकर लोगों को रिझाती मगर टिकिट से खेली जाने वाली नौटंकिया में ऐसा प्रदर्शन नहीं था। यद्यपि वहाँ भी रोमांटिक माहौल या फिल्मी अदाकारी का बाज़ार कम गर्म नहीं था।

आज भी कानपुर, हाथरस, आगरा तथा लखनऊ नौटंकी के प्रसिद्ध गढ़ हैं। श्री कृष्ण पहलवान जिनका ऊपर जिक्र किया गया है, रंजीत दुरवा, कानपुर के थे। इनका अपना प्रेस है। सबसे अधिक संगीत नाट्य इन्हीं ने लिखे। आजकल भी उन्हीं का प्रचलन है। इन संगीत नाट्यों की एक अलग शैली है जो 'कानपुर-शैली' के नाम से प्रसिद्ध है। पं.नत्थाराम ने 'हाथरस-शैली' को जन्म दिया। कानपुर-शैली में प्रायः लम्बीआवाज वाले एक्टर होते हैं। चौबोला,लावनी मुख्य छन्द हैं। आजकल सिनेमा के गानों की तर्ज पर भी इनका गायन होने लगा है। कानपुर शैली में 'डाइलॉग ' भी हैं। यासीन साहब जो श्री कृष्ण पहलवान के साथ थे उन्होंने अनारकली खेल लिखा है, जिसे 'पुकार' या 'जहाँगीर का इन्साफ' नाम से भी जानते हैं। उदाहरण देखिए- (कुँवर के भाई का खून हो जाता है, तब जहाँगीर महल में पूछता है) जहाँगीर-क्या जानती हो कि तुम्हारेबाप और भाई को किसने कत्ल किया?

कुँवर - मुझे नहीं मालूम

जहाँगीर - कोई दुश्मन?

कुँवर - मुकद्दर

जहाँगीर- (वजीर संग्राम सिंह से पूछता है) वज़ीरे आज़म आप इस कत्ल की कुछ असलियत बता सकते हैं ?

वज़ीर - हर्फ-ब-हर्फ (सब कुछ)

जहाँगीर- बयान कीजिये?

वज़ीर - रणजीत सिंह व उदैसिंह का कातिल मंगलसिंह है।

जहाँगीर- कौन मंगल सिंह? आपका फरजंद?

बीच-बीच में पद्यबद्ध संवाद भी होते हैं। हाथरस शैली पूरी तरह संगीत पर ही आधारित है। वैसे भी जो कामयाबी कानपुर शैली को मिली वैसी हाथरस शैली को नहीं मिल पाई।

यहाँ कुछ प्रसिद्ध कलाकारों के नाम गिना देना अनुचित न होगा। जैसे- मास्टर मोतीलाल, मा.रामसिंह, मास्टर नागर, मा.नज़ीर, विश्म्भर (त्रिमोहन के यहाँ काम किया) सोहिल, भूदेवप्रसाद शर्मा, प्यारेलाल,हुलसी, खेमचंद शर्मा, रमेश चन्द्र शर्मा, मोहन शर्मा, विन्दर निगम चेतनगुरु, गजराज, चोबसिंह, गोकुलचंद, घस्सो (खुरज़ा, उ.प्र.) राजा, मेहर इलाही, आशिक अली आदि। नये कलाकारों में - शाहिद (कासगंज, जिला-एटा उ.प्र.) मा .डब्बू (कासगंज) प्रेमकुमार (कासगंज) माहेन (उरई) रामप्रसाद, हफीस (सिकन्दराराऊ) प्रताप (गुरसायगंज, कानपुर) मास्टर कल्लू (मथुरा)मास्टर अशोक

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

(बावरपुर), मास्टर जमील, मा.गब्बू, मा.ध्यान सिंह । महिला कलाकारों में - कृष्णाबाई, गुलाब बाई (अब दोनों हमारे बीच नहीं रहीं) अन्नो, श्याम, पान कुँवर, लाड़ली, सोनकली, नवाब जान, मुन्नी बाई, सुखबदन, चहीतन (दोनों गुलाबाई की बहिनें) कमलेश (शिकोहाबाद), महबूबन, अनवरी, श्यामबाई (आगरा) कमलेश, माला रानी, शोभारानी, रामश्री बाई (सभी, कानपुर) ज़मीला बाई, पत्तो बाई, कृष्णा आदि। संगीतकारों में- छिद्दन, जुम्मन, रशीद, बशीर, बाकर, गामा, बुद्धू, अमज़द, मुंशीराम, बुंदेलखण्ड (जोकर) जमुनाप्रसाद मोती मास्टर इत्यादि। कुछ अन्य- पन्नाबाई, मुन्नी (कानपुर) सुरैया, लल्लन, मंजू (मैनपुरी) रामपत (जोकर) मा. छिद्दन, तोताराम। नौटंकी के कुछ ख्याति प्राप्त कलाकर जो अब इस दुनिया में नहीं रहे- जमुना उस्ताद, गोकुल, घस्सोमास्टर, मास्टर सोहल, हुलासी, नागर मास्टर, मास्टर मोती महाराज, मास्टर विश्वम्भर, अब्दुल रहमान, रशीद उस्ताद आदि।

नौटंकी की विषयवस्तु में प्रायः किसी योद्धा, प्रसिद्ध डाकू के कारनामे, प्रेम कहानी, या धार्मिक कथाएँ होती हैं। कुछ ऐतिहासिक घटना-प्रसंगों को लेकर खेल लिखे गये और बड़े ही सफल हुए। प्रसिद्ध खेल हैं -अनारकली (जहाँगीर का इंसाफ इसे ही पुकार भी कहते हैं) सुलताना डाकू, लैला मजनूँ, शीरी फरहाद, रुप बसंत, अमर सिंह राठौर, ज़हरे इश्क, बलिया का शेर, खुदादोस्त, आलमआरा, सती वेश्या, यतीम शहजादा, राजा हरिश्चन्द्र इत्यादि खेल प्रसिद्ध हैं।

संवाद और गीत प्रायः क्षेत्रीय भाषा में होते हैं और संगीत की धुनें लोकगीतों पर आधारित होती हैं। नक्कारा नौटंकी का खास संगीत है, जिसकी अपनी अलग पहचान है। कई बार अभिनेता झाँकी के बीच में ही हुक्का-बीड़ी पी लेता है, दर्शक ऐसी रुकावट का बुरा नहीं मानते । बड़ी-बड़ी नौटंकियों में खेल प्रारंभ होने से पूर्व प्रार्थना (मंगलाचरण) करने की परम्परा है, जिसे ये 'कोरस' कहते हैं। मंच पर सभी स्त्री-पुरुष कलाकार आकर प्रार्थना का गीत गाते हैं। प्रायः सरस्वती या भवानी की वंदना होती है। इसे पथवारी भी कहते हैं। उदाहरण के रूप में- 'पथवारी अम्बिका जय शिव प्यारी अम्बिका'

अब कुछ फिल्मी टच आ गया -
मालिक तेरे वन्दे हम
विनती करत तोरे द्वार
कर सुमिरन शिव जी का जिनकी अपार माया
कृष्ण मुरारी गिरधर धारी सकल जगत के पालन हार।

वैसे यह अम्बिका वंदना भरतमुनि के नाट्य शास्त्र के निकट पड़ती है।

प्रारंभिक गाँव-देहात की मंडलियों में इधर-उधर बैठकर या पीछे कोई कनात लगी होती उसी जगह को अपना श्रृंगार कक्ष बना लेते थे। अब बड़ी थेटर कम्पनियों में प्रायः अपनी-अपनी 'रावटी' में बैठकर ही 'मेकअप' कर लेते हैं। वैसे पोशाक आदि के लिए अलग से जगह होती है, वहाँ जाकर कलाकार ज़रुरत की चीजें ले लेता है। कलाकार श्रृंगार करते हैं, इतने में दर्शकों को बांधे रखने के लिए कोई गज़ल-कव्वाली मंच पर चलती रहती है। नौटंकी में खाने- पीने का ढंग भी अपना है। रात का खाना शाम 3-4 बजे खा लेते हैं। फिर सुबह 3-4 बजे जब खेल समाप्त होता है, उसी समय खाना खाते हैं।

नौटंकी में कई स्तर पर बदलाव आया जैसे आधुनिक साजों से सुसज्जित किया गया, पात्रों की संख्या बढ़ी, महिलाओं के प्रवेश से बहुत बड़ा संकट घटा 'सूत्रधार, डाइरेक्टर, मैनेजर जैसे पदों का महत्व बढ़ा। पुरानी तर्जों-रसिया, दादरा, चौबोला, ख्याल, साहनी इत्यादि को छोड़कर 'फिल्मी' टच देने लगे। संवादों के साथ फिल्मी गाने जुड़ गये।दर्शकों को आकर्षित करने के लिए स्टेज पर अनेक पर्दे बिजली की साज-सज्जा होने लगी। मैंने कृष्णा थेटर में देखा अभिनेत्री के ऊपर बिजली की लड़ियाँ या कपड़ों में छोटे बल्ब लगाकर किया गया डाँस इसे 'इलैक्ट्रिक डांस नाम दिया गया। लाउडस्पीकर ने ऊँची आवाज़ की समस्या का समाधान किया। अनेक रंग-बिरंगे पर्दों की व्यवस्था वातावरण को बांधने में सहायक बने। स्वाभाविकता बनाये रखने के लिए डाकू आदि की भूमिका पर पर्दे के पीछे से धमाके आदि की व्यवस्था की गयी। पहले स्टेज प्रायः तख्त या फट्टों की सहायता से बनता था। अब मेलों आदि में लगने वाली नौटंकियों के लिए सामने से मिट्टी खोदकर चबूतरे का रुप दिया जाने लगा। उसी पर कनात पर्दे लगाये जाते हैं। मिट्टी खोदने के बाद जो सामने जगह बन जाती है उसमें कुर्सियाँ। लगाकर 'फर्स्टक्लास' बना देते हैं। यह जगह स्टेज के बिल्कुल सामने होती है। इधर-उधर 'रावटियां' तन जाती है। चारों ओर टीन या कनातों की दीवार बना देते हैं। थोड़े दिनों के लिए सूने जंगल में मंगल हो जाता है। वैसे वेशभूषा में क़ाफी परिर्वतन आया है परन्तु कभी-कभी चूड़ीदार पजामा की जगह पेन्ट से ही काम चला लिया जाता है। या फिर कभी-कभी अपना गाउन पहनकर ही कलाकार स्टेज पर चला जाता है। अभिनेत्रियों का श्रृंगार भड़कीला होता है। वे चेहरे पर सफेद पाउडर, गेरु, सुरखी, मुर्दासन लगाकर चमकीला पदार्थ लगाती हैं । आँखों में काजल माथे और ठोड़ी पर बनावटी टिमकने, चूड़ियाँ, परीबंद, झुमके घुंघरु आदि सौन्दर्य में निखार लाते हैं। सबसे दिलचस्प भूमिका मुंशी (कामेडियन) की होती है। वह नौटंकी का मखौलिया होता है। अपने ऊटपटांग पहरावे और बातों से जनता का मनोरंजन करता है। जब लम्बे संवाद या किसी गंभीर विषय से दर्शकों में ऊब पैदा होती है तब मुंशी इस उदासी को तोड़ता है। उसकी विभिन्न मुद्राओं के कारण वाह!

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

वाह! और तालियों की गड़गड़ाहट से हाल गूंज उठता है।

कृष्णा थेटर कम्पनी में मुंशी खाँ बुंदेलखंडी की वो धाक थी कि मुंशी स्टेज पर नहीं पहुंचे तो नौटंकी कैसी? जनता खेल की कम मुंशी की ज्यादा माँग करती थी ।

अब इस लोकनाट्य का वास्तविक स्वरुप संकट की घड़ी से गुज़र रहा है। अब यहाँ कहानी (कथ्य) का महत्व न रहकर डाँस का महत्व बढ़ गया। मीडिया इस कदर हावी है कि गाने वाली औरतों का स्थान डांस ने ले लिया है। अब डाँस भी कैसेट लगाकर करती हैं। इसे 'कैसेटडांस' कहा जाय तो कोई अनुचित नहीं होगा। अब इस ओर ब्रजवासी (उ.प्र.की) नटों की औरतों का भी रुझान बढ़ा है। मूलतः ये गाना गाती हैं, एक्टिंग में कोई-कोई ही आ सकी हैं। नौटंकी लेखन की जो पुरानी परम्परा थी वही चल रही है। वही पुराने खेल मंच पर खेले जाते हैं। अब एक्टर भी पहले जैसे नहीं हैं क्योंकि बचपन से जो बच्चे (लड़के) नाच-गाने से जुड़ते थे, वही धीरे-धीरे अच्छे एक्टर बन जाते थे। स्थिति यहाँ तक है कि रात में शायद ही कोई खेल पूरा होता हो। डांस के प्रति लोगों का आकर्षण ज्यादा है, एक-दो सीन के बाद डांस वाली को मंच पर भेज देते हैं नया कुछ भी नहीं हो रहा। बीच के दौर में लालमन नम्बरदार, त्रिमोहन, कृष्णाबाई, गुलाबबाई, सम्राट थेटर आदि को मंच को आधुनिक रुप देने का शौक लगा था वह भी लगभग अब खत्म हो गया। जिन लोगों को मंच का शौक था वे लोग अब नहीं रहे या फिर कम्पनी बंद हो गयी।

नौटंकी का लोकनाट्य परम्परा में सशक्त स्थान रहा है। यह हमारी सांस्कृतिक विरासत भी है। नौटंकी जन-जागृति का बड़ा माध्यम रहा है। श्री कृष्णा पहलवान द्वारा लिखित जलियांवाला बाग, टीपू सुल्तान, बलिया का शेर, वीर बालक, झाँसी की रानी, लक्ष्मीबाई इत्यादि खेलों ने जन-मानस में राष्ट्रीय भावना पैदा की। बलिया काशेर मेंअमरशहीद जितेन्द्र पाण्डेय की रोमांचक गाथा को वाणी दी गयी है। शहीद भगतसिंह ने भी लोगों को बहुत प्रभावित किया। इसी कड़ी में सुभाषचन्द्र बोस ने तो तहलका मचा दिया था। यासीखाँ द्वारा लिखित कौमी दिलेर, वीर अभिमन्यु, खुदा दोस्त, आदि खेलों ने कौमी एकता, भावात्मक सद्भाव, स्वदेश प्रेम को बढ़ावा दिया।

अन्त में नौटंकी की कुछ सीमाओं अर्थात कमियों को रेखांकित करना अनुचित न होगा। इसमें अश्लीलता की छाप इतनी गहरी है कि सत्यवादी हरिश्चन्द्र जैसे कथानक आदर्श प्रेरणा के स्त्रोत नहीं बन पाते। जोकर की भूमिका जहां नीरसता तथा ऊब को तोड़ती है वहीं कथानक में गंभीरता पैदा नहीं होने देती। मुंशी (जोकर) किसी भी पात्र से कुछ भी कहने को मुक्त है। ऐसा सस्ता मनोरंजन यहाँ खूब चलता है। नौटंकी की वेशभूषा ही नहीं, भाषा भी पूर्णतः पात्रों के अनुकूल नहीं होती। कलाकार अनपढ़ या कम पढ़े-लिखे होते हैं इसलिए शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाते। इनका कोई ट्रेनिंग स्कूल भी नहीं होता, जिससे इन कमियों को दूर किया जा सके। कभी-कभी रानी और दासी में अन्तर करना कठिन हो जाता है। 'फिल्मी टच' कथानक में अवरोध पैदा करता है। दृश्य के अनुकूल मंच न होने के कारण कथानक में निखार नहीं आ पाता। व्यवसायिक जितनी भी नौटंकिया रहीं अब वे मूल स्वरुप निखारने की बजाय' ग्लैमर' पर बल दे रही हैं। मंच पर एक 'फैशन-पैरेड' जैसा दृश्य प्रस्तुत करके दर्शकों को रिझाकर पैसा कमाने का प्रयास किया जाता है। मैं अपने निजी अनुभव के आधार पर कुछ बातों की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

नौटंकी में पुरुष कलाकारों की अपेक्षा महिला कलाकारों को पैसे अधिक दिये जाते हैं। इन कलाकारों को मिलने वाला पारिश्रमिक या वेतन स्थायी नहीं होता बल्कि प्रत्येक खेल के हिसाब से दिया जाता है। यदि महीने में दस दिन खेल हुआ तो उन्हें दस दिनों के ही पैसे मिलते हैं जिससे इनकी आर्थिक स्थिति ज्यादा अच्छी नहीं रह पाती। कानपुर रेल बाजार में कुछ लोग ऐसे भी हैं कि जब कहीं से किसी शादी या मेले दशहरे या जन्माष्टमी पर चार-पांच दिन का प्रोग्राम मिल गया तो इधर - उधर से लोगों को इकट्ठा करके काम चला लेते हैं। ऐसी स्थिति में न तो अच्छे कलाकार मिल पाते हैं और न ढंग से 'शो' ही जम पाता है। परिणामतः आयोजक अगले वर्ष के प्रोग्राम के लिए किसी और जगह सम्पर्क करने को विवश होते हैं। कभी-कभी किसी मेले में काम न जम पाने की स्थिति में इन कलाकारों को भुगतान देरी से होता है। अधिकांश भुगतान छोटी-छोटी किश्तों में किया जाता है, नतीजा यह होता है कि फुटकर पैसा किसी काम नहीं आ पाता, ऐसे ही खाने-पीने में निकल जाता है। एक चलता-फिरता रंगमंच होने के कारण इसके कलाकारों में बैंक आदि के प्रति कोई रुचि जागृत नहीं होती। प्रायः 'इन्कम कम और खर्चा ज्यादा' की प्रवृत्ति बनी रहती है। खाने-पीने की लत भी सामान्य सी बात है। इन कलाकारों का भविष्य ज्यादा उज्जवल नहीं होता क्योंकि ढलती उम्र में अभिनेत्रियों का महत्व घट जाता है फिर पुरुष कलाकारों का तो कहना ही क्या? मालिक इन कलाकारों को थोड़ा-बहुत एडवांस देकर चंगुल में फंसाये रखते हैं इसलिये जल्दी-जल्दी दूसरी जगह जाने की स्थिति में नहीं रहते। वर्षान्त के दो महीने लगभग नौटंकियां बन्द रहती हैं जिससे उनकी आर्थिक स्थिति पर काफी फ़र्क पड़ता है।

महिला कलाकारों के बच्चे उनके साथ रहते हैं। यह एक चलता-फिरता रंगमंच है जिससे इनके बच्चों की पढ़ाई-लिखाई की व्यवस्था नहीं हो पाती। ऐसी स्थिति में पीढ़ियों तक अनपढ़ता की एक लम्बी श्रृंखला चलती है। अब कुछ पढ़ने

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लिखने के प्रति की रुझान बढ़ा है। सामाजिक व्यवहार से शादियाँ भी होने लगी हैं इसी प्रकार काम और घर दोनों की जगह एक ही होने के कारण दिन-रात वहीं नौटंकी वाला माहौल बना रहता है। जब नौटंकी किसी मेले या शहर के ग्राऊण्ड में लगी होती है तो उसी घेरे में स्टेज के पीछे या अगल-बगल कलाकार और अन्य कर्मचारियों की 'रावटी' लग जाती है। जहां दूसरे घरों के बच्चे स्कूल जाते हैं, वहीं इनके बच्चे सुबह उठते ही पैरों में घुँघरु बाँधना सीखते हैं। अभिनेत्रियों का सामाजिक स्तर उच्च न रह पाने के कारण समाज में उनके स्थापित होने में कठिनाई होती है। कुछ अपवादों को छोड़ अधिकांशतः पत्नियों का दर्ज़ा कम रखैलों का ज्यादा पाती हैं। ये अभिनेत्रियाँ कुलीन घरानों के समान जीवन नहीं बिता पाती क्योंकि 'मंडली वाली औरतें' समझकर इन पर हर जगह मनचले लोगों द्वारा छींटाकशी की जाती है। एक बात और देखने में आई कि कुछ हसीन, खूबसूरत चेहरों पर रईस या अच्छे घराने के लोग आकर्षित होकर उनके साथ रहना शुरु कर देते हैं। तब उनकी स्थिति साँप-छछूँदर जैसी होती है। न तो उस औरत को छोड़ पाते हैं और न स्वयं अपने को इस बिरादरी या माहौल में फिट पाते हैं। सारे दिन रावटी में ही मुंह छिपाये पड़े पहते हैं। उन लोगों के कारण भले ही इन औरतों का आर्थिक स्तर उठ जाता है लेकिन वे अपनी कला के प्रति ईमानदार नहीं रह पातीं।

अन्त में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भारत के लोकनाट्य में नौटंकी का आसन बड़ा ऊंचा रहा है। इसका स्वरूप अब लुप्त सा होता जा रहा है। सिनेमा ने इसे क्षति पहुंचाई हो ऐसा मैं नही मानता क्योंकि प्रारंभिक दौर में देखने में आया कि जिस शहर में अच्छी नौटंकी लग जाती थी, सिनेमा हॉल खाली पड़े रहते थे। हाँ, मनोरंजन के बढ़ते साधन, टी.वी. आदि से जरुर क्षति हुई है। मेलों के प्रति लोगों का रुझान घटा है। पहले लोगों को नौटंकी देखते हुए मनोरंजन भी हो जाता था और मेला देखने गये लोगों की रात भी कट जाती थी। बड़ा ही जटिल प्रश्न है कि बदलते परिवेश में इसके अस्तित्व को कैसे कायम रखा जाय? वैसे कानपुर, आगरा, लखनऊ और हाथरस के नौटंकी मंच अब भी सक्रिय हैं परन्तु अब वह रौनक नहीं है कि नक्कारे की चोब पर बुढ़ऊ भी ठुमक उठें। भारत सरकार के सांस्कृतिक केन्द्र लखनऊ ने नौटंकी से जुड़े कलाकारों की पेंशन बाँध दी है, कुछ वर्ष पूर्व यह राशि मात्र हजार रुपया थी, परन्तु अब बढ़ोतरी करके यह राशि दो हज़ार कर दी गई है। यह पेंशन उन्हीं को मिल रही है जो वृद्धावस्था में है। फिर भी यह लाभ सबको नहीं मिल पाया। भले ही रकम थोड़ी है, फिर भी इन लोगों के लिए बहुत बड़ा सहारा है। सरकार का यह कार्य प्रशंसनीय है।

□□□

रीडर, हिन्दी विभाग
पंजाबी युनिवर्सिटी
पटियाला-147002 (पंजाब)
दूरभाष : 0175-2280625

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सांस्कृतिक मूल्य बोध एवं स्त्री छवि
(बुंदेली गीतों के संदर्भ में)

भारती वत्स

लोकगीतों की सांस्कृतिक पड़ताल

लोकगीत आस्तिकता के साथ सृजित होते हैं। जब राष्ट्र संकटग्रस्त होते हैं, भाषाएँ औपनिवेशिक मानस की प्रवक्ता हो जाती हैं मानवीय रिश्ते संकीर्ण हो जाते हैं तब भी लोकगीत लोक साहित्य किसी भी राष्ट्र की जातीय सांस्कृतिक अस्मिता को अक्षुण्ण रखते हैं बाह्य दबावों से प्रभावित हुए बिना। यानि संस्कृति और लोक को अग्रिम पंक्ति में बैठे समाज के प्रतिनिधि संरक्षित नहीं करते बल्कि गबरीले, ठसकीले, महुआ खाने वाले, पीपल की छांव में सोने वाले लोक मानस देश की संस्कृति और भाषा को हमेशा बचाते हैं।

यह मौखिक साहित्य बन्धुओं की गांठ में बंधकर नदियों के पार पहुंचता है स्त्रियों का यह विस्थापन संस्कृतियों को जोड़ता है, जहां से ''सांस्कृतिक संस्तरण (कल्चरल शिफ्ट) अघोषित रुप से सहज ही चुपचाप होता है क्योंकि स्त्रियों की यह सांस्कृतिक गांठ बहुत ठोस होती है जो बहुत कुछ को, बहुत कुछ मे रुपान्तरित करती है।

आज तमाम संचार माध्यम मिलकर यह कार्य नहीं कर सकते। यही कारण है कि तमाम सांस्कृतिक विविधताओं के बावजूद लोक की आत्मा एक है। लोकगीतों की विषयवस्तु तीज-त्यौहार, ऋतुओं की अठखेलियाँ तथा इन सब में स्त्रियाँ हर क्षेत्र में लोक मानस में कुछ थोड़े बहुत रद्दोबदल के साथ मौजूद हैं। यह लोक मानस कोदो कुटकी खाकर, महुआ पीकर जीता है। इनने सामंती क्रूरताओं को भोगा है। इन गीतों में बहिन का रुदन है, विधवा का विलाप है। तो प्रिय के संग-साथ की रुमानी ललक भी है -

मैं तो ऊंसई अतर में डूबी पिया
मौ पे रंग न डारौं सांवरिया
चोली भींजी, चुनर मोरी भींजी
भींज कई गुलसारी पिया
मौपे रंग न डारौ सावंरिया॥

लोक पूरा संगीतमय है लय-ताल से परे कुछ नहीं। बुंदेली का तो संवाद ही लयात्मक है, यह लय प्रकृति से आती है, इनमें तादात्म्य जीवंतता लाता है, पक्षियों का कलरव इसे तालबद्ध करता है, यही लोक है। आधुनिकता के विरुद्ध लोक यानि वैयक्तिकता या निजता के विरुद्ध सामुदायिकता। गीतों की कोई रायल्टी लेने वाला रचनाकार नहीं बल्कि सब कुछ सबका एक ने टेर दी अगले ने दूसरी पंक्ति इसी 'टेरने' में 'टोह' है किसी की उपस्थिति की, किसी के होने की, सोचिये! वहां आदेश नहीं है चाबुक नही है। चौकीदारी नहीं। श्रम और सृजन की रचनात्मक जुगलबंदी है।

लोकगीत प्राणों से बनते हैं, जो जीते हैं वहीं लिखते हैं। लोकगीतों में जहाँ बौद्धिकता हावी होती है वहां प्राण यानि संवेदनायें सिसकती हैं। लोकगीत मात्रा तथा शब्दों का गठजोड़ मात्र नहीं है बल्कि उसकी ताल जीवन से आती है। वर्णाधारित लोकगीत जैसे धोबियाऊ, ढिमरयाऊ इन गीतों में अपने जीवन की लय, ताल व भाव संगुफित होते हैं, धोबी के कपड़े धोने की अनादि इंकार में भी ताल है गीत इन्हीं तालों से जीवंत होते हैं। इसीलिये लोक में कहीं कोई कमतरी का आभास नहीं है बल्कि ये जातीय वैशिष्ट्य हैं जो इन गीतों में भरा होता है, आश्चर्यजनक सत्य यह है कि उच्च वर्गो के पास ऐसी अभिव्यंजनाओं का सख्त अभाव है बल्कि यदि यह कहे कि उच्च जाति इन सहज लोकाभिव्यक्तियों में दिवालियापन की स्थिति में है तो गलत न होगा। गीतों में लय और थाप हाथों के काम तथा मन के अनुभावनात्मक स्फोट भरते हैं। लोक साहित्य व्यंजना प्रधान होता है अमिधा का वहां कोई काम नहीं होता। व्यंजना उक्ति में वैचित्र्य लाती है, ठसक लाती है जीवंतता लाती है।

पीड़ाओं तथा प्राकृतिक आपदाओं के गीतों में चमत्कारिक भक्तिभाव दिखाईदेता है।ये चमत्कारिकता मानस को उर्वर बनाये रखने का जैसेउपचार करते हैं, मन की सूक्ष्मतम परतों में ये गीत संभावनाओं को जीचित करते है इसलिये ये गीत व्यथाओं, पीड़ाओं का राग आलाप मात्र नहीं है ये मानस को संरचित करने का कार्य करते हैं इसलिये ये गीत मनबहलाव या रंजन के माध्यम भर नहीं है। बल्कि बहुत गहरे अन्तकरण से प्रस्फुटित होते हुए पूरे लोक मानस का हिस्सा बन जाते हैं :-

जैसी विपत टार दई उनकी
सबकी टरै सुनो मोरे राम
सब खौं मिले अन्न धन मन भर
खेती बड़े सुनो मोरे राम।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लोक में सुरक्षित गीत-संगीत विशेषज्ञों या किसी खास वर्ग की सम्पत्ति नहीं होती इसके सृजन प्रदर्शन एवं आनंद रंजन में समुदाय का हर व्यक्ति सम्मिलित होता है जिसमें उस वर्ग को (विशेष रुप से महिलाओं को) अपनी क्षमताएँ, रचनात्मक या भावाभिव्यक्ति का अवसर मिलता है! जिन्हें परिष्कृत वर्ग/साहित्य में हमेशा हीन समझा जाता है तथा वहां उन्हें अवसर नहीं मिलते इसलिये इन गीतों में स्त्री मन के अन्तरंग चित्र देखने को मिलते हैं। गर्भावस्था की सुकूनमय चिंता, बेटा-बेटी होने की अकुलाहट भरी चिंता, संतान की चाहत, संतान न होने का विषाद, लड़की पैदा होने का भय, प्रिय कील लापरवाहियां, उनसे मिलने की चाहना, इन गीतों में भरी पड़ी है -

दुविधा कब जैहे जा मन की
इन पाऊन परकमां दै हों, छाया गोवर्धन की
जब नंदरानी गरभ से हुइयें, आस पूजै मोरे मन की
दुविधा कब जैहे जा मन की....।

निश्चय ही जिस तरह समय-समय पर दुनिया को समझाने के लिय तमाम अर्थ राजनीतिक सैद्धांतिकियां निर्मित हुई या बनाई गयी उसी तरह आज दुनिया को समझने तथा बेहतर बनाने लोक संस्कृति की पड़ताल करने की ज़रुरत है जो ज्ञान से आगे संवेदनाओं से दुनिया को जोड़ती हैं। प्राक् आधुनिक अर्थ राजनीतिक समझ तथा विमर्शो की संभावनाएँ जहाँ चुक रहीं हैं वहाँ हमें सांस्कृतिक टूल्स खोजने होंगे, लोक तथा लोक संस्कृति इसका प्रथम चरण हो सकती है।

गीत, संगीत, नृत्य, कलाएँ, तीज त्यौहार संस्कृति के स्थूल प्रतीक है जिनके माध्यम से सामान्यतः संस्कृतियों को पहचाना जाता है किन्तु संस्कृति मनुष्य के अंदर कहीं बहुत गहरे उसकी पूरी काया का हिस्सा होती है यही कारण है 'देशी भदेस' व्यक्ति जब कोई टिप्पणी या संवाद कर रहा होता है तब उसकी बातों की गहनता संदर्भो की आत्मीयता, सहजता के सामने आधुनिक कहे जाने वाले तथाकथित शिक्षित व्यक्तियों के संवादों का सतहीपन प्रकट होने लगता है क्योंकि 'लोक' तथा संस्कृति सीखी हुई सभ्यता व मूल्य नहीं होते बल्कि स्वतः स्फूर्त तरीके से मानवीय सरोकारों के मध्य ये निर्मित होते हैं। लोकगीत स्वतः स्फूर्त तरह से निसृत होते हैं जो अवसर विशेष पर भावनाओं की शिद्दत से भरे हुये होते हैं।

जिस तरह ज्ञान का विनियोजन विज्ञान तथा सैद्धांतिक विमर्शो में संभव है उसी तरह लोक नवागत परिवर्तनों संसाधनों को गीतों में विनियोजित करता है क्योंकि यही उसकी अभीष्ट (desirefull) भाषिक संरचना है। उदाहरणार्थ रैसल' खली (काली) के जीतते ही हिमाचल की स्त्रियों ने गीतों से ही उसका अभिवादन किया, सही लोक है जहां शब्दों की पाखंडमय औपचारिकता नहीं है इस घटना से हम समझ सकते हैं किस तरह तात्कालिक घटनायें तथा प्रसंग लोक राग व अनुभूति का हिस्सा सहज ही बन जाते हैं। यह सामुदायिकता से उपजी सहजानुभूति है। कहा जा सकता है कि लोक और सामुदायिकता पर्याय है अर्थबलाधारित आधुनिक समाज की वैयक्तिकता ने, निजत्व ने इस सामुदायिकता को खंडित किया है। आधुनिक संचार माध्यमों (रेडियो, टेलीविजन) मंचीय प्रस्तुति, जो अर्थ बलाधारित संस्थायें/संसाधन है ने व्यक्ति परकता/निजी पहचान को बढ़ावा दिया, जिसने लोक गीतों का बाजारीकरण कर उपभोक्तावादी मूल्यों के चलते लोक की वृहद सोच सहोदरता तथा सामुदायिकता को भंग किया। लोक गीतों, लोकभाषा एवं लोकमानस सिर्फ भाषा-विज्ञान या ध्वनि सिद्धांत का मुद्दा नहीं है बल्कि इस तार्किक ज्ञान से आगे यह संवदेना एवं सरोकारों का मुद्दा है। 19वीं सदी के जर्मन लोक कलाविदों की मान्यता थी कि सारा समुदाय लोकगीतों का सृजन करता है तथा लोकगीत पेड़ों की तरह बढ़ते हैं। यानि लोकगीत या साहित्य में कहीं भी वैयक्तिकता-निजत्व के लिये कोई स्थान नहीं है।

विचारणीय है कि भाषिक सांस्कृतिक विनियोजन में लो अपनी सांस्कृतिक ध्वनियों तथा ग्राह्य भाषिक संरचना में आगत भाषा/शब्द को संचरित कर विनियोजित करता है। जबकि आधुनिक भाव बोध पुनरावृत्ति नकल या अनुकरण करता है जैसे रेडियो का रेडुआ, कूलर का कुलरवा में संरचित कर लोक अपनी सांस्कृतिक समृद्धता के तहत चीजों को सांस्कृतिक रुप में अपनाता है यहां कोई हीनता या कमतरी का बोध नहीं होता। आधुनिक/प्रगतिशील मूल्य निर्णय इसे पिछड़ा हुआ गंवारु-ठहराता है जबकि यह गहरी सांस्कृतिक पकड़ का मामला है। वैसे ही जैसे एक सूटेड-बूटेड अंग्रेज से हमें परायेपन का बोध होता है किन्तु यदि वह धोती-कुर्ता पहन ले और बुंदेली बोलने लगे तो वह लोक में विनियोजित हो जाता है और परायेपन का बोध खत्म हो जाता है। यह अंतर सिर्फउच्चारण सिर्फ संरचनात्मक विश्लेषण का नहीं बल्कि यह भाषिक संरचना सांस्कृतिक जड़ों में अन्तर्निहित है।

स्थानीय, क्षेत्रीय तथा जातीय वैशिष्ट्य के आधार पर जानकारों ने अलग-अलग वर्गीकरण प्रस्तुत किये हैं। गीतों की विषयवस्तु, उनकी लयात्मकता (लय की भिन्नता) अवसरानुसार गायन, उनमें विभेद उत्पन्न करती है। मोटे तौर पर मानव जीवन से जुड़े सोलह (16) संस्कार (यानि गर्भाधारण से मृत्यु तक) गीतों में विषय वैविध्य के आधार है। इनके अतिरिक्त मौसम ऋतुओं के गीत पूरी लोक की सांस्कृतिक छबि गढ़ते हैं। ये गीत प्रेम के भी है विरह के भी। इस तरह के गीतों में स्त्रियाँ ही निर्माता है। स्त्रियाँ ही अभिनेता हैं। स्त्रियाँ ही गायक हैं और स्त्रियाँ ही गीतों की प्रणेता हैं, यानि गीत और

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

स्त्रियों का सीधा संबंध है या कहें जहां अनुभूतियां, संवेदनाएँ है, भाव जगत है यानि दायें मस्तिष्क की सक्रियता है वहाँ स्त्रियाँ है और इसीलिये यहाँ गीत हैं।

बुंदेली गीतों में स्त्रियों की उपस्थिति जितनी गहरी है उतनी कहीं देखने को नहीं मिलती 'धरती में धसौ के आकाश को चीरों ''सुजल के प्रति प्रेम की तल्लीनता में धनानन्द कहते हैं-जो तुम छैल छला हो जाते परै अंगुरियन राते'' और कहीं भी स्त्री प्रेम के प्रति यह गहनता देखने को नहीं मिलती। शौर्य में भी स्त्री है प्रेम के प्रति यह गहनता देखने को नहीं मिलती। शौर्य में भी स्त्री है, श्रृंगार में भी स्त्री है 'आल्हा' जैसी वीरतापूर्ण रचना में भी स्त्री है। ईसूरी की रजऊ भी स्त्री है। ये नदी के दो तट हैं आल्हा और ईसूरी दोनों के मध्य नदी बनी स्त्री अविरल - उपस्थित है। बुंदेली गीतों की स्त्री 'रिझाने' वाली स्त्री नहीं है। श्रमशील, अभिमानी है। इन स्त्रियों का शौर्य, स्वाभिमान, उनकी आत्मरक्षा की ताक़त को यूं ही टाला नहीं जा सकता यानि यदि इन्हें हम नहीं समझेंगे तो पूरी लोक संस्कृति एवं लोक चरित्र को भी नहीं समझ पायेंगे। रजऊ बुंदेली स्त्री की छवि है। स्त्रियाँ गीतों को तात्कालिक रुप से प्रसंगानुसार गढ़ती है। यही कारण है कि एक ही विषयावस्तु पर आधारित गीतों के अनेक पाठान्तर मिलते हैं। बोली व संस्कृति की विविधता के बावजूद भारतीय आत्मा एक ही है।

लोकगीत विशेष रुप से वर्णाधारित गीत उत्पीड़ित वर्ग के अभाव भूख से उपजे या रुदन के गीत नहीं बल्कि इन गीतों में कठोर श्रम के बाद भी आल्हाद है, प्रगल्भता है संभवतः इसलिये क्योंकि लोक मानस सामुदायिकता के मध्य निर्मित होता है। उपभोक्तावाद इस श्रम संस्कृति तथा सामुदायिक संस्कृति को लील रहा है किन्तु स्त्री की पीड़ायें वर्ग या वर्ग की पीड़ायें नहीं यानि स्त्री की पीड़ा अर्थाधारित एवं जातीय नहीं बल्कि पूरे पितृसत्तात्मक समाज की दी हुई है जिसे हर वर्ग- व आयु की स्त्री भोगती है। लिंगाधारित चेतना या कहें स्त्री-पुरुष के जैविक अंतर ने ही कालांतर में मूल्य एवं संहिताओं का रुप लिया ये मूल्य व संहितायें कभी भी उत्पीड़ित वर्ग नहीं बनाता वह सिर्फ उसका पालन करता है। यही कारण है संस्कृति न तो स्त्री के हित में खड़ी होती है नहीं समाज के निम्न वर्ग के हित में।

लोक में स्त्री इन वर्चस्व वादी सांस्कृतिक मूल्यों से अनाहत नहीं है लोकगीत इस बात के प्रमाण है।

जब से मौड़ी भई मात के, सूक ठठेरौ हो रये।
उरक परै रात वर्रारन, नींद न सुक की सो रयै।
ईसुर तैने बुरई बिदै दई, कओ कीसें कन जावें।
घर में नैयां चून चनत कौ, कैसे ब्याह रचावै॥

सामंती प्रभावों से लोकमानस अछूता नहीं है किन्तु हर अंचल का लोकमानस चेतना के स्तर पर भिन्न है यह चेतना राजनीतिक तथा भौतिक-सांस्कृतिक आधारों पर निर्मित होती है इसलिये बुंदेली और बघेली मध्यप्रदेश के ही दो अंचल होने के बाद भी चेतना के स्तर पर भिन्न है।

बुंदेली गीत कृष्णप्रेम से आप्लावित हैं या यह कहें कि कृष्णमय है तो गलत न होगा और कृष्ण प्रेम का देवता है, राग का देवता है, उसमें सखत्व का भाव है, अपनी तमाम पीड़ाओं को 'लोक' जैसे कृष्ण के सामने बिसूरने लगता है। वहीं 'राम' आदर्श एवं मर्यादा का, नीतियों का, अनुशासन का देवता हैं, बुंदेलखंड ब्रज के अधिक निकट है अवधी से कम, यही कारण है कि इन बुँदेली गीतों में सामंती सीमाएँ नहीं दिखाई देती। दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि बुंदेलखंड मुक्ति संग्राम का आरंभ केन्द्र है। जिसमें राजा-महाराजा से लेकर हर वर्ग के स्त्री-पुरुष शामिल हैं इसलिये भी बुंदेली गीत लोक के गीत हैं। सामंती वैभव के गीत नहीं हैं। यहां लंबी अवधि अस्मिता को बचाये रखने की जद्दोजहद/संघर्ष में बीती है। यह लोक चिंता लोकगीतों में भी भरी हुई है। अतः कृष्ण के प्रतिरागात्मकता तथा समर्पण बुंदेली लोक भूमि की चारित्रिक विशिष्टता बन जाती है जो यहां के निवासियों में देखी जा सकती है संवाद भाव, भंगिमा से भी यह प्रकट होती है।

हमें छोड़ का जाव ब्रजवासी,
जो तुम हमें छोड़ हरि जइयो
तज डारो प्रान गरे डारो फांसी,
मोर मुकुट हरि खों अधिक सुहावै
सो कलियन बीच बिहारी जू की झांकी

इसी तरह कार्तिक गीत-

सखी री मैं तो भई न बिरज की मोर,
मथुरा उड़ती वृंदावन चरती मुधवन करती किलोल
उड़-उड़ पंख गिरत धरती पे, बीनत नंद किसोर
उन पंखों के मुकुट बनाके बांधत नंद-किसोर

(बुंदेलखंड की उत्सवधर्मिता पूरे कार्तिक मास में देखी जा सकती है। अनेक पौराणिक निष्ठाओं का वहन करते-करते यह आस्था आज भी अपने संवर्द्धित रुप में यहां मौजूद हैं। 'नदी में स्नान' और मनोकामनाएँ पूरी होने का विश्वास स्त्रियों को आल्हादित कर देता है। स्त्रियों की टोलियां नदी की ओर जाती दिखाई देती है। इन क्षणों में लाभ, नुकसान बहुत पीछे छूट जाते हैं। बस वहां होता है प्रकृति से संलाप और सामूहिकता का आनंद।) परिवार की मंगलकामना के प्रति स्त्रियों के अनुकूलन को सामाजिक-संरचना आधार देती है और सांस्कृतिक संरचना उसका कलात्मक, आस्थामय रुप गढ़ती है क्या ये आस्थायें और इनमें निमग्नता स्त्रियों को समाज और दुनिया के प्रति अपनी चेतनाशील वैज्ञानिक समझ बनाने में बाधा डालती है? यह विचारणीय तथ्य है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मानव समुदाय का यह सनातन सत्य है कि प्रकृति से मनुष्य के अन्तः संवाद उसके भौतिक सांस्कृतिक रुप को गढ़ते हैं। वहीं प्रकृति के प्रतिकूल होते ही यह संवाद बेसुरा हो जाता है। जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव कृषक समुदाय के निचले तबके पर सबसे ज़्यादा पड़ता है और इसकी प्रथम भोक्ता स्त्री होती है। स्त्री की यह पीड़ा गीत बनते हैं। चूंकि खेती सबकी, श्रम सबका, तो उससे उपजी त्रासदी भी सबकी, पीड़ा सामुदायकिता को गहरा कर देती है। तब प्रकृति से बना बेसुरा संलाप, अन्तः पीड़ाओं से परिवर्तित हो, हर स्त्री की पीड़ा बन जाता है-

पोता लगा रहा महाराज
जुनरिया हो गई मन भर की
मुनसी आये तैसीलदार आए, पटवारी आए,
होन....लगी...कुडकी
जुनरिया हो गई मन भर की
लांगा बि गयो, लुगरा बिक गयो,
बिक गई अंगिया तन की,
राज के बांधन को सेला बिक गयो,
फजिअत होरई, घर-घरकी
जुनरिया हो गई मन भर की।

जुनरिया दो जून अर्थात् समय को भी व्यक्त कर रहा है और समय मन भर का हो गया है। जो काटे नहीं कट रहा, सब कुछ ठहर गया है विपदाओं के चलते मेरे तन को ढांकना भी संभव नहीं हो रहा।

गीत संवेदनात्मक धरातल पर सीधे हमारी आत्मा पर आघात करता है क्योंकि इसमें लोक के आर्थिक संकट की फौरी चर्चा नहीं है। बल्कि अकाल, बाढ़ आदि प्राकृतिक आपदाओं से हर घर की स्थिति भयानक है, ये सिर्फ शब्द नहीं बल्कि छोटे किसान की आत्म पीड़ा हैं और बखान करने वाली है स्त्री। घर गिरवी चला गया, खेत कुरकी हो गये, तन के कपड़े लिये सिर की पगड़ी भी बिक गयी, जो प्रतिष्ठा और सम्मान का सांस्कृतिक प्रतीक है।

प्रश्न सब कुछ बिक जाने का तो है ही उन सामाजिक संरचनाओं का भी है जहां हाशिये पर जी रहे किसान, मजदूर, कठारे श्रम के बाद भी असुरक्षित और अपमान भरा जीवन व्यतीत करते हैं सामंती समाज की दमघोंटू कार्यवाही के बाद भी लोक जीवित रहता है, स्त्रियाँ गाती हैं अपनी व्यथा। गीत में आया 'राजा' शब्द पति या गृहस्वामी के लिये प्रयुक्त हो सकता है वह भी सामंती संरचना की ही गवाही देता है। स्त्री के लिये यह गंभीर चिंता का विषय है कि उसके धनी, स्वामी की पगड़ी सिर से न उतर जाये। 'पगड़ी' लोक नृत्य है,जो पुरुष के पौरुष, स्वामित्व का तो प्रतीक है ही प्रतिष्ठा का भी प्रतीक है। यहां लोक की वह वृहद आत्मा जहां किसी को भूखा नहीं सोने दिया जाता भी खंडित होती है।

पितृसत्तात्मक समाज की जड़ें बहुत गहरी हैं लोक की बुनावट भी उन्हीं मूल्यों से निर्मित है। लोक भले ही श्रम संस्कृति की सामुदायिकता में बसता हो यहां पीड़ा और आनंद भी साझा हों, रिश्तों की गर्माहट हो, रोटी को बांट कर खाने की संवेदनायें जहां पलती हैं। यहाँ स्त्री-पुरुष के अंतर का आधार सिर्फ जैविक नहीं है, मातृ देवो भवः एवं पितृ देवो भव की अखंड संस्कृति यहां का आदर्श है किन्तु बेटे के जन्म पर बजने वाली थालियाँ बेटी के जन्म पर नहीं बजती न ही कील-बताशों की बौछार होती है, यानि लोक अपनी मौलिक सद्भावना में समानता का आदर्श संजोये है किन्तु आदर्श और जीवन की यह भेदकता उस तरह का पांखडपूर्ण व्यवहार निर्मित नहीं करती जैसे तथाकथित सभ्य समाजों में मौजूद हैं, तमाम वस्तुगत कारणों के चलते स्त्री के प्रति लोक का दृष्टिकोण एक हद तक दोयम दर्जे का अवश्य है, किन्तु इनमें पाखंड देखने को नहीं मिलता-

कौनखों दई बाबुल महल अटारी, कौनखों माया परदेस।
बीरन खों दई, महल अटारी, बेटी खो माया परदेस।
कायखां मोरी माता, जनम दय तन काय खौ करी पराई तुमैं।
सुख तो माय मोय सपने नइयां, दुख सजोवर होय मोरे लाल।
माता कहें बेटी रोजई अइयो, बाबुल कहे दोई जून मोरे लाल।
बीरन कहे बैना अवसर अइयो, भौजी कहें कौन काम मोरे लाल।

बेटी के प्रति परयापन उसे अंदर तक टीसता है। यह टीस इन लोक गीतों में अनहद की तरह गूंजती है। संवेदनाओं की सूक्ष्म लकीरें उद्वेलित कर जाती हैं, मनौवैज्ञानिक व्याख्या आधुनिकता बोध से उपजी तार्किकता इस भावबोध को अपचयित कर देते हैं। भौतिक सांस्कृतिक संरचना स्त्री अनुकूलन को गढ़ती है जिसका कोई भी विकल्प लोक के निकट नहीं है। यह बहुत गहरी संवेदनात्मकता का मुद्दा है।

लोक गीत की रचना का आधार, आत्मोपलब्धि या आत्म सुख नहीं होता न ही ये सिर्फ मन बहलाने हेतु बनाये व गाये जाते हैं। ऋतुओं या कहें मौसम के गीतों के पीछे संवेदनात्मक आनंद तो उपस्थित है ही किन्तु इन गीतों के पार्श्व में समाज की कठोर वस्तुगत सच्चाइयाँ भी मौजूद होती है। जिनकी ओर सामान्यतः ध्यान नहीं जाता। ये गीत पीड़ाओं के विलाप नहीं होते, बल्कि इन में नदी के सहज प्रवाह के समान सांस्कृतिक विषमताओं का संवाद शैली में बखान होता है-

द्वारे में इंटिया न दइयो मेरे बाबुल।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

बिटिया न दइयो परदेस ॥
दुवारे की इंटिया खिसक जैहें बाबुल,
बिटिया बिसूरे परदेस।

गीत का एक-एक शब्द संवेदनात्मक अभिप्राय से अंटा पड़ा है। बेटी का ब्याह बहुत दूर मत करो बाबुल, न ही द्वार पक्के बनाओ, मेरे घर आने के रास्ते बंद मत करो क्योंकि जब बेटी परदेश में बिसूरेगी-तो ये ईंट हिल जायेगी। यहां बिसूरे शब्द पर ध्यान देना चाहिये, जिसका पर्याय दुःख, रुदन, स्मृति हो ही नहीं सकते बल्कि बहुत कुछ अपना छूट जाने के बाद उपजा भाव जिसमें देह का रोम-रोम समा जाता है। वह विलाप भी नहीं है क्योंकि उसमें स्वर नहीं यह आर्त्तनाद है जहां प्राण सिसकते हैं। बेटियों की आत्मा माँ-बाबुल और वीरन के सुख-दुःख से हर घड़ी जुड़ी रहती है। किसी आधुनिक कविता में हम संवेदनाओं की यह सघनता महसूस नहीं कर सकते। इसलिये यह 'लोक' है जहां हार्दिकता हैं, रिश्ते हैं, रिश्तों को बनाये रखने की सहिष्णुता भी है। पितृसत्तात्मक समाज के मूल्य जो हमेशा बेटी को परायाधन मानते हैं। उसका पोषण/सुरक्षा परायी संपत्ति के रुप में माता-पिता करते हैं और जमी-जमायी जड़ों को उखाड़ कर किसी दूसरी जमीन में गाड़ दिया जाता है जिसमें जितनी ताकत होती है सहने की, जितना धीरज होता है निबाहने की उतनी पक्की जड़ें होती हैं, यही से स्त्री की बलिदानी त्यागमयी छवि जन्म लेती है।

बिटिया तो बई हैं जो दोनों घर तारे
नई तो माता के कोख के का आभा ॥

स्त्री के प्रति संवदेनात्मक दृष्टि से पूरा लोक आप्लावित है बेटी की कोमलता, उससे बिछोह का दुःख, बेटी का कन्यादान, बेटी की विदाई की पीड़ा इस भावुकताओं से लोक ओत-प्रोत है किन्तु उसे हमेशा अपने पास रखने का साहस यहां नहीं है, प्रतिकार की भाषा पढ़ाने का साहस यहां नहीं है, पिता, पति, पुत्र का संरक्षण उसकी नियति है जैसे। किन्तु यह सब कुछ लोक की किसी बनी, -बनायी आचार-संहिता से तय नहीं होता बल्कि वे सामाजिक दबाव तथा परिस्थितियां इसके लिये उत्तरदायी हैं जिन्होंने स्त्री के लिये वामा, कामनी, रमणी, भार्या, अबला प्रमदा जैसे परजीवी शब्दों को जन्म दिया। लैंगिक विभेद किस तरह से पूरी भाषिक तथा सांस्कृतिक संरचना को गढ़ता है यह भी स्पष्ट होता है। लोक जीवन वर्णीसत्तात्मक है इसलिये वहाँ ये भेद मौजूद है किन्तु आदिवासी संस्कृति इन मूल्यों से अछूती है। लोक में भी जहां श्रम संस्कृति है यानि स्त्री-पुरुष दोनों श्रम करते हैं वहां मूल्यों में यह पांखड मौजूद नहीं है। यानि पूरी सांस्कृतिक संरचना में स्त्री दोयम है। धर्म, उपनिषद तथा व्यवहार में यह दिखाई देता है। किन्तु लोक जीवन में स्त्री पुरुष पर आश्रित नहीं है। बल्कि पूरे स्वाभिमान के साथ मौजूद है। समाज की वर्गीय संरचना आधुनिक अवधारणा है सामंती समाज की संरचना का पूरा आधार वर्गीय स्तरीकरण से आक्रांत है, स्त्री छबियां भी इन्हीं मूल्यों के मध्य निर्मित हुई हैं। इनसे अलहदा स्त्री छवि को सिर्फ आदिवासी समाजों में ही देखा जा सकता है।

घरर-घरर नदियां बहै, गइया गोरी घना पनिया,
सजना बसत परदेश में, रइया नैना नीर बहाये
छब रानी, बृजरानी मिल, गाउती है, रइया....।
मेहनत के पूजत हम तो, गांव के रहइया...।
श्रम को संदेशों लाई, मोर की चिरैया
मेहनत के पूजत हम तो गांव के रहइया.....
घरर-घरर नदियां बहै, रइया गोरी घना पनिया....।

पांरपरिक बुंदेली लोक गीतों में कृष्ण मुख्य नायक की तरह उपस्थित है यह बात अपने आप में महत्वपूर्ण है। राम या अन्य कोई भी देवता इस कदर लोक में नहीं रमा। कृष्ण प्रेम का देवता है, सौन्दर्य का देवता है, रंजकता का देवता है, भाव बोध का देवता है। गीतों में सरसता कृष्ण से ही आती है। बुंदेली संस्कृति की बेतकल्लुफी का कारण भी यही है। कृष्ण एक तरह से सर्वहारा हैं। वह गाय भी चराते हैं, बंसी भी बजाते हैं, स्त्रियों के साथ रास-रंग भी जमाते हैं इसमें लोक का खुलापन ही रेखांकित होता है, जहां स्त्रियों के लिये मर्यादा के नाम पर दोहरे मूल्य नहीं गढ़े जाते, इसलिये कृष्ण प्रिय नायक और अतिप्रिय सखा है। आधुनिक भावबोध उक्त संवेदनात्मक संबंधों को सामाजिक संरचना तथा कृष्ण के चरित्र को अपने मानदंडों पर व्याख्यायित करते हुए अपचयित कर देता है। जबकि कृष्ण उन सामाजिक परिधियों के खिलाफ खड़ा एक लोक देव है जो गोवर्धन पर्वत उठा लेता है लोक की रक्षा के लिये, इसलिये वह लोक नायक हैं। कृष्ण लोक को विस्तार देते हैं, लोक मूल्यों को विस्तार का आधार देते हैं।

मैं तो ऊंसई अतर में डूबी पिया
मो पै रंग न डारो सांवरिया
चोली भींजी, चुनर मोरी भींजी
भींज गई गुलसारी पिया
मो पै रंग न डारो सांवरिया....।

किन्तु महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि कृष्ण का देवताकरण या देवत्व ही उन्हें लोक देवता के रुप में स्वीकृति दिलवाता है यानि देवत्व लोक मर्यादाओं तथा मूल्यों के सांस्कृतिक स्वरुप की पृथक अवधारणा निर्मित करता है जो आम जनमानस से विलग है। इसीलिये पूजनीय है अन्यथा उसे लोक स्वीकृति ही संभव नहीं है। यहां भय का या अंधी आस्था का संबंध नहीं है बल्कि प्रेम और राग के मिलन और विरह का भौतिक सांस्कृतिक संबंध है। यहाँ हरदौल की चर्चा करना संभवतः उचित होगा

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

'हरदौल' एक लोक नायक हैं जो देवर-भाभी के आत्मीय रिश्ते में जन्म लेता है तथा बलिदान एवं विश्वास उसे देवता की श्रेणी में ला खड़ा करता है। आज बुंदेलखण्ड का कोई भी पर्व-त्यौहार 'हरदौल' की अर्चना के बिना आरंभ ही नहीं होता। 'हरदौल' से जुड़े पारिवारिक रिश्तों में अनेक परंपराओं तथा मिथकों को हमेशा के लिये बुंदेली संस्कृति से जोड़ दिया गया है जो आज बुंदेलखण्ड की सांस्कृतिक पहचान बन गयी है। हरदौल से जुड़े हर रिश्ते के पीछे स्त्री है, चाहे वह भाभी हो या बहन कुंजा....।

''मरी जाये मल्हारें गायं''

बुंदेलखंड की यह लोकोक्ति स्त्रियों के सहज भावबोधको व्यक्त करती है। स्त्रियों का हर क्षण गीतमय होता है, सुखी हैं तो गीत, दुःखी हैं तो गीत, कहीं राम हैं गीत में, कहीं कृष्ण। पर स्त्रियां इतना गाती क्यों हैं? गीतों में आकंठ डूबी ये जैसे प्राण बसते हैं गीतों में, स्त्रियों में ये आल्हाद आता कहां से है? इस संवेदनात्मक सत्य की पड़ताल मानव मस्तिष्क की संरचना में निहित है मस्तिष्क का बायां हिस्सा तर्क, विज्ञान, ज्ञान तथा मीमांसाओं को उद्घाटित तथा विश्लेषित करने वाला होता है वहीं दायां भाग संवेदनाओं, भावनाओं का अनुभवात्मक संज्ञान कराने वाला होता है और स्त्रियों का दायां मस्तिष्क ही सक्रिय होता है जो उन्हें उदार, स्नेहिल, संवेदनात्मक संवेगों से आप्लावित रखता है। इसीलिये तमाम प्रतिकूलताओं के बाद भी मन इस कदर संवेदनाओं से परिपूर्ण रहता है, जिस तरह आधुनिक मनास में बोध, सोच, समझ तथा नये सैद्धांतिकियों का विनियोजन तथा प्रकटीकरण ज्ञान व तर्काधारित विमर्शों में ही संभव है। उसी तरह लोकगीत लोकमनास का या कहें स्त्रियों का सांस्कृतिक विनियोजन है। जो संवेदनातमक रुप से मानस में सूक्ष्म स्तर पर क्रियाशील होता है।

❑❑❑

103/डी. शुभाकांक्षा डूप्लेक्स
नेपियर टाऊन,
जबलपुर 482001
फोन : 0761-2415646

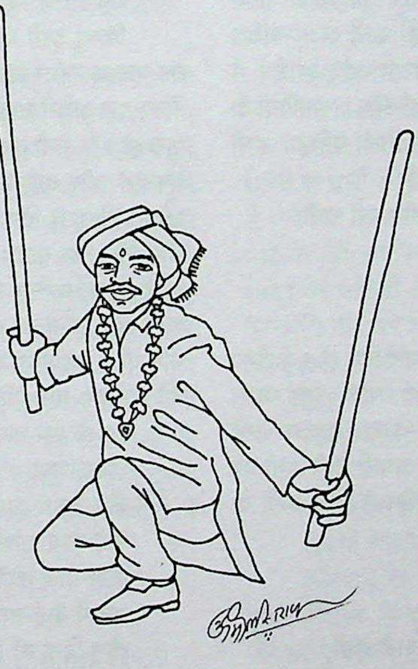

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

बुंदेली लोकगीतों में 1857 का संग्राम

डॉ. सुधा गुप्ता

सन् 1857 के स्वाधीनता संग्राम में बुंदेलखण्ड का योगदान बहुत ही महत्वपूर्ण व गौरवशाली रहा है। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, बानपुर के राजा मर्दनसिंह और शाहगढ़ के राजा बख्तवली आदि ने विद्रोहियों का नेतृत्व संभाला। बुंदेलखंड में तो इस स्वातंत्रय समर ने जन युद्ध का ही रुप धारण कर लिया था। सागर से लेकर कालपी तक और झाँसी से बाँदा तक सारा प्रदेश युद्ध भूमि बन गया था। इस युद्ध में 17 जून को रानी लक्ष्मी बाई ने वीरगति पाई।[1]

1857 का यह विप्लवी इतिहास लोक स्मृति में अभी अभी तक सुरक्षित मिलता है। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई एवं उनके समकालीन सेनानियों ने जिस ज्वलन्त देश भक्ति, पराक्रम एवं रण कौशल का परिचय दिया वह स्वतंत्रता संग्राम के सेनानियों के तथा कवियों के लिये तब से अजस्त्र प्रेरणा के स्रोत रहे हैं। रानी से सम्बंधित आख्यायिकायें, उनकी अप्रतिम वीरता और रणक्षेत्र में मृत्यु तो बुंदेलखंड निवासियों की चर्चा और जनकवियों के प्रिय विषय बने हुए हैं। लोकगीत की निम्न पंक्तियां अभी भी गर्व से कही और दुहराई जाती हैं।

खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी
बुरजन बुरजन तोपें लगा दई
गोला चलाये असमानी।
अरे झॉसी वारी रानी रे।

युद्ध में रानी ने दिन रात एक कर दिय थे । वे सैन्य दलों का उत्साह बढ़ाती, उनकी रसद-पानी, भूख प्यास का ध्यान रखतीं थीं। स्वयं रुखा-सूखा खाकर उन्हें अच्छा भोजन उपलब्ध कराती थीं। अपनी ऐसी रानी पर कौन न बलि हो जाता। आगे की पंक्ति में लोक कवि के कंठ से फूट पड़ता है।

सबरे सिपइन खों पेरा जलेबी
अपन चबाई गुरघानी।
खूब लड़ी मरदानी अरे झॉसी वारी रानी

रानी लक्ष्मीबाई ने अंग्रेजी सेना से जम कर मुकाबला किया था और किले से रानी के तोपखाने ने गुलाम ग़ौस ख़ाँ के नेतृत्व में अंग्रेज़ी तोपचियों के छक्के छुड़ाकर कई बार उनकी तोपों के मुंह बंद कर दिये थे।[2] उपर्युक्त प्रचलित लोकगीत में इसी तथ्य का उल्लेख मिलता है।

अपनी रानी के लिए सैनिक मर मिटने को उतारु थे। अंग्रजों के लिए झाँसी पर विजय पाना मुश्किल हो रहा था। क्रांतिकारी जनकवि की निम्न गर्वोक्ति उचित ही है।

बातन में कलकत्ता लियोअरु
घातन में पटना छपरे की।
लातन लूट लाहौर लई
मदरास लई मदरास खरे की।
व्यास कहें जिन बम्बई सूरत
औध लई बिन आँध करे की।
हाँसी नहीं पर सांची कहौं
यह झांसी भई उन्हें फांसी गरे की।

किन्तु इसी बीच गद्दार दूज्हाजू ने ओरछा दरवाजे का फाटक खोल दिया। सर ह्यूरोज के नेतृत्व में अंग्रेज़ी सैन्य दल झांसी नगर में प्रवेश कर गये। भयंकर मारकाट शुरु हो गई। रानी लक्ष्मीबाई झांसी के किले से निकल कर कालपी और कालपी से ग्वालियर गई। रानी के झांसी छोड़ते ही दूसरे दिन से झांसी का लुटना शुरु हो गया जो तीन दिन तक चला। शहर में जितना सोना, चांदी, हीरा, मोती, मूंगा, मानिक मिला सब गोरे लोग ले गये।[3] रानी के शौर्य और ओज का बखान करती हुई लोकगीत की निम्न पंक्तियों में गद्दारों के कारण हुई रानी की पराजय एवं झांसी की लूट का यही ऐतिहासिक तथ्य रेखांकित है।

धर के रुप चली मरदानी, अंगरेजन से लरी दिमानी
संका काऊ की न मानी।
लै तलवार कटा कर डारे, मन में रोस बड़ी भारी
बाई साब झांसी बारी।
गोलन्दाज करी बेइमानी, रीती तोपें चलत दिखानी
मन में बाई साब घबरानी।
तीन दिना नों लूटी लक्ष्मी जितनी लुटी लुटा डारी
बाई साब झांसी बारी।
छोड़ मोरचा लसकर खों दौरीं, दूढ़ेहू मिले नहि पानी

 CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

बाई साब झाँसी बारी।

छोटी उम्र की रानी जब झांसी के किले से घोड़े पर सवार होकर निकली, उस समय रानी के साथ बहुत थोड़ी सी सेना थी। उनका अंग्रेजों से रात दिन विकट युद्ध हुआ और इस युद्ध में रानी ने वीरगति पाई। प्रस्तुत लोक संकटों से जूझती अपनी प्रिय रानी के प्रति जनता की सहानुभूति और मृत्यु पर मार्मिक पीड़ा अभिव्यक्त है।

बारी बैस रानी घुड़ला पै निकरी हाथ नगिन तरवार
छोटी सी पलटन प्यारी रे रनिया पैदर और सवार
बारी बैस रानी घुड़ला पै निकरीं
खाई खंदका वन के जिनावर, काटन की भरमार
रातो दिना बुद्ध भजौ भारी, रानी गई सुरग सिधार
बारी बैस रानी घुड़ला पै निकरौं।

उनकी मृत्यु पर दुखी बुंदेली जनता को इस बात का गर्व है कि मर कर वे अपना नाम संसार में रोशन कर गई, चारों ओर उन्हीं की चर्चा हो रही है।

आपना नाम कमा गई जग में कर गई सोर विकट भारी
बाई साब झाँसी बारी।
भीतर बाजी आदि भवानी, मूरत शिवशंकर की जानी
गौरा के पुत्र गनेश विराजे, भैरो की मड़िया न्यारी
बाई साब झाँसी बारी।

(बंदेलखण्ड का यह शहीद साहित्य लोकगीतों के रुप में ही अधिक था, अग्रेजी राज्य के आतंक काल में जब प्रकाशित साहित्य में 1857 के स्वाधीता संग्राम को और उसके संबंध में भारतीय जनता की भावना को खुले रुप में अंकित नहीं किया जा सकता था तब तत्संबंधी जनभावना केवल लोकगीतों में ही थोड़ी बहुत अंकित हो पाती थी[3])। उस समय खान फकीर, दादूराम, रेवाराम, गंगादास, ऊधौदास अदि संत, लोक कवि क्रांतिवीरों की शहादत और अंग्रेजों के अत्याचार का वर्णन कर गांव, गांव अंग्रेजों के खिलाफ और धर्म के नाम पर प्रचार कर गुलामी के प्रति जनता का असंतोष प्रकट कर रहे थे। झाँसी की रानी की शहादत के बाद अंग्रेजों ने झांसी की क्या दुर्गति की इसका सजीव व मार्मिक चित्रण इस लोकगीत में दृष्टव्य है–

कट गई झांसी बारी रानी कट गयी
झाँसी बारी रानी
चौतरफा सें आफत आ गई, झांसी भई विरानी
घर घर बिड़न लगे अंग्रेज, लूटत हैं रजधानी
काटत हांत पांव रजपूतन, सुनत न कोऊ बानी
बहुएं–बिटियां पकर लेत है, करत रात मनमानी
'खान फकीरे' अधम मच रओ, सबरी बात नसानी।

एक और लोक गीत में बानपुर नरेश मर्दनसिंह के अंग्रेजों के परास्त होने और बानपुर के लूटपाट का विवरण मिलता है।

घिर गये बानपुर वारे हैं
चौतरफा सें घेरा पर गये गंसे गांव के द्वारे हैं
उरछा सैन फिरंगी लूटे, जारे पुर घर तारे हैं।
गौये मार डार दई दौरन छेंके जन अति वारे हैं
दादूराम टेर के रये छांड़ चलौ घर द्वारे हैं।

1857 ने स्वातंत्र्य युद्ध में कानुपर के राजा मर्दन सिंह ने रानी लक्ष्मीबाई को सहयोग दिया था। उन्होंनें झांसी की ओर बढ़ती ह्यूरोज की सेना को रोकने का प्रयत्न किया पर वे सफल नहीं हो सके और बानपुर पर ह्यूरोज का अधिकार हो गया। बानपुर के दर–बदर होने पर भी उन्होंने लक्ष्मीबाई के साथ झांसी, कोच और कालपी तक ह्यूरोज से डटकर लोहा लिया। अपने ऐसे क्रांतिवीरों के शौर्य का प्रशस्तिगान कर लोकगीतकार क्रांतिवीरों को बल व प्रेरणा देते थे। निम्न लोकगीत में मर्दनसिंह की प्रशंसा में रचित निम्न लोकगीत देखिये।

का कइये बानुपर वाले को
मदनसिंह नृपत जुझारै की
सेना सजन बजन रमतूला, चोटें समर नगारे की
अंगरेजन के गरै उतर गई, पैनी धार दुधारे की
का कइये बानपुर वारे की।

झांसी पेंर आधिपत्य कर लेने के बाद अंग्रेजों ने झांसी के चारों ओर बसी रियायतों के पास अपने आतंक से प्रभावित कर अधीनता स्वीकार करने के लिए खरीते भेजे पर जो स्वाभिमानी राजे–जागीरदार थे वे स्थान–स्थान पर अंग्रेजों से टक्कर ले रहे थे। समधर के राज हिन्दुपति की अंग्रेजों को दी गयी चुनौती को लोक कवि निम्न लेख में अंकित करता है।

लोहागढ़ कठिन मवास,
फिरंगी झांसी भरोसे न रहियो।
जहां तोप चलें गोला चलें भालन की है मार
जहां सीस हथेली लै चलें जमराजा के सिरदार
फिरंगी झांसी भरोसे न रहियो।

लोहागढ़ के भैदान में सात दिन तक घनघोर युद्ध हुआ, जिसमें हिन्दुपति के वीर योद्धाओं ने अंग्रेजों को जमकर कुचला।

मीड़ दये माड़े से गोरा, मसक दये गरदान
हिन्दुपति राजा के थे ये बांके वीर पठान
उनके वीर योद्धाओं ने अपनी स्वतंत्रता और मातृभूमि

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

की रक्षा हेतु अपने प्राणों का बलिदान कर दिया पर पराधीनता स्वीकार नहीं की लोक कवि लिखता है।

कटे सूर सामंत वर हिन्दुपति की बान
प्रानदान दै राख लई लोहागढ़ की शान।

यहां यह भी दृष्टव्य है कि जहां एक ओर ये लोक कवि मातृभूमि पर प्राण न्यौछावर करने वाले वीरों का यशोगान कर रहे थे, वहीं अंग्रेजों के पिट्ठू बने राजाओं-सामंतों पर भी चोट कर रहे थे, जिनके कारण देश व देशभक्त क्रांतिवीरों की दुर्दशा हो रही थी, उन पर असहनीय जुल्म हो रहे थे। निम्न लोकगीत में जनता का रोष अभिव्यक्त हुआ है-

चूना मूड़न पै बुझवा दये
हांत पावं में कीला ठोंके, पांछें से संदवा दये।
तेरा दिना चार मइना लों, गोड़न खून मिटा दये
जार दओ है बिला बिलछुरा, लूटो जन भगवा दये।
अंग्रेजन खों बुला इनन ने बंटाढार करा दये।
खान फकीरे का लों कइये ऐसे हाल करा दये।

बुदेलखण्ड में विभिन्न स्थानों पर अनेक क्रांतिकारी जो बागियों का नेतृत्व कर अंग्रेजों से टक्कर ले रहे थे। ऐसे ही एक प्रसिद्ध क्रांतिकारी चित्रकूट के श्यामगिरि गुंसाई थे जिन्होंने कानपुर, बिठूर और चित्रकूट में अंग्रेजों से टक्कर ली थी। लोक में प्रचलित निम्न गीत में लोक कवि न केवल श्यामगिरि गुसाई की वीरता का वर्णन करता है बल्कि अंग्रेजों के खिलाफ सबको एकजुट होने का आव्हान भी करता है-

स्यामलगिर भोरई आ धमके।
तीन सहस साधु ले धाये अंगरेजन पै बमके
कानुपर सें भगे फिरंगी पुन बिठूर जा चमके
होन लगी तकरार रार है, आन फिरंगी ठमके
सात दिना लों भई लराई गिरी गुसांई हुमके।
काटकूट के सबई फिरंगी चित्रकूट पै धमके
काटकूट के सबई फिरंगी चित्रकूट पै धमके।
रेवाराम देख लेव जा गत, आन मिलौ सब जमके

इतिहास के बहुत से तथ्य और समकालीन स्वतंत्रता सेनानी जो इतिहास के दस्तावेजों में दर्ज़ नहीं है या अंग्रेजों द्वारा नष्ट कर दिये गये हैं लोकगीतों में दर्ज़ मिलते हैं यह तथ्य है कि 1857 के जन संग्राम में बुंदेलखण्ड की स्त्रियों ने भी बढ़-चढ़ कर भाग लिया था। रानी लक्ष्मीबाई की देश भक्ति और शौर्य से प्रेरित होकर बुंदेलखण्ड की अनेक स्त्रियां अग्रेंजों के लिए रणचंडी बन गयी थीं। बांदा की शीलादेवी, जिगनी की नन्ही रानी, पद्माकर की रानी भवानी आदि सत्तावनी प्रथम संग्राम की ऐसा ही वीरांगनायें हैं जिनका नाम और यश बुन्देली लोकगीतों में भी मिलता है। इतिहास के दस्तावेजों में इनके तथा ऐसी अन्य अनेक वीरांगनाओं के नाम नदारद है।

अंग्रेजों ने बांदा लूट लिया। शीलादेवी आजादी की लड़ाई में लगभग सौ स्त्रियों ने शीलादेवी का साथ दिया-

बांदा लुटौ रात में गुइयां सोउत रई चिरैयां
सीलादेवी लरी दौर के संग में सौक मिहरियां।
अंग्रेजन ने करी लराई मारे लोग लुगइयां।
गिरी गुसाई दौरे हैं लरन लगे भौमइया।
सीलादेवी का सिर काटौ अंगरेजन ने गुइयां
भगी सहेली तब गाउन से लैकें बाल मुनइयां
गंगासिंह टेर के कैरये भगौ इतै न रइयाँ

इधर जिगनी में नन्हीं रानी उपद्रव मचाये थी। वे अंग्रेजों और अंग्रेज भक्तों के खजाने लूट कर बुंदेलखण्ड अंचल से बाहर ग्वालियर और आगरा तक विद्रोह की ज्वाला जला रही थीं। लोक कवि हमें बताता है-

नन्हीं रानी ऊधम करतीं जिगनी में दम भरतीं
संग में ज्वान सात सौ लैके फौज फिरंगिन लरतीं।
लूट खजानो, छिड़ा हतयारन मंदिर डेरा करतीं।
पूजा करती राम सुमरतीं, तात्या से मिल चलतीं।
आग आगरे देती वे तो गढ़ ग्वालियर धरतीं।
ऊधौदास एइ रीति सौ प्रीति देस सौं करतीं।

नन्हीं रानी दुश्मन के खजाने लूट रहीं थीं तो पदमाकर की रानी भवानी देश के उद्धार के लिए अपने आभूषण बेच कर तलवार, गोला, बारूद आदि युद्ध सामग्री एकत्रित कर रहीं थी। देश में जगह जगह सभा कर जनता में स्वातंत्र्य युद्ध के लिए जोश भर रही थीं।

उमदानी है आज भवानी पदमाकर की रानी।
जागा जागा सभा रोष कें सुना रई है बानी।
सागर से वा नागपुर लों चढ़ा रई रन पानी।
गानों गुरिया बेंच बांच के बनवा लेऊ क्रपानी
भाला बरछी गोला बोलाले लो रे प्रिन ठानी।
रामधनी अब रार ठनी है, देस दुखी सब जानी।

एक गारी गीत में किसी अज्ञात दिमान जंगी का जिक्र मिलता है, जिन्होंने अंग्रेजों से डटकर मुकाबला किया था।

ऐसो है अलबेला जंगी, जीके हाथ कटरिया नंगी।
जी से थर-थर कांपै फिरंगी, हड़ियन रांधे खाय दुरंगी

ऐसो रुतवा है पूरो दीवान को कोउ नया बत्तीस की सान को।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

इसी प्रकार निम्न गारी गीत में ग्राम रिपौली के ठाकुर अंगद सिंह जिन्होंने रानी झांसी की रक्षा में अपने को बलिदान कर दिया था स्मृति लोक में सुरक्षित है, जिसके संबंध मे इतिहास मौन ही है–

बाई साब झाँसी ने ठानी लड़ाई के सुनौ मेरे भाई
अंगद दादा उनके संग, रोम रोम में भरी उमंग
जैसे पानी धरे तरंग।
भूरन की पल्टन ने हा हा सी खाई कै सुनौ मेरे भाई
रानी धरें पुरष को भेस, डरे पीठ घुंघराले केस
मो पै चिंता को ना लेस
घाल घाल गोलन सों फौंजें भगाई कै सुनौ मोरे भाई

एक लोकगीत में ग्रामबाला को इस बात का दुख है कि उसके पति को व्यर्थ ही पेड़ से लटकाकर फाँसी दे दी गयी। यदि वे युद्ध करते हुए मारे जाते तो हम उनका यशगान गर्व से करते। वह अपनी सखी से अपनी पीड़ा प्रकट करती हुई कहती है –

मोय बड़ौ ससेटो गुइयां री कै बर लटकाये सैयां।
लड़तन लड़तन वे मर जाते अपने मो से कछु न काते
उनकी करनी कों हम गाते।
कभउं कभउं सपने में आते मिलती गलबइयां
मोय बड़ौ ससेटो गुइयां

जहा–जहा भी विद्रोह हुए वहां–वहां लगभग सभी स्थानों पर अंग्रेजी हुकूमत ने विद्रोहियों के साथ आम जनता पर भी भीषण अत्याचार किये। उन्होंने गांवों को लूटा स्त्रियों का सतीत्व नष्ट किया, विद्रोहियों के हाथ पांव काट डाले, अनेक को फांसी पर चढ़ाया, अनेक को गोलियों से भून डाला ताकि वे आतंकित हो विद्रोह करने तथा विद्रोहियों का साथ देने की जुर्रत न कर सकें और चूंकि बुंदेली जनता ने अन्य प्रदेशों की जनता की अपेक्षा इस स्वातंत्र्य युद्ध में सबसे अधिक आगे बढ़कर भाग लिया था, विद्रोहियों का सहयोग किया था इसलिए यहां की जनता को अंग्रेजों ने कुछ अधिक ही उत्पीड़ित किया था। उपर्युक्त बुंदेली गीतों में जुल्मों की दिल दहलाने वाली दास्तानों से यह तथ्य प्रमाणित होता है। इन लोक गीतों से सत्तावनी संग्राम में बंदेलखंड की जनभागीदारी की भी पुष्टि होती है एवं झांसी के प्रसिद्ध क्रांतिकारी डॉ.भगवानदास माहौर के शब्दों में वे यह भी घोषित करते हैं कि जनता अपराजेय है, यदि उसे कुशल और सच्चे नेता उपलब्ध हों।

□□□

113 खत्रयाना मार्ग,
झाँसी
फोन : 0517-2446129

संदर्भः

1. डॉ.भगवानदास गुप्त एवं डॉ. सुधा गुप्ता, 1857 के विप्लव की अमर दीपशिखा रानी लक्ष्मीबाई एवं संबंधित लेख, बुंदेलखंड प्रकाशन 1989, पृ.91
2. वही, पृ. 21.
3. वही, पृ. 22-35.
4. डॉ. भगवानदास माहौर, 1857 के स्वतंत्रता संग्राम का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव कृष्णा ब्रदर्स, 1976, पृ.414.
5. वहीं पृ. 432.

लोकगीत स्रोत

1. डॉ. भगवानदास माहौर 1857 के स्वाधीनता संग्राम का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव, कृष्णा बद्रर्स, 1976, पृ.423-424
2. सुराज, मध्यप्रदेश आदिवासी लोक कला परिषद का प्रकाशन, 1988, बुंदेली-गीत, संकलन कर्ता, डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त।
3. डॉ. अवध बिहारी पाठक, सेवढ़ा से प्राप्त इस लेख के अंतिम दो गीत।
4. लेखिका का स्वयं का संग्रह ।

 CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सुराजी झंडा हाथ में

डॉ. चंद्रदेव यादव

कजरी की धुन में भोजपुरी का एक लोकगीत है –

झंडा तीन रंग क भारत में लहरात बा
देखे में सोहत बा ना,
दिल्ली, बम्बई और कलकत्ता
झंडा फहरत बा अलबत्ता
घर–घर गीत खुसी के भारत में सुनात बा
देखे में सोहात बा ना,

ज़ाहिर है, यह गीत स्वतंत्रता प्राप्ति के समय या उसके तुरन्त बाद का रचा गया है। इसमें आज़ादी मिलने की खुशी और उल्लास का वर्णन किया गया है। यह उस आजादी की खुशी का गीत है, जिसका सपना समस्त भारतवासियों ने देखा था वह सपना पूरा हो गया। लोग नाच–गा रहे हैं, यह खुशी व्यक्तिगत नहीं, सामूहिक है–पूरे देश की है। लोककवि ने उस खुशी का वर्णन बहुत सादगी के साथ किया है।

जश्ने–आज़ादी का वर्णन लोकसाहित्य में बहुत सादगी के साथ हुआ है, जबकि साहित्य में इसे अधिक कलात्मक और भावनात्मक ढंग से व्यक्त किया गया है। आजादी मिल गयी है, लोककवि कहता है कि आजादी मिलते ही सम्पूर्ण भारत में घर–घर खुशी के गीत गाए जा रहे हैं, जहाँ देखो वहाँ तिरंगा झंडा लहरा रहा है। यह गीत वर्णनात्मक शैली में लिखा गया है। ऐसे मौकों पर लोकगीतों की शैली कुछ कुछ इसी तरह की होती है। लोकगीत अपनी इसी विशिष्टता के लिए जाने जाते हैं। यहाँ कला के प्रति अतिरिक्त आग्रह नहीं होता। भाव सीधे–सादे और भावनात्मक ढंग से व्यक्त होने चाहिए, बस। लोक कवि का उद्देश्य पूरा हो जाता है।

भारत को आजादी तो मिली, लेकिन इसके लिए देशवासियों को एक बड़ी कीमत चुकानी पड़ी। भारत के दो टुकड़े हो गए। भारत–विभाजन से देश की जनता दुखी और क्षुब्ध हो गयी। जिस भारत के दो टुकड़े हो गए। जिस भारत को आजाद कराने के लिए हिन्दू और मुसलमान मिलकर अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ लड़े थे, वे ही अब एक दूसरे के दुश्मन हो गए। हिन्दुओं–मुसलमानों के बीच बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही दरार पड़ने लगी थी जब मुसलमान भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को हिन्दूवादी पार्टी मानने लगे थे और इस पार्टी से मुसलमानों का हित नहीं हो सकता, ऐसा सोचकर उन्होंने मुस्लिम लीग की स्थापना की थी। लेकिन उसका यह परिणाम होगा, किसी ने सोचा भी नहीं था। लोककवि को यह सब अंग्रेज़ों की चाल लगी। उसने लिखा–

ब्रिटिश का पवला भारत के माटी में मिला के
अपने लंदन जा के ना।
पहिले कइला तू बरबादी
पाछे दिहला तू आजादी
मिलल अजादी बीरन क गरदन कटवा के
अपने लंदन जा के ना।

लोककवि की नजर पूरे इतिहास पर है। वह जानता था कि अंग्रेजों ने लम्बे समय तक भारत का आर्थिक शोषण किया, यहाँ के लोगों पर अत्याचार किए और यहां की आर्थिक अधिरचना को बरबाद करते हुए यहां की संस्कृति पर भी बुरा प्रभाव डाला। इन समस्याओं के बारे में भारतेन्दु आदि बहुत पहले ही लिख चुके थे। लेकिन लोककवि उनसे कम सचेत और जागरुक नहीं है। वह जानता है कि देश को बरबाद करने वाले अंग्रेज ही हैं। एक लोकगीत की कुछ पंक्तियाँ देखें –

योरप से अइले रामा गोरे अँगरेजबा
दूनों भइयन में झगरा लगा गइलें ना,
एने ओने कदो कादो बोलि बतिया के राम।
हमरा देसवा के माटी में मिला गइलें ना।

इसलिए लोककवि यह नहीं चाहता कि इतनी कुर्बानियों के बाद मिली आजादी को फिर से हाथ से जाने दें। वह उसे संभालने की बात कहता है। वह दुखी है कि भारत का विभाजन हो गया और हिन्दू–मुसलमान बँट गए। जो हो गया उस पर अब अफसोस करने से काम नहीं चलेगा। आजादी मिल गयी है तो उसकी रक्षा करना ज़रुरी है। इसलिए वह सभी को सचेत करते हुए कहता है –

 CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सिर पर लिहला आजादी–गगरिया
डगरिया सम्हर के चलिहा ना,
एक कुअँना पर दु पनिहारिन
एक्के लागल बा रसरिया,
एक आरे खींचे हिन्दुस्तानी
दुसरी ओरी पाकिस्तानी,
डगरिया सम्हर के चलिहा ना।

कुछ इसी तरह के भाव भगही के एक लोकगीत में भी व्यक्त हुए हैं। इस गीत के ज़रिए लोककवि ने भारतवासियों को एकजुट और एकमत होकर रहने की बात कही है –

कउने जतण में हो, भारत
भइला तू आजाद,
सम्मत से रहिहा हो भारत
करिहा ना हो विषाद।

लोककवि की दृष्टि में आज़ादी विभाजित नहीं, एक ही है– बस मुल्क बँटने के कारण वह भी बँट गयी। इसीलिए थोड़ा रंग में भंग हो गया। अब हमें यही कोशिश करनी है कि इन दो राष्ट्रों की रस्साकशी में आज़ादी हाथ से फिसल न जाए।

लेकिन ये गीत आजादी मिलने के समय के हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले का वह लम्बा संघर्ष, जिसे उपनिवेशवाद विरोधी या साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष कहा जाता है, उसके प्रति लोककवियों का क्या दृष्टिकोण है, इसकी चर्चा आगे की जाएगी।

इतिहास ग्रंथों मं प्राय: बड़ी–बड़ी राजनैतिक घटनाओं अथवा आंदोलनों का उल्लेख किया जाता है। लोक की सामान्य घटनाएं इतिहास में दर्ज नहीं हो पाती। सामान्य लोगों का इतिहास लोक साहित्य होता है। लोक की साधारण या विशिष्ट घटनाएं लोक साहित्य में दर्ज़ नहीं होती है। इसलिए किसी भी आंदोलन, संघर्ष या दूसरी अन्य स्थितियों में सामान्य जन की क्या भूमिका रही है, इसे साहित्य और खासतौर से लोक साहित्य के द्वारा जाना जा सकता है। लोकनायकों की वीरता, शौर्य, उदारता तथा उसके साहस को प्राय: लोकगीतों में प्रस्तुत किया जाता है। परिस्थितियों के अनुसार लोक अपने स्वर बदलता है। इसलिए भारतीय नवजागरण के दौर में लोक कवियों ने इसी तरह देश प्रेम और राष्ट्रीय चेतना से सम्बंधित गीत लिखे जिस तरह के गीत और कविताएं उस समय के कवियों ने लिखी। यह महज संयोग नहीं है कि भारतेन्दु हरिशचन्द्र ने अपने समय के कवियों को फगुआ, चैता, बिरहा, कजरी आदि मशहूर लोकगीतों की धुनों के आधार पर जनजागरण संबंधी गीत लिखने के लिए प्रेरित किया था। प्रेमधन आदि कवियों न उस तरह के गीत लिखे भी। भारतेन्दु लोकगीतों के महत्व एवं प्रभाव को जानते थे, इसीलिए उन्होंने 'जनसाहित्य' की बात की। लोककवि भी नवजागरण से अछूते नहीं थे। उन्हें अपने समय की राजनैतिक सांस्कृतिक गतिविधियों की जानकारी थी। वे अपने युग की महान हलचलों से प्रभावित थे। वे जानते थे कि युग की मांग क्या है और इस समय किस तरह के गीतों की जरुरत है। 1857 के प्रथम स्वाधीनता आन्दोलन को अंग्रजों ने कुचल दिया था, किन्तु वे देश में राष्ट्रीय चेतना के प्रसार को नहीं रोक सके। कहीं इसका प्रसार रोटियों के माध्यम से हो रहा था तो कहीं रुमाल के द्वारा। देवबंद का लाल रुमाल प्रकरण मशहूर है। वहाँ के मौलवियों ने लाल रुमाल के द्वारा अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ बगावत की थी। लोक में मंगल पांडे, झांसी की रानी लक्ष्मी बाई और वीर कुँवर सिंह आदि लोकनायक और महान स्वतंत्रता सेनानी के रुप में उभरे थे। लोककवि ने उनको याद करते हुए लिखा –

लक्ष्मी बाई कहि के निकल पड़ी मैदान में
दिल्ली के दरम्यान में ना।
जाके नेताजी से कहलीं
पाई हुकुम, चलाई गोली
दुस्मन भरल हवैं गरब अउर गुमान में।
दिल्ली के दरम्यान में ना।

लोकगीतों में कभी–कभी स्पेस और टाइम का घालमेल हो जाता है। दो अलग अलग घटनाएं एक में इस तरह मिल जाती है कि उनकी संगति बिठा पाना मुश्किल होता है। जैसे उक्त गीत में रानी लक्ष्मीबाई का नेताजी सुभाषचंद्र बोस से मिलना, अंग्रेजों के गरब–गुमान को तोड़ने के लिए नेताजी से दुश्मनों पर गोली चलाने की अनुमति मांगना असंगत और दोषपूर्ण है। हम सभी जानते हैं कि झांसी की रानी ने 1857 में अंग्रेजों से वीरतापूर्वक युद्ध किया था और लड़ते–लड़ते वीरगति को प्राप्त हुई थी और नेताजी सुभाषचंद्र बोस बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अंग्रेजों के खिलाफ संघर्ष करते हुए हिन्दुस्तानियों से कह रहे थे–तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हे आजादी दूंगा। निस्संदेह यहां लोककवि का कालबोध और इतिहासबोध गड़बड़ है, किंतु लोकसाहित्य में ये बातें क्षम्य है, वास्तव में हम लोकगीतों में व्यक्त लोककवि की भावना और उसमें छिपी ध्वनि को समझते हैं, इसलिए लोकगीत सुनते या पढ़ते समय कालबोध या इतिहासबोध संबंधी त्रुटियों को नज़र अंदाज़ कर देते हैं। इस लोकगीत में निहित भाव यही है कि वीरांगना लक्ष्मीबाई कमर कसकर युद्ध भूमि में चल

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पड़ी। 1857 में उत्तरी भारत में अंग्रेजों के खिलाफ एकाएक आग भड़क उठी थी, मेरठ और दिल्ली में गदर मचा हुआ था। झांसी और कानपुर भी इससे अछूते नहीं थे। रानी लक्ष्मीबाई अपने ख़िलाफ़ अंग्रेज़ों के षड्यंत्र का जवाब देने के लए चल पड़ी। लोककवि इसी बात को जनता के सामने रखना चाहता है ताकि उसमें देशभक्ति की भावना पैदा हो और वे देश की आज़ादी के लिए अपने को कुर्बान कर देने का संकल्प है।

जनता पर इन लोकगीतों का तेज़ी से असर हुआ है। जब लोककवि ने उन्हें भारत, जो कभी सुंदर और वैभवसम्पन्न था, वह अब कंगाल हो चुका है। फिरंगियों ने उसे श्मशान में बदल दिया है –

सुंदर सुघर भूमि भारत के हो रामा
आज उहे भइले मसान रे फिरंगिया।

तो लोक की हत चेतना जागृत हो गयी और वे सुराजी झंडा हाथ में लेकर संघर्ष के लिए निकल पड़े। लोग स्वदेशी वस्तुओं की ओर आकर्षित हुए। लोककवि ने कहा, भाइयों अंग्रेज़ों से लड़ने के लिए उन्हीं से अक्ल लो, जैसे प्रेमचंद का 'सूरदास' कह रहा हो– 'इस ,खेल में हम अनाड़ी हैं, मगर देखना, एक दिन तुम्हीं से इस खेल की बारीकियां सीखकर तुम्हें हरा देंगे' कवित ने आगे बताते हुए कहा कि देश और अपना उद्धार चाहते हो तो मोटा–झोंटा पहनो, साधारण ढंग से रहो नहीं तो कंगाल हो जाओगे।

अक्किल अँगरेजन से लीन
कपड़ा पहिरा मोटा जीन
नाहिं त हो जइबा बेदीन।

जनसाधरण खद्दर के कपड़े पहनने लगा लोग धड़ाधड़ कांग्रेसी होने लगे। एक ने दूसरे को प्रोत्साहित किया। कोई स्त्री किसी पुरुष को समझाते हुए कहने लगी, तुम अपनी बहन से चरखा क्यों नहीं चलाते, सूत क्यों नहीं कतवाते। इसके दो फायदे हैं। एक तो देश का भला होगा और दूसरे तुम्हारी बहन की गलत आदतें छूट जाएंगी।

काहे नइखी बहिना से चरखा चलवावत।
छूटि जइतीं बनियाँ–कुबनियाँ आहोलाला।
पलक उठाइ जब देस ओर तकतीं
छूटि जइतीं बनियाँ–कुबनियाँ आ हो लाला।

लेकिन कांग्रेसी होने और खद्दर के कपड़े पहन लेने का यह मतलब नहीं था कि सभी सत्य और अहिंसा के पुजारी हो गए। वे अवसर के अनुकूल कार्य करते थे। जरुरत पड़ने पर वे शस्त्र भी उठा लेते थे और रेलवे लाइनों को भी उखाड़ देते थे। एक लोकगीत के कुछ अंश द्रष्टव्य हैं –

जेवना ना लेवे कँगरेसी, हो कँगरेसी बलमा ।
बिचवा में उनले बा लेड़इया हो कँगरेसी बलमा।
आरे को लाइन तोरले, पटना के टेलीफोन
बिचवा में ठन ले बा लड़इया हो कँगरेसी बलमा।

स्वाधीनता आंदोलन में सर्वसाधारण ने अपने–अपने तईं देश को आज़ाद कराने में सहयोग दिया कहीं लोग रेल लाइनें उखाड़ रहे थे, कहीं डाक–तार सेवाएं बाधित कर रहे थे और कहीं ट्रेनें लूट रहे थे। सभी में एक नया जोश था, नया उत्साह था। 1857 में क्रांति का बिगुल बजाने वाले मंगल पांड को बैरकपुर में फांसी दे दी गयी थी। बिहार में पटना से क्रांतकारी पीर अली को भी फांसी की सजा दी गयी। इसी समय बिहार के प्रमुख क्रांतिकारी अस्सी वर्षीय कुँवर सिंह ने अंग्रेजों से लोहा लिया। उन्होंने भोजपुरी लोगों को नेतृत्व किया और ब्रिटिश सेना के हौंसले पस्त कर दिए। पीर अली को फांसी दिए जाने से बिहार में जबर्दस्त क्षोभ और आक्रोश फैल गया था। दानापुर की छावनी में विद्रोह हो गया। कुँवरसिंह के नेतृत्व में विद्रोहियों ने आरा (बिहार) पर हमला कर दिया। इस भयंकर आन्दोलन को देखकर वहाँ के अंग्रेज कप्तान ने कुँवरसिंह से समझौता करना चाहा। उसने कुंवर सिंह के पास इस आशय का संदेश भिजवाया कि आप चाहें तो मैं आरा को एक अलग सूबा बनाकर आपको वहाँ का राजा बना सकता हूँ। लेकिन आपको इस आंदालन को बंद करना पड़ेगा। कुँवरसिंह ने उसके प्रस्ताव को ठुकरा दिया। भोजपुरी लोक में उनके शौर्य और साहस को सराहा गया। कुँवर सिंह से संबंधित गीतों और कविताओं में इसकी झलक मिलती है–

कप्तान लिखे मिला कुँवर सिंह
आरा के सूबा बनाइब रे।
तोहफा देबी, इनाम देबो
तोहके राजा बनाइब रे।
बाबू कुँवर सिंह भेजलैं सने सवा
मोसे न चली चतुराई रे।
जब तक प्रान रही तन भीतर
मारग नाहीं बदलाई रे।

आजादी की इस लड़ाई में उन्होंने अनेक राजाओ का सहयोग माँगा, किन्तु कुछ ने उनका साथ नहीं दिया-

रामा देसवा के कुछ त अदमियाँ रे ना
रामा भइलें देसवा क द्रोहिया रे ना।

लेकिन कुँवर सिंह दिलेरी से अपने अभियान में

 CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आगे बढ़ते रहे। ली ग्रांड की अगुआई में युद्धरत अंग्रेज़ी सेना को उन्हांने परास्त किया और ग्रांड का सिर काट डाला। इसके बावजूद कुँवर सिंह की देश को आज़ाद कराने की आकांक्षा अधूरी रही। 26 अप्रैल 1857 को उनका निधन हो गया।

1781 में बनारस में भयंकर उपद्रव की स्थिति बनी हुई थी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद विरोधी किसी भी उपद्रव को अंग्रेज़ दबाने-कुचलने के लिए सतर्क थे इससे पूर्व अंग्रेज़ों की 'सहायक संधि' की नीति के कारण देसी राजा विदेशी मामलो में अपनी स्वतंत्रता खो बैठता था। इससे ये राज्य दास बनते जा रहे थे इस सहायक संधि की नीति से उस समय की जनता में असंतोष बढ़ता गया। ब्रिटिश लूट के खिलाफ जनता ने विद्रोह कर दिया। बनारस और अवध में इस तरह के विद्रोह हुए। 1775 में हेस्टिंग्स ने अवध के अधीनस्थ बनारस के राजा चेतसिंह से फौजी व्यय को पूरा करने के लिए अतिरिक्त धन की मांग की, यह रकम इतनी ज्यादा थी कि चेतसिंह के मोहलत मांगने पर हस्टिंग्स ने उनकी गिरफ्तारी का आदेश दे दिया। इस समाचार से उद्वेलित बनारस की जनता ने वहां उपस्थित फौजी सिपाहियों को मार डाला। संकट में घिरा वारेन हेस्टिंग्स वहां से भाग खड़ा हुआ। इस ऐतिहासिक घटना को लेकर बनारस में एक कहावत ही बन गयी-

हाथी पर हौदा और घोड़े पर जीन
छोड़के भाग गइल वारेन हेस्टीन

आधुनिक भारत का इतिहास सांस्कृतिक और राजनैतिक आन्दोलनों का इतिहास रहा है। ये आंदोलन और संघर्ष 1775 ई. में प्लासी की लड़ाई से शुरु होकर 1947 तक चलते रहे। निस्संदेह 1757 में बंगाल का नवाब सिराजुद्दौला हार गया और सन् 1857 में बहादुर शाह जफर को कैद कर रंगून भेज दिया गया और इस तरह एक सौ वर्षो। में अंग्रेजों ने पूरे भारत पर कब्जा कर लिया, किंतु इन पराजयों ने देश को झकझोर दिया। देश का दर्प आहत हो गया। फलत: बिखरी शक्तियाँ अंग्रेज़ों के खिलाफ लामबंद होने लगीं। यहीं से भारत में राष्ट्रीयता और राष्ट्रप्रेम का उदय हुआ। राष्ट्र की उद्बुद्ध चेतना एक ओर साम्राज्यवाद विरोधी गतिविधियों की ओर अग्रसर हुई तो दूसरी तरफ वह सामाजिक रुढ़ियों को दूर कर नये सिरे से सामाजिक-सांस्कृतिक उत्थान का प्रयत्न करने लगी। दो संस्कृतियों की टकराहट में भारतीयों को अपनी सांस्कृतिक अस्मिता की रक्षा की चिंता हुई। इसके साथ ही सरकारी नीतियों की समीक्षा भी की जाने लगी।

अंग्रेजों ने भारत का भयंकर आर्थिक शोषण किया। सोने की चिड़िया कहा जाने वाला भारत इस कदर कंगाल हो गया कि लोग दाने-दाने को मोहताज हो गए। अंग्रेज़ों को यहाँ की जनता के सुख-दुख से कोई सरोकार नहीं था लोग यहाँ भूखों मर रहे थे और अंग्रेज़ मज़ा ले रहे थे, इसलिए भूखे, पीड़ित और बदहाल भारतीय अंग्रेजी शासन तथा अंग्रजों को कोस रहे थे, गालियाँ दे रहे थे। भोजपुरी का एक लोकगीत दृष्टव्य है, जिसमें लोककवि की चिन्ता और उसकी युगीन चेतना स्पष्ट रुप से दिखाई देती है-

हो गइली कंगाल हो बिदेसी तोरे रजवा में।
सोने की थारी जहाँ जेवना जेंवत रहली
कठवा के डोकिया के भइली मोहाल हो
बिदेसी तोरे रजवा में।
भारत के लोग आजु, दाना बिनु तरसें भइया
लंदन के कुतवा उड़ावे मजा माल हो
बिदेसी तोरे रजवा में।

एक लोककवि की राजनैतिक चेतना और उसका युगबोध इससे बढ़कर और क्या हो सकता है। भारतेन्दु हरिशचन्द्र बहुत शालीनता के साथ भारत में आर्थिक शोषण कर दुख व्यक्त करते हैं-

अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी
पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख्वारी।

किन्तु लोककवि इतना विक्षुब्ध है कि वह इन अंग्रेज़ शोषकों को 'लंदन का कुत्ता' कहने से भी नहीं हिचकता। वास्तव में लोककवि ने उन स्थितियों को भोगा है, इसलिए उसके कथन में निर्भीकता और सचाई है। जब किसी की आत्मा तड़पती है तो उसके मुंह से गालियां निकलती हैं, फूल नहीं झरते।

लोककवि की नजर बढ़ती मँहगाई पर भी है। सूखा और अकाल के कारण अनाज कम पैदा होने, खाद्यान्न की जगह नील आदि की खेती करवाने तथा जमींदारों के शोषण के चलते महँगाई बढ़ रही थी। सामान्य लोगों का जीना मुहाल हो गया था। उस समय अनाज और कपड़े-दोनों पर कंट्रोल था। लोककवि ने लिखा-

पर ले अकला जान जाला बिधाता
बीस सेर के चाउर रहलें डेढ़ सेर बिकाता।

पहले जो चावल एक रुपये में बीस सेर मिलता था, अब वह रुपये में केवल डेढ़ सेर मिलता है। कौन-कौन सी चीजें महँगी हुई है, लोककवि बता रहा है -

भारत हो गइल बेहाल हो बिदेसी तोरे रजवा में।
जौ-चना महँग भइलें, चाउर मिलत नाहीं।
जवनेरा पर मारा-मारी हो बिदेशी तोरे रजवा में।
लुग्गा-धोती महँगा भइल, कुर्ता मिले नाहीं।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मारकीन पर मारा-मारी हो बिदेसी तोरे रजवा में।

इस कमर तोड़ मँहगाई में कोई भला कैसे गुजर बसर कर सकता है?

अपने देश और अपने समाज से इतना गहराई से जुड़ाव लोककवि में ही हो सकता है। नवजागरण कालीन वह लोक कवि, जो अपने देश की सामाजिक-आर्थिक

स्थिति का इतना सूक्ष्म विश्लेषण कर रहा है वह किसान है, मजदूर है, ये किसान तत्कालीन राजनैतिक आंदोलनों से प्रभावित थे और गांधी-नेहरु जैसे बड़े नेताओं के नेतृत्व में देश के लिए मर मिटने को तैयार थे। यद्यपि भारत में किसान आन्दोलन गांधी-नेहरु के भारतीय राजनीति में प्रवेश से पूर्व ही शुरु हो गए थे, किन्तु जिस तरह देश के तमाम लोग इन्हें आजादी का अग्रदूत मानकर इनके साथ राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग ले रहे थे उसी तरह किसान भी। उनसे 'सुराज' मांग रहे थे। उनके साथ आन्दोलनों में भाग लेते हुए जेल जा रहे थे। एक गीत का मुखड़ा देखें-

गांधी क आइल जमाना
देवर जेलखाना में गइलें।
जब से तपल सरकार बहादुर
भारत मरे बिनु दाना,
देवर जेलखाना में गइले।

नवजागरण काल में उत्तर प्रदेश और बिहार में सर्वाधिक किसान आंदोलन हुए। किसान जमींदारों से त्रस्त थे। ज़मींदार किसानों से निर्धारित राजस्व से ज्यादा भूराजस्व वसूलते थे। लगान न देने पर उनके घर की कुर्की और ज़मीन की नीलामी कर देते थे। उनके कारिंदे किसानों की औरतों की बेहुरमती करने से भी नहीं चूकते थे, उत्तरप्रदेश में किसानों को जागृत करने में बाबा रामचन्दर की प्रमुख भूमिका थी। इसी प्रकार स्वामी सहजानंद सरस्वती ने, जो गाजीपुर (उ. प्र.) के थे और जिन्होंने अपनी कर्मभूमि बिहार को बनाया था, किसानों को जमींदारों और दूसरी शोषक शक्तियों के खिलाफ संघर्ष करने के लिए प्रेरित किया। किसानों को अंग्रेज राक्षस और जल्लाद लग रहे थे। लोक कवि उन किसानों को जागृत करते हुए कहता है कि किसान भाइयों, सचेत हो जाओ। तुम्हारे दरवाज़े पर राक्षस रुपी अंग्रेज़ खड़े हैं। ये बहुत चालाक और धूर्त हैं। ये भारतीयों में फूट डालकर राज करने में माहिर है। तुम सभी कमर कसकर तैयार हो जाओ नहीं तो तबाह हो जाओगे। ज़रा सोचो, इस वक्त अगर अपनी सरकार होती तो क्या हमारी तुम्हारी इस तरह दुर्गति होती? एक लोकगीत के कुछ अंश प्रस्तुत है-

अइसन रछछवा दुअरिया पर ठाढ़ बाटे
होरवा अब जल्दी तइयार रे किसनवाँ।
तोड़-फोड़ नितिया जहन्नुम में ले गइले
भइले तबाह भारतवासी रे किसनवाँ
अईसने बखतिया पर आपन सरकार रहतीं
होत नाहीं दुरगति तोहार रे किसनवाँ।

1857 की ऐतिहासिक घटना से संबंधित बहुत कम भोजपुरी लोकगीत उपलब्ध हैं, किन्तु पूरे स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान प्रचलित रहे गीतों की संख्या कम नहीं है। यह स्थिति साहित्य में भी है। 1857 की क्रांति को लेकर हिन्दी साहित्य में भी बहुत कम रचनाएं मिलती हैं। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान क्या भोजपुरी, क्या मैथिली, मगही, अंगिका, वज्रिका, अवधी आदि बोलियों के अलावा सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं में लोकगीत रचे गए। इन लोकगीतों को देखने से पता चलता है कि उस समय के लोककवि अपने देश और समाज की त्रासद स्थितियां को लेकर कितने चिंतित थे। उनकी नजर जीवन के सभी पहलुओं पर थी। उन्होंने प्रत्यक्षतः जो कुछ देखा-सुना या अनुभव किया, उनका वह सारा अनुभव उनके गीतों में व्यक्त हुआ। इन गीतों को देखने से ही लोककवियों की चेतना का पता चल जाता है। इससे एक बात और स्पष्ट होती है कि देश को अंग्रेज़ों की गुलामी से मुक्त कराने की छटपटाहट केवल शहरों और कस्बों में ही नहीं, बल्कि पिछड़े ग्रमीण इलाकों में भी थी। इससे एक बात साफ हो जाती है कि लोक आर्थिक रुप से भले ही पिछड़ा रहा हो, किन्तु उसमें चेतना का अभाव नहीं रहा है। इसीलए लोक गांधी में, स्वदेशी वस्तुओं में और जातिविहीन भारत में अपना भविष्य देख रहा था -

माना गांधी के बचनवाँ दुखवा हो जइहैं सपनवाँ।
तन से उतारा कपड़ा बिदेसी, खद्दर के कइ ला धरनवाँ
छुआछूत के भेद मिटा के एक साथ कइला भोजनवाँ
माना गांधी के बचनवाँ दुखवा हो जइहैं सपनवाँ।

आज़ादी तो मिल गयी, कवियों ने देशवासियों के साथ तिरंगा भी फहरा लिया, किन्तु किसानों की समस्याएं खत्म नहीं हुई। स्वतंत्र भारत में किसानों की समस्याओं का समाधान कब होगा? होगा भी या नहीं, कुछ कहा नहीं जा सकता। आज के लोककवियों की नजर संभवतः इस ओर नहीं है।

□□□

हिन्दी विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया
नई दिल्ली-110025, फोन : 011-26981717

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

भोजपुरी के भीष्मपितामह – मोती बी. ए.

आई. एच. सिद्दीक़ी

मैं भोजपुरी के भीष्म पितामह मोती बी.ए. की शैया के पास खड़ा हूँ। फर्क है तो बस इतना कि महाभारत के भीष्म पितामह का शरीर बर्छियों से जख्मी था और मोती बी. ए. के जिस्म पर 90 साल की उम्र का असर है। उनकी इन्द्रियों ने साथ देना छोड़ दिया है। न तो कान सुन सकते हैं न आंखें ठीक से देख पाती हैं। दिमागी हालत ऐसी कि किसी को पहचान नहीं सकते। बड़ा कष्टदायी है मोती जी को इस हाल में देखना। उनके छोटे पुत्र भालचन्द उनकी पूरी सेवा करते हैं। ''बाबूजी सिद्दीकी साहब आइल बाँटे।'' यह बात उनके कान के पास जोर से कही जाती है। भालचन्द जानते हैं कि कौन सी बात कैसे कही जाय जिससे मन्तव्य सम्प्रेषित हो जाय। दो कॉपते हाथ नमस्कार की मुद्रा में आने की असफल चेष्टा करते हैं। मैं देखता रह जाता हूँ। अवस्था आदमी को इतना लाचार कर देती है। मैं उस शख्स को देख रहा हूँ जो कवि सम्मेलनों की जान हुआ करते थे। अब अपना कलाम तरन्नुम से पेश करते थे तो मजमे पर जादू सा छा जाता था। भोजपुरी भले ही एक बड़े तबके की आम जुबान हो लेकिन उसमें इतनी चाशनी, इतनी मिठास है, इसका एहसास मोती बी.ए. नें ही सबसे पहले कराया।

मैं क्या करूँ? किससे बात करूँ? उनके कनिष्ठ पुत्र श्री भालचन्द्र जो जानते हैं वह मुझे भी मालूम है तो सबसे पहले उन्हीं बातों को याद किया जाय फिर किसी ऐसे व्यक्ति की तलाश में चला जाय जो एक लम्बे समय तक इनके साथ जुड़ा रहा हो (मेरा मतलब है परिवार से अलग कोई)।

मोती बी. ए. का पूरा नाम मोती लाल उपाध्याय है। इनका जन्म देवरिया जिले के बरेजी नामक ग्राम में अगस्त 1919 को हुआ था। पिता का नाम पं. राधाकृष्ण उपाध्याय व माता का नाम श्रीमती कौशल्या देवी है। इनकी शिक्षा बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में एम. ए. तक है किन्तु बी. ए. करने के बाद इन्होंने अपने उपनाम 'मोती' के साथ बीं. ए. लगाया तो एम. ए. होने के बावजूद बी. ए. ही लिखते रहे। सन् 1939 से 1943 तक मोती बी. ए. 'अग्रगामी' 'आज' 'संसार' 'आर्यावर्त' आदि पत्रों के सम्पादकीय विभाग में रहे और अपनी अलग पहचान कायम की। 1944 में यह बम्बई (अब मुम्बई) गये और 1952 तक पंचोली आर्ट पिक्चर्स लाहौर, प्रकाश पिक्चर्स बम्बई और फिल्मिस्तान में गीतकार के पद पर कार्य करते रहे। उस समय गीतकार को मासिक वेतन दिया जाता था। इसी अवधि में फिल्म 'नदिया के पार' में इनके लिखे गीतों में एक गीत 'हमको तुम्हारा ही आसरा तुम हमारे हो न हो' ने सिने संसार में हलचल मचा दी। इनके गीतों को इतना पसंद किया गया कि फिल्म 'नदिया के पार' सुपरहिट साबित हुई। इन गीतों की मकबूलियत का अन्दाज़ा इसी से लगाया जा सकता है कि इतने दिनों के बाद आज भी शायद ही कोई सप्ताह ऐसा बीतता हो जब विविध भारती द्वारा किसी न किसी प्रोग्राम में 'नदिया के पार' का कोई गीत न बजता हो। हैरत होती है कि 58 साल पहले लिखा गया एक गीत आज भी सीधे दिल में उतर जाता है। नयी पीढ़ी भी इन गीतों को हाथों–हाथ लेती है। फिल्मी दुनिया से मोती बी.ए. का मोहभंग आज भी एक रहस्य है। इस बात को उन्होंने कभी किसी से शेयर भी नहीं किया। जो इनके व्यक्तित्व से वाकिफ हैं उनका ख्याल है कि फिल्मी दुनिया की बनावटी ज़िन्दगी और वहां के लोगों के दिल व जुबान के फासले ने इनको तोड़ कर रख दिया मोती बी.ए. एक रंगकर्मी भी थे। वह मंच पर तो नाटक कर सकते थे लेकिन जाती ज़िंदगी में कदम–कदम पर नाटक उन्हें पसंद नहीं आया और फिल्मी दुनिया को अलविदा कहना ही उन्हें मुनासिब लगा।

ऐसा नहीं है कि यह केवल भोजपुरी के कवि हैं इनकी काव्य साधना हिन्दी, अंग्रेज़ी, उर्दू और भोजपुरी में चलती रही है। इनकी कृतियों में मोती के मुक्तक, सेमर के फूल, बनबन बोलेले कोइलिया, महुआबारी, शेक्सपियर के सानेट का अनुवाद, मेघदूत का भोजपुरी अनुवाद आदि शामिल है।

मोती बी.ए. की शख्सियत और रचनाकर्म के बारे में उधर कही गयी बातों से मुझे पूरी तसल्ली नहीं हुई इसलिये

 CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मैं मिला श्री रवीन्द्र श्रीवास्तव ''जुगानी'' से जिनका संबंध उस माटी से है जिसने स्व. गोरख प्रसाद ''इबरत'' और रघुपति सहाय ''फिराक'' गोरखपुरी जैसी विभूतियों को जन्म दिया है। जुगानी भाई किसी परिचय के मोहताज नहीं है। जुगानी भाई ऐसी हस्ती हैं जिन्होंने भोजपुरी कविता को एक विशिष्ट ऊंचाई तक पहुंचाया है। लगभग चालीस साल तक जुगानी भाई और मोती बी.ए. ने साथ साथ कवि सम्मेलनों में शिरकत की है। यह एक लम्बी अवधि है। बहुत से खट्टे मीठे अनुभव इन लोगों से जुड़े हैं। मैं रवीन्द्र श्रीवास्तव ''जुगानी'' से मिला तो काफी देर तक वह पुरानी यादों में खोये रहे। सबसे पहले उन्होनें एक वाक्या सुनाया जो मोती बी.ए. के विशाल व्यक्तित्व पर पूरा प्रकाश डालता है। उ. प्र. में देवरिया जिले के भटनी नामक स्थान पर आज से बीस साल पहले एक कवि सम्मेलन की अध्यक्षता मोती बी.ए. कर रहे थे और संचालन की जिम्मेदारी जुगानी भाई की थी। मंच पर एक स्थानीय युवा कवि को आमंत्रित किया गया। उसने रचना पाठ शुरु किया तो दो लोर्गो के मुंह खुले के खुले रह गये। यह दोनों व्यक्ति मोती बी. ए. और जुगानी थे। बात यह थी कि कवि महोदय बड़े आराम (और कुछ हद तक बेहयाई से) मोती बी. ए. का ही एक गीत सुना रहे थे। जुगानी भाई ने मोती बी. ए. के कान में कुछ फुसफुसाया। मतलब साफ था कि न सिर्फ उसे रचना पढ़ने से रोक दिया जाय अपितु उसकी हकीकत भी लोगों के सामने बयान कर दी जाय। लेकिन मोती बी. ए. ने मना कर दिया। कहा कि इससे वह शर्मिंदा होगा और वह भी अपने इलाके में। उन्होंने जुगानी भाई से यह भी कहा कि अगर उसे समझना चाहते हो तो अलग से समझाना। मेरे सामने नहीं।

बी. ए. ने ही हाइकू भी लिखे हैं। शायद भोजपुरी में पहली बार हाइकू मोती बी. ए. ने ही लिखे। उनके द्वारा रचित कुछ हाइकू देखिये ।

ढरकि गिरे
अँखिया से लोरि
टूटे मोती के माला

हँसेला केहू
बिजुली चमके
केतना लेई बिटोरि

बछरु दोहा
गाइ चउपाई
दूध के नदी बहे।

पानी बढ़िआइल
अड़ार टूटे
मन डूबे डूबे।

भसके भीति
छान्ही थसके
लइका सुताई कहाँ?

मोती बी. ए. की रचनाओं में सभी काव्य प्रवृत्तियां देखने को मिलती हैं। एक कविता 'मृगतृष्णा' सुनिये।

नाचत बाटे घाम रे हिरना बा पिआसा
जेठ की दुपहरी मे रेत के बा आसा
रेतिया बतावे दूर नाहीं बाटे धारा
तनी अउरी दउरल हिरना पा जइबा किनारा
पछुआ जुआठी लेके चारो ओर धावे
रेतिआ के भउरा बनल देहिया तपावे
भीतर बा पिआसि ऊपर बरिसेला अँगारा
तनी अउरी दउरा हिरना पा जइ-बा किनारा
फेड़ नाहीं, रुख नाहीं, नाहीं कहॅ छाया
कइसन पिआसि विधिना काया में लगाया
रोआं-रोआं फूटे, मुंह से फेकेल गजारा
तनी अउरी दउरा हिरना पा जइबा किनारा

''महुआबारी में बहार'' मोती बी. ए. की एक लम्बी कविता है जो बहुत लोकप्रिय हुई है। उसके कुछ छन्द देखें।

असों आइल महुआबारी में बहार सजनी
कोंचवा मातल भुइयां छूवे
महुआ रसे-रसे चूसे

जबसे बहे भिनुसारे के बेयारि सजनी
पहिले हरका पछुआ झारि गिरवलसि पतवा
गहना-बीखो छोरि के मुड़ववलसि सगरे मथवा
महुआ कुछू नाहीं कहलें
जेइसन परल ओइसन सहलें
तबले झारे लागलि पुरुवा दुआरि सजनी

अइसन नसा झोंकलसि कि गदाए लागलि पुलुई
पोरे-पोरे मधु से भराए लागल कुरुई
महुआ अइसन ले रेंगरइलें
जरी-पुलुई ले कोंचिअइले
लागल डाढ़ी-डाढ़ी डोलिया कहॉर सजनी

 CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

गड़ी लागल रब्बी के लदाइल खरिहनवा
दंवरी खातिर ढहले बाड़े डॅठवा किसनवा
रस के मालत महुआ डोले
फुलवा खिरकी से मुंह खोले
घरवा छोड़ि के हो गइलि बा तइयार सजनी
असों आइल महुआबारी में बहार सजनी।

आज मोती बी. ए. अपनी जिंदगी के अंतिम पड़ाव पर हैं। सिर्फ उनकी सांसें ही साथ दे रही हैं। जब तक होश में रहे, साहित्य साधना में लगे रहे। तब तक कविताएं कहीं जब तक दिल दिमाग ने साथ दिया। रवीन्द्र श्रीवास्तव ''जुगानी'' के अनुसार नीचे दि या गया मुक्तक शायद उनकी अन्तिम रचना हो। हालांकि यह कहते कलेजा मुंह को आ रहा है।

पंगु, बधिर, अर्द्धान्ध मूक हूँ
पीर केलेजे फँसी हूँक हूँ
दिखने में हूँ एक इकाई
टुकड़े टुकड़े टूक टूक हूँ।

आज मुम्बई का सिने जगत भोजपुरी को एक बड़े बाजार के रुप में देख रहा है। कम लागत में अधिक नफा बड़े बड़े निर्माताओं को इस तरफ खींच रहा है। पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के इलाकों में शायद ही कोई दिन खाली जाता हो जब कहीं न कहीं किसी भोजपुरी फिल्म की शूटिंग न चल रही हो। इस दौर में जहां कई बड़े बजट की फिल्में बाक्स आफिस पर औंधे मुह गिर गयीं, कई छोटी भोजपुरी फिल्मों ने सिल्वर जुबली की। आज कितने भोजपुरी गायक टी.वी. चैनलों में एंकरिंग कर रहे है। अब भोजपुरी भाषी होना शर्म की नहीं गौरव की बात है लेकिन सोचता हूँ कि पीढ़ी जो भोजपुरी से इतना कमा रही है, इसने मोती बी.ए. को जानने की कितनी कोशिश की है?

□□□

''आस्था'' 6, सन्त हुसैन नगर
शिवपुर, शहबाज़गंज
गोरखपुर – 273014
फोन : 0551-2284623
मोबा. : 9889035401

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

झारखंडी संस्कृति : लोक का आलोक

रणेन्द्र/अजय कुमार तिर्की

झारखंड की अपनी विशिष्ट संस्कृति निर्विवाद रुप से यहाँ की आदिवासी संस्कृति है। दामोदर घाटी की गोद में जो हजारों वर्ष पूर्व पली-बढ़ी। प्रकृति पर विजय नहीं बल्कि उसकी पूजा और उसके साथ सामंजस्य करती सामुदायिकता-सामूहिकता पर आधारित श्रम रस में रची पगी, उत्सवधर्मी संस्कृति आदिवासियत की विशेषता है। यह सत्य है कि उन्नसवीं सदी के पूर्वार्द्ध से ही बहिरागतों की तेज लहर के कारण जनगणना की सांख्यिकी में उसकी आबादी का प्रतिशत घटते-घटते 30 प्रतिशत के आसपास रह गया है किन्तु खुदकट्टीदारी गाँवों के बसाने के समय दैनिक आवश्यकता की पूर्ति हेतु जो कारीगर जातियाँ साथ-साथ बसाई गई थीं, जिनका बहुलांश अनूसूचित जातियों का था एवं कुछ पिछड़ी जातियाँ भी थीं, उनकी भी जीवन-शैली, रहन-सहन, पूजा-पाठ पर्व-त्योहार लगभग एक समान थे। मूल खुदकट्टीदार आदिवासी गोत्र का सरना ही पूरे गाँव का सरना था। सबके खेतों में भरपूर फसल हो, इसके लिए पाहन उसी सरना में पहनाई के संग विवाह रचाते थे। इसलिए प्रकृति के विविध रंगों के अनुरुप नाचती-गाती, दुख-सुख झेलती जो आदिवासियों-सदानों की एकरुप संस्कृति झारखंड के अरण्यकानन में विकसित हुई। जिसे सभी ने अंगीकार किया और जिसने सबको अपनी गोद में समेट लिया, वही झारखंडी संस्कृति है। हो सकता है यह तस्वीर थोड़ी-सी रुमानी लगे किन्तु यही सचाई हे।

डॉ. रामदयाल मुण्डा का भी यह मानना है कि, 'झारखंडी संस्कृति की पहचान का आधार यहाँ की आदिवासी संस्कृति की विरासत ही है। हम यह मानकर चलते हैं कि यहाँ का गैर-आदिवासी भी उसके आदिवासीपन के कारण ही झारखंडी है।' (आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल, पृ. 29)

साहित्यकार विद्याभूषण के अनुसार, 'इस प्रकार समग्र झारखंडी संस्कृति के बारे में यह धारणा बनती है कि वह प्रथमत: जनजातीय प्रभुत्व की संस्कृति है। जिसे सदानी जातियों ने भी प्रभावित-पुष्ट किया है। समान भौतिक परिवेश ऐतिहासिक विरासत और सदियों की सहयात्रा से जो सामाजिक संस्कृति विकसित हुई है, वह झारखंड की भौगोलिक सीमाओं के बाहर की मैदानी संस्कृति से अलग है।' (मड़ई 2001 : विकास झंझावात में फँसी संस्कृतियों का दौर, पृ. 46)

ऐसे तो लोक और संस्कृति दोनों व्यापक संज्ञाएँ हैं। साथ ही लोक और संस्कृति को अलग-अलग करके नहीं देखा जा सकता। फिर भी दोनों शब्दों के अर्थ की व्यापकता को मापना आवश्यक दिखता है।

लोक

वसन्त निरगुणे के अनुसार, 'लोक शब्द देखने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अवलोकन शब्द इसी से बना है। लोक का अर्थ हुआ देखने वाला। जो लोक को स्वयं अपनी आँखों से देखता है, वही व्यक्ति लोक को समझ सकता है। लोक का केन्द्रीय विषय मनुष्य है। मनुष्य द्वारा रचित सभी कृतियाँ लोक की धरोहर हैं। मनुष्य की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, वैज्ञानिक और आध्यात्मिक, भौतिक उपलब्धियाँ लोक से बाहर नहीं होती।' (लोक संस्कृति, पृ. 22-23)

लोक की सुन्दरता समूह तक विद्यमान रही है, क्योंकि समूह में व्यापकता थी। वह भिन्नता को सृजन संभावनाओं में ढालने का अद्‌भुत कारखाना था। समूह के सौन्दर्य आकल्पन में बहुलता से संश्लेषित वैसी एकरुपता थी, जैसी प्रकृति में होती है। लोक अपने आनन्द में वैसा उत्फुल्ल होता है, जैसे प्रकृति उत्फुल्ल रहती है। इसलिए लोक का रचनात्मक आनन्द कहीं भी व्यक्तिगत नहीं है। व्यक्ति समूह बनकर ही आनन्द का आस्वादन करता है। इसीलिए इस आनन्द पर सबका अधिकार है। लोक अधिकतर सामूहिक संरचना में ही अपने को अभिव्यक्त करता है। लोक गायिकी में व्यक्तिगत गायिकी नहीं है। अनेक आवाजों की लयगत सामूहिकता से न तो किसी का अहंकार व्यक्त होता है, न ही किसी का अधिकार। लोकनृत्यों चित्रकला जैसी कला-संरचना में भी सामूहिकता को लोक सुरक्षित बचाए है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सामूहिकता का यह सृजन सौन्दर्य का बँटवारा नहीं मानता। उत्पादन और आस्वादन दोनों का संबंध समूह से है। प्रकृति और व्यक्ति-चेतना का एकात्म्य अंत:स्त्राव लोक-कलाओं में रसानुभूति का संचार कर रहा है। यहाँ लोक-कलाओं में प्रकृति-सत्य और व्यक्ति का आत्म-सत्य एकाभावेन सहसंयोजनकारी एवं समावेशी होकर सृजन में आविष्कृत हुआ है। प्रकृति का अनित्य सौन्दर्य लोक-कलाओं की तरोताजगी का आधार रहा है। लोक-कलाओं के सौन्दर्य में श्रम चेतना का महत्वपूर्ण स्थान है। श्रम, लोक-सौंदर्य के ऊर्जा रुपांतरण का आनन्द स्त्रोत रहा है। श्रमजनित संघ आनन्द की अनुभूति, मांसपेशियों का आकुंचन-विकुंचन और रक्तप्रवाह की गतिमयता तथा शारीरिक संघर्ष से प्राप्त होने वाला मानसिक तोष लोक के आनन्द का एक आदि स्त्रोत है। समूहगत संरचना में बुभुक्षा (भूख), सिसृक्षा (सृजन इच्छा) और रिरंक्षा इन तीनों आदिम इच्छाओं का समावेश है। (डॉ. दुबे श्यामसुन्दर, मड़ई-2002, लोक की सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, पृ. 39)

संस्कृति

संस्कृति (सम्यक कृति) मनुष्य की वह रचना है जिसमें मानव की सृजनात्मक शक्ति और योग्यता का चरम निहित है। संस्कृति में मनुष्य समाज के इतिहास की विकास कड़ियों के सूत्र दर्ज हैं। संस्कृति जीवन और उनकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं का संचय है।

उसमें प्रकृति और मनुष्य की सहभागिता से निर्मित जीवन की भौतिक सामग्रियों की उपयोगिता की संकल्पनाएँ समाहित है। संस्कृति में मनुष्य की बाह्य और आन्तरिक मूल्यों की अभिव्यंजना होती है। संस्कृति मनुष्य की नियन्ता और उपभोग्या भी है। संस्कृति वह जीवनशैली है जिसे मनुष्य पूर्वजों से ग्रहण करता आया है। संस्कृति मनुष्य को जीवन जीने की एक उच्च भाव भूमि प्रदान करती है। प्रत्येक जनगण की संस्कृति अलग होने का कारण मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति का अलग-अलग ढंग, प्राकृतिक पर्यावरण और सामाजिक मान्यताओं के विकसित ढाँचे पर निर्भर होना है। (डॉ. दुबे श्यामाचरण : मानव और संस्कृति, पृ. 70-71)

लोक संस्कृति

'लोक संस्कृति' का नाम आते ही अनजाने-अनचाहे भी दो प्रकार की संस्कृतियों की धारणा उपस्थित हो जाती है। उसे कोई भी नाम दिया जाए भद्र संस्कृति और लोक संस्कृति, शिष्ट संस्कृति और ग्राम संस्कृति, उच्च संस्कृति और गौण संस्कृति इत्यादि। समाज वैज्ञानिकों की भाषा में सम्पूर्ण-समूह के आचार व्यवहार की समग्रता को 'संस्कृति' कहा जाता है। उसमें चाहे इस आचार-व्यवहार के अभिव्यक्त रुप हों या अनभिव्यक्त, संस्कार बौद्धिक चेतना हो या अबौद्धिक प्रेरणाएँ। किन्तु संस्कृति का स्वरुप 'सम्पूर्णता' और 'समग्रता' से ही निर्धारित होता है। 'लोक संस्कृति' की अवधारणा में इस सम्पूर्णता और समग्रता का खंडन अंतर्निहित है। आदिम संस्कृतियों में हम 'लोक' और 'शास्त्र' (या शिष्ट) का भेद नहीं करते। सभ्य समाज की परिस्थितियों में जरुर हम आदिम कलाओं और आदिवासी संस्कृतियों को अलग से पहचानने के लिए उन्हें 'लोक' की उपाधि देते हैं। विनिमय और नगर-सभ्यता के विकास के साथ-साथ लोक संस्कृति का दायरा भी विस्तृत होता है और उसमें किसान जीवन से जुड़े सांस्कृतिक रुप भी सम्मिलित कर लिए जाते हैं। खेतिहर समाज के सामंती वातावरण में आदिम और आदिवासी संस्कृतियाँ लोक संस्कृति में गिनी जाती हैं। सामंतवर्ग के मुकाबले साधारण किसानों के सांस्कृतिक जीवन को भी लोक संस्कृति के निकट या उसी का रुप माना जाता है। पूँजीवाद के विकास के साथ आदिम ही नहीं, खेतिहर और किसानी संस्कृति भी लोक संस्कृति का अभिन्न अंग बन जाती है।

यहाँ दो बातें शुरु में ही स्पष्ट हो जाती हैं। पहली यह कि समाज में वर्ग-विभाजन के साथ संस्कृति का विभाजन भी होता है और लोक संस्कृति का अस्तित्व प्रकट होता है। दूसरी यह कि लोक संस्कृति की अवधारणा समाज के विकास और सामाजिक अवस्थाओं के अनुसार बदलती रहती है। (तिवारी, अजय : मड़ई-2002 : बाजार और लोक संस्कृति : अव्यवस्थित टिप्पणियाँ)

लोक संस्कृति की झारखंडी खुशबू

गृह मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा गठित झारखंड विषयक समिति ने इस क्षेत्र की सांस्कृतिक एकरुपता को सन् 1989 में यहाँ के अपने दौरे में अनुभव किया और अपनी रिपोर्ट में दर्ज किया कि आदिवासियों और गैर-आदिवासियों ने आपसी व्यवहार से जीवन-शैली के एक विशिष्ट साँचे का विकास किया है। पुन: समिति ने अपनी रिपोर्ट में स्वीकार किया कि छोटानागपुर तीन प्रमुख भाषा परिवारों का मिलन स्थल भी रहा है- इन्दो आर्यन, द्रविड़ और अस्ट्रो-एशियाटिक। इनके बीच शब्दों का आदान-प्रदान तो हुआ ही, इनसे भाषाई क्षेत्रों में संरचनात्मक अनुकूलन भी हुआ। निस्संदेह नागपुरी और अंगिका जनजातीय भाषाई समूहों के बीच की कड़ी के रुप में विकसित हो रही है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

झारखंड में सांस्कृतिक समानता का दूसरा क्षेत्र लोककथा, संगीत-नृत्य, रुपंकर कलाओं तथा कविता का है जो विभिन्न जातीय समुदायों को एक सूत्र में जोड़ता है। उक्त रिपोर्ट के तीसरे अध्याय में समिति के निष्कर्ष इस प्रकार दर्ज हैं। पिछले चालीस वर्षों में झारखंड क्षेत्र में ऐतिहासिक विकास की स्पष्ट धारणा विकसित हुई है। लोक विधाओं की ठेठ देशी परम्पराओं के अध्ययन से यह सिद्ध हुआ है कि पड़ोसी सांस्कृतिक भाषाई क्षेत्रों की सांस्कृतिक प्रणाली से यह क्षेत्र भिन्न है। (विद्याभूषण : मड़ई : 2001 : विकास, झंझावात..., पृ. 45)

लोक संस्कृति के विभिन्न रुप

लोक संस्कृति के विभिन्न आयाम जीवन, साहित्य और कला परम्परा में सन्निहित होते हैं। संस्कृति के ये आयाम संस्कृति के स्वरुप को गढ़ने का काम करते हैं और उसके संवाहक भी होते हैं। समाज के किसी समूह या जाति की जीवन परम्परा में संस्कृति, साहित्य और कला के कितने ही तत्व मौजूद होते हैं। यहां इनकी प्रेक्षा और व्याख्या असंगत नहीं होगी। प्रथा, परम्परा, रीति-रिवाज, संस्कार, लोकगीत, लोकगाथा, मिथक, लोकचित्र, लोकोक्ति, पहेली, कहावत, मुहावरे, लोकनृत्य, लोकनाट्य, लोक संगीत, लोकवाद्य, लोकशिल्प, लोक विश्वास, लोक देवता, लोक धर्म, लोक व्यवहार आदि को परिभाषित करने से संस्कृति के मूल स्वरुप को समझने में बहुत मदद मिलगी क्योंकि ये ही आधार संस्कृति का रुप भी खड़ा करते हैं। इन मूलाधारों में लोक संस्कृति का वास होता है। (निरगुणे, वसन्त लोक संस्कृति, पृ. 57)

लोक इतिहास

लोक इतिहास संस्कृति समय है। परम्परा के पीछे कोई इतिहास होता है। गीत, कथा, मिथक, कहावतें किसी न किसी इतिहास की देन है। लोक संगीत, नृत्य भी लोक इतिहास की पारम्परिक अनुगूँजों को दोहराता है। लोक इतिहास जब मिथक बन जाता है तब वह संस्कृति का हिस्सा हो जाता है। किंवदंतियाँ लोक इतिहास की कल्पनाशील रचनाएँ होती हैं। वास्तविक इतिहास को जानने में किंवदंतियाँ अत्यधिक सहायक होती हैं।

मिथक और किंवदंतियों के रुप में इतिहास लोक स्मृतियों में पीढ़ी दर पीढ़ी यात्राएँ करता है। झारखंड के हर आदिवासी समूहों के आव्रजन का इतिहास इसी रुप में स्मृतियों में सुरक्षित हैं। उराँव समाज के हर बुजुर्ग की स्मृति में रुईदास (रोहतास) कौंधता रहता है। अभी 19 अक्टूबर 2003 को राँची में सपन्न हुए 'आदिवासी पत्रकार सम्मेलन' में डॉ. बी. डी. शर्मा के साथ उड़ीसा से आए दो बुजुर्ग टाना भक्तों ने झारखंड के लोक-इतिहास की जो बानगी प्रस्तुत की, वह अद्‌भुत थी। उनकी वाचिक परम्परा में राजा दुर्जन साल भी थे, अंग्रेज भी, गाँधी, जयपाल सिंह और नाथूराम गोडसे भी। आजादी का संघर्ष उनकी स्मृति में परम्परा अनुरुप मानकी-पाहन व्यवस्था की पुन:स्थापना के लिए था। गाँधी के रामराज्य का यह अर्थ था। इसी को लाने जयपाल सिंह के साथ गांधी जी जर्मनी गए थे। किन्तु नाथूराम नहीं चाहता था कि पुन: मानकी-पाहन राज हो सो उसने गांधी जी की गोली मार दी। यही उन बुजुर्गों के वाचिक लोक इतिहास का सारांश है। स्पष्टतया थोड़े से प्रयास से ही स्मृतियों में यात्रा करते आए इस किंवदंतीनुमा वाचिक लोक इतिहास में इतिहास की चमक खोजी जा सकती है।

परम्परा

मानव ने अपने सामाजिक जीवन के सुचारु रुप से संचालन के लिए आचरण के सर्वमान्य-सर्वप्रिय नियम गढ़े। इनमें से कई नियम जो काल की कसौटी पर खरे उतरते पीढ़ियों की यात्रा करते रहे। उन्होंने परंपरा का रुप ग्रहण कर लिया। परम्पराएँ व्यक्ति के नैतिक एवं सामाजिक जीवन के स्तर को ऊँचा उठाती हैं। स्वार्थवश परम्परा में बहुत से हानिकारक पहलू भी जुड़ते चले जाते हैं, तब परम्परा रुढ़ि का रुप धारण कर लेती है। रुढ़ि समाज की प्रगति को अवरुद्ध कर देती है। नए विचार के लोग ऐसी रुढ़ियों को तोड़ देते हैं और उसकी जगह नवाचार की ताजी हवा में नई परम्परा को जन्म देते हैं।

रुसी मानवशास्त्री युलिआना, ब्रोमलेय के अनुसार, अनेक पीढ़ियों तक वही परम्पराएँ बनी रहती हैं, जो जीवन की परिस्थितियों के अनुकूल होती हैं। एक ओर परम्पराओं तथा दूसरी ओर सामाजिक एवं भौगोकि परिवेश के बीच दोतरफा सम्बन्ध निरन्तर कार्यरत रहा है। कुद परम्पराओं को पुनर्गठित करता है, कुछ को अस्वीकार। सामाजिक व्यवहार प्रत्येक समाज में प्रचलित रुढ़िबद्ध आचार नियमों को परखता और अपने अनुकूल ढालता है।[1] (मानव और संस्कृति : प्रगति प्रकाशन : मास्को)

प्रथा

प्रथा तो सहज रुप से मानी जाने वाली परम्परा है। प्रथाओं का कोई लिखित रुप नहीं होता, वे समाजों के मस्तिष्क में इतिहास की तरह जमी रहती हैं और आवश्यकता पड़ने पर वर्तमान की तरह तरल रुप में बहने लगती हैं। प्रथाएँ जीवन के अनेक मिथकों, संस्कारों, परम्पराओं और व्यवहारों को खोलती हैं। प्रथा के निर्माण में बहुत कुछ प्रकृति, परिवेश, परम्परा और प्रति का

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

योगदान होता है। इसीलिए विभिन्न समाजों की प्रथाओं में विभिन्नताएँ स्वाभाविक हैं। पुरानी जड़ प्रथाएँ समय के साथ बदलती रहती है। नई प्रथाएँ भी धीरे-धीरे पनपती रहती हैं। आदिवासी समाजों में गोत्र (किली) व्यवस्था और उसके अनुपालन की प्रथा, उराँव समाज में हर गोत्र का अपना पड़हा होता है और उसके पड़हा राजा होते हैं। पड़हा मुड़मा जतरा में 22 पड़हाओं के राजा मिल बैठकर पूरे क्षेत्र के लिए नियम गढ़ते रहे हैं।

उसी प्रकार हर मुंडारी खूंटकट्टी या उराँव भूंइहरी गाँव में मूल गोत्र का जो सरना होता है वही अन्य रैयत गोत्रों का या अन्य जातियों के लिए भी सरना स्थल होता है। यही प्रथा चली आ रही है कि एक गाँव में एक ही सरना होगा।

रीति-रिवाज

प्रथा और परम्पराओं को निभाने की विधि रीति कहलाती है। रिवाज, रीति की सामूहिक स्वीकृति है। दोनों का योग ही रीति-रिवाज कहलाता है। रीति-रिवाज भी काल की कसौटी पर खरे उतरते हुए प्रथा और परम्परा का रुप ग्रहण करते हैं। रीति-रिवाज किसी छोटे से दायरे से निकल कर व्यापक स्वीकृति का रुप धारण करते हैं तब वह प्रथा बन जाती है और जब वह व्यापक स्वीकृत संस्कृति का अनिवार्य अंग हो जाते हैं तो परम्परा में तब्दील हो जाते हैं।

सरहूल-करमा जैसे पर्व-त्योहार, पूजा, अनुष्ठान, जन्म से लेकर मरण तक का नेत्र-दस्तूर रीति-रिवाज के ही उदाहरण हैं।

लोक विश्वास

प्रकृति की दृश्य-अदृश्य शक्तियों, घटना, वस्तु आदि पर लोक समाज स्वाभाविक रुप से आस्था या भरोसा रखता आया हैं यही व्यापक अवधारणा लोक विश्वास कहलाता है। जब कोई आस्था व्यष्टिगत रुप से प्रसारित होकर समष्टिगत स्वरुप को ग्रहण करती है तो वह लोक विश्वास कहलाती है। आदिवासी समाज प्रकृति की दृश्य-अदृश्य, अच्छी-बुरी शक्तियों में विश्वास करता है और उन्हें ही प्रसन्न रखने के लिए पूजा-पाठ, अनुष्ठान का सहारा लेता है। लोक विश्वास के अनुसार सर्वशक्तिमान ईश्वर, धर्मेस, सिंगबोंगा है एवं प्रकृति की अच्छी-बुरी शक्तियाँ नाद या बोंगा के रुप में चिन्हित होती हैं।

लोक देवता

प्रकृति की गोद में पलने-बढ़ने वाला आदि समाज उसकी दृश्य-अदृश्य शक्तियों से भय भी खाता था और श्रद्धा भी रखता था। प्राकृतिक शक्तियाँ एक रहस्य थीं जिन्हें सुलझाने में वह असमर्थ था। इसी रहस्य भय और श्रद्धा ने ईश्वर का आविष्कार किया। आदिम समूहों ने पेड़-पौधों, जल, अग्नि, सूर्य और चन्द्र आदि में देवता होने की कल्पना की, यहाँ तक कि बीमारियों तक को देवी-देवताओं की संज्ञा दे दी। तब से आज तक अलौकिक रहस्यमयी शक्तियों के प्रति आदिम समाज सम्पूर्ण, आस्था, विश्वास और पूजा भाव रखता आया है।

बसन्त निरगुणे के अनुसार आदिम समूहों में ईश्वर और धर्म की अवधारणा उनकी मान्यताओं, विश्वासों और मिथकों में मिलती है। इन्हीं मूल अवधारणाओं के परिष्कृत रुप विकसित समाजों ने ग्रहण किए और लोक में नए देव लोक की स्थापना हुई।

लोक में दो तरह के देवताओं के स्वरुप मिलते हैं। एक प्रारंभिक प्रतिष्ठित देवता और दूसरे स्थानीय देवी-देवता। लोक-देवता कई तरह के होते हैं। पाप नाश करने वाले, बीमारी फैलाने वाले और दूर करने वाले, अनिष्टकारी देवता, संकट दूर करने वाले और रक्षा करने वाली माताएँ, अनिष्ट करने वाली शक्तियाँ सुख संपदा देने वाली, स्वस्थ रखने वाले गाँव के देवता, रास्ते के देवता, गाँव की सीमा के देवी-देवता, प्रकृति देवता, नदी, पहाड़, पनघट के देवता, कुल देवता, घर के देवता आदि। लोक में ऐसी कोई जगह या सोच नहीं है जहाँ कोई न कोई देवता न बिराजे हों। (निरगुणे वसन्त : लोक संस्कृति, पृ. 71)

झारखंडी लोक जीवन के सर्वशक्तिमान ईश्वर धर्मेस/चाला, सिंगबोगा, मराङ, बुरु, महादेव आदि हैं। इनके अतिरिक्त कई अच्छी बुरी शक्तियाँ भी विभिन्न अवसरों पर पूजित हैं जो नाद या बोंगा कहलाती हैं। यथा दरहा, गाँव की रक्षा करने वाली शक्ति, देसौली, गाँव की रक्षा करने वाली स्त्री-शक्ति, खूँट-नाद, गाँव के सीमान की रक्षा करने वाली शक्ति, चंडी शिकार के समय रक्षा करने वाली शक्ति चोर देवा, फसल की रक्षा करने वाला देवता, आचराइन, तंग करने वाली बुरी शक्ति-चुड़ैल आदि।

लोक धर्म

अलौकिक शक्तियों के जो संकेत आदेश हैं वही लोक धर्म की सीमा में आते हैं। लोक धर्म स्वरुप वाचिका ही होता है। इसका कहीं भी लिखित स्वरुप नहीं पाया जाता। प्रथागत नेत्र-दस्तूर पूजा-अनुष्ठानों के माध्यम से ही लोक धर्म अपने को प्रकट करता है। लोक धर्म लोक व्यवहार और आस्था से निर्मित होता है। पूरे समूह-गाँव के लिए सुख, शान्ति, भरपूर फसल, पशुओं की रोग-शोक से मुक्ति की कामना के लिए अदृश्य सर्वशक्तिमान

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

ईश्वर से प्रार्थना ही लोक धर्म का आधार है।

उसी प्रकार सरहूल पूजा के अवसर पर सरना स्थल पर पाहन-पहनाइन की शादी, धर्मेस एवं पृथ्वी के बीच शादी के प्रतीक के रुप में की जाती है। शादी, प्रजनन हेतु यानी अच्छी फसल हेतु, रोग-शोक से मुक्ति परिवार की, गोत्र की, गाँव की, फसलों की, पशुओं की। सरहूल पूजा के अवसर पर गाया जाने वाला कुडुख गीत निम्नवत् है-

चानुम चानुम नैयगाओ,
बेलर लेखा बेंजर : आ लगदैय।
खद्दी पैरीबारी नैय गाओ,
बेलर लेखा बंजर : आ लगदैय।।
(अनुवाद)
साल सा पाहन भाई,
राजा की तरह शादी कर रहे हो।
सरहूल की सुबह पाहन भाई,
राजा की तरह शादी कर रहे हो।।

लोक सम्बन्ध

मुंडाओं के खुदकट्टी गाँव एवं उराँवों के भूइँहर गाँवों के बसने के क्रम में ही हर तरह की आवश्यकता की पूर्ति के लिए कई तरह की कारीगर-सहयोगी जातियाँ बसाई गई यथा कपड़ा बुनाई हेतु स्वांसी/चिक बड़ाईक/तांती, लोहा के काम हेतु, लोहरा, बांस के कार्य हेतु तुरी/महली/नायक/गंझू कुम्हार, अहीर, महतो आदि। समूह में रहने की इच्छा एवं आपसी आवश्यकताओं ने आपसी व्यवहार-सम्बध विकसित किए। झारखंड में सहिया/फूल/मीत (मित्रता) जोड़ने की परम्परा समा की तरह ही आदिम है। यह सहिया/फूल/मीत जोड़ने की आदि परम्परा से जो सम्बन्ध विकसित हुए वही लोक सम्बन्ध कहलाए जो झारखंडी संस्कृति को बाँधे रखने वाली सबसे मजबूत कड़ी है।

लोक संगीत

लोक संगीत की वाचिक परम्परा का बहुत ही खूबसूरत अंग है। जन-गण के जीवन का कोई भी अवसर नहीं है जब वह गाता-बजाता नहीं हो। वह जन्म से मरण तक, ऋतुओं के बदलाव से जुड़े पर्व-त्यौहारों पर, श्रम से जुड़े हर सामूहिक-गतिमय अवसर पर गाता-बजाता है। गीतों में लोक स्वर बसता है और यही मूल-स्वर है जो लोक संगीत को जन्म देता है। लोक धुन लोक संगीत का स्वरुप निर्धारित करती है।

वसन्त निरगुणे के अनुसार, 'लोक के संगीत की प्रकृति और प्रवृत्ति सहज है, जैसे मधुमास के आते कोयल गाने लगती है वैसे ही जन पर्व-त्योहार उत्सव आते ही गाने लगते हैं। लोक संगीत की उत्पत्ति नदियों की सरसराहट, झरनों की झरझर, बादलों की गड़गड़ाहट, गाय के रंभाने, बकरी के मिमियाने, सिंह के दहाड़ने, कोयल की कुहुक, मुर्गे की बांग आदि मूल स्वरों से हुई है। आदि मानव ने इस प्रकृति के उपादानों को स्वाभाविक रुप से नाचते, गाते और थिरकते देखा तो संवेदनशील मनुष्य भी आनन्दातिरेक या पीड़ा के क्षणों में नाचने-गाने और थिरकने लगा।' (निरगुणे वसन्त, लोक संस्कृति, पृ. 81)

आदिवासियों ने प्रकृति से नाचना और गाना सीखा है। आकाश में उड़ती हुई कुरुल पक्षियों की कतारों ने उन्हें नृत्य में एक कतार बनाने की प्रेरणा दी है। वन में उगे हुए वृक्षों ने उन्हें समूह में रहना सिखाया। हवा के झोंकों से लहराती हुई खेत की फसलों, जंगल की वनस्पतियों ने इन्हें नृत्य का लोच सिखाया और नदी-नालों के पानी में उठती हुई लहरों ने इन्हें नृत्य को गोल घेरे में बाँधना सिखाया। बादलों की गरज-तरज तथा कड़क और चमक ने इन्हें माँदर व टिमकी वाद्य की ध्वनि दी और सनसनाती हुई हवा ने इन्हें बांसुरी सिखाई। गरज ये कि इन्होंने अपने नृत्य व गीतों में प्रकृति की छटा को बाँधा और प्रकृति ने ही इन्हें नृत्य-गीत की शिक्षा दी। (शेख गुलाब : गोंड मोनोग्राफ)

लोक वाद्य

स्वर, गीत वाद्य मिलकर ही संगीत की रचना करते हैं। झारखंड में क्षेत्र विशेष एवं हर आदिवासी समूह विशेष का अपना गीत, अपना विशिष्ट लय और ताल होता है। धन, लय-ताल की भिन्नता के कारण वाद्य-यंत्रों में भी भिन्नता पाई जाती है। उदाहरण के तौर पर हम माँदर की भिन्नताओं को देखें, संताल और हो लोगों का माँदर का आकार छोटा होता है। उराँव, नागपुरिया और खड़िया माँदर का आकार तुलनात्मक रुप से बड़ा होता है। सदानी माँदर लम्बा किन्तु एक ओर (बाईं ओर) फूला हुआ होता है। उसी प्रकार संताल और हो लोगों का नगाड़ा छोटे आकार का होता है उराँवों का नगाड़ा मध्य आकार का होता है। और मुण्डाओं के नगाड़े का आकार विशाल होता है जो जमीन पर रख कर बजाया जाता है। वाद्ययंत्र लय-ताल की भिन्नता दर्शाते हैं। उसी अनुपात में नृत्य की गति भी प्रभावित होती है। मुंडाओं के नृत्य में बहुत ही गति पाई जाती है। इसके विपरीत संतालों के गीत नृत्य की गति बहुत ही धीमी होती है। कुछ-कुछ शास्त्रीय संगीत-नृत्य की भाँति।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लोक नृत्य

आदि मानव ने अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए सबसे पहला माध्यम जिसे चुना वह नृत्य था। पंछियों और पशुओं को यहाँ तक तेज हवा के झोंके में वनस्पतियों को झूमते उसने देखा और भाव और अभिव्यक्ति के इस माध्यम को उसने सहज ही अपना लिया। उसे अपने सुख-दुख, खुशी-उल्लास, हर्ष-विषाद व्यक्त करने का सबसे सहज माध्यम थिरकना और नाचना ही लगा। आदि समुदायों में नाचना एकल नहीं होता, गेहूँ-धान के पौधे अकेले नहीं झूमते और न ही पंछी ही अकेले आकाश में कतार बनाते हैं। अत: आदिवासी भी अकेले नहीं नाचता। उसका हर पर्व-त्योहार हर अनुष्ठान का नृत्य सामूहिक नृत्य ही है।

वसन्त निरगुणे के अनुसार, 'आदिम नृत्य प्रतीकात्मक होते हैं। मध्य में वादक और नर्तक की गोलाकार परिधि सृष्टि केन्द्र बिन्दु और परिधि सृष्टि का प्रतीक है। नृत्य मुद्राओं में कमर तक झुकना पृथ्वी को प्रणाम करना है और ऊपर उठना पृथ्वी के चुम्बकीय प्रभाव से मुक्त होना है। एक साथ पैर का उठाना सामूहिक प्रगति का प्रतीक है। दूसरे पैर से पीछे हटना संतुलन का प्रतीक है। एक दूसरे की कमर में हाथ डालकर नृत्य करना सहअस्तित्व का प्रतीक है। कतारबद्ध नाचना आदिम भावनात्मक एकता का प्रतीक है। गोल-गोल घूमना पृथ्वी की गति का प्रतीक है। आदिम नृत्य प्राय: किसी देवी-देवता या पराशक्तियों को प्रसन्न करने की गरज से किए जाते हैं। आदिम विश्वास के तहत पेड़-पौधों, नदी-नालों पर किसी न किसी देवी-देवता का निवास होता है, उनके सहज विश्वास के कारण, जहाँ जो जगह या वस्तु उनके लिए थोड़ी-सी भी महत्वपूर्ण और उपयोगी हुई कि वह या तो भगवान हो जाती है या किसी न किसी देवता का वहाँ वास हो जाता है और उन्हें प्रसन्न रखने के लिए पाठ-पूजन, बलि के साथ नृत्य, गीत का आयोजन होता है। नृत्य से आदिम समूह एक नई सामूहिक ऊर्जा और चैतन्य का अनुभव करता आया है, इसीलिए आदिवासियों के सभी नृत्य समूहगत रचना होते हैं और सामूहिक रुप से वे नृत्य चरम आनन्द को प्राप्त करते हैं। यही कारण है कि नृत्य में थकान जैसी कोई चीज नहीं होती, यदि थकान हो भी तो एक प्रकार की अकथनीय आत्मिक विश्राम का अनुभव होता है। नृत्य समाप्ति पर एक आदिवासी नर्तक आत्मसंतोष और आत्मगौरव से भर जाता है।' (निरगुणे वसन्त : वही, पृ. 95)

लोक-नाट्य

लोक में अपने जन-गण के मनोरंजन की विशिष्ट परम्पराएँ रही हैं। इन परम्पराओं में कई ऐसी विधाएँ हैं जो लोक-नाट्य की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति में सक्षम होती हैं। झारखंड के कई अंचलों में जतरा यानी कई गाँवों के बीच नाच-गान प्रतियोगिताओं की परम्परा रही है। इसके लिए किसी-किसी पड़हा में भूमि का खास हिस्सा-टांड, उक्त जतरा के लिए सुरक्षित रहता है। उसे जतरा टांड पुकारा जाता है। इन्हीं कई प्रकार के जतराओं (पड़हा जतरा, सोहराई जतरा, करमा जतरा, जेठे जतरा) में से जेठे जतरा के अक्सर किसी-किसी इलाके में गीति नाट्य की एक परम्परा रही है।

खरसांवा राज के संरक्षण में विकसित हुई 'छउर' भी मुखौटों के साथ नृत्य नाटिका है नृत्य में विभिन्न पात्रों के माध्यम से धार्मिक कथाओं का मंचन ही 'छउर' की विशेषता है।

लोकगीत

लोक अपने मन की बातों को, सुख-दुख को, जन्म से मरण तक के विशेष भावों को, उल्लास-उत्सव को आदिकाल से गाकर व्यक्त करता रहा है। गद्य के बदले पद्य को जन-गण ने हमेशा से प्राथमिकता दी है। गेय रुप से हृदय की अनुभूतियाँ अपने चरम को स्पर्श करती हैं। विवाह के बाद बेटी की विदाई के समय आँसुओं और हिचकियों के साथ फूटता दर्द की लहरों पर बहता गीत पत्थरों को भी पिघलाने की ताकत रखता है।

वसंत निरगुणे के अनुसार 'लोकगीत लोक कण्ठ की धरोहर है। एक कण्ठ से दूसरे कण्ठ, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचने वाले लोकगीत शब्द और स्वर के दोहराव से संचरित होते हैं। दोहराव लोकगीतों का शेष नहीं, गुण है, उसकी शक्ति है, जिसके कारण नई पीढ़ी सरलता से अपनी स्मृति में गीतों ग्रहण करने में सक्षम होती है।' (निरगुणे वसंत, वही, पृ. 108)

लोक कथा

मिथ और लोक इतिहास पीढ़ी दर पीढ़ी यात्रा करते हैं। इनकी यात्रा के माध्सम हैं- दादी, नानी, बड़े-बुजुर्गों की किस्सा-कहानियाँ। इन गपों-गल्पों-कथाओं में सिर्फ कल्ना ही सतरंगी रुपों में नहीं रहती बल्कि लोक संस्कृति के हर अंग में थोड़ा-थोड़ा स्थान छेके रहते हैं। डॉ. श्यामाचरण दुबे के अनुसार, 'संस्कृति के आद्य धरातल पर जीवन निर्वाह करने वाले मानव समूह में कम से कम दो प्रकार की कहानियों का प्रचलन पाया जाता है। प्रथम वर्ग में तात्कालिक घटनाओं तथा अनुभवों का वार्तालाप

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

शैली में निकट यथार्थ का वर्णन होता है। इनमें न साहित्य सौन्दर्य होता है और न स्थायित्व। दूसरी श्रेणी में वे कथाएँ आती हैं जो अपनी कथावस्तु तथा कथन की कलात्मक शैली के कारण एक विशिष्ट साहित्यिक सौन्दर्य प्राप्त कर लेती हैं। लोकवार्ताविद इस श्रेणी की कहानियों को ही कथा कहते हैं। कथाएँ गद्यात्मक होती है। पद्यबद्ध भी।' (डॉ. दुबे श्यामाचरण : मानव और संस्कृति)

झारखंडी समाज की लोक कथाओं के संग्रहण का कार्य बहुत सुव्यवस्थित ढंग से हुआ है। पी. ओ. बोर्डिंग ने संताली लोक कथाओं का संग्रहण किया है तो श्री जगदीश त्रिगुणायत ने मुण्डारी लोक कथाओं का एवं शान्ति प्रब बाखला ने कुडुख लोक कथाओं के संग्रहण में अपनी महती भूमिका निभाई है।

लोकोक्ति

वसंत निरगुणे के अनुसार, 'लोकोक्ति लोक की ऐसी अनुभवपरक अभिव्यक्ति है, जिसमें जीवन के सुख-दुख, हास-परिहास, रंग-व्यंग्य, अतीत-वर्तमान की छोटी से छोटी धड़कन देखी जा सकती है। तब यह कहा जा सकता है कि लोक की कोई सारगर्भित उक्ति लोकोक्ति है। लोकोक्ति में कहावतें, पहेलियाँ आदि हैं।'

कहावत

कहावत का शाब्दिक अर्थ कही हुई बात है। कहावत ज्ञान और अनुभव की घनीभूत रचनाएँ हैं। कहावतों में मनुष्य के सदियों के लोक व्यवहार के निष्कर्ष और परम्परागत सामाजिक दृष्टिकोण होते हैं। कहावतों का अनुभव संसार अत्यन्त व्यापक होता है। वह भौतिक संसार से लगाकर अदृश्य संसार की ऊंची और सूक्ष्म से सूक्ष्म परत तक फैला हुआ होता है। कहावत सूत्र वाक्य है। आप्त वचनों की तरह कहावतें स्वयंसिद्ध वाक्य हैं। निरगुणे का कथन है कि, 'कहावतों की भाषा देखकर सबको आश्चर्य होता है। कहावतों की भाषा, किसी काव्य से कम नहीं होती। कहावतों में जीवन के कड़वे-मीठे अनुभवों को अत्यंत सुन्दर ढंग से काव्यमय भाषा में देखा जा सकता है। कहावतों में रुपक, उपमा, श्लेष, यमक और अन्योक्ति आदि अलंकार अपनी पूरी क्षमता के साथ अवतरित होते हैं।' यथा :

नेखय कत्था एम्बा आ रही भण्डी एम्बा
अर्थ : जिनका बोल मीठा उनका भात भी मीठा।
उफड़ारना चोट्टा अम्ण डीनू हुउरई
अर्थ : नाचने वाला चूहा माड़ में फँसता है।
किटयम डुम्बारी, तो सरगे येन एरना
अर्थ : गोद में बच्चा नगर में ढिंढोरा।

पहेली

पहेली ऐसी वाक्य या रचना है जिन्हें जानबूझकर द्विअर्थक बनाया गया हो अथवा जिसके अभीष्ट को साभिप्राय छुपाए रखा गया हो ताकि दूसरे उसकी खोज करें। दरअसल पहेली में प्रयुक्त शब्दों के सीधे-सीधे अर्थ करने पर इच्छित अर्थ तक नहीं पहुँचा जा सकता है। उन शब्दों या शब्दों के अर्थों की लक्षणा, व्यंजना को ग्रहण करना पड़ता है। तब कहीं जाकर पहेली के सही उत्तर तक पहुँचा जा सकता है। चित्रात्मकता और बिम्बात्मकता पहेली की पहली शर्त है। यथा :

कुट्टका ओंसगा खेखलन तुरई । (उसांगी)

अर्थ : आग में पका चूहा, धरती छेदता है। (हल का फल)

प्रतीक

लोक में कल्पना ने न केवल व्यापारों को विस्तार दिया,अपितु विकल्प चयन की भी शक्ति-चेतना दी। लोक में कल्पना और स्मृति ने सृजन के जो परिकल्प प्रस्तुत किए उनमें प्रतीक सबसे महत्वपूर्ण रचना-विधान है। लोक और ग्राम्य संस्कृति में प्रतीक का प्रचलन लगातार चलता रहा है। धार्मिक प्रतीकों, यौन प्रतीकों, गार्हस्थिक प्रतीकों का संसार बहुत व्यापक और विस्तृत है। प्रतीक संरचना में कल्पना और स्मृति के साथ-साथ मेधा का संयोग हुआ तो प्रतीक विधार रुढ़ कलात्मक रुपों में स्थायी होने लगा। (डॉ. दुबे श्यामसुन्दर मड़ई : 01 : लोक की....पृ. 41)

वृक्ष में देवता की कल्पना की गई तब पूरा पेड़ प्रतीक बन गया। मराङबुरु की कल्पना में पूरा पहाड़ प्रतीक है। महादेव-पार्वती के प्रतीक के रुप लिंग-योनि की पूजा सृष्टि सृजन का ही प्रतीक है।

मिथक

लोक में मिथ और मोटिफ का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रायः लोक संस्कृति का अधिकांश उसके मिथ और मोटिफ में समाहित है। इतिहास एवं जीवनगत घंटनाओं के अनेक परिवृतों को एकदम सघनतापूर्वक जब स्मृति-उपाख्यान के अंतराल में बिन्दुकीलित कर दिया जाता है, तब मिथ का उदय होता है। यह चूंकि अत्यधिक दबावों के बीच जन्मा कलात्मक प्रकार्य है, इसीलिए इसमें इतनी ऊर्जा होती है कि यह युगों-युगों तक अपनी सृजन शक्ति से नए-नए वितान तानता रहता है। लोक के मिथ उसके धार्मिक कर्मकांड में, उसकी लोक कथाओं में, उसकी प्रदर्शनकारी कलाओं में विद्यमान हैं।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लोक चित्र

गाँव-घर में सोहराई (दीवाली) पूर्व के घर की लिपाई-पुताई के बाद उसे सुन्दर स्वरुप प्रदान करने के क्रम में प्रारम्भ हुआ। रेखांकन और अलंकरण ही लोकचित्र के मूल आधार हैं। झारखंड में हजारीबाग के गाँवों में दो तरह के लोक चित्र द्रष्टव्य होते हैं। एक तो वही सोहराई चित्र जिनका पूर्व में उल्लेख हुआ है दूसरा कोहबर चित्र। कोहबर उस कमरे विशेष को कहते हैं जहाँ नवविवाहिता दुल्हन को रखा जाता है। स्वाभाविक विवाह जैसे उल्लासपूर्ण अवसर पर उसे कमरे विशेष की दीवारों को अलंकृत किया जाना अपरिहार्य होता है। इन दोनों तरह के चित्रों में झारखंड की प्रकृति पशु-पयी दर्शाए जाते हैं। दूसरी ओर संतालों की मिट्टी के घर की दीवारों को इतने तरह के प्राकृतिक रंगों से सजाया जाता है कि बिना किसी अन्य अलंकरण या रेखांकन के भी पूरा घर एक मनभावन चित्र सा दिखता है। साथ ही संतालों में जादूपटिया की भी परम्परा है जिसमें ताड़ के पत्तों पर मृत्यु के बाद के स्वर्ग-नरक की परिकल्पनाएँ उकेरी रहती है।

गोदना

गोदना केवल शरीर का स्थायी चित्रित अलंकार ही नहीं है, वह जातीय पहचान, बीमारियों से बचाने, विषैले कीड़ों के देश से बचने, जादुई प्रभावों और पराशक्तियों के प्रकोपों को अनुकूल करने और प्रजनन के प्रतीक के रुप में प्रतिष्ठित है। शरीर आलेखन अनुष्ठान के लिए तो करते हैं। कभी-कभी उनसे लोक इतिहास भी झाँकता हुआ मिल जाता है। यथा उराँव महिलाओं के ललाट या कनपटी पर गुदवाई गई तीन लकीरें उस रोहतासगढ़ युद्ध की याद दिलाती हैं जिससे तीन-तीन बार पुरुष वेश में महिलाओं ने तुर्क-अफगान सेनाओं को पराजित किया था।

क्या लोक संस्कृति की चर्चा केवल रुमानियत है ?

आजकल हमारे देश की फिजां ऐसे मुकाम पर आकर ठिठक गई है जहाँ अतीत-राग आठों पहर का राग हो गया है। ठीक-ठीक कहें तो अतीत के स्वर्णयुग का अखंड कीर्तन आठोयाम चल रहा है। प्रतिगामिता को युगधर्म बनाने की कोशिश की जा रही है और जन्मना भेदभाव पर आधारित संस्कृति के एक रंगारंग में पूरे देश को रंगने की कोशिश की जा रही है। ऐसे माहौल में लोक संस्कृति की चर्चा करना सुभाष गाताड़े को रुमानियत लगे, तो आश्चर्य नहीं है। श्री गाताड़े के अनुसार, 'लोक संस्कृति का रुमानीकरण एक ऐसे तबके का शगल हो गया है जो या तो कार्लमार्क्स की जुबां में कहें तो समस्या की जड़ तक पहुँचने से कतरा रहा है या तो उसने 'परिवर्तनगामिता' की उत्कट अभिलाषा का परित्याग किया है।' (श्री गाताड़े सुभाष : मड़ई 01 : लोक संस्कृति का 'नोस्टेल्जिया', पृ. 12)

अगर लोक संस्कृति के नाम पर सारी अच्छी-बुरी परम्पराओं-प्रथाओं की विरुदावली गाई जाए तो सुभाष गाताड़े की बात सही भी लगती है। जैसे झारखंडी संस्कृति के नाम पर नशापान, डाईन बिसाही जैसी परम्पराओं के पक्ष में भी तर्क जुटाना। किन्तु जब दो-दो खतरे प्रत्यक्ष हों प्रथम तो राष्ट्रीयता और मुख्यधारा के नाम पर एकरंगी संस्कृति में रंगने का खतरा, दूसरा वैश्वीकरण के नाम पर पूरे विश्व को अमेरिकी संस्कृति में ढालने का जबरदस्त अभियान तो ऐसे विकल समय में झारखंड की लोक संस्कृति की विशेषताओं को रेखांकित करना युद्ध के एक मोर्चे पर सन्नद्ध होना है। अमेरिकी संस्कृति का सर्वभक्षी दानव कोई कपोल कल्पना नहीं है। गिरीश मिश्र के अनुसार, 'न्यूयार्क टाइम्स के स्तंभकार टॉमस एल. फ्रीडमैन का मानना है कि अमरीकी मूल्यों, जीवनशैली और दृष्टिकोण अपनाने से ही विश्व के लोगों में समरसता आएगी और द्वन्द तथा उसके विभिन्न रुप समाप्त होंगे तथा शान्ति आएगी। उनका दावा है कि मैकडोनाल्ड के हैमबर्गर खाने वाले तथा कोकाकोला पीने वाले देशों और समाजों के बीच कभी टकराव नहीं होता। अमरीकी पाप म्यूजिक और हालीवुड की फिल्में देखने वाले भला आपस में लड़ेंगे अगर विश्वास न हो तो उनकी बहुचर्चित और बहुपठित पुस्तक 'दी लेक्सस और ओलिव ट्री' देखें जो 1999 में प्रकाशन के बाद से अब तक कई बार मुद्रित हो चुकी है। उन्होंने अपने हाल के लेखों में भी यही दृष्टिकोण दुहराया है।' (मिश्र गिरीश, मड़ई : 01 भूमंडलीकरण के युग में लोक संस्कृति, पृ. 1)

मुख्यधारा की पहेलिका

राष्ट्र के बड़े चिन्तकों, बुद्धिजीवियों, समाजशास्त्रियों खासकर राजनेताओं का यह मानना है कि आदिवासी समुदायों को मुख्यधारा में शामिल किए बिना उनका विकास नहीं हो सकता। अब इस मुख्यधारा की पहेलिका के लक्षण व्यंजनाओं को समझे बिना सही अर्थ तक नहीं पहुँचा जा सकता। ईस्ट इंडिया कम्पनी के साथ आए वाणिज्यिक पूँजीवाद ने सामंती भारत के चरित्र को वर्गीय चरित्र में बाँटना शुरु किया था। आजादी के बाद के औद्योगिक पूँजी ने आभिजात्य वर्ग की ताकत को ओर ज्यादा बढ़ाया। मध्यवर्ग-निम्नमध्य वर्ग इसी पूँजीवादी संस्कृति की मुख्यधारा में बह चले और अपने वर्गीय

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

चरित्र–संस्कृति को भूल गए। लोलुप उच्च वर्ग की संस्कृति ही उनके लिए मॉडल बन गई। आदिवासी समुदाय का पढ़ा–लिखा तबका भी मैकॉले के कारखाने से अनुकूलित होकर उत्पादित हुआ। उसकी लोक संस्कृति की खुशबू उसके व्यक्तित्व से स्कूल से नौकरी तक की प्रोसेसिंग में गर्दो–गुबार की तरह झाड़ दी गई। अन्य निम्न, मध्य वर्ग की तरह जड़ से कटा हुआ 'त्रिशंकु' आदिवासी ही सचमुच इस किस्म की मुख्यधारा में सम्मिलित माना गया है।

राजाराम भादू ने इस प्रक्रिया को यूँ व्याख्यायित किया है, '...कमोबेश यही प्रक्रिया देश के आदिवासी समुदायों के साथ घटित हुई है। यदि उन्हें सत्ता में भागीदारी करनी है, तंत्र की प्रणालियों में हिस्सा लेना है, व्यवस्था में नौकरियाँ हासिल करनी हैं तो उन्हें अपने सामाजिक–सांस्कृतिक सन्दर्भों को छोड़ना होगा। पर–संस्कृति ग्रहण उनके सामाजिक उन्नयन की एक पूर्व शर्त है। वहाँ अंग्रेजी से नीचे हिन्दी के वर्चस्व की एक और परत है। आदिवासियों पर थोपी गई इस परसंस्कृति–ग्रहण की प्रक्रिया को उनके मुख्यधारा से जुड़ने का नाम दिया गया है। जब एक बार इस प्रक्रिया ने गति पकड़ ली तो विकास के बुलडोजर के लिए रास्ता साफ हो गया।

इस आन्तरिक उपनिवेशन ने आदिवासी की सहज जिन्दगी को ही अस्त–व्यस्त नहीं किया, उनकी पहचान को विकृत किया है, उनके आत्मविश्वास को तोड़ा है और इससे उनकी आत्म–छवि को आघात लगा है। आरक्षण जैसे प्रावधानों ने उनकी सामाजिक गत्यात्मकता को भले ही बढ़ावा दिया हो, लेकिन यह भी सही है, सांस्कृतिक हीनता बोध भी उनमें बढ़ता गया है।' (भादू राजाराम : लोक आदिवासी संस्कृति का सवाल, मड़ई पृ. 342)

आदिवासी संस्कृति विकास विरोधी है

मुख्यधारा संस्कृति के मानस ने यह छवि गढ़ने में सफलता पा ली है कि आदिवासी संस्कृति विकास विरोधी है। राष्ट्र की प्रगति में रोड़े अटकाती है। वह विद्युत उत्पादन कर राष्ट्र–प्रगति में भूमिका निभाने वाली कोयलकारो परियोजना का विरोध करती है। और तो और वह राष्ट्र की शक्ति और साहस की प्रतीक सैनिकों के युद्धाभ्यास हेतु अपरिहार्य नेतरहाट फायरिंग रेंज का भी विरोध करती है। किन्तु तथ्य कुछ और ही कहते हैं। डा. रामदयाल मुण्डा ने इसे यूँ विश्लेषित किया है,'...किन्तु आजादी के तुरन्त बाद पंचवर्षीय योजनाओं के कार्यान्वियन के साथ वर्तमान पठारी एवं पहाड़ी क्षेत्रों से भी अचानक और बड़ी संख्या में कथित राष्ट्रहित में कारखानों, बड़े बाँधों के निर्माण और खान–खनिजों की खुदाई की शुरुआत के साथ इन क्षेत्रों से लोगों का पलायन शुरु हुआ। 50 के दशक से आज तक देश में जितनी भी इस प्रकार की योजनाएँ कार्यान्वित हुईं, उनका अधिकांश बोझ आदिवासी क्षेत्रों पर ही पड़ा। यह काम इतनी ह्दय–हीनता से हुआ कि देश की पूर्ण आदिवासी आबादी (आठ करोड़) की एक चौथाई से भी अधिक आबादी अपनी जड़ों से उखाड़ दी गई है जिसकी कोई चिंता इस देश को नहीं है।...दूसरी ओर अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए जब भी आदिवासी खड़ा हुआ, तो देश ने उसे विकास–विरोधी और देश–विदेशी करार दिया।' (डॉ. मुण्डा रामदयाल : आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल, पृ. 46–47)

बाजार के रैपर में लोक संस्कृति

आज वैश्वीकरण की आँधी में जब हर कुछ 'माल' में तब्दील होता जा रहा है तो क्या लोक संस्कृति बचेगा? यह बड़ा प्रश्न है। हम प्रतिदिन झारखंडी लोकगीतों को प्रदूषित होते देख रहे हैं। चूंकि लोक धुनों में मिलावट न चाहते हुए भी हमारे कानों तक पहुँच जाती है अत: इसकी गिरावट या बाजारु होते हम आसानी से पहचान लेते हैं। लेकिन बाजार का खतरा बहुआयामी और ज्यादा गहरा है। इस सम्बन्ध पर अजय तिवारी की टिप्पणियां इस प्रकार है, जैसे–जैसे पूँजीवादी सभ्यता मानव–जीवन के सभी पक्षों को घेरती गई वैसे–वैसे वह उत्पादन और उपभोग को, श्रम और सृजन को, वस्तु और कला को, उपयोग और मानव को एक–दूसरे से दूर और विरोधी बनाती गई है। लोक–संस्कृति में श्रम और सृजन की एकता पर आधारित मानव–व्यक्तित्व का जो संगठन और पूर्णता निहित है, वह बाजार–व्यवस्था के साथ विखंडित होती जाती है। लोक संस्कृति में हम अनुभव, स्मृति और विश्वास का जो समन्वित रुप देखते हैं, वह 'आधुनिक' संस्कृति में क्रमश: विच्छिन्न होता जाता है। पहले रचनाकार की आंतरिकता बाजार की माँग और आत्मिक विश्वास में विखंडित होती है, फिर उत्तर–आधुनिक (वृद्ध पूँजीवाद) दौर तक आते–आते अनुभव का स्थान भोग ले लेता है, विश्वास का स्थान प्रतीक (ब्रांड) ले लेता है और स्मृति की जगह आनंद आ बैठता है।...

भावना, मानवीयता यानी मनुष्य की 'आत्मा' का प्रतिबिंब लोक संस्कृति है। बाजार की दुनिया में यह आत्मा मर रही है इसीलिए वह अधिक मूल्यवान हो गई है। बाजार इस मूल्य को समझता है और लोक संस्कृति

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

को भी मोल–तोल की वस्तु बना देता है, वह लोक संस्कृति की स्थानीयता और आंचलिकता में निहित शक्ति को जानता है और उसे 'एथनिक' गुण की तरह इस्तेमाल करता है। उसे अपने मूल संदर्भ से हटाकर सजावट की वस्तु बना देता है। (तिवारी अजय : मड़ई 02 : बाजार और लोक संस्कृति, पृ. 6–7)

इसी विकट–त्रासद अन्त:सम्बन्ध को विश्लेषित करते हुए गिरीश मिश्र निम्न उद्धरणों से समस्या के विकराल विकृत स्वरुप को हमारे समक्ष रखते हैं, अमरीका से प्रकाशित होने वाली पत्रिका, 'टेक्नोलॉजी रिव्यू (जुलाई–अगस्त 2001)' में 'हेनरी जेकिंस' का एक लेख 'डिजिटल रेनासां कल्चर गोज ग्लोबल' छपा है। जिसमें दिखलाया गया कि किस प्रकार लोक संस्कृति भूमंडलीकरण की प्रक्रिया से प्रभावित हो रही है। ओसनिया ग्रुप ने मॉवरी आदिवासी संगीत को वर्तमान ब्रिटिश टेक्नो–बीट के साथ जोड़ा है। इसी प्रकार भारतीय शास्त्रीय संगीत को केल्टिक संगीत के साथ जोड़कर नया स्वरुप दिया गया है। आपाचे इंडियन ने रेग्गे, हिप–हॉप और भांगड़ा का मिश्रण तैयार किया है। 'जार्ज लिपस्ट्रिज' ने अपनी पुस्तक 'डैंजर्स क्रास–रोड्स : पॉपुलर म्यूजिक, पोस्ट–माडर्निज्म एंड दी पॉलिटिक्स ऑफ प्लेस' (लंदन, वर्सो 1997) में विस्तार से लोक संगीत और लोक संस्कृति के ऊपर भूमंडलीकरण के असर का विश्लेषण किया है –

'...जेरमी रिफ्किन ने दो बड़ी कंपनियों अमरीका ऑन लाइन और टाइम वार्नर के विलय के बाद एक लेख लिखा था ('दी न्यू कैपिटलिज्म इज अबाउट टर्निंग कल्चर इंटु कॉमर्स' इंटरनेशनल हेराल्ड ट्रिब्यून, 17 जनवरी 2000) जिसमें उन्होंने रेखांकित किया था कि पूँजीवाद के वर्तमान भूमंडलीकरण के दौर में प्रवेश करते ही मानव संस्कृति का माल में रुपांतरण होने लगा है। दूसरे शब्दों में संस्कृति को खरीद–बिक्री की चीज बनाया जा रहा है। बहुराष्ट्रीय मीडिया कंपनियाँ जिनके संचार नेटवर्क सारी दुनिया में फैले हैं, विश्व के हर भाग से स्थानीय सांस्कृतिक संसाधनों को जुटा कर सांस्कृतिक मालों तथा मनोरंजन के साधनों के रुप सजा–सँवार कर बाजार में बिक्री के लिए रख रहे हैं। विश्व की जनसंख्या का ऊपरी 20 प्रतिशत सांस्कृतिक मालों पर उतना ही खर्च कर रहा है जितना विनिर्मित वस्तुओं और बुनियादी सेवाओं पर। कहना न होगा कि सांस्कृतिक मालों का बाजार बड़ा ही नहीं बल्कि निरंतर विस्तारशील और मुनाफादायक है। संचार के साधनों और फिल्मों, टी. वी. चैनलों, इंटरनेट आदि पर नियंत्रण कर अमरीका ऑन लाइन–टाइम वार्नर जैसी कम्पनियाँ संस्कृति (जिसमें लोक संस्कृति प्रमुख है) को मनचाही दिशा दे रही हैं।

...अन्त में रिफ्किन ने चेतावनी दी है कि मानवीय अनुभव के हजारों सालों की समृद्ध सांस्कृतिक विविधता से संबंध टूटने का नतीजा वैसा ही विध्वंसात्मक होगा जितना जैविक विविधता के पूर्णतया समाप्त होने पर।' (मिश्र गिरीश : मड़ई 01 : भूमंडलीकरण के युग, पृ. 3–4)

इस आलेख का अन्त पी.सी जोशी के इस कथन के साथ कि, 'आज के इस विकृत सांस्कृतिक परिदृश्य की तुलना में लोक संस्कृति की स्वस्थ परंपराओं की याद दिलाना कतई पुराने को रोमांटिसाइज करना नहीं है।' (अवधारणाओं का संकट, पृ. 51)

❑❑❑

डी/8, ATI,
मेयर्स रोड,
रांची –834003
मोबा. 09431391171

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

संदर्भ

1. डॉ. मुण्डा, रामदयाल : आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल : प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली ।
2. निरगुणे, वसन्त : लोक संस्कृति : मध्य प्रदेश/हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल।
3. विद्याभूषण : विकासी झंझावात में फँसी संस्कृतियों का दौर : मड़ई 2001 : रावतनाच महोत्सव समिति बिलासपुर (छ. ग.) का प्रकाशन।
4. डॉ. दुबे श्यामसुन्दर : लोक की सौंदर्यशास्त्रीय भूमिका : तदैव।
5. मिश्र, गिरीश : भूमंडलीकरण के युग में लोक संस्कृति : तदैव।
6. तिवारी, अजय : बाजार और लोक संस्कृति : अव्यवस्थित टिप्पणियाँ : मड़ई-2002 : रावत नाच महोत्सव समिति बिलासपुर (छ. ग.) का प्रकाशन।
7. गाताड़े, सुभाष, लोक संस्कृति का 'नोस्टेल्जिया' : तदैव।
8. कुण्डु, मानसेन्दु : आदिवासी संस्कृति के संकट : लोक संपादक : पीयूष दईया : भारतीय लोक कला मंडल, उदयपुर (राजस्थान)।
9. भादू, राजाराम : आदिवासी संस्कृति का सवाल : तदैव।
10. बद्रीनारायण : पूरबी बनिज लोक संस्कृति एवं विकास का सन्दर्भ : तदैव।

यह समय वित्तीय पूंजी (वाद) और बाज़ार (वाद) की 'शक्ति/ज्ञान की जाली या 'ग्रिड' का है। इस समय में उत्पादन-सम्बंधों की हर ज्ञान मीमांसा भंग हो गयी है। सिर्फ़ शक्ति-सम्बंध ही शेष रह गया है। यह अति यथार्थ और आभासी-यथार्थ (हाइपर-रियल और वरचुअल-रियल) की तकनीकी सोच का गठन करने वाले ज्ञान-समाज का समय है।

इस तरह **यह 'लोक समाज' और 'ज्ञान समाज' की शत्रुता का समय है।** अब इन दोनों समाजों के आपसी रिश्तों में कोई द्वंद्वात्मकता शेष नहीं रह गयी है। दोनों में जो एक साकल्यवादी (हालिस्टिक) भाष्यविषयकता को बीच में लाया जा रहा है, उससे तो केवल संरचनावादी नृविज्ञान (लेवीस्ट्रास) की कोटियों में पहुँच पाना ही संभव हो सकता है। स्पष्ट है कि इस तरह की भाष्यविषयकता में इतिहास विखंडित हो जाता है। इतिहास के ऐसे विखंडन को खुलापन कहा जाता है। इतना ही नहीं, बल्कि इसे भाषा में मुक्ति के एक फ़लसफे की तरह भी देखा जाता है।

-साभार : राजेश्वर सक्सेना,
उत्तर आधुनिकता और द्वन्द्ववाद की भूमिका से (पृ.:2)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मुंडा गीतों में बाँसुरी की धुन

विजय शर्मा

छोटा नागपुर पठार एवं संथाल परगना के जंगलों का अधिकांश हिस्सा जिसमें आदिवासी निवास करते हैं और जो पहले बिहार का अंग हुआ करता था 15 नवंबर 2000 को झारखंड राज्य के निर्माण के पश्चात् एक अलग राज्य का दर्जा पा गया है। झारखंड में कई आदिवासी जातियाँ एवं जन जातियाँ निवास करती हैं। संथाल, उराँव, हो तथा मुंडा उनमें प्रमुख हैं। मुंडा जनजाति का मूल निवास राँची के आसपास का क्षेत्र है। नृशास्त्रियों के अनुसार मुंडा जनजाति प्रोटो ऑस्ट्रेलाइड परिवार की भारतीय शाखा है। भारत की आदिवासी जनजातियों में उनकी जनसंख्या सर्वाधिक है। भाषा की दृष्टि से मुंडा भाषाएँ ऑस्ट्रिक परिवार की भाषाएँ हैं। श्री जगदीश त्रिगुणायत के अनुसार 'मुंडा के लिए यह गौरव की बात है कि ऑस्ट्रिया परिवार की जो भाषाएँ भारत की विभिन्न जातियों के द्वारा बोली जाती है वे सब मुंडा भाषाएँ कहलाती हैं। 'मुंडा' का शाब्दिक अर्थ होता है मुंड या सिर अथवा प्रमुख। पहले गाँव के मुखिया को मुंडा कहा जाता था। बाद में यह जाति विशेष के लिए रुढ़ हो गया।

मुंडा यहाँ की एक प्रमुख जनजाति है, वैसे तो ये पश्चिमी बंगाल, छत्तीसगढ़, ओड़िसा, बिहार में भी पाए जाते हैं परंतु तीन चौथाई मुंडा राँची जिले में निवास करते हैं। बाकी पूर्वी तथा पश्चिमी सिंहभूम जिलों में फैले हुए हैं। पहले ये जंगलों पर पूर्णतया निर्भर रहते थे। शिकार और जंगल से प्राप्त फल–फूल, वनस्पति इनकी आजीविका का साधन होता था। बाद में ज्यादातर खेती करने लगे परंतु आजकल खानों एवं कारखानों में काम करते हैं, आज भी मुंडा की ज्यादा आबादी राँची और खूँटी में निवास करती है।

इनकी भाषा मुंडारी कहलाती है जो एस्ट्रो एशियाटिक भाषा परिवार के अंतरगत आती है। टोपनो, बारला, ऐन्ड, हेम्ब्रम, गुरिया, हेरेंगे, सुरीन, होरो, संगा, समद इनके कुलनाम होते हैं। ये मूल रुप से प्रकृति के उपासक हैं, एकेश्वरवादी होते हैं और 'सरना' धर्म का पालन करते हैं, ये 'सिंग बोंगा' सूर्य देवता तथा 'ओरा–बोंगाको' की पूजा करते हैं ओरा बोंगाको इनके पूर्वजों की आत्माएँ है जो गृहदेवता होते हैं। इनका विश्वास है कि सिंगबोंगा उन्हें बाहरी दुश्मनों और जीवन की मुसीबतों से बचाता है। वैसे तो इनके यहाँ कोई लिखित कानून नहीं है, सही गलत का निर्धारण परम्परा और संस्कृति के आधार पर होता है। परंतु ये विश्वास करते हैं कि सिगबोंगा समाज के नियम तोड़ने वालों को सजा देता है। कुछ मुंडा शिव की उपासना भी करते हैं। लेकिन आज ज्यादातर मुंडा ईसाई धर्म स्वीकार कर चुके हैं।

आज इनका पहनावा आमजन की भांति ही है पुरुष पैंट शर्ट और स्त्रियाँ साड़ी ब्लाउज पहनती हैं। माँसाहारी मुंडा खूब ताड़ी और हड़िया पीता है। प्रकृति से जुड़े होने के फलस्वरुप नाच गान इनके जीवन का अभिन्न अंग है। माघे, फागू, करमा, सरहुल, सोहराई इनके प्रमुख त्यौहार हैं।

जयपाल सिंह तथा बिरसा मुंडा को ये लोग अपना आदर्श मानते हैं इनका नाम गर्व के साथ लेते हैं। जयपाल सिंह ने 1938 में आदिवासी महासभा की स्थापना की और वे स्वयं इस सभा के अध्यक्ष थे, स्वतंत्रता के पश्चात इस दल का नाम झारखंड पार्टी हो गया जिसमें आदिवासियां के साथ साथ दूसरे लोगों की भागीदारी होने लगी। इन्होंने ही सर्वप्रथम अलग झारखंड राज्य की माँग उठाई। जयपाल सिंह अपनी खेल की कुशलता और राजनीति दोनों के लिए याद किए जाते हैं। वे 1928 में एमस्टारडम में होने वाले समर ओलम्पिक में भारतीय हॉकी टीम के कप्तान थे और उस वर्ष इस टीम ने स्वर्ण पदक जीता। जयपाल सिंह से ज्यादा मान सम्मान बिरसा मुंडा को प्राप्त है उन्हें भगवान का दर्जा दिया जाता है। बिरसा मुंडा ने स्वतंत्रता आन्दोलन में भाग लिया और बीस बरस की उम्र में अंग्रेजों से लोहा लिया उनके विरुद्ध विद्रोह किया। परेशान होकर अंग्रेजों ने उन्हें पकड़कर कैद कर लिया और 1900 में राँची जेल में ही संदिग्धावस्था में उनकी मृत्यु हुई। बाद में भारत सरकार ने भी उन्हें सम्मानित किया। झारखंड में जगह–जगह पर बिरसा मुंडा

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

की मूर्ति स्थापित है और जयपाल सिंह के नाम पर स्टेडियम है।

नृत्य और गीत इनके जीवन का अभिन्न अंग है। मुंडा समूह में नृत्य करते हैं पांव में घुँघरु बाँध कर नृत्य करने के कारण ये अपने नृत्य को नुपुर नृत्य भी कहते हैं। जिस तरह कृष्ण की कल्पना बाँसुरी की धुन के बिना नहीं हो सकती है उसी तरह मुंडा और उसके गीतों को अलग करके देखना, सुनना, जानना और समझना कठिन है। झारखंड की धरती के नीचे जितनी विपुल सम्पदा है, उतनी ही समृद्धि उसके ऊपर भी है। छोटे-बड़े पहाड़, पठार, कलकल बहती नदियाँ, झर-झर गिरते झरने, हरे भरे वन प्रांतर, रहस्यमयी गुफाएँ, उल्लसित हवाएँ, चहचहाते पक्षी झारखंड की प्रकृति को रंगीन छटा प्रदान करते हैं। इसके साथ ही इसके पास अकूत साहित्यिक और सांस्कृतिक सम्पदा। यह सम्पदा बिखरी हुई है इस प्रांत के लोक जीवन में, लोक गीतों में लोक नृत्य में और इसके लोक त्योहारों में। मुंडा जनजाति का समस्त जीवन प्रकृति से संचालित होता है। प्रकृति, पर्व-त्योहार, नृत्य-गीत को उनके जीवन से कदापि अलग नहीं किया जा सकता है।

मुंडा भाषा पर बहुत सी अन्य भाषाओं का असर पड़ा है। नृत्य गान, वाद्य बाँसुरी आदि के लिए इनकी भाषा में अपने शब्द हैं जैसे बा=फूल, सारजोम= साखू, मुरुद=पलाश, मिरु=सुग्गा, बुरु=पहाड़ आदि। इसमें अरबी फारसी, संस्कृत पाकृत के शब्द भी मिलते हैं। मुंडा मूल भाषा में विसर्ग की प्रधानता है जो अब लुप्तप्राय है। जैसे दः=पानी अब मात्र 'दा' रह गया है। 'कीतः'=कहाँ अब 'कीता' बन गया है। मुंडा भाषा और गीतों पर चैतन्य महाप्रभु के कीर्तनों का भी प्रभाव है।

यूं तो प्रत्येक जनजाति में नृत्य और गीत जीवन का पर्याय होते हैं परंतु मुंडा समुदाय में गीतों का बाहुल्य है। इनका जीवन गीतमय होता है। दुःख सुख, हँसी रुदन, प्रेम विवाह, मौसम त्योहार सब रंगों के गीत मुंडा भाषा में पाए जाते हैं। चूँकि ये लोकगीत हैं मौखिक परंपरा में पाए जाते हैं अतः अक्सर गीत की कड़ियाँ लुप्त हो जाती हैं, कुछ नई कड़ियाँ जुड़ जाती हैं तो कुछ भिन्न भिन्न रुप में मिलती है। यदि समूह में नाचते गाते गीत की कोई पंक्ति ये भूल जाते हैं तो तत्काल मंडली का को कोई न कोई सदस्य नई पंक्ति बना कर जोड़ देता है और नृत्य गान की परंपरा आगे बढ़ती रहती है। इस मायने में मुंडा आशुकवि होता है।

प्रकृति इनकी चेतना का अंग है। ये मन से सरल, भावुक और कोमल होते हैं। मुंडा गीत मौसम के अनुसार गाया जाता है, और हर मौसम के बाजों के ताल और नृत्य भी भिन्न होते हैं। 'जदुर' बसंत गीत है। माघे परब के बाद जदुर का मौसम आता है, सरहुल इसका प्रमुख त्यौहार है। जब सरहुल समाप्त होता है तो 'करमा गीतों' की शुरुआत होती है। मुंडा लोग सरहुल की अंतिम संध्या आने के पहले ही उसी दिन के धुँधले प्रभात में करमा गीत गा कर करमा के मौसम की अगुवाई करते हैं। भादो की शुक्ल पक्ष की एकादशी को करमा परब मनाया जाता है। करमा में कृष्ण संबंधी गीत गाए जाते हैं। 'जरगा गीत' कार्तिक मास से माघ मास तक चलता है। 'जापी गायन' शिकार गीत है जबकि 'जतारा' प्रत्येक आनंद और त्यौहार के अवसर पर गाए जाने वाले गीत हैं। विवाह के गीतों के रंग इन सब गीतों से अलग हैं।

भारतीय जनजीवन में कृष्ण का स्थान विशिष्ट है। उत्तर भारत से लेकर सुदूर दक्षिण, पूरब से लेकर पश्चिम तक कृष्ण भारतीय मानस में बसे हुए हैं। केरल के हिन्दू परिवार में 'नारायणीयम' का वही महत्व है जो उत्तर भारत में 'मानस' और 'गीता' का। पूरे भारत में कृष्ण लीला और उससे संबंधित नृत्य,गीत कृष्ण के मोरपंख की भाँति विभिन्न रंग और छटाओं में मिलते हैं। करमा के कृष्णगीतों में अधिकांश गीतों के रचयिता बुदु बाबू हैं, जिनका पूरा नाम बुधनाथ शिखर था जो खूँटी तमाड़ के निवासी थे। उन्होंने 'प्रीत पला' नाम से अपने कृष्ण गीतों को रचा जो आज भी प्रत्येक मुंडा की जबान पर चढ़े हैं। इन गीतों में बंगला गीतों जैसी रसमयता पाई जाती है।

भारत में जहाँ भी नदी है, कदम्ब के पेड़ हैं, वहीं कृष्ण अनायास चले आते हैं। झारखण्ड में न तो नदियों की कमी है न ही कदम्ब के पेड़ों की अतः आश्चर्य नहीं कि मुंडा गीतों में कृष्ण समाए हुए हैं। मुंडा बाला पानी भरने जाती है तो उसे कदम्ब के नीचे कृष्ण के दर्शन होते हैं। वह अपनी सखी से कहती है कि हे सखी जिस तरह नदी का पानी काला है उसी तरह कृष्ण का शरीर भी काला है। वह कदम्ब की टेढ़ी डाल की तरह दिखाई दे रहा है। यह सुन कर बरबस 'क़ैसेहूँ निकसत नाहीं टेढ़ो है जो अड़े' की याद आ जाती है। कृष्ण की यही त्रिभंगी मुद्रा मुंडा बाला के हृदय में घर कर गई है-

'दः अगुञ् सेंकेना जमुदा गड़ते
ओरे भई कोदोम् सुब ओकोए दुबकन रे....
चिल्क गड़दः हेंदे मेनः
ए न्क होड़ोगो हेंदे मेनः
ओरे भी कोदोम दरु बंगए ले लोः तर रे...'

 CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कृष्ण के बालरुप के सूरदास के चित्रण अनुपम हैं। माता यशोदा का वात्सल्य प्रेम अतुल्य है। लोकगीतों में बालकृष्ण की झाँकी अक्सर मिलती है। मुंडा के करमा गीतों में इनकी बानगी देखते बनती है। गोपाल कृष्ण गायों को चरा कर थके हारे घर आए हैं। माँ यशोदा उनका सुग्गे सा सुन्दर मुख चूम कर लोटा भरकर ताजा दूध पीने के लिए देती हैं –

'उरिः गुपिअते गोपाल
हिजुः लेनएः अकल बकल...
चोः लेम
अमः सुगड़ मिस मोय रेञ्
चोः लेमः..'

कृष्ण के डुगुर डुगुर चलने से पूरा घर सुशोभित है। पर लोक कवि को कंस का भय है, वह बालक को गाएँ चराने जाने से रोकता है।

'उरिः गुजि अलोञ् सेन
कंस राजा मेनमूः तबु
मुदई मुरकटा रे'

वृंदावन का पर्याय है रास, जिसमें सोलह सौ गोपियाँ है, मुकुट वाले कृष्ण हैं। जन जंगल में प्रभु लीला रचाते हैं तो सबको न्योता दिया जाता है। चलो, सब चलो सारी ब्रजबालाएँ, राधा सब लीला देखने चल पड़ते हैं गीतों में साँवले-सलोने, घने घुँघराले बालों वाले बाँसुरी बजाते कृष्ण की सजीव छवि झारखंड के मुंडा युवाओं में देखी जा सकती है। कान के ऊपर कोंपल जाए, लाल-पीली साड़ी पहने, खोपे में फूल खोंसे जिस युवती का वर्णन मुंडा गीतों में मिलता है वह सशरीर आज भी झारखंड में देखे जा सकती है। वह अपने प्रिय के लिए सजती है क्योंकि कदम्ब के पेड़ के नीचे बाँसुरी की टेर में उसी का नाम पुकारा जा रहा है–

'कोदोम सुबरे रुतुइः ओरोड्क्तन
दो बोदे दो
रुतु तेदो अमगेः नुतुम्तन'

नटखट लड़की गोपिकाओं के बीच कृष्ण को बुला लाती है। कृष्ण सुध-बुध खोकर नाच रहे हैं। इसी बीच उनकी बाँसुरी खो जाती है। वे बाँसुरी के लिए चिंतित हैं। बड़ा प्यारा मनभावन दृश्य है। अजब लीला है क्योंकि मालूम है कि बाँसुरी कहीं खोई नहीं है वह वहीं है –

'...नेरेगे सुफल रुतु अदकन
जोतो गोपिन कोलोःञदुबकेन...'

तिरछी नजर से जब कृष्ण देखते हैं तो मुंडा बाला निहाल हो जाती है। उसे अपार आनन्द होता है जब कृष्ण उसकी छाती पर फूल मारते हैं। इसी कृष्ण से दूर रहने की सलाह बुदू बाबू देते है क्योंकि एक बार जो इसके पास जाएगा वह उसी का होकर रह जाएगा।

कृष्ण का अर्थ ही होता है खींचने वाला, आकर्षित करने वाला। अतः बुदू बाबू के रोकने से भला कोई रुकेगा? वह सखियों के साथ तैयार होकर प्रिय मिलन के लिए फूल गूँथती है –

'अ न अुडिग को दोलबु संपोड़ेन
बा बु गलङ
गतिञतिसिङः हिजुः आ
बा बु गलङ...'

मगर जब यही कृष्ण मथुरा चले जाते है तो सारा मुंडा समुदाय, मुंडा का सारा संसार अंधकारमय हो जाता है। भ्रमरगीत में विरह वर्णन है तो करमा गीत की विरह वेदना कम नहीं है। कृष्ण के साथ उनकी खुशी भी चली गई है। वह मथुरा जाना चाहती है। ललिता और वृन्दा को भेज कर पता करना चाहती है कि प्रभु क्यों नहीं लौटे। फर मन को समझाती है कि शायद काम की अधिकता के कारण वे आ नहीं पा रहे हैं। वह विरह कातर होकर कभी अकेली नदी में डूब मरना चाहती है तो कभी कृष्ण वियोग में सारी सखियों के साथ गले में फाँसी लगा कर अपना जीवन समाप्त कर देना चाहती है।

जैसे भ्रमर गीत की गोपियाँ कृष्ण के न लौटने का सारा दोष कुब्जा को देती हैं वैसे ही करमा गीतों में शिकायत है कि कृष्ण को कुब्जा रानी ने छिपा लिया है। वे मथुरा के राजा बन गए हैं राधा कलंकिनी बन गई है और यह सत्य है कि कुब्जा ने उन्हें मोह लिया है। झारखंड की मुंडा युवतियों को कृष्ण से ईर्ष्या है। इस समय तो कुब्जा रानी ही सुंदर है और इसी बात से उनका ह्रदय चिंता से जल रहा है।

'ने धड़ि कुबुजि कुड़ि
अएःगे सुगड़ जन
हिअतिङते जी जलतिः तन'

बुदू बाबू मथुरा जाकर कृष्ण का राजपाट देख आए हैं। वे गोपियों को लेकर मथुरा जाने की योजना बनाते हैं तभी उन लोगों को कृष्ण की बांसुरी की 'तिरि तिरि तिरि' ध्वनि सुनाई पड़ती है। राधा अपनी प्यारी सखी ललिता को बताती है कि उसे सपने में प्यारे कृष्ण दिखाई दिए थे। पीले वस्त्र पहने, माला और बाँसुरी के साथ वे बाँकी अदा में खड़े थे –

'अइ बड्कएः तिड्गञकन
तीरे रुतुइः सबन

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

नलिता रे नलित्ता रे
राधा, राधा रुतुइः ओरोड्तन रे'

वे सब कृष्ण के चरणों में प्राण त्यागना चाहते हैं। हृदय चिंता से विदीर्ण हो रहा है। वे सब कृष्ण वियोग में रो रहे हैं, व्याकुल हो रहे हैं। मीरा की तरह लोकलाज छोड़ कर कवि भक्ति में लीन है। वह जाति कुल नष्ट होने पर भी कृष्ण प्रेम नहीं छोड़ना चाहता है, छोड़ नहीं सकता है। इन गीतों में विरह की असीम वेदना है। राह देखते देखते आँखें पथरा गई हैं, कोयल कूकने लगी है, पलाश के फूल फूलने लगे हैं महुए में कोपलें निकलने लगी हैं तो भी प्यारे कृष्ण लौटे नहीं हैं –

'हिजुअ चिकएः हिजुअ
हारे लेल्ते हिअतिड्ते मेददः जोरोतन'

और इस तरह माघ से माघ तक का वर्ष बीत गया। अभी तक प्रिय नहीं आए –

'पयार अगो, अगो, अगो दुति
ओकोतिअ ब्रजपति
मगे मगे ते बोछोर मुंडिजन
ओड़ोः गतिजकुएः हिजुअ'

प्रिय के बिना सुन्दर जवानी बासी होती जा रही है, तिरि तिरि की आवाज में बँसुरी बज रही है। झारखंड में कृष्ण प्रेम के गीत बनते जाते हैं। बाँसुरी राधा–राधा की टेर लगाती जाती है, मुंडा स्त्री पुरुष, युवक युवती उसी सुर से सुर मिला कर गाते जाते हैं नाचते जाते हैं और प्रकृति नई चादर ओढ़ लेती है। करमा का मौसम समाप्त हो जाता है दूसरे गानों का मौसम आ जाता है। मुंडा 'जरगा गायन' की तैयारी में लीन हो जाता है। करमा के ये कृष्णमय गीत झारखंड की धरोहर हैं आज भी नदी के किनारे चरते पशु और पेड़ के तने से टेक लगाए बाँसुरी बजाते कृष्ण को झारखंड में देखा जा सकता है। बाँसुरी की यह टेर, करमा गीत मुंडा के ही नहीं पूरे झारखंड के प्राण हैं परंतु आज इन पर आतंक की काली छाया घिरने लगी हैं बाँसुरी के स्थान पर बम और बन्दूक की आवाज सुनाई पड़ रही है।

आज ये प्रदर्शन करते हैं नारे लगाते हैं, हड़ताल और बन्द करवाते हैं। इनके अपने बीच से तमाम नेता उठ खड़े हुए हैं जिनमें से ज्यादातर चरित्र में अन्य नेताओं के समान हैं मात्र अपना स्वार्थ साधने वाले। दूसरों के कंधे पर रख कर बन्दूक चलाने वाले। मासूम और निरीह लोगों को गुमराह करने वाले।

समय रहते इस बदलाव की पृष्भूमि में होने वाली समस्याओं पर ध्यान नहीं दिया गया और समस्याओं को ठीक करने कारगर पहल नहीं की गई तो मुंडा की धरती, मुंडा और मुंडा गीत, उसके नृत्य उसकी बाँसुरी सब नष्ट हो जाएँगे। हम अपनी संस्कृति के एक बहुत बड़े हिस्से को सदा सदा के लिए खुद ही समाप्त करने के अपराधी होंगे और आने वाली पीढ़ियाँ हमारे इस अपराध के लिए कभी हमें माफ नहीं करेंगी।

आवश्यकता है समस्या की तह में जाकर पता लगाने की प्रकृति के संग चलने वाला, प्रकृति के संग तालमेल से रहने वाला मुंडा आज बागी क्यों हो गया है। वह खुद अपने ही लोगों के द्वारा ठगा तो नहीं जा रहा है बाहरी लोग उसका शोषण करते ही हैं। उन्हीं के बीच से उभरे कुछ राजनेता उन्हें दिगभ्रमित कर रहे हैं। और आज बांसुरी की जगह बन्दूक और बम सुनाई पड़ रहे हैं।

□□□

151 न्यू बाराद्वारी
जमशेदपुर–831001
फोन : 0657–2436251
मोबा. 09430381718

संदर्भ

1. बाँसुरी बज रही है – श्री जगदीश त्रिगुणायत
2. बिहार के आदिवासी – डॉ. अहमद
एवं विभिन्न पत्र पत्रिकाएँ तथा इंटरनेट

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मेरा मेवाड़–मेरा संगीत

प्रो. गोपाल भारद्वाज

1. यह उदयपुर आयोजन

'मेवाड़ महाराणा फाउन्डेशन' के सहप्रवृत्त 'महाराणा कुंभा संगीतकला ट्रस्ट' द्वारा आयोजित होने वाली 'भारतीय शास्त्रीय संगीता एवं मेवाड़' विषयक राष्ट्रीय संगोष्ठी (यह उल्लेखनीय बने इसलिए मैं इसे 'उदयपुर आयोजन' कह रहा हूँ) में सहभागिता हेतु ट्रस्ट के सचिव श्री त्रिलोक शर्मा का तुरत फुरत संभव हो ऐसा आमंत्रण मुझे मिला तो संकोच और उत्साह की मिली–जुली मेरी अनुक्रिया रही। संकोच इसलिए कि संगोष्ठी के विषय पर ही केंद्रित मेरी कोई प्रस्तुति हो ऐसी विशेषता मेरी कहां! पर जन्मना मेवाड़ी होने के कारण, लोककलाओं व लोकानुरंजन में जिज्ञासु अभिरुचि, एन्थ्रोपोलॉजी का अध्ययन–अध्यापनकर्मी होने और त्रिलोक जी के अपनत्वपूर्ण आग्रह कि उनके प्रतिष्ठान–अनुष्ठान से एक बार मैं यो जुड़कर तो देखूं.....आदि ने मुझे अभिप्रेरित किया कि यह अवसर व अनुभव मैं अवश्य आजमाऊं! यह यों संभव हुआ तो यही मेरे लिए एक विशेष स्मृति व विषयगत प्राप्ति भी सिद्ध हुआ। हर अवसर व अनुभव हमारी उपलुब्धि बन सकता है ! मेरा एक मेवाड़ी मुहावरा भी ऐसा ही कहता है–'गिरा हुआ गोबर भी धूल लेकर उठता है।

1.2 मुझे पता था कि संगोष्ठी में मुझे भी कुछ 'कहना होगा और मुझे बहुत कुछ 'सुनना' भी होगा। पर समय ही कहां था कि मैं अपने 'कहने' का 'गोष्ठीपूर्व' लेखन कर पाता। हां, मैंने अपने लिए एक रुपरेखा अवश्य बना ली थी कि उस आधार पर ही मेरी जो प्रस्तुति हुई थी उसे ही मैं, त्रिलोक जी द्वारा पहले उंगली और अब इससे आगे मेरा पहुंचा पकड़े जाने की स्थिति में, इस 'गोष्ठीपरांत' आलेख का रुप दे रहा हूं। यों भी हम काम करने–कराने के अभ्यस्त या कलावंत हो चले है: यदि कि, तब भी, काम हो पाता हो, काम का।

1.3 प्रसंग है तो कहदूं कि 'गोष्ठीपूर्व' पत्र–लेखन और गोष्ठी में 'पत्र–वाचन' मेरा स्वभाव नहीं है, जो मेरे संवादकर्मी को अटपटा ही लगता है। अच्छे मुझे नामवर सिंह, प्रभाष जोशी आदि लगते हैं जो एक छोटी रुपरेखा के सहारे भी अपनी बात बखूबी कह जाते हैं। या फिर हो सके तो, रजनीश–ओशो जैसी एक मुक्त सहज अभिव्यक्त प्रस्तुति हो....बुद्धि प्रेरक......भावरंजक।

1.4 इसलिए संभव है कि मेरा यह आलेख, पाठकों को, कथ्य व तथ्य दोनों दृष्टियों से, परिपाटी से हटकर एक प्रस्तुति या प्रयोग भी दिखे, महसूस हो।

2. आधार पाठिका

'भारतीय शास्त्रीय संगीत और मेवाड़' ....फोन पर त्रिलोक जी ने संगोष्ठी का यह विषय बताया तो मेरी प्रत्युत प्रतिक्रिया रही कि भारत की समृद्ध व वैविध्यपूर्ण शास्त्रीय संगीत की परंपरा में मेवाड़ का क्या कोई स्थान या योगदान रहा है? मेरे अपने पढ़े–सुने जाने की सीमा में ही यह प्रश्न या जिज्ञासा थी। इस प्रसंग में कुंभा व संगीत का मुझे पता नहीं था पर मीरा, डागर घराना आदि से जुड़ी वास्तविकता या संभावना की तरफ मेरा ध्यान अवश्य गया। मुझे यह भी लगा कि जो मेवाड़ सतत संघर्षरत रहा और शौर्य का अप्रतिम आदर्श व उदाहरण बना वहां क्या शास्त्रीय संगीत जैसा भी कुछ सृजित–विकसित हो सका होगा? तब भी त्रिलोक जी व मेरे बीच बात हुई कि संगोष्ठी की यह प्रयोजना संयोजनक्षम व संभावनापूर्ण है और समाजविज्ञान की शोध–पद्धति के 'एक्सप्लोरेटरी व फोरमेटिव' रुप में इसे कार्यान्वित कर इसके प्रभाव व परिणाम का आकलन अवश्य कर लिया जाना चाहिए।

2.2 ऐसी ही कुछ 'धारणाएं'' लेकर मैं संगोष्ठी हेतु उदयपुर पहुंचा था। पर वहां मात्र एक दिन में हुई प्रस्तुतियों से मैं जो जान सका–मान सका उससे मेरी उक्त धारणा तत्काल बदली और मैं यह स्पष्ट 'निर्धारणा' लेकर जोधपुर लौटा कि 'भारतीय शास्त्रीय संगीत एवं मेवाड़' विषयक भी इतनी सामग्री, इतनी संपदा है कि इसे यथार्थ में जीने–संजीवित रखने और इनके ऐकेडमिक अध्ययन संयोजित–निष्पादित करने की कितनी अधिक संभावना व आवश्यकता है! इससे मेरी एक धारणा बनी या पुष्ट हुई कि सच्चे शौर्य का ही संगीत जैसी शास्त्रीयता से भी परस्पर संप्रेरक–संजीवक तालमेल बैठ सकता है। भारत तो

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

'शस्त्र' व 'शास्त्र' के बीच भी ऐसी ही संगति निभाता-जीता रहा है......**'शस्त्रं शास्त्रे च कौशलम्'**! यह मैं इस संगोष्ठी के संकेन्द्रक कुंभा के बारे में रुपायित कर पा रहा हूँ, जब मैंने जाना कि संगीत भी कुंभा का कैसा अनुष्ठान व अवदान बन सका था....शौर्य उनका 'प्रण' और संगीत उनका 'प्राण'! कुंभलगढ़ के कुंभा शिव मंदिर में शिवभक्त कुंभा कैसे विशालकाय शिवलिंग का आसनस्थ हो उर्ध्वबाहुओं से मस्तकाभिषेक करते थे यह मैंने वहीं देख-जानकर ही अब स्वयं को ऐसे भावलोक में पाया है। धारणा जब यों तथ्य या सत्य बनती है तो हमारी कितनी मूल्यवान सर्जना-अर्जना भी बन जाती है!

2.3 मेरी अपेक्षा थी कि यह उदयपुर संगोष्ठी वैसी ही होकर न रह जाए जैसी आजकल उच्चशिक्षा व शोधकर्मियों की सेमिनारें आदि होने लगी हैं....केरियरी छूत से अभिशप्त, निरर्थक-निष्प्रयोजन, रुखी-सूखी प्राण व संवेदना विहीन, 'अहो रुपम अहो स्वरः' या 'तू-तू-मैं-मैं, में अधिकांशतः सिमटी-उलझी, आदि। आचार्य महाप्रज्ञ इन पर भी कटाक्ष कर कहते हैं कि इनमें से 'पहाड़ खुद जाए पर चूहिया भी नहीं निकलती'। यथा आवश्कता, इनमें कौन वाल्मीकि के कथन जैसी भूमिका भी निभा पाता हो-**' अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः'**.....अप्रिय पर हितकर कहने व सुनने वाले होते कहां? जब किसान 'खरपतवार' व 'फसल' के बीच अंतर करता है तो ऐसा विद्वान क्यों नहीं करते.....'खरपतवार' को उखाड़-काट मिटाएं ताकि अच्छी व भरपूर 'फसल' पाएं! हां, मैं उदयपुर से अपने लिए 'फसल' भी अवश्य संग लेकर लौटा हूँ!

2.4 संगोष्ठी में मेरे लिए जब अवसर बना और मैंने अपनी बात कही तो भूमिका रुप मैंने यह भी कहा....मैं संगीतज्ञों व संगीतकारों जैसे अपनी बात नहीं कहूंगा, जो कि मेरा व्यक्ति या विषय नहीं रहा है, पर मेरे अपने विषय नृतत्वशास्त्र की दृष्टि से अपनी बात कहने की कोशिश अवश्य करुंगा, कि अपनी बात को संगोष्ठी के अनुकूल व प्रासंगिक भी बना सकूं। जिन प्रस्तोताओं के लिए संभव रहा उन्होंने अपनी प्रस्तुति को 'कुंभा'.....'शास्त्रीय संगीत'.....'डागर घराना'....'ध्रुपद'....'मेवाड़'...'मीरा' आदि पर संकेंद्रित रखा....MICRO रुप में.... अर्जुन को जैसे चिड़िया की आंख ही देखनी थी। पर मैं तो चिड़िया की आंख, पूरी चिड़िया, पेड़ की डाल, पूरा पेड़, परिवेश आदि सभी को 'नजरभर' ही देख लेना चाहूंगा.....MACRO रुप में। यह नृतत्वशास्त्र की समग्रात्मक (HOLISTIC) विधि भी है, जो संगोष्ठी के प्रसंग में भी प्रयोगनीय-प्रयोजनीय मानी व महसूस की जा सकती है। 'लीक पर चलने' या 'परिपाटी' को निभाने से कुछ हट जाने जैसा भी मेरी प्रस्तुति में लगे तो मेरे ऐसे स्वभाव को वरणीय नहीं तो विचारणीय ही मानें......जैसे कि अंदाजे बयां यों भी है -

उनको करने दो मुर्दा रस्मों की बर्बादी का गम
हमें नयी जमी, नया आसमां बनाना है

3. संगीत व समाज : प्रकृति एवं संस्कृत

संगीत शाश्वत है, संगीत सनातन है, संगीत तन-मन-आत्मन का श्रृंगार व संवेदन है, संगीत स्वतः स्फूर्त व विविधेन अभिमूर्त है। कौन व्यक्ति होगा जो संगीत विहीन हो? कौन लोक समूह व समाज होगा जिसकी अपनी संगीत सर्जना व संपदा न हो? तब क्यों न मेवाड़ के प्रसंग में भी संगीत को देखा, समझा व सिद्ध किया जाए....मेवाड़ का प्रसंग, IN SPACE AND TIME कालगत और स्थानगत!

3.2 'स्पंदन'...'धुन'.....'स्वर....'ध्वनियां' आदि रुप संगीत स्वतः-सहजतः प्रकृति में निहित व परिव्याप्त है। क्या यों संगीत जड़-चेतन सभी द्वारा गाया, सभी में समाया होता है? मनुष्य में तो इसकी, प्रकृति प्रदत्त, विशेष व्युत्पन्न संप्रतिष्ठा होती है, क्योंकि मनुष्य को प्राण-वाक्-मन के स्वभावगत सुयोग सुलभ हैं ! तभी मनुष्य में संगीत अपनी सभी से भिन्न व विशेष महिमा पा सका है, अनंत वैविध्य में, पूर्णतापेक्षी दिव्यता व भव्यता, मानों, अनंत ब्रह्मस्वरुपा ! यों प्रकृति व प्रकृति-प्रेरित संगीत ही व्यक्ति व समाज की संस्कृति बनता है...अपनी सर्जना में, अपनी संस्कारणा में !

3.3 प्रकृति में संगीत! वेद-वेदांत ने तो आकाश या नभ को ही 'स्वरमय' माना है। ब्रह्मांड में सौर पिण्डों के परिभ्रमण से ही 'ब्रह्मनाद' निसृत होता है। पृथ्वी के भ्रमरी गुंजार की ध्वनि में ही ऋषि चेतना ने 'ओम्' का उच्चार पाया है। क्या हम सुन पाते हैं बहती नदी का संगीत, सागर की लहरों का संगीत, हवा के विभिन्न वेगों का संगीत, पेड़ों पर पत्तियों के हिलडुल की और डाल पर सूखे फलों या फलियों के अंदर बीजों की झन-झन, खन-खन का संगीत, बादलों के गर्जन-तर्जन और वर्षा के रिमझिम फुहार से मूसलाधार का वाद्यन-नर्तन संगान, आदि? महादेवी की 'नीर भरी दुख की बदली' तो कहती भी है.....**'मेरा पग-पग संगीत भरा!'** पशु-पक्षी जगत के भी अपने राग व स्वर हैं। सुनता हूँ मैं विभिन्न प्रकार के पक्षियों के अपने-अपने एकल या समूह गान ! चिड़ियों में किसी एक द्वारा 'प्रारंभ'(POSE) किया जाता है। और

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

फिर अनेक का 'सहगान' (RESPONSE) अद्भुत कलरव बन उठता है! तीतरों की सामूहिक टैर मुझे जैसे 'कपिलदेव-कपिलदेव' संगान करती लगती है! यों किन-किन के संगीत का किया जाए बखान! सुनते थे ऐसे संगीत को रवीन्द्र नाथ टैगोर, रमण महर्षि, खलील जिब्रान, जयशंकर प्रसाद, रजनीश ओशो, आदि..............और, ताज्जुब न करें, प्रायः महात्मा गांधी भी सुनते थे ऐसा संगीत ! यों संगीत सर्वत्रक है।

3.4 संगीत जब सर्वकालिक व सर्वस्थानीय भी है तो कुछ आधारों-प्रकारों के अनुसार इसके मौखिक व वाद्यीय, एकल व सामूहिक, लोकसंगीत व शास्त्रीय संगीत, आदिम से आधुनिक सभी समाजों में प्रचलित संगीत आदि के प्रमुख या प्राथमिक वर्गीकरण किये जाते रहे हैं। इन सभी के अंतर्गत वैविध्य व विस्तार का तो कहना ही क्या।

3.5 संगीत की संगति वाद्य और नृत्य के साथ भी सहज ही संभवित-संभावित होती है। तभी यह प्रसिद्ध सूक्ति भी बनी-**'गीतं, वाद्यं च नृत्यं संगीत उच्यते।'** ये गीत, वाद्य और नृत्य कहीं केवल एक-एक हैं, कहीं कोई दो मिल कर एक, और कहीं तीनों मिलकर एक।

3.6 काश, कोई आदिम समाजों में संगीत के प्रचलन को देखे और इसे गहराई से महसूस करे। वहां, जैसे समग्र लोक.....बालक से लेकर बुजुर्ग, नारी हो या नर, सभी गाते-बजाते-नाचते हैं। तभी तो इनके अध्ययन के प्रति तत्पर मेरे विषय एन्थ्रोपोलॉजी में यह सूक्ति भी रची जा सकी **One who sings never suffers and one who dances never dies....जो गायो वह दुखी न होता, जो नाचे वह न मरता।** वस्तुतः इन आदिमों के अभाव तो हम आधुनिकों की तुलना में है, अन्यथा वे स्वयं तो अधिकतम मस्त व आश्वस्त जीवन जीते रहे हैं। ये आदिम भले-भोले और हम आधुनिक भोगक-शोषक! कौन, कितने प्रकृतिमय व संगीतमय?

3.7 संगीत का भी उद्‌विकास क्रम है, लोकसंगीत से शास्त्रीय संगीत का क्रमावस्थित। 'लोक' से 'शास्त्रीयीकरण' की भी प्रक्रिया व कसौटियां होती है, जिन्हें, Little Tradition से Great Tradition बनने की अपनी व्याख्या में रेडफिल्ड ने जो कुछ बताया है उस आधार पर भी निरुपित किया जा सकता है। वाल्मीकि या वेदव्यास जैसी प्रतिभा ही तो एक वास्तविकता या कथा परंपरा को रामायण या महाभारत बना सकते हैं। कई बार 'लोक' को 'शास्त्रीय' बनाने वाले रचनाकार अनाम, अज्ञात ही रह जाते हैं। क्या, यों, भारत का प्रसिद्ध वैदिक शास्त्रीय 'सामगान' अपने मूल रुप में भारत के आदिवासियों का लोकगीत रुपी 'अरण्यगान' ही था? एक अन्य तरह से भी इस प्रक्रिया को समझे तो, बोलते हम सभी हैं, भले ही कोई निरक्षर हो या साक्षर, पर अपने बोले को व्याकरण के अनुसार कौन, कितना जान व बता पाते हैं? क्या ऐसा ही संगीत के लोक प्रचलन व शास्त्रीयीकरण के बीच अंतर होता है? क्या ऐसे ही आदिम गान से सामगान भी बने, अपने लय-ताल-छंद आदि में, अपने 'पंच प्रभाग' में -हिंकार, प्रस्ताव, उद्‌गीथ, प्रतिहार, निधन से जो बनती सामगान की पूर्णता व शास्त्रीयता ! दूरदर्शन पर प्रस्तुत आदिवासी लोक संगीत में से किसी में मुझे सामगान की ध्वनित झलक भी दिखाई देती है। गीता में सामवेद को विभूति रुप सर्वोत्तम वेद बताया गया है। जयशंकर प्रसाद ने भी भारतीय सभ्यता के शुभारंभ को सामगान के साथ जोड़कर भी काव्यायित किया है -

विमल वाणी ने वीणा ली, कमल-कोमल कर में सप्रीत

सप्त स्वर सप्त सिंधु में उठे, छिड़ा जब मधुर साम संगीत

यों भारत का आदि व उद्भव 'ज्ञानं विज्ञान सहितं' के साथ संगीत की सर्जना की दृष्टि से भी कितना सम्पन्न था! अतः शास्त्रीय संगीत को, अपने मूल या बीज रुप में, लोक संगीत के साथ जोड़कर देखने से भी भारत के कैसे पुरातन व सनातन का संबोध हमें होता है। काश, हमारे विषयबद्ध अध्ययनकर्ता विषयेतर विविध स्त्रोतों से सामग्री सहेज सकें और अपने लिखे-बोले को **कामवर-नामवर** बना सकें।

3.8 अंग्रेजी साहित्य की एक प्रसिद्ध काव्योक्ति है- Heard melodies are sweet, unheard are sweeter. इसी तरह संगीत भी जिन्हें प्रकृत प्रसाद के रुप में सुलभ होता है और जिन्होंने भी गाया-बजाया-नाचा है उनके बारे में भी कहा जा सकता है - Known one is great, but Greater one might still have remained unknown, शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में प्रायः- सभी नामवर हो जाते हैं, पर लोक संगीत व आदिम संगीत के क्षेत्र में न जाने कौन, कितने अनाम ही रहे होंगे? काश, ऐसी भी हमारी खोज व पहुंच हो सके! क्या इसी तरह एक और यथार्थ है कि शास्त्रीय संगीत एलिटिस्ट है और इसको आश्रय चाहिए, पर लोक व आदिम संगीत सचमुच कितना लोकव्याप्त, स्वायत्त व स्वतंत्र रहा है? क्या शास्त्रीय संगीत को भी ऐसी ही स्थिति व गति मिल सकती है?

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

4. मेवाड़ और संगीत : लोक संगीत व शास्त्रीय संगीत

जब सच्चाई यह है कि प्रत्येक व्यक्ति, समूह व समाज का संगीत होता है तो ऐसा ही सत्य मेवाड़ का भी है। मेवाड़ एक समाजिक-सांस्कृतिक इकाई है, जिसका अपना स्थान (भूगोल) व काल (इतिहास) रहा है, और इन्हीं से मेवाड़ की एक विशेष पहचान भी है। 'मगरों का मेवाड़' अर्थात अरावली पर्वतमालाओं के भूक्षेत्र में प्रधानतः बसा मेवाड़। पहाड़ व वन हैं तो पानी भी पर्याप्त सुलभ था मेवाड़ को, और पंजाब जैसी इसकी भी पांच नदियों को हम स्कूल में जानते ही नहीं, गाते भी थे। माही व जाखम को जोड़ें, तो सप्तनद मेवाड़! मेवाड़ के इतिहास जैसा शौर्य, संघर्ष, बलिदान व स्वाभिमान भी भला किसका रहा, भारत में? स्वदेशी, सादगी, सहजता, सरलता, प्रामाणिकता, पारदर्शिता आदि भी मेवाड़ी लोकजीवन के पारंपरिक गुण-लक्षण रहे हैं। धार्मिक प्रतिष्ठाओं एवं पर्वों-त्यौहारों का वैविध्य व पारस्परिक सद्भाव तथा विविध कला विधाओं से, विविध अवसरों पर उत्सवजीविता व लोकानुरंजन से परिपूर्ण भी मेवाड़ का स्वयं-सा विशेष जनजीवन रहा है। हम पहचान करें तो स्पष्ट होगा कि इन सभी पक्षों में संगीत समाया रहता है, इन सभी की संगीतमयता होती है......जो है मेवाड़ की भी, अपनी-सी!

4.2 प्रत्येक व्यक्ति, स्वयं को विषय मानकर, अपने जीवन से जुड़े और जीवन अनुभवों में आए संगीत की अनुभूति कर सके और इसे अभिव्यक्ति दे तो, ओहो-कितना आल्हादित हो जाएगा कि उसके जीवन में संगीत भी कितना रसा-बसा रहा है! कैसे यों समाज व संस्कृति से सापेक्ष संगीत भी हममें समाया रहता है और इसके 'लोक' 'शास्त्रीय' 'सुगम' 'सामयिक' आदि स्वरुप भी अलग-अलग दायरों वाले होकर भी मानों एक-दूसरे से सहसूत्रित भी होते हैं। मैं अपने मेवाड़ीपन के संगीत को भी ऐसे ही कुछ स्वयं में देखूं तो.....मेरे तो जन्म का स्वागत ही संगीत से हुआ होगा, जच्चा-बच्चा पर स्वजनों व समुदाय की महिलाओं द्वारा मेरे ही घर-आंगन में गाये गए गीतों द्वारा....पालने में मुझे-सुलाते मेरे लिए लोरी गीत गाये गए होंगे.....प्रातः मां घटी पीसते-पीसते मद्धम-मधुर गीत गाती तो घट्टी व मां के सहगान से मेरी उनींदी नींद जाग उठती.....गली-मोहल्ले या बस्ती को बड़े सवेरे जगाने हेतु गाते-बजाते फेरी लगाने वाले कस्बे के नाथ/जोगी/गुसाई का संगान भी मेरे कान ग्रहण करते...प्रातः भिक्षा के लिए निकलने वाले साधु, वैरागी औलक आदि में से कोई निर्गुणी या सगुणी गाकर भी हमारे घरों-गलियां से निकलते.....प्रातः भोजन बन चुका हो तभी 'राम रोटी' के लिए आने वाला कोई पति-पत्नी, माता/पिता-पुत्री जोड़ा भी हमारे घर-आंगन में आकर पहले अपना कोई साज बजाकर और आस्थागीत सुनाकर ही हमसे भोजन प्राप्त करता......विविध संस्कारों व लोकाचारों के अनेक अवसरों पर परिवारों में प्रासंगिक गीत आदि गाये जाते...रतजगे के गीत रात भर गाये जाते... जंवाई आते, मेहमान आते तब भी गीत गाये जाते, बधावणें गाये जाते, गालियां गायी जातीं, पारसियां (पहेलियां) गाई जाती....देवताओं के आव्हान गीत गाये जाते, गुरु-सतगुरु के आगमन पर गीत गाये जाते.......व्रतों-कथाओं के गीत व भजन-कीर्तन होते......महिलाओं के नवरात्रि स्नान, कार्तिक स्नान आदि के भी विशेष पर्वगान होते....किसी निकटवर्ती धर्मस्थल या तीर्थ, कहीं कथा या सत्संग में जाने, कहीं किसी प्रसिद्ध संत के आगमन पर दर्शनार्थ जाने आदि से जुड़कर भी लोगों की मंडलिया फेरियां आदि बन जातीं और ये जब गाते-बजाते कोसों दूर की ऐसी यात्राएं करते तो जहां से गुजरते वहां-वहां लोकावरण को संगीतमय बनाते चलते....ऐसे अनेक व विविध संगीत प्रसंगों में महिलाएं तो मुख्यतः गातीं हीं, पुरुष भी गाते और यथा प्रचलन, जजमानी या अन्य उपलब्ध गायन-वादन की पूर्ति की सेवाएं देने वाले परिवारों, समूहों, जातियों विशेष कलाजीवियों आदि की सेवाएं भी अवश्य ली जातीं। कितने अनगिन होते ऐसे अवसर, कितनी होती इनकी भरमार कि इन पर एक लोक कथन भी बन गया.....'सातवार नौ त्यौहार'। कितने विविध रसों-रंगतों की होती है इनकी संगीतमय संयोजनाएं-सर्जनाएं कि इनके समग्र को विश्लेषित करें तो कितना मिलेगा हमें, एकेडेमिकली भी!

4.3 मेरे कस्बे बड़ीसादड़ी और क्षेत्र के अन्य कस्बों या बड़े गावों में संगीत के गायन-वादन-नर्तन आदि हमें वर्ष भर और कुछ विशेष व निश्चित दिनों-अवधियों पर कई रुपों में सुलभ होते। रामलीलाओं और पौराणिक व लोकनायकों पर लोकनाट्यों की स्थानीय व बाहरी मंडलियाँ जहां-तहां अपने कार्यक्रम करतीं। स्थानीय आदिवासियों व ग्रामीण समुदाय वालों के राई, भोई, गैर आदि भी गाये-बजाए-नाचे जाते। गरबा, गणगौर, फागण, सावण, फाग, रंग, तीज, सुहाग आदि का हमारा पूरा संवत्सर ही बड़ा संगीतमय होता।

4.4 मेरे ननिहाल नगर प्रतापगढ़ और मेरे कस्बे के मंदिर आदि भी संगीत के विशेष केन्द्र होते, थे...मंदिर भले ही राज परिवार के हों, जातीय हों, पंथीय हो, आदि। यहाँ भजन-कीर्तन होते यहां आरतियां होतीं, यहां रामानुजी अल्वार गाये जाते, यहां निम्बार्क आदि की राग-रागनियां

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

गाई-बजाई जातीं, नाथों की निर्गुणी व कबीरपंथियों की कबीरी गाई-बजाई जाती, मीरा गाई जाती, ब्रह्मानंद भजनावलियां गाई जाती, मानस व सुंदरकांड की संगीतमय प्रस्तुतियां होतीं....यों कितना-कितना संगीत ! मेरे कस्बे के एक मंदिर के पुजारी नारुदासजी का सारंगी बजाना और पक्का गाना (शास्त्रीय का स्थानीय नामकरण) मेवाड़ के अन्य मंदिरों-तीर्थों तक पहुंचा हुआ प्रतिष्ठित था। आज होते तो नाम पाते। गायक जातियों में भी कई ऐसे उच्चस्तरीय कलावंत होते, विशेषत: महिलाएं भी। क्या उनके कंठ व क्या इन कंठों की स्वर-माधुरी! क्या यह केवल लोक संगीत ही था या इनमें से किसे शास्त्रीय संगीत होने की पहचान भी मिलती? क्या ये कभी परस्पर 'ओवरलेप' भी होते?

4.5 विशुद्ध शास्त्रीय संगीत से भी मेरा इसी क्रम में परिचय हुआ! मैं अपने कस्बे के हाईस्कूल का छात्र था। उदयपुर के हेमशंकर जी नागर हमारे प्रधानाध्यापक थे। उदयपुर में डागर घराने के तत्कालीन डागर प्रमुख उनके अभिन्न मित्र थे। बस, एक बार ये 'नागर' 'डागर' को हमारे स्कूल में ले आए (1954-55) और उनके शास्त्रीय संगीत की प्रस्तुति स्कूल में हुई। तब मैं क्या पहचानता इन डागर को, पर भविष्य में जब इनकी प्रसिद्धि से अवगत हुआ तो पूर्व में उनसे हुए इस प्रत्यक्षीकरण को मैंने सचुमच ही अपना संयोगिक सौभाग्य माना।

4.6 अपने विषय एन्थ्रोपोलॉजी के शोध हेतु मुझे धरियावद व इसके आदिवासी क्षेत्र में लंबी अवधियों के प्रवास पर रहना पड़ता (1959-61)। तभी इनके संगीत आदि का भी प्रत्यक्ष अवलोकन होता। प्रतापगढ़ के निकटवर्ती धमोतर आदि जगहों पर चल रहे रिलीफ कार्यों में तालाब खुदाई आदि के श्रमिक आदिवासियों के रात-रात भर चलने वाले जागरणों-फागणों की संगीतमयता का सहभागी भी मैं संयोगत: उन्हीं दिनों बनता। साधन से गरीब पर संस्कृति में कितने सम्पन्न थे ये लोग! धरियावाद के शांति नगारची से जो श्रृंगारिक लोक गीत आदि सुनता, वह तो जैसे आज भी मेरे जेहन-चेतन से जुड़ा हुआ है। बीच की अवधि में उदयपुर का कॉलेज छात्र था (1954-58) तभी पिछोली में जहां रहता था पड़ौस के शंकर जी, नाथू, मोहिनी (जाति के ढोली) आदि के वादन-गायन के फन को तो जैसे अपने पर्यावरण की तरह भी जीना पड़ता। शंकर जी व नाथू, सांझ होते, साज बजाने, अमल के कांटे, तवायफों के कोठों पर भी जाते, संगीत से अपनी रोजी-रोटी कमाने। संगीत इनके लिए कला अधिक थी या आजीविका?

4.7 संगीत से जब मैं यों सहजत: संयोगत: जुड़ा रहा तो मानो बेखबर भी रहा, जैसे हम प्राणों से बेखबर जीवन जीते हैं। यह तो यह आलेखन है जो मेरे ऐसे सहज व अनायस को यों सायास संमूर्त कर पा रहा, और यह अभिव्यक्ति भी कितनी सीमित, संकेत रुप, स्वल्पतम ही है। इस अभिव्यक्ति को पूर्ण कर पाना क्या संभव है? और यदि ऐसा किया भी जाए एवं इसके तथ्य विस्तार में जाया जाए तो जो प्रकट होगा वह कितना व्यापक व विशाल होगा? क्या तब जीवन व अस्तित्व की समग्रता को ही इसमें विद्यमान पाया जा सकेगा?

4.8 ऐसे जीवनिक व प्राथमिक मेरे संगीत के साथ यदि मैं मेरे औपचारिक व द्वितीयक संगीत को भी जोड़ूं तो मेरे कॉलेज व विश्वविद्यालय के दौरान के शास्त्रीय व लोक संगीत-नृत्य, ऐकेडेमियों व लोककला प्रतिष्ठानों के संगीत कार्यक्रमों, रुपायन बोरुन्दा व कोमल कोठारी के संगीत संग्रह, किरण सेठ के 'स्पीकमेके' जैसे अद्‌भुत व अनुष्ठानिक शास्त्रीय अभियान से भी मेरे जुड़ने आदि का समावेश जब मेरे निजी 'संगीत विश्व' में होता है तो सचमुच कैसा इसका स्वरुप बन जाता है। और तब भी, बहुत कुछ बचा ही रह जाता है इसमें जुड़ने से....फिल्म, केसेट, सी.डी., मीडिया आदि माध्यमों से मुझे मिलने वाला संगीत। संगीत के ये रुप और ये माध्यम, मैं न चाहूं तब भी मुझ तक अपनी पहुंच कर ही जाते हैं। हां, तब भी, मेरे चाहे संगीतकार....ओंकारनाथ ठाकुर, कुमार गंधर्व, बिस्मिल्ला खां, सुब्बुलक्ष्मी, लता मंगेशकर, किशोरी अमोनकर, रविशंकर, जाकिर हुसैन.....आदि किन-किन के नाम गिनाऊं कि इनसे भी कितनी संगीत संपदा मुझे सुलभ हुई है। क्या कहूं, संगीत मेरी भी 'क़मजोरी' है, या मेरी 'शक्ति'! कितना संपोषण व संस्कार मिलता है संगीत से! जानता हूं उन कई अपनों को भी, जिनके लिए संगीत सचमुच कितना 'आह' और 'वाह' है....कब, कैसी लय-तान-धुन पर मस्त-मगन, जीवनधन।

4.9 संगीत का एक विशेष अनुभव मुझे बचपन में मेरे कस्बे बड़ीसादड़ी और ननिहाल नगर प्रतापगढ़ में बैन्ड म्यूजिक का होता था। यह संगीत का एक विशेष तरह का व्यवसायिक सामयिक विकास था। मुख्यत: वैवाहिक आयोजनों तथा अन्य कई अवसरों पर बैन्ड बजवाने का प्रचलन था बैंड स्थानीय होते और कोई खास बाहर के बैन्ड भी। रतलाम का रायसिंह बैन्ड तब बड़ा प्रसिद्ध था। वैवाहिक बंदोलियों में ये बैन्ड बजते, बाजार में निकलते और देर रात तक इनकी धूम-धमचक रहती। प्रतापगढ़ के राज परिवार का 'दरबार बैन्ड' भी प्रसिद्ध था और मेरे

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कस्बे बड़ीसादड़ी का नन्नेशा फकीर व अल्लानूर का बैन्ड। बैन्ड प्राय: वाद्य-वैविध्यपूर्ण होते और कोई बैन्ड किसी वाद्य विशेष का भी, जैसे मशक बैन्ड या बांसुरी बैन्ड। ये बैन्ड मुख्यत: फिल्मी धुनें बजाते और वक्त जरुरत या फरमाईश पर लोक गीतों या पक्के गानों (शास्त्रीय) की धुनें बजाने से भी नही चूकते। हां, तब भी, अधिकांश गांववासी व गरीब परिवार विवाह आदि आयोजनों पर अपने ढोल-थाली या तासे बजाकर अपने संगीत की पूर्ति करते। ढोल की मांगलिक प्रतिष्ठा तो सर्वत्र रही ही है। पता नहीं, ऐसे सभी संगीत की तरफ भी संगीत अध्येताओं ने ध्यान दिया या नहीं?

4.10 बात मेवाड़ के प्रसंग में और मेरे संगीत की हो रही है और इसका एक सामान्य-सा साधारणीकरण किया जाए तो, इससे कुछ ये बीच या बिन्दु हाथ आते हैं-

(1) लोक संगीत स्वत: प्रचलित रहता है जब कि शास्त्रीय संगीत को गुरु या घराने के माध्यम से पाया व प्रचलित किया जाता है। शास्त्रीय संगीत को सत्ता, सम्पत्ति या संस्थानिकता के आश्रय-प्रश्रय की आवश्यकता भी रही है।

(2) लोक संगीत व शास्त्रीय संगीत, परंपरा में, प्राय: परस्पर तदाकार व एकाकार भी रहे हैं। गायक लोक परिवेश के हैं और प्राय: बेखबर हैं कि उनकी गायकी शास्त्रीय संगीत प्रकार की भी है।

(3) आदि समाजों में सभी गाते-बजाते-नाचते हैं जब कि ग्रामीण व नगरीय जातीय समाजों में इन कामों के लिए कई विशेष जातियां भी (ध्यान दें 'भी'पर) बन गई है। जजमानी व्यवस्था के प्रचलन के अंतर्गत ये जातियां अपनी सेवाएं देती हैं, कला व आजीविका दोनों का एक साथ निर्वाह।

(4) ग्रामीण व नगरीय मेवाड़ में संगीत के प्रचलन को आश्रय व प्रश्रय इन रुपों में मिला है....(1) जजमानी व्यवस्था के अन्तर्गत (2) मंदिर संगीत के रुप में (3) सामंतों अर्थात राजा-रजवाड़ों द्वारा संगीत के घराने स्थापना द्वारा (4) तवायफी जहजीब अर्थात कोठों द्वारा (5) बैन्ड म्यूजिक द्वारा। लोक अर्थात स्वयं जनजीवन भी गाता-बजाता-नाचता है यह तो सर्वत्र प्रचलित रहा है।

(5) मेवाड़ में शास्त्रीय संगीत के मंदिर संगीत, घराना संगीत, गुरु-शिष्य परंपरा संगीत आदि का विधिवत व विस्तार से अध्ययन होने को अभी भी अध्येताओं की प्रतीक्षा है। क्या ये प्राय: एलिटिस्ट व सीमित प्रचलन के रहे हैं और इनकी समझ व इनमें रुचि भी किनकी, कितनों की, कैसे, कैसी बन पाती है? कहते हैं, जिन पर शास्त्रीय संगीत का रंग चढ़ता है वे धन्यभाग लोग होते हैं। पर कहा ज़ाता है कि इन्हें भी कतिपय रुढ़ि बद्धताओं से बाहर आने और सामयिक परिवर्तनों को आत्मसात करने में कठिनाई होती है?

(6) विलंबित ही सही पर इस उदयपरु आयोजन की मेरी एक उपलब्धि रही। मैं आज पीछे मुड़कर देखता हूँ तो मुझे ताज्जुब होता है कि मेरे विषय नृतत्वशास्त्र-समाजशास्त्र ने, मेवाड़ सहित राजस्थान व भारत में आदिवासियों एवं गांवों के अध्ययन तो अनेक किये हैं, किन्तु इनमें इन समुदायों के संगीत व अन्य कला पक्षों का समावेश क्यों नहीं किया है? केवल एकमात्र आंशिक अपवाद वेरियर एल्विन के गोन्डों व घोटुल पर प्रकाशनों में दिखता है। एन्थ्रापोलॉजी जहाँ 'मोनोग्राफ' अर्थात समग्रात्मक अध्ययन के लिए प्रसिद्ध है वहीं इनमें संगीत जैसे महत्वपूर्ण पक्ष की पूर्ण उपेक्षा से अध्ययनकर्ताओं के विरुद्ध कई प्रश्न खड़े होते हैं। रेडफिल्ड सहित विदेशी नृतत्ववेत्ताओं ने ऐसे अध्ययनों व लेखनों का जो ढांचा बनाया, भारत सहित अन्यत्र इनकी लगभग अंधी नकल ही की गई। यह एक अलग बहस का विषय है पर इससे मेरे मेवाड़ के संगीत की भी जो अनदेखी व उपेक्षा हुई उसका एहसास आज मुझे हो रहा है।

(7) इस प्रसंग में यह भी देखा जा सकता है कि देश की आजादी के बाद राष्ट्रीय तथा राज्यों के स्तर पर, और स्थानीय तौर पर भी संगीत सहित विभिन्न कला व साहित्य विषयों के संवर्धन-संरक्षण आद के सरकारी, गैर-सरकारी, संस्थानिक, स्वयं-प्रेरित आदि प्रयास क्या होते हैं और इनका मेवाड़ केंद्रित समावेश व विकास भी कैसा हो पाया है? यह भी आकलनीय व विचारणीय है।

(8) यह भी कैसा रहा कि जहां पारंपरिक समाजों में संगीत हमारा प्रत्यक्ष होता था व सभी की इसमें सहभागिता होती थी वहीं अब इनका दायरा सिकुड़ता जा रहा है और अब परोक्ष रुप से रेडियो हमारे लिए गाता-बजाता है, टी.वी. हमारे लिए गाता-बजाता-नाचता है और फिल्मों, केसेट, सी.डी आदि से भी इन्हें हम प्राप्त करते हैं। ऐसे कुछ पाने में कुछ खोना भी पड़ता है। प्रकृति को जब हम संस्कृति बनाते हैं तो इन दोनों को विकृत भी हम ही बनाते हैं। ऐसा भी परिवर्तन होता है, विकास होता है विनाश होता है, सृजन-विसर्जन होता है.....भले ही कोई इन पर खीझे या रीझे, या कोई इन पर कबीरी अंदाज में कह सके- 'जल बीच मीन पियासी......!

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

5. अध्ययन विधि (METHODOLOGY) और बोधब्दीकरण (CONCEPTUALOGY)

यदि नृतत्वशास्त्र-मानवशास्त्र से जुड़े होने के नाते भी इस उदयपुर आयोजन में मेरी सहभागिता है तो संगीत विषयक 'अध्ययनविधि और बोधब्दीकरण' पर कुछ संकेत देने का अवसर भी मैं यहां लेना चाहूंगा। विज्ञानों की सुस्पष्ट अध्ययनविधि होती है, समाज विज्ञानों ने भी अपने लिए अध्ययन विधियों का विकास किया है, पर साहित्य, कला, संगीत आदि विषयों ने इस दृष्टि से कोई स्पष्ट विकास नहीं किया है। अत: यहां ऐसी चर्चा की आवश्यकाता भी स्वत: स्पष्ट है।

5.1 'फील्ड वर्क' अध्ययन की एक व्यापक व बहुआयामी विधि होती है। इसे रेकार्डिंग, डोक्यूमेन्टेशन आदि कई तरह से किया जाता है। इससे प्राइमरी डाटा प्राप्त होता है और अन्य स्त्रोतों से जुटाए सेकेंडरी डाटा से भी इसकी परिपूर्ति की जाती है।

5.2 प्राय: देखने में आता है कि संगीत विषयक अध्ययनकर्ता अपनी सूचना-सामग्री को, डेटा को, कोरे विवरण रुप में, बेतरतीब भी प्रस्तुत करते रहते हैं। सुस्पष्ट विश्लेषण-वर्गीकरण-सैद्धांतिकरण-बोधब्दीकरण आदि का इनका मानो कोई संयोजन व अनुशासन नहीं होता। लेवी-स्ट्राउस इस स्थति-प्रवृत्ति को 'बिना पकाया कच्चा माल परोस देना' कहते हैं और इसे इंगित करता हुआ उनकी एक प्रसिद्ध पुस्तक का शीर्षक 'RAW AND THE COOCKED' है।

5.3 प्राय: यह भी विवाद का विषय रहा है कि आदिम समाजों, ग्राम समुदायों और इनके अंतर्गत संगीत, कला, धर्म आदि पक्षों का अध्ययन कौन करे.....बाहरी विदेशी अध्येता या इन समाजों संस्कृतियों में जन्मे-जाये इनके ही अध्येता? 'तथ्यात्मकता'.....'पक्षपातरहितता' आदि इस बहस के मुद्दे हैं, पर मेरी निजी मान्यता रही है कि यह भी पश्चिम की अपनी स्वार्थपरक स्वाधिकारिता, रही है कि जैसे वे ही ये अध्ययन अधिक प्रामाणिकता, विद्वता व वैज्ञानिकता से कर सकते हैं। परिणाम यह हुआ है कि उनके 'ढांचों, की हमने नकल की और जो वे नहीं देख पाए उसे हम भी नहीं देख सके। इसीलिए उनके व हमारे ऐसे अध्ययन प्राय: रुखे-सूखे व प्राणविहीन ही रह गए। तब समझने वाले और संवेदनशील जानकारों को ही लगता है कि कुछ है जो प्रचलित उपलब्ध अध्ययनों में 'मिसिंग' है.....कोई 'बात'....कोई 'राज'।

5.4 तब मेरी मान्यता यह भी है कि हमें अध्ययन 'चतुरन' रुप में स्वयं ही करने चाहिए। यह 'चतुरन' यों है-

आंख, कान, मुख, नासिका सब ही के एक ठौर
कहिबो, सुनिबो, देखिबो चतुरन के कछु और

हां, हम पर जाने-अनजाने यह प्रवृत्ति हावी हो सकती है कि 'स्वगुणगान'.......'गौरव बखान' में लग जाएं, कई प्रकट व अन्तर्निहित वास्तविकताओं का छिपाने-दबाने या न देख पाने की छद्मता या अंधता के शिकार हो जाएं। तभी, जैसा कि मैं लिखता-कहता हूँ, सूत्र रुप में आवश्यक है कि हम वास्तविकता या तथ्यों के (i) Subjective को Objective (ii) Stray को Consistsant (iii) Lay को Scientific और (iv) Empirical को Conceptual बनाकर प्रस्तुत करें और Raw को Cook भी करें। इसी से अध्ययन की गुणवत्ता व उचस्तरीयता, शास्त्रीयता व वैज्ञानिकता का निर्वाह हो सकेगा। बाहरी विदेशी नज़रिया हम पर हावी हो व इसकी नकल हम करें इसके ख़तरे को भी हमें समझना होगा और अपनी देशज विश्वसनीय व ज्ञान-विज्ञानसम्मत दृष्टि का विकास भी करना होगा।

5.5 त्रिलोक जी को टेलिफोन पर मैंने यह भी बताया था कि संगीत विषयक ऐसे आयोजन में तथाकथित एकेडमिकों को ही न बुलाकर शास्त्रीय संगीत की प्रस्तुति देने वाले किन्ही कलावंतों को भी अवश्य बुलाया जाए। हो सके तो ये संगीतज्ञ सव्याख्या अपनी प्रस्तुति दें और इन पर सहभागियों, द्वारा संवाद हो, विवेचन-विश्लेषण हो, जिनका रेकार्डिंग हो और बाद में इनका सी.डी. रुप में या संपादित प्रकाशन हो। त्रिलोक जी के लिए ऐसा करना अभी कतई संभव नहीं था, पर मैं इसे यहां अध्ययन विधि की एक संभावना के रुप में भी प्रस्तुत कर रहा हूं। ऐसी संभावना को त्रिलोक जी एवं अन्य कोई साकार कर सके ऐसा सोचते हुए मैंने सुझाव भी दिया था कि संगोष्ठी में महेन्द्र लालस व जयपालसिंह राठौड़ को भी अवश्य बुलाया जाए जो संगीत विषयक उल्लेखनीय-उदाहरणीय लेखन, संकलन, विवेचन आदि करते रहे हैं और जिनकी 'चतुरन' दृष्टि से अपेक्षित सृष्टि की आस-उम्मीद भी की जा सकती है। आज वास्तविकता यह भी है कि काम भले ही कई लोग कर रहे हों, पर जैसा काम होना चाहिए वैसा कौन कर रहे हैं?

5.6 शास्त्रीय संगीत से आज किनका, कैसा वास्ता है -

1. स्वयं इन संगीतज्ञों का?
2. इनके श्रोताओं-दर्शकों का?
3. अध्येता एकेडेमिकों का?

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

4. सरकारी तंत्र व संस्थाओं का ?

5. अन्य आश्रय-प्रश्रयदाताओं का ?

6. फिल्म-मीडिया आदि का?

7. इनके निर्यातक-आयातक सौदागरों का

8. एन.जी.ओ. एवं स्वप्रेरित व्यक्तियों, संगठनों, अभियानों का?

तथ्यांकन व आकलन तो इन बहुरुपी क्रिया-व्यवहारों व सरोकारों का भी होना चाहिए।

5.7 देखा यह भी जाए कि मेवाड़ व इसका संगीत कितना Like all others (Universal), Like few others (Regional) और Like no other (Local or Distinctive)है ? देखा जाए तो संगीत Regional अधिक होता है इससे भी अधिक Local होता है, अर्थात समाज व संस्कृतिबद्ध ही अधिक। तभी, यदि संगीत को ऊपरी सतहीपन और दिखावटी वाह-वाही से बचाकर, सूक्ष्म अंत:वर्ती व समग्र के साथ संरचनात्मक रुप में समझना-समझाना है तो यह भूमिका बाहरी अध्येता की तुलना में देशज अध्येता ही बखूबी निभा सकता है।

5.8 एक सूत्र यह भी बनता है – Availability of an empircal reality is a fact, but its non-availability is also a fact. कोई वास्तविकता उपलब्ध है यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है, पर कोई वास्तविकता उपलब्ध नहीं है इसका विवेचन भी उतना ही महत्वपूर्ण होता है। अत: देखा जा सकता है कि मेवाड़ में शास्त्रीय संगीत उपलब्ध क्यों नहीं रहा, या कैसा उपलब्ध हो पाया? क्या तब, यह भी एक बड़ी बात नहीं है कि शूरमा व संघर्षरत मेवाड़ में शास्त्रीय संगीत भी प्रचलन में आ सका?

5.9 ऐसे ही, संभावना यह भी है कि मेवाड़ के शास्त्रीय व लोक संगीत को भी Universalise किया जा सके। आज, एक तरफ, Tradition, Heritage, Ethnic, Indigenous आदि के प्रति स्थानीय व विश्वव्यापी रुझान बन व बढ़ रहा है वहीं, दूसरी तरफ टेकनोलॉजी, ट्यूरिज्म, बाजार आदि के माध्यम से भी संगीत अपना पुनराचार, विस्तार, प्रसार, नवाचार पा रहा है। इनके स्वरुप को शुद्ध और प्रचलन को सुरक्षित रखने के लिए अभियान भी बन रहे हैं। हो इनका भी अधिकाधिक प्रस्तुतियन, प्रेक्षण, प्रतिपादन.........

5.10 अभूतपूर्व व द्रुत परिवर्तनों के दौर में 'संगीत तब और अब' जैस प्रश्न भी खड़े हो रहे हैं। पारंपरिक संगीत कैसे बचा रहा है और कैसे मिटता जा रहा है, ऐसे अध्ययन या उदाहरण भी प्रस्तुत हो रहे हैं। इन्हीं दिनों इसका अनुभव मुझे हुआ। बिज्जी (विजयदान देथा) रुपायन बोरुन्दा से 'लोक संस्कृति' मासिक पत्रका निकालते हैं। इसका सितं.-नव. 2005 अंक ब्याव रा गीत' (विवाह के गीत) हैं। उल्लेखनीय यह है कि इस अंक में 213 गीत बिज्जी ने अपने गांव में केवल एक महिला सायरबाई से सुनकर वर्ष 1959 में लेखबद्ध कर लिये थे। इन्हीं एक अकेली सायरबाई से बिज्जी ने इतने विवाह गीतों के अतिरिक्त अन्य अनेक गीत भी सुनकर लिख लिये थे। डा. जयपालसिंह राठौड़ द्वारा संपादित एक नयी पत्रिका 'लूर' का दिसंबर 2005 अंक 'लोरी' विशेषांक है जिसकी 'संकलन यात्रा' में जयपाल को जहां यह कटु अनुभव हुआ कि लोरियां अब आज के परिवारों व नयी पीढ़ी में लुप्त होती जा रही हैं और उदयपुर में आए आदिवासी व ग्रामीण कामकाजी मजदूर रहवासियों को अब फुरसत ही कहां है कि इन्हें गायें-सुनायें, वहीं केवल कालबेलियों से जयपाल को ऐसा कुछ रेकार्डिंग करना संभव हो सका। तथ्य यह है कि बिज्जी के यहां एक अकेली सायरबाई और इनके पास लोकगीतों का इतना बड़ा खजाना। तब, अपनी समग्रता में कितना होगा यह! और, साथ ही, यदि इनकी विलुप्ति का एहसास भी हो रहा है तो, जयपाल क्या करें?

5.11 विकृति की बात आई तो मेरा ध्यान ऐसी कई प्रतिक्रियाओं की तरफ भी जाता है जहां कौन, कितना दुखी है कि आज के फिल्म, मीडिया, मनोरंजन आदि के पीढ़ीगत अंतर व युवाचार के दौर में पारंपरिक संगीत कितना नष्ट-भ्रष्ट हो रहा ? संगीत कितना बाज़ार व व्यापार भी बन रहा है? मैं यहां दुखी न होकर परिवर्तन को समझने व स्वीकारने की कोशिश भी करता हूं, क्योंकि पीढ़ीगत अंतर व परिवर्तनों पर ऐसी ऐसी प्रतिक्रियाएं तो अरस्तू और कनफ्यूशियस के समय से लेकर आज तक होती रही है, और ऐसे में भी, कहें कि, संगीत के क्षेत्र में भी नयी-नयी संभावनाएं भी प्रायोजित व प्रकट होती रही है। त्रिकालक दृष्टि भी यही कहती है...।' हमें अपने अतीत के **साथ,** वर्तमान **में,** भविष्य के **लिए** जीने को सीखना-साधना चाहिए।' कला-प्रवाह भी कभी रुकता नहीं है। बस, इसे देखा जाए, समझा जाए, इसका मजा लिया जाए..........

6. मेवाड़ और मीरा संगीत

इस उदयपुर आयोजन में शास्त्रीय संगीत के साथ, प्रकारांतर से, मीरा को भी प्रस्तुतियों के केन्द्र में ले आया गया। मेरे मित्र व मीरा के अध्येता डा. कल्याण सिंह शेखावत की प्रस्तुति के कारण ऐसा हुआ। यदि यह मीरा के संगीत पक्ष पर केंद्रित रहता तो प्रासंगिक बनता, पर

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

इसमें जैसे मारवाड़ की तरफ से मेवाड़ को उलाहना दिया गया कि मेवाड़ ने मीरा की उपेक्षा की, और मीरा के व्यक्तिगत जीवन के बारे में इतिहास आदि के अध्येता जो मोथी–थोथी बातें लिखते–बताते रहे हैं उनका विवरण भी दिया गया। यहां जोधपुर में मीरा पर होने वाले कतिपय आयोजनों में भी ऐसी बातें प्राय: लिखी–पढ़ी–कही जाती रही हैं। इन पर कटाक्ष कर, मेरी जैसी प्रतिक्रिया करने वाले भी सामने आ ही जाते हैं। मीरा की जीवनी सममुच कैसी रही होगी इसकी ऐसे अध्येताओं को समझ ही नहीं है, और जैसे जीवन का प्रतिफलन मीरा की भक्ति व मीरा का काव्य है उसके प्रति अपेक्षित संवेदना का भी इनका स्वभाव ही नहीं है। मीरा तो जैसे एक करिश्माई लीजेण्ड है जो मानो जीवन मुक्त हो अलौकिक लोकातीतत्व, आध्यात्मिक उत्कर्ष व परा–परम प्रतीति प्राप्त कर चुकी थी। ये अध्येता क्या समझेंगे कि किसी भी अन्यथा नारी पात्र के लिए मीरा बनना संभव ही नहीं हो सकता, जो मीरा परमरुपेण अपने पदों में अभिव्यक्त हुई है। मीरा से भाव–संगति होने पर तो कुछ ऐसा भी संसृजित हो उठता है–

भक्ति में कितनी है शक्ति
मीरा अद्भुत अनुरक्ति

मीरा से भाव–संगीत व मीरा संगीत का रसास्वादन होने पर तो हमारी अपनी क्षुद्रताओं व मलिनताओं का प्रक्षालन व विसर्जन भी हो जाना चाहिए। है ऐसा ही कुछ मेस्टीरियस व मेजिकल मीरा में, जिसे अनुभूति में जीने वालों के आनंद का क्या पार! गाया है तन्मय होकर मीरा को, भारत के अनेकानेक शास्त्रीय व लोक संगीत गायकों ने, और भावविभोर होकर सुना है मीरा संगीत को, भारत सहित विश्वभर के असंख्य सुनने वालों ने। अत: जो मीरा के बारे में ऐसा–वैसा कुछ कहते हैं उस पर कटाक्ष कर नाथ द्वारा के कैलाश चौधरी तो तत्काल कह ही उठे......

''करते रहें विद्वान ऐसी बातें, इन्हें व्यर्थ मानकर हम 99 प्रतिशत लोग इनमें विश्वास ही नहीं करते''....''मीरा तो महिलाओं व भक्तों की आत्मा है''........

रजनीश भी मीरा से ऐसे रसरंजित होते थे.........

गीत को उठने दो और साज को छिड़ जाने दो
जरा संभलने दो मीरा की थिरकती पायल
जरा गौतम के सधे पांव बहक जाने दो
उसको गाने दो मेरा गीत अपने होठों से
मुझे उसकी चुप्पी को गुनगुनाने दो

हां, इस उदयपुर आयोजन के उद्घाटन सत्र के अध्यक्ष महंत श्री मुरली मनोहर शरण जी ने और मीरा के पदों की ध्रुपद में प्रायोगिक प्रस्तुति करते श्रीमती मधु भट्ट ने अवश्य हमें मीरा की किंचित अनुभूतिपूर्ण झलक भी दिखाई। कीचड़ में कमल कौन खिलाये, कचरे से ऊर्जा कौन बनाये !

ये सब मेरे लिए उदयपुर आयोजन की एक संभावनापूर्ण उपलब्धि भी बने। तभी मैं आयोजकों के विचारार्थ एक प्रासंगिक व सामयिक संयोजना प्रस्तावित कर रहा हूँ। मेवाड़ महाराणा फाउन्डेशन जब इतना विविध व विशेष कर रहा है तो मीरा संगीता पर भी एक प्रस्तावित राज्यव्यापी या राष्ट्रव्यापी संयोजन भी अवश्य करे। यह या तो मीरा के पदों की संगीत प्रस्तुतियों के समारोह के रुप में हो अथवा मीरा संगीत पर छात्र–छात्राओं व युवाओं की, स्थानीय प्रतियोगिताओं के माध्यम से चयनित प्रतिभागियों की एक एपेक्स प्रतियोगिता उदयपुर में, वर्ष में एक बार हो।

मीरा संगीत? क्यों नहीं ! जब बंगाल का रवीन्द्र संगीत है तो मेवाड़ का मीरा संगीत क्यों नहीं? मीरा संगीत की परिव्याप्ति तो इसके भाषा–भाव–भक्ति–रस आदि के कारण देश–देशान्तर तक है। अत: जब मीरा संगीत के प्रति मेवाड़ की ऐसी प्रस्तावित प्रतिबद्धता मूर्त हो सकेगी तो यह मीरा के प्रति मेवाड़ की श्रद्धा और संगीत के प्रति मेवाड़ की विशष सेवा भी सिद्ध होगी।

□□□

111–3 विश्वविद्यालय मार्ग,
जोधपुर (राजस्थान)–342011
फोन : 0291–2438331

 CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

राजस्थानी लोक और लोक साहित्य : संरक्षण एवं संवर्द्धन

रामफल चहल

'प्रत्यक्षदर्शी लोकनां सर्वेदर्शी भवन्तु नरः।

लोक और साहित्य का गहरा संबन्ध है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। जहां लोक होगा वहां उसकी संस्कृति और साहित्य भी होगा। विश्व में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है जहां लोक हो और वहां उसकी संस्कृति न हो।

लगातार कुछ सांस्कृतिक परिस्थितियों का निर्वहन जो समाज करता है, वह सभ्यता कहलाती है। कुछ विद्वान सभ्यता और संस्कृति को एकाकार मानते है और उनके विचार में सभ्यता और संस्कृति का विकास समान रुप से होता है। परंतु गहराई से चिंतन करें तो सभ्यता का ज्यों-ज्यों विकास होता है, संस्कृति का त्यों-त्यों ह्यास होता है। बोली, पहनावा, खानपान सब बदलता रहता है। इसका प्रभाव लोक साहित्य पर भी पड़ता है।

लोक साहित्य में प्रमुखतया लोककथा, लोकनाट्य व लोकगीतों को मान सकते हैं। जिनमें जनपदीय भाषाओं का रसपूर्ण एवं कोमल भावनाओं से युक्त साहित्य होता है। लेकिन खेद का विषय यह है कि अनेक लेखकों ने लोकसाहित्य रुपी इस स्वच्छंद कोयल को अपने साहित्यिक सिद्धांतों के ताने-बाने में जकड़कर इसकी बोलती बंद करने की कोशिश की है। वे अपनी विद्वता के बल पर इसे नीरस और बेजान बनाने में लगे हैं।

लोकसाहित्य को विवेचनात्मक व वैज्ञानिक अध्ययन की आज आवश्यकता है। उसे उस विशेष रेखा तक सीमित रखना उचित रहता है जहां तक उसके मूल सौंदर्य और कलात्मकता को आघात न पहुंचे।

भारतीय लोकसाहित्य के मर्मज्ञ आर. सी. टेम्पुल के मतानुसार लोक साहित्य की साहित्यिक दृष्टिकोण से विवेचना करना उसी सीमा तक उचित होगा जिस सीमा तक उसमें निहित सुंदरता और आकर्षण को किसी प्रकार की हानि न पहुंचे। यदि लोक साहित्य के अध्ययन को एक विज्ञान मानकर विवेचन किया जाता है तो वास्तव में मूल विषय को नीरस और उसे बेजान बनाना भर ही है। साथ ही साथ विवेचनकर्ता स्वयं भी वैज्ञानिक सिद्धांतों के पचड़े में उलझकर रह जाता है।

लोक के हर पहलू में संस्कृति का दिव्यदर्शन होता है, जरुरत है तीक्ष्ण दृष्टि और सरल सोच की। लोक साहित्य पर उल्लेखनीय काम करने वाले प्रख्यात विद्वान देवेन्द्र सत्यार्थी ने लोक साहित्य के अटूट भंडार को स्पष्ट तौर पर स्वीकार करते हुए कहा था कि ''मैं तो जिस जनपद में गया, झोलियां भर-भर मोती लाया।''

इस तरह आत्मीयता के साथ गर्द में सने उन रत्नों के मर्म से स्रवित होते भावों की लुभावनी दमक को पहचाना हो।

लोकगीत -

सामान्यत: लोक व्यवहार में मानव अपने आनंद-तरंग अथवा पीड़ा में जो छंद सहज रुप से कहता है, वही लोक गीत है। वस्तुत: लोकगीतों के माध्यम से जनमानस की गहराई को आंदोलित करने वाली भावधारा ध्वनि तरंगों का सहारा लेकर फूट पड़ती है। मधुर स्वरों की लय पर उसके सरल मन के तरल उद्गार उमड़ने लगते हैं और उसके मुंह से लोकगीत बन फूट पड़ते हैं। जनमानस उत्साह में भी गाता है और शोक में भी। युद्ध समय में वीरता के ओज भरे गीतों से उसकी भुजाएं फड़कने लगती हैं। पर्व, त्योहारों पर खुशी से फूला नहीं समाता है। काली घटाओं को देखकर वह मयूर की तरह नाच उठता है और बासंती बयार पर तैरती कोयल की कूक के साथ तान मिलाता है। वियोग में नयनों से मोती झड़ते हैं और मिलन के समय होंठों से 'लाल' झड़ते हैं।

ऐसा कौन व्यक्ति है जो जीवन में कभी गुनगुनाया न हो या उसने कभी अपनी दादी-नानी या दादा-नाना, चाचा-माना से बचपन में कोई कथा, कहानी न सुनी हो या अपनी बातचीत में किसी कहावत या लोकोक्ति का सहारा न लिया हो। कई बार इन्हीं लोकगीतों के सहारे मनुष्य ने अपने जीवन की लम्बी एवं कठिन यात्राएं गुनगुनाते हुए आसानी से तय की है। लोक साहित्य में कल्पना प्रधान साहित्य की अपेक्षा लोक जीवन का यथार्थ देखने को मिलता है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जिस प्रकार मेघ विज्ञान शास्त्रीय नियमों की पकड़ में नहीं आता उसी प्रकार लोक साहित्य भी नियमों के शास्त्रीय बंधन को स्वीकार नहीं करता। लोक गीतों की प्रेरणा हमें खेत-खलिहानों, कोल्हू, चक्की, आंधी, वर्षा, पारिवारिक व सामाजिक घटनाओं और ऋतु जनित उन्माद में मिलती है।

लोकगीतों में स्वर-लय, यति-गति व छंद नियमों का कोई बंधन नहीं होता। हल चलाते किसान, चरखा कातती महिला, राह चलते पथिक तथा विरहणी की विरह पीड़ा को लोकगीत ही सरल व सरस करते हैं। पति के वियोग में विरहन जब आग में तपने लगती है तो उसे सोते हुए भी पति सपने में दिखाई देते हैं। राजस्थान में इस विरहाग्नि को पक्षिओं का माध्यम बनाकर अभिव्यक्त करने की परम्परा रही है। इनमें मुख्यत: काग, सुआ, मोर तथा कुरजां नामक पक्षियों के माध्यम से संदेश भिजवाने के प्रयास किए जाते रहे हैं –

सुपनो जगाई आधरी रात म्है, तन्नै बताऊं मनड़ै री बात

कुरजा ऐ म्हारै पिव नैं मिला दै ऽऽऽऽ

तूं तो कुरजां म्हारै गांम की, लागै धरम री बहण

कुरजा ऐ म्हारै भंवर सूं मिला दै ऽऽऽऽ

और काग की खुशामद करते हुए कहा जाता है –

उड़-उड़ रे म्हारा काळा रै कागला

जद म्हारा पिव जी घर आवै,

खीर-खांड रा जिमण जिमाऊं, सोनै री चोंच मंढ़ाऊं कागा

जद म्हारा पिव जी घर आवै ...।

इसी प्रकार मोर के बोलने पर उसे उपालम्भ देते हुए विरह दग्ध नारी कहती है –

मोरिया आच्छो बोल्यो रै ढळती रात नै

म्हारै हिवड़ै मांय लागी कटार, मोरिया.....

मोरणी! म्हैं तो बोलूं म्हारी मौज मांय,

थारै किण विध लागी कटार....

मोरिया! पीहू-पीहू की वाणी छोड़ दै,

म्हारै पीव बसै परदेस, मोरिया....।

ऐसी संवेदना, ऐसा मर्म सिर्फ लोकगीतों में ही मिल सकता है। खासकर राजस्थान के लोकगीतों में। राजस्थान में व्यवसाय की दृष्टि से परदेस गमन पहले बहुत ज्यादा होता था, ऐसी सूरत में विरह का लम्बा दौर स्वाभाविक होता था। पति के लिए परदेस गमन के पश्चात् विरहदग्ध पत्नी अपनी मनोव्यथा को प्रकट करने के लिए लोकगीतों का ही अवलम्बन लेती थी। वे बड़े शिष्ट ढंग से सारी बात लोकगीतों के माध्यम से प्रकट कर देती थी।

लोकगीत ही क्यों, लोक साहित्य तो व्यापक है। इसमें लोककथा, लोककला, लोकनाट्य लोक सुभाषित यथा मुहावरे, पहेली, लोकोक्ति आदि भी शामिल हैं। लोक साहित्य के संकलन का काम जिस गति से हो रहा है उससे कहीं अधिक गति से गांवों का नगरीकरण हो रहा है। वस्तुत: लोक साहित्य का मूल उद्गम गांव ही है, अत: आज यह विचारणीय प्रश्न है। गुरुदेव रविन्द्रनाथ टैगोर ने कहा था कि एक दिन ऐसा आएगा जब गांवों की रसधारा सूख जाएगी।

आज लोक संस्कृति का मूल स्वरुप बदलता जा रहा है। भारतीय संस्कृति ही खत्म होती जा रही है तो लोक साहित्य तो खत्म होगा ही। लोक संस्कृति की झलक अब स्वतंत्रता दिवस या गणतंत्र दिवस पर प्रदर्शित झांकियों तक सिमटती जा रही है। खेतों में हल नहीं, गावों के कच्चे घरों में चक्की नहीं, पनिहारिनों के पनघट नहीं, सावन के झूले पड़ सकें वे पेड़ नहीं, फागुन बयार से रंगी 'गैर' गौरे नही, हैं तो बस टेलीविजन पर अश्लील नृत्य। फिर कैसे बचेगी लोक संस्कृति? और कौन करेगा लोक साहित्य संकलित?

भारतीय लोक साहित्य के अध्ययन का सूत्रपात सन् 1846 में इंग्लैण्ड के पुरातत्वेत्ता विलयम जॉन टामस ने किया था। तब से इस ओर लोगों को ध्यान जाना प्रारंभ हुआ तथा अब सभी विश्वविद्यालयों में लोक साहित्य का पठन-पाठन विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा अनिवार्य करने से इस कार्य में उतरोत्तर वृद्धि हो रही है, जो कि शुभ संकेत मान सकते हैं।

आल्हा गायन शैली –

वीर रस से ओत-प्रोत आल्हा गायन शैली ने राजस्थानी लोक संगीत को पूरे उत्तरी भारत में एक अलग पहचान दी है। जिसकी विलुप्ति एक सांस्कृतिक अध्याय की समाप्ति होगी। अत: उसका संरक्षण अति आवश्यक है। मैंने इसे रिकॉर्ड कर कुछ प्रयास इस दिशा में किए हैं, जो कि मन को संतुष्टि प्रदान करते हैं।

ख्याल परंपरा –

शेखावटी ख्याल लगभग 200 वर्ष पूर्व फतेहपुर के प्रहलादीराम पुरोहित तथा झालीराम निर्मल ने 'स्वांत: सुखाय मंडली' बनाकर ख्याल करने शुरु किये, जिनकी कुल संख्या 300 से अधिक है। ख्याल संगीत, नृत्य एवं अभिनय की त्रिवेणी है। ख्यालों के रचनाकार भले ही बड़े साहित्यकार न हों किन्तु उन्हें काव्यशास्त्र का ज्ञान, लोकजीवन का विशाल अनुभव और अभिव्यक्ति की

 CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लोकशैली में सिद्धहस्तता थी और इन्हीं कारकों के कारण ख्यालकारों के कथन में मार्मिकता व काव्यात्मका आ जाती थी। इसे शहद का छत्ता कहें तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। ख्याल में मंच की मर्यादाएं न के बराबर होती थी। पहले मंच की सफाई, पानी छिड़कना तथा फिर सरस्वती वंदना कर ख्याल की शुरुआत की जाती है।

ख्याल, स्वांग व लीलाएं तीन प्रकार के मिलते हैं। ख्यालों में कुचामणी ख्याल, शेखावटी ख्याल व हाथरसी ख्याल मुख्य हैं। नौटंकी ख्याल, मंच के ख्याल, तुर्रा कलंगी व अलीबक्सी ख्याल भी उल्लेखनीय हैं।

ख्याल पूर्णतया संगीतमय काव्य होता है, जिसमें नृत्य भी होता है। जनसाधारण की अनुभूतियों, आकांक्षाओं एवं प्रवृत्तियों का सजीव चित्रण इन ख्यालों में दृष्टिगत होता है।

खयाल गायकी के तीन रुप कुचामणी, शेखावटी व हाथरसी ख्याल इनके रचियता कवियों के जन्मस्थान के आधार पर संबोधित है। इन ख्यालों के प्रणेता श्री लच्छीराम कुचामणी, श्री नैनुलाल राणा शेखावटी तथा पं. नत्थाराम हाथरस के निवासी थे।

ख्याल गायकी में मनोरंजन के साथ-साथ महासामयिक चेतना, सामाजिक जागरण, नैतिक उत्थान, नैतिक मूल्यों का सहज एवं सरल प्रस्तुतिकरण होता था। वचनपालन, दृढ़संकल्प, सहनशीलता, त्याग, क्षमा, दया व विनम्रता के संदेश ख्यालों में मुख्य होते थे। हमें जीवन मूल्यों, जीवन पद्धतियों और परम्पराओं की जानकारी लोकनाट्य देता है।

राजस्थान में इस लुप्त प्राय: विधा के कलाकार आज भी कहीं-कहीं अपनी साख बचाने का असफल प्रयास करते नजर आ ही जाते हैं।

आज आवश्यकता है इन बचे-खुचे कलाकारों को सरकारी संरक्षण की ताकि इस लोक नाट्य विधा को विलुप्ति से बचाया जा सके। इसके लिए संस्थागत प्रयास ज्यादा सार्थक हो सकते हैं। जिस प्रकार महाराष्ट्र सरकार 'तमाशा प्रदर्शन' में लगे कलाकारों को अनुदान प्रदान कर उनका संरक्षण कर रही है, उसी प्रकार राजस्थानी भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अकादमी और संगीत नाटक अकादमी साझा कार्यक्रम बनाकर राजस्थानी संस्कृति की इस गौरवमय प्रस्तुति को बचा सकती हैं। इस संदर्भ में साहित्य भी प्रकाशित करवाया जा सकता है।

□□□

कार्यक्रम अधिशासी
आकाशवाणी, चुरु (राज.) 331001

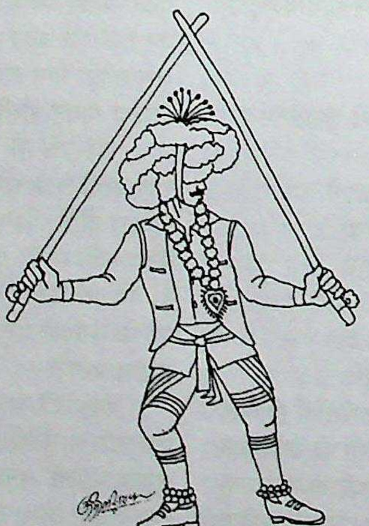

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पंजाब में 'बन्नी' लोकगीत

डॉ.जगन सिंह

कन्या के विवाह के अवसर पर गाये जाने वाले लोकगीतों को पंजाब में सुहाग कहा जाता है। सुहाग कन्या के विवाह के अलावा अन्य किसी अवसर पर नहीं गाये जाते।

भारत में कन्या की विदाई एक करुण प्रसंग है। करुण इस अर्थ में कि विवाह के पश्चात कन्या परायी हो जाती है। उसे माता-पिता का घर, बहन-भाई, सगे संबंधी, सखी-सहेलियाँ, सबको छोड़कर जाना पड़ता है और नये घर में, नये संबंधों के बीच अपनी गृहस्थी बसानी पड़ती है। विदा करने से पहले मां उसे सीख देती है- 'बुलाई हुई आना, बिना बुलाई मत आना।' मायके घर की यादें हैं कि सदा घेरे रहते हैं पर लड़की अपनी इच्छा से मायके नहीं जा सकती। बुलावे की राह तो देखनी ही है। ससुराल और मायका दोनों की इज्जत इसी मे हैं कि लड़की बुलाई हुई, ससम्मान मायके जाय। अपने आप चली गई तो चाहे कुछ न कहे पर सास तो ताना मारेगी ही कि अपने आप चली रहती है। वहाँ कोई घास नहीं डालता। कोई परवाह नहीं करता। दूसरी ओर मायके गई हुई लड़की को ससुराल से कोई बहुत दिनों तक लिवाने न आये तो माँ बाप चिन्ता में डूबने उतराने लगते हैं। पास-पड़ोस के लोगों में चिमेगोइयाँ होने लगती है कि ''इतने दिनों से माँ के घर में बैठी है। कोई लेने नहीं आया। पता नही क्या बात है! ''नौकरी करने वाली आत्मनिर्भर लड़की की स्थिति भिन्न होती है परन्तु संयुक्त परिवार में रहते हुए उसे परिवारजनों, कम से कम पति और सास-ससुर की सहमति अवश्य लेनी पड़ती है, वरना घर मे कलह होने लगती है। मायका पड़ोस में हो तो भी आये दिन अकारण, वहाँ जाकर बैठना संभव नहीं होता और न ही ऐसा करने में कोई समझदारी है। माता-पिता और बहन भाई मन से उसे पराया मान चुके होते हैं। उस घर में उसका स्थान दूसरे बहन भाई ले चुके होते हैं। कहावत भी है कि ''नित जावत से मान घटे, कुछ मांगन से प्रीत घटे।'' मान सिर्फ लड़की का ही नहीं दामाद का भी घट जाता है। ससुराल में पत्नी के मान की रक्षा करना यदि पति का कर्तव्य है तो मायके में पति के मान की रक्षा करना पत्नी का दायित्व है। हालात की बात अलग है। मायके में यदि कोई घटना घट जाये तो लड़की को अवश्य वहाँ जाना चाहिये। ऐसे में उसके सास-ससुर और पति को उसका साथ देना चाहिये। उसे रोकना, उस पर अत्याचार करना है।

भारत में वर पक्ष की स्थिति सामाजिक रुप से जितनी सुदृढ़ है उतनी कन्या के माता-पिता की नहीं है। निम्न और मध्यमवर्ग यहाँ तक कि कुछ स्थितियों में उच्चवर्ग के माता-पिता की लड़की के लिये योग्य वर खोजने में महीनों, कई बार सालों तक जमीन आसमान एक किये रहते हैं। बेटी उच्च शिक्षित हो और ऊँचे पद पर बैठी हो तो उसके समकक्ष वर खोजना बहुत कठिन होता है। वर मिले तो घर ठीक नहीं मिलता। दोनों मिल जाएं तो दहेज की लम्बी चौड़ी मांग सिर नहीं उठाने देती। वर पक्ष वाले दहेज मांगते समय यह नहीं सोचते कि लड़की की देखभाल और और शिक्षा-दीक्षा में लड़के से अधिक खर्च आता है। लड़की नौकरीपेशा हो चाहे न हो, दहेज की मांग किसी भी सूरत में नहीं होनी चाहिये। दहेज एक प्रकार का सामाजिक दंड है जो लड़की के निर्दोष माता-पिता को सहना पड़ता है। बेटी का लेना और माता-पिता का देना जीवन भर चलता रहता है। पर्व-त्यौहार हो अथवा बेटी केघर में विवाह, पुत्र जन्म अथवा कोई अनुष्ठान हो, पिता अथा भाईयों की उसमें भागीदारी एक प्रकार की सामाजिक और भावानात्मक बाध्यता है। भागीदारी के साथ-साथ अपनी हैसियत के अनुसार बेटी को कुछ रकम भी भेंट स्वरुप देनी पड़ती है। माता-पिता को यह विचार चैन से नहीं बैठने देता कि बेटी राह देखती होगी। अगर वे नहीं गये, तो बेटी ससुराल के घर में सिर उठाकर कैसे चलेगी? इसी प्रकार मायके घर में पुत्र-जन्म, विवाह अथवा अन्य कोई अनुष्ठान हो तब भी बेटी को दामाद सहित बुलाना, आदरपूर्वक उनका स्वागत सत्कार करना और जाते समय भेंट स्वरुप कुछ न कुछ देना माता-पिता के लिये अनिवार्य है। यहीं नहीं, बेटी का ससुर दिवंगत हो जाये तो उसके माता-पिता दामाद और उसके भाईयों के लिये पगड़ियाँ लेकर आते हैं। बेटी का देहान्त होने पर कफ़न भी उसके मायके से आता है। पंजाब के हिन्दुओं और सिखों में इस प्रथा का पालन समान रुप से किया जाता है।

बेटों की तुलना में बेटी का का माता-पिता से लगाव अधिक होता है हालांकि वह जन्म से लेकर विवाह होने तक लड़की होने की अवमानना को सहन करती है। लड़की होने के

 CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कारण उसे भाईयों के समान विकास के अवसर नहीं मिलते। भाईयों से कुशाग्र बुद्धि, और योग्य होने के बावजूद घर में उसका स्थान दोयम दर्जे का होता है। इसका कारण हमारी समाज व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत लड़की के ब्याह में अपनी हैसियत से बढ़कर खर्च करना पड़ता है और दहेज देना पड़ता है। दूसरे बुढ़ापे में माता-पिता को पुत्र के साथ रहना पड़ता है। वही उसके बुढ़ापे का सहारा बनता है। बेटी दूसरे घर चली जाती है जहां वे जाकर रह नहीं सकते। बेटियाँ भी यह सोचती हैं कि वृद्धावस्था में माता-पिता की देखभाल करने का प्रमुख दायित्व उनके भाइयों का है। दूसरे घर चली जाने वाली बेटी के प्रति एक कोमल करुण भावना सदा माता-पिता के मन में रहती है। यदि वे परायी हो गयी बेटी पर अधिकार खो देते हैं तो बेटी भी माँ के घर पर अधिकार खो देती है। जिस तरह विवाहित बेटी के मन का दुख माता-पिता को रुलाता है, उसी तरह मायके घर में होने वाली मामूली सी अनचाही घटना भी बेटी के मन का चैन छीन लेती है। लोकगीतों में इन भावनाओं को प्रभावशाली अभिव्यक्ति मिली है।

पंजाब में औपचारिक रुप से बन्नी लोकगीत लड़की के मांइयें बैठने के साथ शुरु होते हैं। शहरों में अब मांइयें बैठने का रिवाज नहीं रहा। परम्परा के अनुसार लड़की को लग्न से तीन दिन पहले मांइयें बैठाया जाता था। पुरोहित जल से भरे कुंभ पर प्रज्वलित दीपक रखकर पूजा करता था। लड़की को लाल सालू ओढ़ा कर पूजा में बैठाया जाता था। सालू लाल रंग की लम्बी चौड़ी सूती ओढ़नी होती थी। कन्या सालू से सिर ढक कर बुक्कल मार कर कुंभ की ओर मुंह करके बैठती थी। साथ में उसकी सहबाली बैठती थी। कुंभ अथवा कलश की पूजा करने के पश्चात पुरोहित लड़की की दायीं कलाई पर 'गाना' बांधता था। गाना पुरोहित बनाते थे। मौली में कौड़ी, सुपारी, हल्दी की गांठ और तांबे का छेद वाला एक पैसा बांधकर गाना बनाया जाता था। अब दिल्ली के खारी बावली बाज़ार में दुकानों पर बने बनाये गाने मिलते हैं। वधू के हाथ में बंधा हुआ गाना ससुराल के घर में वर के हाथ से खुलवाया जाता था। बदले में वधू उसके दायें हाथ में बंधा हुआ गाना खोलती थी।

मांइयें बैठने के बाद लड़की घर के बाहर नहीं जाती। शगुनों के दीपक को वह दिन रात प्रज्वलित रखती है। वह ऊंघ जाये तो उसकी सहबाली दीपक का ध्यान रखती है। उसकी बत्ती उकसाती रहती है। तेल कम हो जाये तो और तेल लाकर डालती है। पुराने दिनों में लड़की जहाँ मांइयें बैठती थी, वहीं बैठी रहती थीं। विवाह के गीत किसी दूसरे कमरे में अथवा घर के बरामदे या आँगन में गाये जाते थे सगे-संबंधी विवाह से आठ दस दिन पहले आ जाते थे। स्त्रियाँ लड़की के दहेज के वस्त्रों पर मोती ओर सितारे टांकती थी। सलमा चढ़ाती थीं और गोटे के फूल बनाकर टांकती थी। दुपट्टों पर किरन और गोटा लगाया जाता था। काम करने के साथ-साथवे सुहाग भी गाती रहती थीं और कई बार द्रवित होकरआंसू पोंछने लगती थीं। अब स्थिति बदल गयी है। सगे संबंधी दो एक दिन पहले आते हैं। वस्त्रों की सिलाई और उन पर ज़रदोज़ी का काम बाज़ार से करवा लिया जाता है।

औपचारिक रुप से सुहाग गाना विवाह से तीन दिन पहले आरंभ होता है। रिश्तेदार और बिरादरी की महिलाओं के अलावा पास पड़ोस की औरतों को भी सुहाग गाने के लिय आमंत्रित किया जाता है। आजकल अधिकतर महिलाओं को विवाह गीत नहीं आते इसलिये यह प्रथा भी लगभग समाप्त हो गयी है। जो लोग इस प्रथा को बनाये रखना चाहते हैं, वे लेडीज संगीत के नाम से दो घंटे का कार्यक्रम रख लेते हैं। एकाध सुहाग गाने के बाद पंजाबी पॉप संगीत का कैसेट लगाकर लड़कियाँ नाचने लगती हैं। लड़की भी अब उस तरह मांइयें नहीं बैठती। पुरोहित जल से भरे हुए कुंभ पर प्रज्वलित दीपक रखने के स्थान पर नारियल रखकर पूजा सम्पन्न करके लड़की के हाथ में गाना बांध देता है। दीपक जलाये रखने की बाध्यता अब नहीं रही। सारा अनुष्ठान बारात से एक दिन पहले सम्पन्न कर लिया जाता है। लड़की को जब किसी सहबाली की आवश्यकता भी नहीं रही। परम्परागत विवाह में सुहाग गाने के लिये महिलाएं रात के समय एकत्र होती हैं। वे घर का काम निपटा कर आती हैं और रात गये तक सुहाग और सुहागों के बाद अन्य लोकगीत गाती हैं। घरों में प्रायः ढोलक नहीं होती इसलिये मंदिर से मांग लाते हैं। ढोलक बजाने वाली गीत के बोल और लय के अनुसार ढोलक बजाती है। उसके सामने एक दूसरी स्त्री ढोलक को घुटनों से सहारा देकर बैठती है और चम्मच से ढोलक की थाप पर खट् खट् करके ताल देती है। शेष स्त्रियां ताली बजा कर साथ देती है। एक अथवा दो स्त्रियाँ गीत के बोल उठाती हैं। शेष स्त्रियां उन बोलों को दोहराती हैं। आरंभ में एक, तीन अथवा पाँच सुहाग गाये जाते हैं, इसके बाद अन्य लोकगीत समां बांध देते हैं। सुहागों के साथ आमतौर पर ढोलक नहीं बनाई जाती या फिर बहुत हल्के हाथ से धीमी लय के साथ बजाई जाती है। थोड़े बहुत स्थानीय अन्तर के साथ पहला सुहाग आरंभ होता है-

कोठा किऊं निवियाँ, कोठा किऊं निवियां?
कोठे दी छत पुराणी, कोठा मेरा तां निवियाँ
बाबल किऊँ निवियाँ, बाबल किऊं निवियाँ?
बाबल दी बेटी कुआरी, बाबल मेरा तां निवियाँ।

(कोठा क्यों झुक गया है? कोठे की छत पुरानी पड़ गयी है और अपना भार न संभाल पाने के कारण झुक गयी है। बाबुल का सदा उठा रहने वाला सिर क्यों झुक गया है? बाबुल का सिर

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

झुक गया है क्योंकि बाबुल की बेटी कुंआरी है)

दादा किऊं निवियाँ, दादा किऊँ निवियाँ?

दादे दी पोती कुआरी, दादा मेरा तां निवियाँ।

(दादा क्यों झुक गया है? दादा झुक गया है क्योंकि उसकी पोती कुंआरी है।)

ताऊ (तायाजी) और चाचा के बारे में भी इसी तरह कहा जाता है। पंजाब के बन्ना लोकगीतों में जहां पूरे परिवार का उल्लेख होता है, वहां बन्नी लोकगीतों में केवल पिता, दादा और चाचा, ताऊ का नामोल्लेख होता है। अधिकांश सुहाग प्रश्नोत्तर शैली में होते हैं।

चंदन दे ओहले-ओह्ले क्यों खड़ी नीं बेटी?

चंदन दे ओहले-ओह्ले क्यों खड़ी?

चंदन दे ओहले-ओह्ले क्यों खड़ी नीं जाइये?

चंदन दे ओहले-ओह्ले क्यों खड़ी?

(बेटी, तू चंदन के वृक्ष की ओट में क्यों खड़ी है?मेरी जाई बेटी, तू चंदन की ओट में क्यों खड़ी है?)

मैं तो खड़ी सां बाबल जी दे पास, बाबल तेरी आस, बाबल वर लोड़िये। नहीं बेटी, किहो जिहा वर लोड़िये?नीं जाइये, किहो जिहा वर लोड़िये? वे बाबल, ज्यों तारिआं विचरें चन्न, चन्नां विचों कान्ह, कन्हैया वर लोड़िये।

(बेटी उत्तर देती है- मैं बाबुल के पास खड़ी थी। हे बाबुल, मेरी आशा आप पर टिकी हुई है कि आप मेरे लिये वर की खोज करेंगे। बाबुल पूछता है)-

मेरी जाई बेटी, तुम्हारे लिये कैसा वर ढूढ़ कर लाऊँ? तुम कैसा वर पाना चाहती हो,बेटी कहती है-हे बाबुल, जिस प्रकार असंख्य तारे में चंद्रमा और चन्द्रमाओं में कान्ह कन्हैया सुशोभित होते हैं, मेरे लिये वैसा ही वर खोज कर लाइये)

नीं बेटी, चंदन दो ओह्ले- ओह्ले क्यों खड़ी?

नीं जाइये, चंदन दे ओहले- ओहले क्यों खड़ी?

मैं तो खड़ी सां दादा जी दे पास, दादा जी तेरी आस, दादा जी वर लोड़िये।

नीं बेटी, किहो जिहा, वर लोड़िये? नीं जाइये, किहो निहा वर लोड़िये?

वे दादा, ज्यों तारियाँ विचों चन्न, चन्नां विचों कान्ह,कन्हैया वर लोड़िये।

(माँ पूछती है- हे बेटी, तू चंदन की ओट में क्यों खड़ी है? बेटी उत्तर देती है मैं दादा जी के पास खड़ी थी। फिर दादा जी को सम्बोधित करके कहती है कि मुझे आपसे बड़ी उम्मीद है कि आप मेरे लिए वर खोजेंगे। दादा जी पूछते हैं-बेटी तुम्हें कैसा वर चाहिए? बेटी उत्तर देती है कि जिस प्रकार असंख्य तारों में चन्द्रमा और चन्द्रमाओं में कान्ह-कन्हेया सुशोभत होते हैं,मुझे उन्हीं कन्हैया जैसा वर चाहिये। आप मेरे लिये कन्हैया जैसे वर की तलाश करें)

(इसी प्रकार का निवेदन बेटी ताया जी (ताऊजी) और चाचा जी से भी करती है। यह ध्यान देने की बात है कि बन्नी लोकगीतों में कोई भी लड़की राम जैसे वर की कामना नहीं करती। सब कान्ह-कन्हैया जैसा सुन्दर, सुरसिक और नटखट वर पाना चाहती हैं जो सखा बनकर उन्हें रिझा सके, उनके साथ रास रचा सके। राम तो मर्यादा पुरुषोत्तम हैं, अपनी और सबकी मर्यादा की रक्षा करते वाले हैं, प्रजावत्सल हैं, दीनों के रक्षक हैं, अपने अनन्य भक्तों और सेवकों से प्रेम करने वाले हैं, इसलिये उनका स्थान बहुत ऊँचा है। उनकी पूजा की जा सकती है परन्तु उन्हें सखा नहीं बनाया जा सकता।

लोकगीतों में बेटी के लिये बाबुल राजा होता है उसका घर महल सरीखा होता है जिसमें वह राजकुमारी की तरह रहती है परन्तु रहना स्थायी नहीं होता। बाबुल का घर 'चिड़ियाँ दा चम्बा' होता है जिसमें बैठकर चिड़ियाँ थोड़ी देर तक चहचहाती हैं फिर फुर्र से उड़ जाती हैं।

साड़ा चिड़ियाँ दा चम्बा वे, बाबल असां उड्ड जाणा।

साड़ी लम्बी उडारी वे, खबरे केहड़े देस जाणा।

(बाबुल, तुम्हारा घर हमारे लिये चम्पा पुष्प की हरी भरी झाड़ी के समान है जिसमें बैठकर चिड़ियाँ थोड़ी देर तक चहकती हैं फिर उड़ जाती हैं। हम भी तुम्हारे इस महल से एक दिन उड़ जायेंगी। हमारी उड़ान बहुत लम्बी है।) पता नहीं हमारा भाग्य हमें किस देश में ले जायेगा।

तेरे महलां दे विच विच वे, बाबल गुड्डियाँ कौण खेडे?

मेरीआँ खेड़ण पोतरियाँ, धीये घर जा अपणे।

तेरे महलां दे विच विच वे, बाबल चरख़ा कौण कत्ते?

मेरीआं कत्तण पोतरीयाँ, धीये घर जा अपणे।

तेरे महलां दे विच विच वे, बाबल डोल नईं लंगदा

इक इट पुटा देवां, धीये घर जा अपणे।

तेरे महलां दे विच विच वे, बाबल मैंनूं प्यास लगे

रस्ते खूह, खुणा देवां, धीये, घर जा अपणे।

साडा चिड़ियां दा चम्बा वे..........

(बेटी पिता से कहती है-मेरे जाने के बाद तुम्हारे महलों में गुड़िया कौन खेलेगा? पिता उत्तर देता है-मेरी पोतियाँ खेलेंगी। बेटी, तू अपने घर जा। बेटी कहती है-मैं चली जाऊंगी, तब तुम्हारे महल के सहन में बैठ कर चरखा कौन कातेगा? पिता उत्तर देता है- मेरी पोतियाँ कातेंगी। तू चिंता मत कर। अपने घर जा। अब बेटी कहती है-तुम्हारे महलों की ड्योढ़ी संकरी है उसमें से मेरा डोला नहीं निकल सकता। पिता उत्तर देता है-मैं ईंटें उखड़वा कर रास्ता बनवा दूंगा। बेटी,तू अपने घर जा। अंत में बेटी कहती है- तेरे महलों में मुझे प्यास लगती है। मैं इतनी दूर, ससुराल घर का रास्ता कैसे तय करुंगी। पिता उत्तर देता

 CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

है- मैं तेरे रास्ते में कुआँ खुदवा दूंगा। तेरे लिये पानी की कमी नहीं होने दूंगा। बेटी, तू अपने घर जा।)

जिस दिन बारात का आना तय होता है उसी दिन सवेरे लड़की को लाल चूड़ा चढ़ाया जाता है। चूड़ा उसके मामा-मम्मी छक्क के साथ लेकर आते हैं। 'छक्क' को उत्तरप्रदेश में भात कहते हैं। छक्क में कई जोड़ी कपड़े, साड़ियाँ, सूखे मेवे, मिठाई आदि होते हैं। लाल चूड़ा भी उसी में होता। बारात से एक रात पहले लड़की को मेंहदी लगाई जाती है। उस समय भी सुहाग गाये जाते हैं अगली सुबह स्नान आदि से निवृत्त होकर लड़की व्रत रखती है। यह व्रत बारात के आने और जयमाला होने के बाद ससुराल से भेजा गया भोजन खाकर खोला जाता है। लड़की के सामने परात या बड़ा थाल रखकर उसमें चूड़ा रखते हैं। मामा-मामी एक एक करके उसके दोनों हाथों में चूड़ा पहनाते है। औरतें इस दृश्य को देखने के लिये एकत्र होती है। साथ-साथ सुहाग भी गाती रहती हैं। दोनों हाथों में चूड़े में सूखे मेवें के साथ चाँदी की कलीरे लटकाये जाते हैं। कलीरे चाँदी के छोटे-छोटे बीच से गहरे, गोल, (आज के दो रुपये जितने) आकार के हल्के लटकन होते हैं। उनमें किनारे पर घुंघरियाँ और बीच में चेन लगी होती है। चेन के सिरे का कुंडा किसी एक चूड़े में फंसा कर दबा दिया जाता है। सूखे मेवे-जिसमें गरी का पूरा गोला, छुहारे और कभी-कभी सूखी खुमानी भी होती है, मजबूत पतली रस्सी अथवा सुतली से पिरोकर कलीरे के साथ एक लड़ी के रुप में बांधते हैं अथवा अलग से किसी एक चूड़े में लटकाते हैं। उस दिन लड़की का लाल सालू हटा लिया जाता है। अब लाल चूड़ा उसकी पहनाए बन जाता है। विवाह के पश्चात लाल चूड़ा ही नव-विवाहिता की पहचान होता है।

परम्परा के अनुसार वर पक्ष वाले बारात लाने से काफ़ी समय पहले कपड़ों से भरा सूटकेश और गहनों की पिटारी (जिसे वरी कहा जाता था) वधू के घर भेज देते थे। वही गहने और कपड़े लड़की को पहनाए जाते थे। अब सब कुछ सुविधा अनुसार कर लिया जाता है। पहले लड़की ज़रदोज़ी के काम का सूट (सलवार कमीज़) पहनकर ऊपर से गोटा लगा दुपट्टा ओढ़ती थी और घूंघट में रहती थी। घूंघट का चलन, शहरों में, कई दशक पहले समाप्त हो गया। सलवार सूट की जगह साड़ी ने ली ली थी परन्तु आजकल लहंगे का चलन है। परम्परा के अनुसार लड़की को चुपके से बारात दिखाई जाती थी। अब यह रिवाज नहीं रहा। लड़की का श्रृंगार पहले नाइन अथवा सखियाँ करती थी, अब ब्यूटी पार्लर वाले करते हैं।

बारात आने पर द्वारपूजा होती है। इसके बाद लड़की दूल्हे को वरमाला पहना कर पति के रुप में उसका वरण करती है। वर भी उसे माला पहनाकर पत्नी का सम्मान प्रदान करता है। इसके बाद लड़की घर के अन्दर चली जाती है और वर को जनवासे में ले जाते हैं। लड़की का ससुर उसके लिये भोजन का थाल भेजता है। उसी भोजन को खाकर वह व्रत खोलती है। इसका प्रतीकात्मक अर्थ यह है कि अब यह कन्या हमारी हुई। आज से इसके भरण-पोषण का दायित्व हमारा है।''

फेरे पड़ने के बाद लड़की की विदाई होती है। विदाई के समय स्त्रियाँ गाती हैं-

हुण की दावा बाबल तेरा, दावा करदा मुंडे दा भाइया
पकड़ खलोता डोले दा बाइया।''....

(हे बाबुल, अब इस लड़की पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं रहा।अब लड़के का पिता उस पर अधिकार का दावा कर रहा है। वह डोले की बाही पकड़कर खड़ा है। इस अवसर पर कोई भी ऐसा नहीं होता जो बिना रोये रह सके। कई बार तो लड़के के पिता की आँखों में भी आंसू आ जाते हैं। आखिर बहनें और बेटियां हर घर में होती हैं।)

हुण की दावा दादा तेरा, दावा करदा मुंडे दा दादा
पकड़ खलोता डोल दा बाइया।

(हे दादा, अब इस पोती पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं रहा। लड़के का दादा अब इस पर अपना अधिकार प्रकट कर रहा है। वह डोले की बाही पकड़ कर खड़ा है।)

''हुण की दावा वीरा तेरा, दावा करदा मुंडे दा वीरा
पकड़ खलोता डोले दा बाइया।

(हे बीर (भाई), अब तुम्हारा बहन पर कोई अधिकार नहीं रहा। लड़के का भाई अब उस पर अपना हक जमा रहा है। वह डोले की बाही पकड़कर उसे अपने घर लेजाने के लिये तैयार खड़ा है।)

इसी प्रकार चाचा और ताऊ के बारे में भी कहा जाता है।

□□□

सी 4-86/2,
सफ़दरजंग विकास क्षेत्र,
हौज़ख़ास, नई दिल्ली-110016
फोन : 011-26854818

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मेघालय की खासी जनजाति का सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परिचय

डा. माधवेन्द्र

सांस्कृतिक संघर्ष वस्तुत: विकास की वह अवस्था होती है जिसमें पुराने-नये, बाह्य-आंतरिक एवं रुढ़ियों-परम्पराओं में से जीवंत एवं प्रगतिशील तत्वों को ग्रहण कर समाज आगे की ओर बढ़ता है। इसमें प्राचीन निष्क्रिय अवधारणायें ध्वस्त होती हैं और नयी मान्यताओं को स्थान मिलता है। इस क्रम में साहित्यिक विकास अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निबाहता है क्योंकि साहित्य मानव का जिन्दा इतिहास होता है। उसमें सांस्कृतिक, सामाजिक एवं मानसिक अवस्थाओं का लेखा जोखा होता है जिससे मानव-विकास के विभिन्न चरणों एवं उनके आंतरिक, बाह्य परिस्थितियों एवं कारणों का पता चलता है। इस दृष्टि से खासी साहित्य की विकास-यात्रा का आरेखन दिलचस्प होगा।

मेघालय के पूर्वी पहाड़ी क्षेत्र में बसे इन खासियों के 'मूल स्थान' की अगर बात करें तो यह जनजाति प्रोटो-ऑस्ट्राइड-समूह के 'मोनख्मेर वर्ग' से सम्बद्ध मानी जाती है जिनका मूल स्थान कम्बोडिया और आस-पास का क्षेत्र था। 'हर खासी कहता है कि उसके पूर्वज किसी अन्य स्थान पर सदियों से रहते थे जो स्वर्ग की तरह था और वहीं से यहां आये। खासी कवि 'सोत्तिजुक' (Sottijuk) या स्वर्ग युग (Golden age) की बात करते हैं। अब कोई खासी परसत्ता की पूजा करता है या उसके बारे में कुछ कहता है तो इस शब्द का प्रयोग करता है।''[1] यद्यपि डा. एच. डब्ल्यू. स्टेन यह निश्चित नहीं कर पाते कि यह संस्कृत के 'सत्ययुग' से लिया गया है या प्राचीन प्रयोग है, परन्तु यह स्वीकार करते हैं कि कुछ लेखक इस युग का उल्लेख 'एइम किसिआर' के रुप में करते हैं।[2] होमीवेल लिंडोह के अनुसार खासियों के पूर्वज नौगोंग, लुम्डिंग और हाफ्लाँग होते हुए यहाँ पहुंचे थे जो 'कुपली नदी के दूसरी ओर था।[3] खासी विद्वान यह भी मानते हैं कि खासी पहले जयंतिया पर्वत क्षेत्र में निवास करते थे, कालान्तर में वे पश्चिमी क्षेत्र की ओर बढ़े और वर्तमान खासी क्षेत्र में निवास करने लगे। ''प्रागैतिहासिक काल में मिले साक्ष्यों के आधार पर सन् 400 ई. के आसपास या इसके पूर्व पश्चिमी चीन के बहुत से लोग तिब्बत के रास्ते बर्मा में आए। किन्तु बर्मा के चिंदविन घाटी में रहने वाली कुछ शक्तिशाली जन-जातियों ने इन लोगों को असम की ओर ढकेल दिया। वही से खासी हिल्स में आये।[4] परन्तु यह तिथि पूरी तरह स्थापित नहीं की जा सकती। खासी कवि सोसोथाम अपनी रचनाओं में मूल स्थान के बारे में यह प्रश्न बार-बार उठाते हैं। 'कि स्नगिं बरिम उ हिन्यूट्रेप्र' में संकलित कविता 'का मेरिलुंग'(Ka Meirilung) में वे पूछते हैं –

"And ye, o babes of morning bright,
ye kites, ye crows, here throw some light
While fast you fly around the earth,
where can be our first home and hearth?
If I can fly as fast as ye,
From here upto twelve year's Journey'

स्पष्ट है कि कवि अपनी मूल स्थान को लेकर एक चीर देने वाली पीड़ा से कराह रहा है। विद्वानों की यह भी मान्यता है कि खासियों का मूल स्थान सुदूर कम्बोडिया था और वहीं से ये लोग वर्तमान खासी क्षेत्र में आकर बसे। खासियों में प्रचलित एक कथा के अनुसार प्रारम्भ में ईश्वर ने स्वर्ग में सोलह परिवार बनाये। ये परिवार पृथ्वी पर प्रतिदिन सुबह खेती करने आते थे और शाम को काम समाप्त करने के पश्चात् 'सोहपेतनेंग सेतु' से, जो स्वर्ग और पृथ्वी के मध्य था, वापस चले जाते थे। एक बार इनमें से सात परिवारों ने ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध कार्य किया। परिणामस्वरूप ईश्वर ने पृथ्वी और स्वर्ग के बीच का सेतु काट दिया जिससे ये उसका मुंह न देख सकें। तभी ये परिवार पृथ्वी पर दुख एवं पीड़ा को भोगने के लिए रह गये। जो अपराध इन परिवारों ने किया था उसका उल्लेख भी एक दंत कथा में मिलता है। इस कथा के अनुसार ईश्वर ने अपने दूत के माध्यम से, जो एक बैल था, पृथ्वी पर मानवों को यह संदेश भिजवाया कि वे अपने भोजन के लिए सुबह शाम सिर्फ एक मुट्ठी चावल पकाएँ और आनन्द से रहें, परन्तु काले कौवे (Raven)

 CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रुपी प्रलोभक के कारण वह बैल ईश्वर का संदेश भूल गया और उसने पृथ्वी पर मानवों को एक सेर (seer) चांवल पकाने के लिए कह दिया। ईश्वर ने जब यह देखा तो नाराज होकर उसने अपनी सुनहली छड़ी से बैल के सभी ऊपरी दाँतों का तोड़ दिया और उसके दाहिने तरफ मारा जिससे उस स्थान पर बगल में गड्ढ़ा हो गया। ईश्वर ने कौवे को भी पकड़कर उसके पंखों को हंडिया की कालिख से काला कर दिया।[5] अधिकांश खासियों का विश्वास है कि उनका सम्बन्ध इन्हीं सात परिवारों से है। जो भी हो, इस संदर्भों से स्पष्ट होता है कि खासी अपना सम्बन्ध अन्यत्र कहीं निवास करने वाले समूह से मानते हैं। समय-समय पर विभिन्न विद्वानों द्वारा खासियों का सम्बन्ध आर्यों से जोड़ने का होता रहा है। होमवेल लिंडोह ने इनका सम्बन्ध हिन्दू सप्तर्षियों से जोड़ने की कोशिश भी की है, परन्तु अधिकांश विद्वान इसे सिरे से इंकार करते हैं और अपने को खासी क्षेत्र का मूल निवासी मानना पसंद करते हैं। श्री आर. सी. मजुमदार भारत की प्राचीन जनजातियों में खासियों का उल्लेख करते हैं जो 'योद्धा' के रुप में प्रसिद्ध थे।[6] इन दंत कथाओं एवं सांस्कृतिक संदर्भों से एक बात जो एकदम स्पष्ट है वह यह कि खासियों की सामाजिक संरचना का स्रोत उनकी प्राचीन सांस्कृतिक विरासत से सम्बद्ध है और यह अवधारणा कि वे सिर्फ बनवासी हैं और उनका सांस्कृतिक उन्नयन ठीक से नहीं हुआ है, ग़लत साबित होता है। यही कारण है कि खासी अपनी संस्कृति को अत्यन्त उन्नत मानते हैं और उनके पोषण एवं संरक्षण के लिए निरंतर प्रयत्नशील भी रहते हैं।

सांस्कृतिक विकास के क्रम में उन्नत दशा की सूचना भाषा एवं साहित्य के विकास से सर्वाधिक मिलती है और अगर इस दृष्टि से विचार करें तो बहुत सकारात्मक संकेत मिलते हैं। खासी भाषा आस्ट्रो-एशियाटिक भाषा परिवार की भाषा है जो तिब्बती-बर्मी और इंडो आर्यन परिवारों की भाषाओं से घिरी हुई है। इस परिवार की अधिकांश भाषाएँ दक्षिण-पूर्व एशिया के कई देशों में बोली जाती हैं। इस भाषा परिवार की कुछ भाषाएँ निकोबार द्वीप समूह एवं भारत के अन्य हिस्सों में बोली जाती है। इस भाषा की तीन मुख्य शाखाओं में सबसे महत्वपूर्ण शाखा मोनख्मेर समूह है जो दक्षिण-पूर्व एशिया में अर्थात उत्तरी और दक्षिणी विएतनाम, लाओस, कम्पूचिया एवं बर्मा तथा मलेशिया के कुछ भागों में बोली जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि खासी भाषा के विकास-क्रम में भारोपीय भाषाओं का सम्पर्क भी प्राचीन काल से ही रहा क्योंकि इनमें तमाम ऐसे शब्द मिलते हैं जो संस्कृत या हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के साथ-साथ अंग्रेजी, अरबी एवं तुर्की से सीधे गृहीत प्रतीत होते हैं परन्तु ध्वनि परिवर्तन के कारण अन्य प्रतीत होते हैं। ki mar (माल) ka shatri (छतरी) U waiar (अं. Wire) ka tala (ताला) ka shabi (चाभी) ka saboun (साबुन) ka tari/shuri (छुरी) ka baje (घड़ी) ka pakha (पंखा) ka istri(इस्त्री) ka kot (अ. किताब) U Khulum (अ. कलम) ka kom (अ. Gum) ka borti (बालटी) ka pela (प्याला) ka klat (अं. Glass) ka shamoit (चम्मच) ka rumar (रुमाल) ka ator (इत्र) ka shador (चादर) ka tusok (तु. तोशक) ka shuki (चौकी) ka synduk (अं. संदूक) ka khanshi (तु. कैची) ka sad (छत) ka ktieh (मिट्टी) ka surok (सड़क) ka baiskop (बाइसकोप) Isbad (इस्पात) ka brot (अं. Bronze) tyrso (सरसो) आदि सैकड़ों ऐसे शब्द मिल जायेंगे जो मूलत: संस्कृत, अंग्रेजी या फारसी आदि से लिये गए हैं, परन्तु इनका रुप इतना बदल गया है कि पहचान में नहीं आते।

अपनी मातृसत्तात्मक सामाजिक संरचना के लिए प्रसिद्ध खासी जनजाति कई कारणों से विशिष्ट है, चाहे वह महिलाओं के प्रति आदरभाव के कारण हो, चाहे 'दरबार' के माध्यम से स्थानीय प्रशासन की व्यवस्था के कारण। समृद्ध सांस्कृतिक विरासत खासी समुदाय को विशेष पहचान प्रदान करती है। खासी साहित्य का विकास खासी समुदाय के बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास के साथ ही हुआ। ब्रिटिश शासन की स्थापना और आधुनिक शिक्षा के प्रसार से मौखिक परम्परा से चली आ रही इनकी साहित्यिक विरासत को लिखित रुप मिलना शुरु हुआ। अगर इतिहास की बात करें तो 1813 तक खासी साहित्य 'वाचिक परम्परा' के माध्यम से ही हस्तांतरित होता रहा। यह वाचिक परम्परा 'फवॉर' अथवा लोकगाथाओं और लोक-काव्य के रुप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ती रही। फॅवार की यह परम्परा 'पुरिस्कम' या फेबल्स और 'परोम' या कहानियों के रुप में मिलती है। परोम के भी दो रुप हैं- एक लघु कहानियों का है और वृहत् रुप लम्बी कहानियों अथवा लघु उपन्यास का है।[7] मौखिक परम्परा में खासी कथा वाचक द्वारा लम्बी कहानी का वाचन संक्षेप में दो-तीन घंटे से लेकर दस-बारह घंटे तक भी हो सकता था। कभी-कभी लोकवाद्यों की संगत के साथ ये लोक-कवि अपनी रचनाओं का सस्वर पाठ या गायन करते थे।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

ईसाई मिशनरियों के आगमन से पूर्व लिखित खासी साहित्य प्राप्त नहीं हैं। इस सम्बन्ध में खासी समुदाय में कई किंवदंतियां प्रचलित हैं। एक कथा के अनुसार समुद्र पार करते समय खासियों के पूर्वजों के हाथ से लिखित साहित्य पानी में गिरकर लुप्त हो गया था। कालान्तर में लिखित परम्परा के अभाव में बहुत सी बहुमूल्य साहित्यिक सम्पदा खो गयी।[8] वाचिक परम्परा के युग में यदि किसी व्यक्ति को लोकसाहित्य का ज्ञान प्राप्त करना होता था तो उसे कथा–वाचक या लोक–गायक का सान्निध्य प्राप्त करना होता था इन कथाओं में जहां प्राचीन काल के गौरवशाली चरित्रों के साहसिक कार्यों का वर्णन किया जाता था, वहीं पशु–पक्षियों, वृक्षों, पर्वतों आदि के बहुरंगी चित्र भी उतारे जाते थे। प्रेम, युद्ध, शिकार, तीरंदाजी और धार्मिक उत्सवों से सम्बन्धित कथाओं की मौखिक परम्परा इनके सामाजिक जीवन का अंग थी और विवाह आदि सामाजिक समरोहों में लोग रात–रात जागकर लोककथाओं को सुनते–सुनाते थे। अपने श्रमसाध्य एवं कठिन पर्वतीय जीवन की कठिनाइयों को सहज बनाने के लिए ये गीतों की सहायता लिया करते थे। खासी एवं जयन्तिया पहाड़ियों में खेतों में काम करते हुए लोग लोकगीतों के मधुर संगीत से अपने श्रम की पीड़ा को कम करते थे। इन गीतों का चरित्र सामुदायिक होता था और उसमें 'लोक' के विविध पक्षों का आशापूर्ण चित्रण होता था। इस संदर्भ में क्रिस्टोफर कॉडवेल का यह कथन सही लगता है कि– ''प्रारम्भिक काव्य निश्चित रुप में एक सामूहिक अनुभूति थी जो उत्सवों में उत्पन्न हुई थी। यह उस प्रकार की अनुभूति नहीं थी जो समूह में भय इत्यादि से उत्पन्न होती है, बल्कि आर्थिक आवश्यकता से बँधे समूहों की सहकारी भावनाओं से उद्‌भूत थी।''[9]

ब्रिटिश राज की स्थापना के कारण जिस नवजागरण का उदय खासी समाज में हुआ, उसने विभिन्न सामाजिक एवं सांस्कृतिक परवित्र्तनों को जन्म दिया। एक ओर उनकी पारम्परिक व्यवस्था में हस्तक्षेप होना शुरु हुआ और दूसरी ओर उन्नति एवं विकास का नया रास्ता भी मिला। खासी समुदाय की राजनीतिक, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और इनके विकास–क्रम के संदर्भ में ब्रिटिश लेखकों के लेखन से कुछ जानकारियाँ मिलती है। उस समय सोहरा (चेरापूंजी) ब्रिटिश सत्ता का केन्द्र था। खासियों की प्रशासनिक व्यवस्था लिंगडो, सोरदार और सिएम जैसे पारम्परिक शासकों के हाथ में थी। 'सन् 1841 तक खासी पहाड़ियों में शांति बनी रही परन्तु सन् 1858 में अंग्रेज–जयन्तिया संघर्ष के पश्चात खासी एवं जयन्तिया क्षेत्र अंग्रेजों के आधिपत्य में आ गया। सन् 1864 में ब्रिटिश सरकार ने सोहरा की जगह शिलांग को जिला प्रशासन का मुख्यालय बनाने का निश्चय किया और सन् 1867 में शिलांग जिला मुख्यालय के रुप में काम करने लगा। आगे चलकर जब 1874 में असम और ईस्ट बंगाल प्रांत का गठन हुआ तब शिलांग उसकी राजधानी बनी।

खासी क्षेत्र में ईसाई मिशनरियों के आगमन के साथ ही इनकी साहित्यिक परम्परा की शुरुआत मानी जा सकती है। सोहरा क्षेत्र में बोली जाने वाली खासी भाषा ही 'मानक भाषा' के रुप में प्रचलन में आयी। **कृष्णचन्द्र पाल ने 1813 में 'न्यू टेस्टामेंट' का अनुवाद खासी में किया जिसकी लिपि बंगला थी।** सन् 1814 में वेल्श प्रेस्बिटैरियल मिशन के थामस जोन्स ने सोहरा में खासी भाषा को लिखित रुप प्रदान कर उसके साहित्यिक विकास का मार्ग प्रशस्त किया। सन् 1842 में थामस जोन्स ने खासी भाषा में एक प्राइमर पुस्तिका लिखी जिसका नाम था – 'का किताब बात हिकाइ का खिटेन कासिया' रोमन लिपि में लिखी गयी यह पुस्तिका खासी भाषा और साहित्य के लिए आरंभिक बिन्दु के समान थी। जोन्स सोहरा क्षेत्र के तीन विद्यालयों के लिए पाठ्य सामग्री तैयार करना चाहते थे और इसी क्रम में उन्होंने इस पुस्तिका की रचना की। उनके प्रयास का परिणाम यह हुआ कि सन् 1858 तक खासी भाषा में 32 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। यद्यपि इनमें से अधिकांश रचनाएँ अनुवादित थी, परंतु इसके माध्यम से खासी लेखकों ने लेखन–शैली की बारीकियों को ग्रहण किया जो आगामी साहित्यिक विकास को गति प्रदान कर सका। सन् 1891 में जॉन राबर्ट्स के निर्देशन में बाइबिल का खासी में अनुवाद किया गया जिसके संशोधित संस्करण बाद के वर्षो में भी प्रकाशित होते रहे। परवर्ती खासी लेखकों और कवियों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में कैथोलिक मिशन ने कई धार्मिक पुस्तकों का अनुवाद किया। सन् 1884 में जॉन राबर्ट्स ने 'ईसॅप' की कई कथाओं का अनुवाद खासी में किया। आगे चलकर एब्राहम और जोसफ की कथाओं का अनुवाद भी राबर्ट्स ने किया। इसके अतिरिक्त जोनाथन स्विफ्ट की 'द विजन ऑफ मिर्जा' का भावानुवाद में खासी में इनके द्वारा ही किया गया। जॉन राबर्ट्स के बाद जीबन रॉय और इनके पुत्र हरिचरण राय ने हिन्दी पौराणिक कथाओं, जैसे रामायण, हितोपदेश तथा चैतन्य महाप्रभु के जीवन–चरित का खासी में रूपांतर किया। आगे चलकर

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अनुवाद की यह परम्परा सोसोथाम इत्यादि ने भी जारी रखी। अतः यह कहा जा सकता है कि आरंभिक खासी साहित्य के विकास में अनुवादों की महत्वपूर्ण भूमिका रही। खासी भाषा और साहित्य के इस आरंभिक काल में खासी समुदाय के शिक्षित वर्ग ने अपनी सांस्कृतिक विरासत को पहचानना शुरु किया। अंग्रेजी शिक्षा–प्रणाली के द्वारा ज्ञान–विज्ञान के नये सोपान खुले जिससे खासी समाज का सीधा सम्पर्क पाश्चात्य संस्कृति से हुआ। परिणामस्वरुप आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के आरंभ के साथ ही अंग्रेज़ियत का प्रभाव इनके ऊपर गम्भीरता से पड़ना शुरु हुआ। खासी समाज को उन्नतिशील एवं जागरुक बनाने के उद्देश्य से सांस्कृतिक मेलजोल एवं साहित्यिक प्रभाव के कारण इनके विकास की प्रक्रिया बड़ी तीव्र रही। इसी क्रम में ईसाई धर्म का प्रभाव भी इन पर अत्यधिक पड़ा। कालान्तर में इसका परिणाम यह हुआ कि ये अपनी पारम्परिक प्रकृति–पूजा को छोड़ने लगे और क्रमशः ईसाई धर्म का प्रभाव इनके ऊपर बढ़ता गया।

खासी का आरंभिक काव्य उपदेश प्रधान और नीतिपरक है। ईसाई धर्म के आदर्शवादी काव्य के अनुवाद के माध्यम से आत्मगौरव, स्वार्थत्याग, कर्तव्य–बोध जैसे ऊंचे आदर्शों की प्रेरणा दी गयी है। खासी लेखन के आरम्भिक दौर में थामस जोन्स एवं विलियम लेविस की महत्वपूर्ण भूमिका है। सन् 1845 से 1850 के दरमियान इन दोनों ने 'हिम्स' के साथ–साथ कई महत्वपूर्ण रचनाओं का प्रकाशन किया। इस समय लोरसिंग खौंगवीर नामक खासी रचनाकार ने भी धार्मिक साहित्य की रचना की जो ईसाई धर्म की मान्यताओं पर ही आधारित थी। स्पष्ट है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक खासी समाज में शिक्षा का प्रचार होने लगा था और उपदेशात्मक या नीतिपरक साहित्य से आगे बढ़कर साहित्यिक अभिरुचि की ओर वे उन्मुख होने लगे थे। उनकी इस मानसिकता को भाँप कर जान राबर्ट्स ने अंग्रेजी की कई कविताओं का खासी भाषा में अनुवाद किया और कुछ मौलिक साहित्यिक रचनाएँ भी कीं। इस प्रकार की रचनाओं में 'की खासी' नाम कविता बहुत प्रसिद्ध है जो लम्बे समय तक खासियों के लिए 'राष्ट्रगीत' की तरह थी।

खासी काव्य परंपरा की अगली कड़ी के रुप में खासी कवि अमजद अली 1868–1926 का महत्वपूर्ण स्थान है। इनका काव्य वाचिका परम्परा और आधुनिक खासी कविता के बीच कड़ी के रुप में है। 'कामिन्तोह' नामक उनका काव्य संग्रह सन् 1888 में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह की कई कविताएं खूब प्रसिद्ध हुई। 'लोबली' कविता में एक घायल सैनिक और उसके सात वर्षीय पुत्र की मार्मिक़ कथा है। 'रुल खासीज' में खासियों को अंग्रेजों पर निर्भर रहने के बजाय आत्मावलम्बी होने का संदेश दिया गया है। 'इएंगरिउ खासी' अर्थात 'खासयों जागो' में खासियों को सत्य, श्रमशीलता, कर्तव्यनिष्ठा आदि सद्गुणों का विकास करने की प्रेरणा दी गयी है। वे खासियों को सच्चे ज्ञान को हृदयंगम करने को कहते हैं तथा अशिक्षा और अज्ञान के विरुद्ध युद्ध छेड़ने का आह्वान करते है। 'रिलिजन' कविता में कवि ने सच्चे धर्म के स्वरुप पर विचार करते हुए उसे 'मुक्ति का द्वार' बताया है। 'जिंगरुअइ इ आ ख्लाड (विदाकाल का गीत) में अमजद अली ने जीवन और मृत्यु के प्रश्नों पर विचार किया है। मृत्यु के सार्वभौमिक सत्य को स्वीकार करते हुए भी वे समय से पूर्व जीवन से पलायन नहीं करना चाहते। मृत्यु के समय अपने प्रियजन को चिरविदा देते हुए वे उसे स्थिरचित होकर मृत्युपथ पर चलने को कहते हैं क्योंकि वहाँ जाकर फिर अपने प्रियजनों से मुलाकात होगी। वे कहते हैं –

'जाओ प्रिय मित्र, मैं भी आऊंगा,
उस प्रिय भूमि के ओर चलते चलो,
मैं भी तो आ ही रहा हूँ
घर की ओर लौटते हुए
भयभीत न हो
मैं तुम्हारे करीब ही हूँ
मैं कल आऊँगा, आज तुम आगे बढ़ो।'[10]

अमजद अली ने अपनी रचनाओं में जीवन के मर्म को अभिव्यक्ति प्रदान की है। उनके काव्य का मानव अपने जीवन का निर्माता स्वयं है। इनकी कविताओं में प्रकृति को भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान मिला है। वस्तुतः इनके लिए मनुष्य भी प्रकृति के एक उपकरण की ही तरह है। प्रकृति एवं मानव की यह एकात्मकता उनकी कविताओं को विशिष्ट बनाती है।

उन्नीसवीं शताब्दी के समापन और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में खासी समाज में सांस्कृतिक पुनर्जागरण की धारा प्रवाहित हुई। पाश्चात्य प्रभाव के चलते खासी परम्पराओं एवं रीति–रिवाजों में परिवर्तन होने शुरु हुए। इस सांस्कृतिक पुनरुत्थान के परिणामस्वरुप साहित्य में नये स्वर सुनाई देने लगे जिनमें राबोन सिंग, जीवन रॉय, राधोन सिंगबेरी आदि के नाम प्रमुख है। इनके अतिरिक्त होमीवेल लिंगडो एवं सोसोथाम ने भी इस नये स्वर को और तीव्रता प्रदान की। राबोन सिंह ने मौखक परम्परा से प्राप्त साहित्य को संकलित कर उसे लिखित रुप प्रदान

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

किया। 1899 में 'का किताब जिंग फवार' का प्रकाशन हुआ जिसमें मौखिक-साहित्य के संकलन के साथ-साथ खासियों के सामाजिक मूल्यों के ह्रास पर चिन्ता व्यक्त की गयी थी। राधोन सिंग बेरी ने भी सांस्कृतिक पुनर्जागरण के क्रम में खासियों के पारम्परिक सांस्कृतिक मूल्यों के विलुप्त होने पर अपनी चिन्ता व्यक्त की। 'उ खासी मिन्ता' एवं 'का स्नेंग तिम्मेन' नामक रचनाओं के माध्यम से उन्होंने पारम्परिक मूल्यों को बचाये रखने को आवश्यक बताया। लेखों एवं कहावतों के संकलन के बहाने उन्होंने सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति आदर उत्पन्न करने का निरंतर प्रयास किया।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान के समानान्तर एक अन्य धारा खासी साहित्य में प्रवाहित होती रही जिसे धार्मिक पुनरुत्थान कहा जा सकता है। इसके अंतर्गत रैवरैण्ड अमीरखा खैन, राबर्ट एवान्स, मोरखा जोसेफ आदि का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। मोरखा जोसेफ की प्रसिद्ध रचनाओं में 'उ जुमई बाह हा रि खासी' अर्थात 'खासी प्रदेश में बड़ा भूकम्प' का नाम लिया जा सकता है जो खासी साहित्य का पहला शोकगीत है। इसी तरह 'का जिंगवन हिअर उ मिनसिएम बखुईद हा रि खासी' अर्थात 'खासी प्रदेश में पवित्र आत्मा का आगमन' है जिसमें धार्मिक पुनरुत्थान के आरम्भ होने का वर्णन है। धार्मिक पुनरुत्थान की काव्य-परम्परा के अंतर्गत 1903 में मोन्डोन बरेह ने 'का जिंगशिशा (सत्य) में सत्य का विवेचन किया है। इन कवियों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से सांस्कृतिक बदलाव को आरेखित करते हुए खासियों के नये सामाजिक चरित्र की ओर संकेत किया जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सन् 1913 से 1940 तक का समय खासी साहित्य के उत्कर्ष का काल था। इस समयावधि में सोसोथाम जैसे समर्थ कवि ने खासी भाषा एवं साहित्य को अत्यधिक ऊँचाई प्रदान की। सोसोथाम की कविताओं में प्रकृति का अनन्त सौन्दर्य अपने अनगढ़ रुप में अभिव्यक्त हुआ है। एक साधारण परिवार में जन्में सोसोथाम पेशे से अध्यापक थे। अपनी काव्य-यात्रा का प्रारम्भ यद्यपि उन्होंने 'दि फवॉर उ एसप' नामक अनूदित रचना से किया था, फिर भी उनकी काव्य-प्रतिभा अकूत थी। सन् 1925 में उन्होंने 'कि पोएट्री खासी' नामक रचना की जिसका पुनर्प्रकाशन 1936 में 'का दुइतारा क्सिआर' (स्वर्णवीणा) नाम से हुआ। इसमें कुछ कविताएँ अंग्रेजी से अनूदित थीं और कुछ उनकी मौलिक रचनाएं थीं। इन कविताओं की पृष्ठभूमि में उनकी वैयक्तिक पीड़ा थी जिसे सोसोथाम ने उदात्त स्वर प्रदान कर मानवीय-पीड़ा के रुप में व्यक्त किया था। सोसाथोम की पत्नी की मृत्यु 1908 में हुई थी। अकेले पांच बच्चों के लालन-पालन का पूरा बोझ सोसोथाम पर था परन्तु इसे भी उन्होंने ईश्वर की देन ही माना।[11] नियति से संघर्ष सांसारिक कष्ट और मृत्यु की अनिवार्यता पर रची गयी कृतियों में 'उ सिब', 'उ सेण्डी' और 'उ तिरोत' कविताएं है जिनमे उनकी व्यक्तिगत दुःख भरी घटनाओं की गहरी अभिव्यक्ति स्थान-स्थान पर देखी जा सकती है। प्रकृति के सौन्दर्य में वे भूलना चाहते हैं -

'अक्सर मैं बादलों से घिरे दिनों में,
प्रकृति की गोद में होता हूँ,
उजले दिन फिर आते हैं,
आसमान फिर स्वच्छ हो जाता है,
जब मैं थक जाता हूँ,
और आँसू बहाता हूँ।[12]

सोसोथाम ने आधुनिक खासी काव्यकला की आधारशिला रखी। उन्होंने अपने लिए नये छन्द-विधान की रचना की। थाम के अनुसार कविता कवि के ह्रदय में स्थित सतत क्रियाशील प्रेरणा की तरह है। इसकी तुलना उन्होंने चार तारों वाले तंत्रीवाद्य दुइतारा से की है। कविता इसी की झंकृति है।[13] सन् 1936 में ही उनकी प्रसिद्ध रचना 'कि स्नगि बरिम उ हिन्युट्रेप' (सात कुटियों के प्राचीन दिन) प्रकाशित हुई जिसमें खासियों के सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक विरासत की खोज की गयी है। इस पुस्तक में खासी जनजाति में प्रचलित मिथकों, किंवदन्तियों, धार्मिक विश्वास एवं जीवन दर्शन, सांस्कृतिक विशिष्टता आदि पर विचार किया गया है। वे लिखते हैं -

'उनका क्या जो जान पायेंगे नहीं
अपना गौरव-जब वह नहीं रह जायेगा। जाज्वल्यमान
पहाड़ियों के चतुर्दिक, और नीचे की गहरी तृणभूमि में,
सभी भावी पीढ़ियों के लिए रहे, यह ज्ञान
भोर से संध्या तक,
हम हैं हिन्यूट्रेप की संतान।'[14]

सोसोथाम के समकालीन कवियों और लेखकों में निहोन सिंग वाह्लांग, ब्रोनात थैक्यू, एल. लेविस आदि आते हैं। वाह्लांग प्रकृति के कवि थे। उनके लिए प्रकृति एक मित्र के समान है जो सबका पोषण करती है। एल. लेविस ने ऋतुओं पर आधारित सुन्दर कविताएं लिखी हैं। लेविस की रचनाओं का महत्व जीवन और विशेषकर

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

प्रकृति के प्रति बदलते हुए दृष्टिकोण के कारण है। 'वसंत ऋतु' का वर्णन करते हुए कवि खासी प्रदेश में बसंत के आगमन पर उल्लास व्यक्त करते हुए कहता है कि धरती जैसे नींद से जागकर अंगड़ाई ले रही है। धरती ने नर्म घास के वस्त्र धारण किये हैं और वृक्ष नये पत्तों और फूलों से सज्जित हो गये हैं। 'का पिरेम' शीर्षक कविता में वसंत की इसी मनोरम सुन्दरता का वर्णन है।

आधुनिक कथा-लेखकों एवं कवियों में प्रिमरोज गैटपोह (सन् 1900-1976) का नाम भी लिया जाता है। इन्होंने कई कहानियाँ और लघु उपन्यासों की रचना की है। इन रचनाओं का संकलन 'सोड़ोग का लिंग्वियर इ्पई' नाम से किया गया है। 'उ लुम राइटौंग वड कि श्केन्न खौंगपौंग, नामक रचना में प्रेम-प्रधान कथाएँ संकलित हैं। इसके अतिरिक्त 'का सोहलिंगजेम', 'का पेराटिरसो' और 'उ सिएर लापालांग' उनके काव्य-संग्रह हैं जिसमें प्रकृति के अनन्त सौन्दर्य के साथ-साथ मानव जीवन के विविध पक्षों का अंकन है।

खासी साहित्य के उपर्युक्त विकास के अतिरिक्त लोक-नाट्य का विकास भी इनमें हुआ परन्तु इसका प्रभाव खासी हिल्स से हटकर जोवाई इत्यादि स्थान पर अधिक था। वस्तुत: लोक-नाट्यों के विकास को सांस्कृतिक त्योहारों से जोड़कर ही उनका अध्ययन किया जा सकता है। साहित्य के रुप में लिखित उनका लिपि-बद्ध रुप आज भी अत्यल्प ही है। सन् 1910 में हरिचरण राय कृत 'का सावित्री' खासी में लिखित पहला नाटक माना जाता है। इसमें मूल कथा तो सावित्री-सत्यवान की है परन्तु पात्रों एवं स्थान का नाम खासी है और कुछ अन्य खासी चरित्रों का समावेश भी इनमें किया गया है। नाटकों में दीनोनाथ रॉय के 'उ दि पस्नमि' का नाम भी लिया जाता है जिसका प्रकाशन 1924 में हुआ था।

सन् 1960 में एफ. एम. पुध ने खासी भाषा और संस्कृति पर आधारित 'लैगुएम नांगनो उ खासी उ वान मिह' नामक रचना प्रकाशित की। सन् 1979 में एच. डब्लू. स्टेन ने 'का हिस्ट्री का किटेन खासी' नामक ग्रंथ लिखा। विक्टर जी. बरेह ने सन् 1957 में 'उ तिरोत सिंग नामक नाटक की रचना की जो 1829 से 1833 तक अंग्रेजी हुकूमत से संघर्ष करने वाले वीर तिरोत सिंग के जीवन पर आधारित था। इसी तरह महत्वपूर्ण रचनाओं मे 'उ मिहस्नगि' नामक नाटक का नाम लिया जाता है जो मोन्डौन बरेह द्वारा रचित था। इसके अतिरिक्त एस. जे. डन्कन, ओ. लामारे, डी. एस. खौंगडप ने भी कई नाटकों की रचना की जो लोक-कथाओं पर आधारित थे।

स्वातंत्र्योत्तर काल की प्रमुख रचनाओं में वी. जी. वरेह की 'का पोएट्री खासी', एफ. एम. पुध की' कि फवार रवाई खासी' का नाम भी लिया जाता है। इनके अतिरिक्त वाह्लांग, क्लास्टर फील्ड खौंगवीर आदि रचनाकारों ने भी अपनी रचनाओं से खासी भाषा एवं साहित्य को समृद्ध किया है। इनमें आधुनिक खासी समाज का चित्रण तो है परन्तु प्रेरणा-स्त्रोत के रुप में प्राचीन ऐतिहासिक लोक-कथाएँ ही हैं।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में खासी भाषा एवं साहित्य में अत्यधिक विकास हुआ। शिक्षण संस्थाओं में खासी की विधिवत एवं व्यवस्थित शुरुआत ने इसके विकास में योगदान दिया। विभिन्न सांस्कृतिक एवं राजनीतिक कारणों से अपनी भाषा एवं संस्कृति के प्रति इनमें अत्यधिक जागरुकता आयी। पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय में खासी विभाग की शुरुआत के साथ ही खासी भाषा एवं साहित्य के क्षेत्र में उच्च शिक्षा एवं अध्ययन का नया द्वारा खुल गया। शोध एवं अनुसंधान के परिणाम स्वरुप जहाँ एक ओर खासी भाषा के विविध पक्षों के आरेखन का कार्य हो रहा है वहीं साहित्य का अध्ययन भी संवेदना एवं शिल्प दोनों ही स्तरों पर किया जा रहा है। इसके साथ ही तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से अन्य विषयों के साथ खासी भाषा एवं साहित्य का विकास हो रहा है। इन सबका सबसे सार्थक परिणाम यह हुआ कि खासी भाषा और साहित्य अपनी क्षेत्रीय सीमा का अतिक्रमण करके राष्ट्रीय स्तर पर अपनी पहचान बना रहे हैं।

❑❑❑

रीडर, हिंदी विभाग
पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय
शिलांग - 793022
मो. 9436163149

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

संदर्भ

1. Khasi Poetry : Origin & Development, H. W. sten - P. 2
2. Khasi Poetry : Origin & Development, H. W. sten - P. 11
3. Khasi Poetry : Origin & Development, H. W. sten - P. 2
4. पूर्वोत्तर भारत और अलगाववाद, चन्द्र भूषण , पृष्ठ- 17.
5. Khasi Poetry : Origin & Development, H. W. sten - P. 7-8
6. Khasi Poetry : Origin & Development, H. W. sten - P. 4
7. Khasi Poetry : Origin & Development, H. W. sten - P. 67
8. Khasi Poetry : Origin & Development, H. W. sten - P. 135
9. Illusion and reality, Christopher caudwele , P. 59
10. Khasi Poetry : Origin & Development, H. W. sten - P. 135
11. Biblical Influence on Pre-independence Khasi Literature, Philpmena Khara Kor PNDM, P. 112
12. उ सिम बाला लाइत का दुइतारा क्सिआर, पृ. 45
13. Khasi Poetry : Origin & Development, H. W. sten - P. 197
14. का आयोम क्सिआर, कि स्नगि वारिम उ हिन्युट्रेप, सोसोथाम

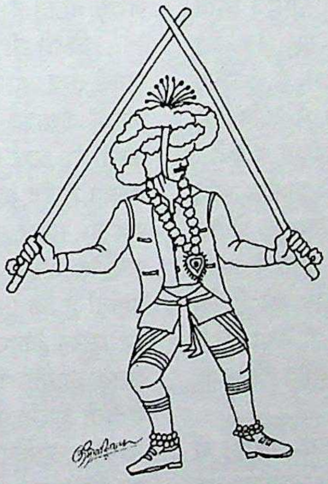

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अण्डमानी लोक-साहित्य

डॉ. व्यास मणि त्रिपाठी

लोक-साहित्य एक ऐसा साहित्य है जिसने सर्वप्रथम मनुष्य के गले में जन्म लया और पीढ़ी दर पीढ़ी आज भी मनुष्य के गले में ही जीवित है। किसी भी जाति के भीतरी तत्वों के उद्घाटन में लोक-साहित्य की महती भूमिका है। यह साहित्य अपने को कई रुपों में प्रकट करता है। इसका एक रुप है-लोक कथाओं का। कथा कहने-सुनने की प्रवृत्ति हर मानव-समुदाय में मिलती है। अण्डमान-निकोबार की आदिम जातियों में भी यह प्रवृत्ति है। अण्डमानी जनजाति की लोक कथाओं में उनके आस्था-विश्वास, रीति-रिवाज, संस्कार, मिथक, टेबूज और टोटेम, जादू और धर्म की अवधारणाएं अनादिकाल से संरक्षित है। इनके माध्यम से उनकी समूची परम्परा, रहन-सहन, मिथकीय संदर्भो के कई अनसुलझे रहस्यों को समझने में काफी मदद मिल सकती है। उनकी आनुष्ठानिक क्रियाओं, कलात्मक अभिव्यक्तियों तथा सौन्दर्य-दृष्टि की परख से उनके अतीत को समझा जा सकता है। इसमें लोक कथाएँ महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह जनजाति आधुनिकता और भौतिकता के संपर्क में है इसलिए उसके आचार-विचार और चिन्तनधारा में यत्किंचित परिवर्तन स्वाभाविक है, फिर भी उनके जीवन में रची-बसी लोक-संवेदनाएँ, लोक-कथाएँ और लोकगीत आदि अपनी अक्षुण्णता बनाए रखते हुए उनके जीवन के विविध आयामों, आस्था-विश्वासों को उद्घाटित करने में अपना योगदान देते रहेंगे। आवश्यकता इस बात की है कि उनका सम्यक अध्ययन और विश्लेषण हो तथा उनसे प्राप्त निष्कर्षों के माध्यम से उनके समग्र अतीत की झांकी प्रस्तुत की जाय।

अण्डमानी प्रजाति लोक-कथाओं के माध्यम से अतीत में पूर्वजों द्वारा किये गये कार्यो का आख्यान नई पीढ़ी से करती रही है। सृष्टि-निर्माण संबंधी पुरातन विश्वास, ईश्वर संबंधी अवधारणा, जीवन-जगत से संबंधित विभिन्न आस्था-विश्वासों की अभिव्यक्ति उनकी लोक-कथाओं में हुई है। सूर्य, चन्द्र, तारे तथा आग के उत्पन्न होने संबंधी आख्यान, जीवन की सहजता में आ रहे विघ्नों के कारण और निवारण संबंधी उपाय, शैतानी आत्माओं की शांति के प्रयास आदि उनकी कथाओं में स्वाभाविक ढंग से आये हैं। उनकी कथाओं में एक भी ऐसा शब्द नहीं है, जो उनकी अपनी ज़िंदगी की आवश्यकता से उत्पन्न नहीं हुआ हो।

अण्डमानी जनजाति की कथाओं के अनुसार उनका ईश्वर 'पुलगा' है। सृष्टि का निर्माण उसी ने किया है। मानव-सृष्टि में 'तोमों' उसकी प्रथम रचना है। उसी ने उसकी सहचरी के रुप में चान-आ-ए-लेवादी का निर्माण किया। उन्हीं दोनों से वंश वृद्धि हुई। पुलुगा ने ही उन्हें जीवनयापन संबंधी उपाय बताया। अण्डानी समुदाय का यह मानना है कि यदि पुलुगा प्रसन्न है, तब सब मंगल ही मंगल है और यदि वह अप्रसन्न है तब संकट आते हैं, विपत्तियां आती हैं। इसीलिए वे 'पुलुगा' को प्रसन्न रखना ज़रुरी मानते हैं।

किसी भी आदिम समुदाय के जीवन में आग सबसे ज़रुरी तत्व रहा है। अण्डमानी प्रजाति में आग की उत्पत्ति संबंधी कथाओं के मिथक उसकी प्राचीनता का द्योतन करते हैं। आग के संरक्षण संबंधी कथाओं से यह पता चलता है कि आग उनके जीवन के लिए कितनी जरुरी रही है। सबसे पहले आग की खोज कैसे हुई, इसी से संबंधित अनेक लोक कथाएं हैं। अंडमानी समुदाय का मानना है कि पुलुगा ने जब प्रथम पुरुष के रुप में तोमो का सृजन किया, तब उसे आग भी प्रदान किया और उसके उपयोग की शिक्षा भी दी। भोजन पकाने के अलावा शैतानी आत्माओं से रक्षा के लिए भी अण्डमानी प्रजाति आग का उपयोग करती रही है। (ई.एच.मान, एवॉरिजिनल इन हैबिटेण्टस आफ दी अंडमान आइलैण्ड्स, पृ.सं. 84) अण्डमानी-लोक कथाओं में आग (जिला कर रखने) संरक्षण संबंधी एक कथा लुराटुट से संबंधित है। उस कथा को यहां इसलिए प्रस्तुत किया जा रहा है ताकि

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आग-संरक्षण संबंधी प्रयत्नों को समझा जा सके। बहुत पुरानी बात है। कोलवोत के देहावसान के बाद उसके उत्तराधिकारी और वंशज आज्ञाकारी नहीं रह गये थे। उनके क्रिया कलापों एवं व्यवहार से पुलुगा (अण्डमानियों का ईश्वर) दुखी और नाराज़ था। यही कारण था कि उन्हें बिना चेतावनी दिये ही उसने एक दिन भयंकर बाढ़ भेज दी जिसमें सब कुछ बर्बाद हो गया। कुछ भी नहीं बचा। पशु-पक्षी कुछ भी नहीं। मनुष्यों में लोरा लोला एवं पोइ लोला नामक दो पुरुष और कालोला तथा रीमा लोला नामक दो स्त्रियां कुल चार लोग नौका में सवार होने से बचे थे। आग जीवन-यापन के लिए सबसे ज़रुरी चीज़ थी-वह भी बाढ़ में बुझ गई थी। शिकार में पाई गई भोज्य सामग्रियों को भूनने से लेकर तीर आदि हथियारों के बनाने तक की कार्यवाही में आग की अनिवार्यता को समझते हुए वे कभी भी आग बुझने नहीं देते थे लेकिन उस बड़ी बाढ़ ने आग बुझाकर उनके जीवन के सामने एक विकट समस्या खड़ी कर दी थी। बचे हुए लोग दुखी और निराश थे। उनके सामने क्षतिपूर्ति का कोई साधन नहीं दिखाई दे रहा था। वे इसी उधेड़बुन में थे कि क्या करें? कैसे भूख मिटाएं। आग कहां से लाएँ? उसी बीच उनका एक मरा हुआ मित्र पक्षी के रुप में प्रकट हुआ। उसका नाम लुराटुट था। उनकी दुर्दशा देखकर वह बहुत दुखी हुआ। उसने उनकी समस्या मिटाने की ठान ली। उनकी मुख्य समस्या आग की थी। इससे मुक्ति दिलाने के लिए वह आकाश में उड़ गया। वह 'पुलुगा' को खोजने लगा। वह जानता था कि पुलुगा के पास आग जरुर होगी। थोड़े प्रयास के बाद उसने पुलुगा को खोज लिया जो आग की बगल में बैठा था। यह देखकर कि आग पुलुगा के पास जल रही है, लुराटुट बहुत खुश हुआ। वह आग हथियाने की तरकीबें सोचने लगा। बिना किसी चूक के वह आग अपने मित्रों तक पहुंचाना चाहता था। इसलिए वह बहुत सतर्क एवं सावधान था। उसने जलती आग का लट्ठा अपनी चोंच में लेकर बड़ी सावधानी के साथ उड़ने का प्रयास किया किन्तु होनी को कौन टाल सकता है? गरम होने अथवा भारी होने के कारण लुआठी लुराटुट से संभली नहीं और वह पुलुगा पर गिर गई। वह दर्द के मारे कराह उठा तथा क्रोध के कारण उत्तेजित हो गया। उसने तत्काल लुआठी लुराटुट के ऊपर फेंक दी। यह संयोग ही था कि उसका निशाना चूक गया। लुराटुट का कुछ भी नहीं बिगड़ा। उसके मित्रों के लिए सुखद बात यह रही कि वह लुआठी उन्हीं के पास जाकर गिरी। अब उनकी खुशी का कोई ठिकाना नहीं रहा। उसी क्षण लुराटुट आकाश से उतरा। वे समझ गए कि आग उसी के प्रयत्नों से आई है। वे उसके इस कृत्य पर बहुत खुश थे। अब उनकी मुसीबतें खत्म हो गई थीं। वे अपना भोज्य पदार्थ भूनकर खा सकते थे। अंधेरे में जानवरों और कीड़े-मकोड़ों से रक्षा कर सकते थे तथा हथियार (तीर-धनुष) बनाने में मदद पा सकते थे। अब उनकी दुर्गति जाती रही। उन्होंने अपनी खुशी का सारा श्रेय लुराटुट को दिया तथा संकटों से मुक्ति दिलाने के लिए उन्होंने उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट की। उसके बाद उन्होंने यह निर्णय लिया कि आग कभी भी बुझने नहीं दी जायेगी। इसीलिए यह जनजाति आग हमेशा जलाए रखती हैं।

प्रारंभ में अण्डमानी प्रजाति कई समुदायों में विभक्त थी। अब उनके समुदायों की संख्या सीमित हो गई है। जो वर्तमान में है-उनमें कुछ अलग-अलग विश्वास और आस्थायें प्रचलित हैं। इसके बावजूद कुछ तथ्यों की समानता है। शहद अण्डमानी प्रजाति का प्रिय खाद्य पदार्थ रहा है। इसकी खोज संबंधी कथाएँ निराली हैं। शहद की खोज के लिए परजीदों के अवदान को अण्डमानी प्रजाति अभी भी याद रखे है। सुअर, कछुआ, मछली आदि के शिकार की कथाओं से उनके शिकार संबंधी कौशल का ज्ञान होता है और भोजन पकाने की विधियाँ मालूम होती है। ये भोजन पकाकर अथवा भून कर खाते रहे हैं। मांस भूनने का तरीका अद्भूत रहा है- जैसे मांस को छोटे-छोटे टुकड़ों में काटकर पत्तों में लपेटना फिर एक गड्ढ़ा खोदकर उसके ऊपरी मुंह पर पत्थर रखकर नीचे की ओर से आग जलाना। इस पत्थर पर लपेटे हुए मांस के टुकड़ों को रखकर दूसरे पत्थरों से दबाना, इन पत्थरों के ऊपर पुनः आग जलाना। इस प्रकार मांस भुन जाया करता था। यह जनजाति इस तरह से भुना हुआ मांस बड़े चाव से खाती थी। ऐसा तरीका सिर्फ उस समय अपनाया जाता रहा है, जब ये लोग शिकार करने जाते रहे हैं, अन्यथा मिट्टी के बर्तनों में मांस उबालते और खाते रहे हैं। यहां यह उल्लेखनीय है कि आधुनिकता के प्रभाव के कारण इनकी परम्पराओ में परिवर्तन हो रहा है।

अण्डमानी लोक कथाओं में रुपातंरण संबंधी कथाएं भी हैं। सर्वशक्तिमान के कुपित होने अथवा प्रेतात्माओं के कारण ऐसा परिवर्तन होता रहा है। चट्टानों के निर्माण, द्वीपों के विभाजन, सूर्य और चन्द्रग्रहण संबंधी आस्था और विश्वास, कछुआ, साँप, डुगांग आदि के जन्म और रुप परिवर्तन संबंधी अनेक कथाएं हैं। यहाँ 'पहला कछुआ'

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लोककथा का सार इसलिए दिया जा रहा है ताकि अण्डमानी जनजाति की रुपान्तरण संबंधी कथाओं को समझा जा सके। 'पुलुगा' (अण्डमानियों का ईश्वर) ने सृष्टि निर्माण करते समय एक ही कछुआ बनाया। वह आकार-प्रकार में बहुत बड़ा था। समुद्र में और कछुए न होने के कारण वह बहुत अकेलापन महसूस करता था। इसलिए वह समुद्र से बाहर निकलकर अण्डमानी समुदाय के बीच आ जाया करता था। उसके आने से अण्डमानी स्त्री-पुरुष और बच्चों की खुशी का कोई ठिकाना नहीं रहता था। वे लोग कछुए को काफी तरजीह देते थे। इस तरह उस कछुए का अण्डमानी लोगों के बीच आने, कुछ समय तक उनके साथ रहने फिर समुद्र में चले जाने का सिलसिला यों ही चलता रहा। एक दिन कछुआ जब अण्डमानी डेरे में आया तब वह थोड़ी देर तक कुछ सोचता रहा फिर कहा-''मित्रों ! ऐसा है कि जब मैं समुद्र में चला जाऊँ, तब अपनी होड़ियों से मेरा पीछा करते हुए मुझे पकड़ो।'' कछुए की यह बात सुनकर अण्डमानी लोगों को काफी हैरानी हुई। उन्हें असमंजस में पड़ा देख कछुए ने फिर कहा-''मैं चाहता हूं कि तुम लोग मेरा शिकार करो। इससे तुम्हें मेरा शिकार करना आ जायेगा।'' इतना कहकर कछुआ समुद्र की तरफ चल दिया। अण्डमानी तीर-धनुष लेकर होड़ियों में सवार होकर उसका पीछा करने लगे। कछुआ पानी में खूब तेजी से तैर रहा था। उनकी नावें उनके पास तक नहीं पहँच पा रही थीं। उन लोगों ने अपने तीरों की बौछार शुरु कर दी लेकिन कछुए की मोटी एवं मजबूत पीठ पर तीरों का असर नहीं हो पा रहा था। वह उनकी पहुंच और पकड़ से दूर काफी तेजी से तैर रहा था। थोड़ी देर बाद उसने पीछे मुड़कर देखा। जब वह आश्वस्त हो गया कि उसका पीछा कर रही होड़ियाँ समुद्र में बहुत अंदर तक आ गई हैं और धरती बहुत पीछे छूट गई है तब वह मुड़ा और होड़ियों के पास आया। फिर न जाने क्या हुआ कि एक-एक कर सब होड़ियाँ उलटने लगीं। उन होड़ियों में सवार लोग समुद्र में डूबने लगे। यद्यपि कुछ लोगो ने तैरने का प्रयास भी किया किन्तु सफलता नहीं मिली। जो समुद्र में डूब गए उनका रुपान्तरण हो गया। वे कछुए बन गये। उनका रुप और आकार वही हो गया, जो उस पहले कछुए का था। इस तरह उस बड़े कछुए की वंश परम्परा चल निकली। जो होड़ियाँ समुद्र में उलट गई थीं, वे सभी चट्टानें बन गईं। उनं चट्टानों को आज भी देखा जा सकता है।

जीवन में कोई असहज स्थिति न उत्पन्न हो, जीवन सुचारु ढ़ंग से चलता रहे-ऐसी कामना प्रायः सभी की होती है। कुछ जनजातियों का मानना है कि जब ईश्वर कुपित होता है, तब संकट उत्पन्न होता है, बिजली गिरती है, तूफान आता है या किसी तरह की भयानक विपत्ति आती है। अंडमानी प्रजाति में भी इससे संबंधित कई तरह की मान्यताएँ प्रचलित रही हैं। अण्डमानी बुरी शक्तियों के बारे में विश्वास करते रहे हैं। उनके अनुसार दो तरह की शैतानी शक्तियाँ हैं, जो समुद्र और जंगल में निवास करती है। इनके अलावा एक ऐसी भी शैतानी शक्ति है, जिसका निवास हवा में है। उसका नाम जिरमू है। उसकी एक सींग और चार पैर हैं। अगर वह किसी व्यक्ति को अकेले जंगल में देखता है तो वह उसके लिए हानिकारक बन जाता है। भोजन ढँककर रखने के पीछे इस समुदाय का विश्वास है कि अगर इसे ढँककर नहीं रखा गया तो शैतानी शक्ति आकर छू देगी जो अनिष्टकारी है। अण्डमानी इस बात में भी विश्वास रखते हैं कि कुछ ऐसी शक्तियां हैं जो शिकार में मदद करती हैं। अण्डमानी जब कभी कछुआ अथवा डुभांग के शिकार पर निकलते हैं तब नौका चालन से पहले वे नौका के ऊपरी भाग पर पानी का छिड़काव करते हैं। उसके पीछे उनकी यह मान्यता है कि ऐसा करके वे समुद्र और नौका को सावधान करते हैं। अण्डमानी समुदाय की मान्यताओं और विश्वासों की अभिव्यक्ति उनके लोकगीतों एवं लोक-कथाओं में हुई है। लोक साहित्य पीढ़ी दर पीढ़ी गतिमान होता है। इस प्रक्रिया में समय के अनुसार उनमें यत्किंचित परिवर्तन और परिवर्धन संभव है किन्तु लोक साहित्य अविनाशी होने के कारण समाप्त नहीं हो सकता। उनमें संचित जीवन मूल्य-एवं संदेश आगे आने वाली पीढ़ी के लिए प्रेरणादायक होते हैं।

□□□

जे.जी. 167, टाइप-4,
जंगलीघाट, पोर्टब्लेयर
अण्डमान-744103
फोन : 03192-232241,233449

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मिजो जनजाति

डॉ. हरिनिवास पाण्डेय

मिजो जनजातियाँ मिजोरम प्रांत में रहती हैं। मिजोरम पूर्वोत्तर भारत का एक ऐसा राज्य है जिसकी भौगोलिक स्थिति इस प्रकार है। यह उत्तर में 22^0 19′ से 24^0 19′ तथा पूर्व में 92^0 16′ से 93^0 26′ के मध्य में स्थित है। इसका क्षेत्रफल 21087 वर्ग कि.मी. तथा यहाँ की जनसंख्या 8,91,058 (वर्ष 2001 की जनगणना के अनुसार) है। राज्य की जनसंख्या का औसत घनत्व 420 व्यक्ति प्रतिवर्ग कि.मी है। यह राज्य पूर्व में वर्मा पश्चिम में त्रिपुरा और बंगलादेश उत्तर में मणिपुर और असम के कछार (जिला) एवं दक्षिण में वर्मा से घिरा है। भौगोलिक दृष्टि से वर्मा उत्तर से दक्षिण 277 कि.मी. और पूर्व से पश्चिम दिशा में 121 कि.मी. तक फैला है। अध्ययन की दृष्टि से मिजोरम को एक आदर्श स्थान के रुप में रखा जा सकता है क्योंकि यहाँ जिओ पोलिटिकलस्टडी की काफी सम्भावनाणं देखने को मिलती है। मिजोरम की अन्तराज्यीय सीमा असम से सटी 123 कि.मी. है तथा यह तीन ओर से अन्तर्राष्ट्रीय सीमा से घिरा है। पूर्व और दक्षिण में वर्मा से सटा 404 कि.मी. तथा पश्चिम में बंग्लादेश से 360 कि.मी. है। यहां काफी घना जंगल पाया जाता है। यहाँ का पहाड़ उत्तर से दक्षिण की ओर झुका हुआ दिखाई देता है। मिजोरम के दक्षिणी भाग में कुछ स्थान ऐसा है जहां से मिजोरम–त्रिपुरा, असम, 'मिजोरम–मणिपुर–असम' और 'मिजोरम–बंग्लादेश–त्रिपुरा' तथा 'मिजोरम–वर्मा–बग्लादेश' के रास्ते उत्तर पूर्व राज्यों में आतंकवादी घटनाओं को भी अंजाम दिया जाता रहा है। यह प्रांत हरी भरी पहाड़ियों से घिरा निर्जन पर्वतीय प्रदेश मालूम पड़ता है। जनसंख्या की दृष्टि ये यहाँ जनजातीय आबादी ज्यादा है। संचार की सुविधा की दृष्टि से अन्य राज्यों की तुलना में से सड़क बहुत ही कम है । कृषि की दृष्टि से यहाँ के लोग झूम खेती पर निर्भर रहते हैं। यह ऐसा राज्य है जो दूसरे पूर्वोत्तर राज्यों की तरह प्रकृति के पालने में झूलता दिखाई देता है। यहाँ की जनजातियों में लुसाई, राल्टे, पैटे, बेटे, पोवी, लाखेर, हमर, टलांगल, पांग, बाम और चकमा का नाम लिया जाता है। ये मंगोलियन नस्ल के हैं तथा चीन के दक्षिणी हिस्से से आव्रजित होकर वर्मा के रास्ते यहाँ आकर बस गये। चकमा मूलत: बंग्लादेश के हैं लेकिन इन्हें भी जनजाति का दर्जा सरकार से प्राप्त है। यहाँ की अधिकांश आबादी इसाई है। ये कुल आबादी का 83.8% है। बौद्ध धर्म मानने वाले 8.19%, हिन्दू 7%, एवं मुस्लिम 0.45% है। साक्षरता की दृष्टि से यह एक ऐसा राज्य है जहाँ 80% जनता साक्षर की श्रेणी में आती है। इतनी साक्षरता के बावजूद यह राज्य आर्थिक दृष्टि से काफी पीछे है क्योंकि अधिकांश शिक्षित जनता शहर में रहती है। यूं तो यह एक पर्वतीय राज्य है जहां सात पहाड़ियों और उनकी घाटियों के सौन्दर्य की खूबसूरती की मिसाल नहीं है। ये सभी पहाड़ियाँ उत्तर से दक्षिण दिशा में देखने में समानान्तर दिखाई देती हैं। चूंकि ये सभी एक सीध में नहीं है इसलिए ये छोटी–छोटी दिखाई देती हैं जिसे स्थानीय बोली में 'ट्लांग' (TLANG) कहा जाता है। ये देखने में 'सैकड़ों पिरामिड के समूह' की तरह मालूम पड़ती है। कुछ साल पहले O.N.G.C द्वारा किये गये सर्वे की रिपोर्ट में छ्ताचुरा रेंज में काफी मात्रा में पेट्रोलियम पदार्थ मिलने की बात कही गयी थी लेकिन अभी उस दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाया जा सका है। पूरे राज्य की भूमि को मुख्य रुप से तीन भागों में बाँटा जा सकता है। 1. पर्वतीय 2. ऊंचा टीला या ऊंची जमीन, 3. समतल या नीची जमीन। पर्वतीय क्षेत्र की ऊंचाई समुद्र तट से 1500 मीटर ऊंची जमीन 2100 मी. एवं समतल या नीची जमीन 600 मी. की ऊंचाई है। कृषि के लिए उपयुक्त अच्छी जमीन बहुत ही कम है अत: अनाज का उत्पादन आवश्यकता की भी पूर्ति नहीं कर पाता है फलत: दूसरे राज्यों से ही आवश्यकता पूरी की जाती है। अत: गावों में यहां अत्यधिक गरीबी देखने को मिलती है। यहाँ की जलवायु सामान्य है गर्मी में यहां का तापमान 11^0 सेंटीग्रेट से 24^0 सेन्टीग्रेट, शरदऋतु में 18^0 सेन्टी. से 25^0 सेन्टी. रहता है। वैसे तो पूर्वोत्तर भारत में मानसून पहले आती है और मई से लेकर सितम्बर तक अच्छी बारिश होती है। पूरे वर्ष की

 CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

वर्षा लगभग 254 सेमी. है। काफी वर्षा के कारण यहाँ के सदैव हरे भरे जंगल मिलते हैं जिसमें विविध प्रकार के वृक्ष और वनस्पतियों के साथ ही कई तरह के बांस का जंगल भी मिलता है। यहां चीड़ ओर देवदार के भी घने जंगल मिलते हैं। यहां के वनों में विविध प्रकार की घास पायी जाती है जिनके सौंदर्य को देखकर सहज ही मन मुग्ध हो जाताहै। यहाँ 'टापीका' नामक एक ऐसा जंगली पौधा मिलता है जो बड़ा ही न्यूट्रियस होता है जिसका यहां के स्थानीय लोग प्रचुर मात्रा में उपयोग करते है। साथ ही यहां विविध प्रजाति के केला हर जगह दिखाई पड़ते हैं । नमें कुछ केलों की व्यावसायिक दृष्टि से अच्छी कीमत होती है। भौगोलिक बनावट और भूगर्भ संरचना के कारण यहां पहाड़ों से कई झरने निकले हैं जो जंगल को हरा-भरा करते ही हैं उनसे खेती में सिंचाई की जरुरत भी पूरी होती है। यूं तो ये अधिकांशत: झूम खेती करते हैं जैसा कि दूसरे पूर्वोत्तर राज्यों की जनजातियाँ करती हैं। इस राज्य की सबसे लम्बी नदी 'तालवंग' है जिसकी लम्बाई 102 कि.मी. है। यह मिजोरम के पश्चिमी भाग में दक्षिण से उत्तर दिशा में बहती है। दूसरी बड़ी नदियों मे 'तुरियल सोनाईका' का नाम लिया जाता है। यह नदी मिजोरम और मणिपुर के बीच सीमा रेखा तय करती है। तीसरी नदी 'छिमतपुइ' राज्य को हरा भरा करते हुए भारत और वर्मा की सीमा निर्धारित करती है। कार्नफुली नदी पूर्व दिशा में बहते हुए बंग्लादेश होते हुए बंगाल की खाड़ी में जाकर गिरती है। इनके अलावा 'टायोनदी' भी मिजोरम और वर्मा के बीच विभाजक रेखा का काम करती है। यहां नदियों के जल को जल संसाधन के रुप में अभी पूरी तरह उपभोग नहीं किया जा रहा है। वैसे तो मिजोरम के पास 31291 टन हाइड्रोपावर उत्पन्न करने की क्षमता है जिससे पूरे राज्य की आवश्यकता का 60% भार आंतरिक साधनों से किया जा सकता है।

मिजोरम एक ऐसा राज्य है जहां समतल जमीन बहुत कम है अत: यहां आबादी बिखरी हुई है तथा कृषि योग्य भूमि अत्यल्प होना इनके पिछड़े होने में सहायक होता है। यहां की जनजातयों का अध्ययन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में करने पर पता चलता है कि अधिकांश जनजातियाँ कुकीचीन समुदाय की है तथा इंडोमंगोलायड जाति की तिब्बतन-वर्मन की एक ब्रांच है। वर्तमान में इन जनजातियों का समूह मणिपुर के चुराचांदपुर, असम के कछार, मेघालय में जयंतिया हिल के पूर्वी भाग और नार्थ त्रिपुरा में रहती है। इसके अतिरिक्त वर्मा और बंगलादेश में फ्रंटियर के उस पार रहती है। गैर मिजो जनजाति के रुप में 'चकमा' और 'रिनांग' है जो राज्य के दक्षिणी-पश्चिमी हिस्से में रहती है। मिजो जनजातियों का प्रारंभिक इतिहास उपाख्यान, परंपराओं, रीति-रिवाजों और उनके विश्वास पर आधारित है। प्रारंभिक प्रशासकों और अध्येताओं को इनका इतिहास जनने में काफी परेशानी का सामना करना पड़ा। यद्यपि असंख्य लोकगीत, लोककथा, आख्यान-उपाख्यान एवं अन्य स्त्रोतों से इनकी प्रारंभिक जानकारी और आव्रजन से सम्बंधित सूचना मिलती है। मिजो समुदाय में अपने आव्रजन के लेकर एक सार्वजनिक विश्वास है कि छिंगलुइंग से चलकर दूसरी जगह गये हैं। वर्तमान में यह स्थान चीन के दक्षिणी हिस्से में स्थित हैं। इनकी लोककथाओं में भी इस बात की पुष्टि मिलती है। इनकी एक लोककथा में इस बात की चर्चा है कि छिंगलुइंग के शक्तिशाली लोगों ने मिजो लोगों को वहां से भगा दिया और इनके पूर्वज छिपते-छिपते गुफा और जंगल के रास्ते एक-एक कर चले आये। इनकी सन्तति को यहां राल्टे उपजनजाति के रुप में जाना गया। दूसरी लोकक़था के अनुसार छिंगलुग स्थान नहीं बल्कि चीन के एक राजकुमार का नाम है जिसे चिनलुंग भी कुछ लोग कहते हैं वह टी. हंग राजा का पुत्र था। राजकुमार किसी कारण से अपने पिता से नाराज था अत: उसने अपना राज्य छोड़ दिया और जाकर वर्मा बस गया। साथ ही इस बात की भी कुछ लोग पुष्टि करते हैं कि मिजो लोग पूर्व दिशा से यहां आये और उनका वास्तविक घर मेकोंग की घाटी में था। इतिहासकार के. जावला इस बात पर विशेष बल देते हैं कि मिजो लोग चिन्दविन बेल्ट से ईसापूर्व 996 में यहां आये और जैसे तैसे सिर्फ 200 वर्ष तक रहे। निर्दयी मुखिया और भीषण अकाल के कारण बहुत लोग मृत्यु को प्राप्त किये बाकी बचे लोगों को स्थान छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा। स्थान छोड़ने से पहले उन्होंने एक बरगद का वृक्ष लगाया और उसको साक्षी मानकर यह प्रण किया कि वे लौटकर फिर उसी जगह वापस आयेंगे। यात्रा के इसी क्रम में उनका पहला पड़ाव लेंग्ट लांग था। यहाँ किसी मुखिया का दबदबा या आतंक नहीं था। हर परिवार अपने समुदाय के साथ-साथ अपनी उपजातियों के साथ अलग-अलग गांवों में आराम से रहने लगे। इनकी उपजातियाँ लुसाई, राल्टे, च्वांगटू, खिनांग्टे, हौनर, चुंगे, गेन्टे, चंगथांग, पुन्टे, पोर्टे आदि हैं। इस प्रकार लेग्टलांग से लेकर वर्तमान मिजो क्षेत्र अपने वास्तविक स्वरुप में 1700 से 1730 ई. के आसपास ही आया। मिजो जनजाति का उत्तर पश्चिम वर्मा से दक्षिण की ओर और फिर पश्चिम की ओर हिन्दी-देशान्तरगमन (माइग्रेसन) के पीछे कई कारण हैं।

 CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

वैसे तो किसी भी जनजाति का किसी नई जगह जाकर बसने के पीछे मुख्य कारण बेहतर सुविधा और कृषि योग्य भूमि का उपलब्ध होना भी है। साथ ही दूसरा कारण असुरक्षा की भावना भी है। एक जनजाति का दूसरी जनजाति से आंतरिक कलह, विवाद, युद्ध फिर शक्तिशाली समूह द्वारा पराजित होने के कारण अधिक सुरक्षित जगह ये तलाशते रहते हैं। इनके देशान्तरगमन के मूल में किसी न किसी रुप में यह भी है। इतिहास तथ्यों और साक्ष्यों को आधार मानता है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि ये पश्चिमोत्तर वर्मा की काबब घाटी से 1814 ई. में यहां के लिए चले थे। विविध कारणों से ये अपना निवास स्थान बदलते रहे। साथ ही 1882, 1911 और 1959 का भीषण अकाल भी इस बात का प्रमाण है। असुरक्षा की भावना चूंकि मिजो लोगों के जीवन का महत्वपूर्ण हिस्सा बन चुकी थी। अत: उन्हें बार-बार आक्रमण का भय सताता रहा। फलस्वरुप ये एक स्थान से दूसरे स्थान की तलाश करते रहे और जंगलों में अंदर से अंदर में जाने को विवश थे। ऊंचे पहाड़ के टीलों पर सामान्यत: हवा की सनसनाहट तेज रहती है और वहां कोई जाना नहीं चाहता अत: उनकी सुरक्षा अप्रत्यक्ष रुप से प्रकृति द्वारा ही होती रही। इसी कारण कुकी जनजाति कभी बाद में जाकर ऊंची पहाड़ी पर बस गई। पराजित कुकी जनजाति अपने केन्द्रिय स्थल से काफी दूर चली गई। यही मुख्य कारण इनके बार-बार जगह परिवर्तन के पीछे रहा होगा। यद्यपि लुसाई हिल एरिया का विभिन्न उपजनजातियों के बीच बँटवारा और समायोजन 1890 ई. में ब्रिटिशों के प्रवेश से हुआ।

मिजो लोगों का जीवन बंदिशों, प्राकृतिक दुर्भिक्षों और भोजन की अनुपलब्धता के बीच जैसे-तैसे चलता रहा। अत: लुसाई लोगों ने बेहतर जीवन के लिए वेस्टवार्ड जाना उचित समझा। क्रमश: वे उत्तर और पश्चिमोत्तर दिशा की ओर क्लान वाइज गये। उनका देशान्तरगमन सर्वप्रथम वर्मा के शान राज्य की केबवघाटी में हुआ। 14 वीं. शती में इन्डोवर्मा फ्रंटियर के चीन हिल में आये और 16वीं. शती के मध्य में मिजो लोगों का पहला समूह नदी पार कर वर्तमान मिजोरम राज्य में आकर बसा और अपना प्रभुत्व स्थापित कर पाया। उस समय उन्हें 'कुकी' नाम से सम्बोधित किया जाता था। कुकी शब्द का अर्थ विविध है। कुकी नाम मैदानी भाग से आये बंगालियों ने जनजातीय लोगों को दिया। इतिहासकार मेजर शेम्बसपियर कुकी और खाटलांग को लुसाई से अलग मानते हैं। कुकी वर्मा से देशान्तरगमन करके चितगोंग हिल पर गये थे। वहां कुकी का तात्पर्य निर्जन प्रदेश या पहाड़ की ऊंची चोटियों पर रहने वाला होता है। असम के कछार जिले में कुकी का तात्पर्य थाडो या खाटलांग जनजाति से है। कुकी जनजाति के कुछ गांवबूढ़ों से पूछने पर उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया कि इन्डोमंगोलायड शाखा की ऐसी जनजाति जो भाषायी और सांस्कृतिक रुप में अन्य से अलग और नागा तथा बोडो जनजाति के संगे संबंधियों के करीब है वही कुकी है। इस संदर्भ में सत्य चाहे कुछ भी हो लेकिन मिजोरम में बसने वाली मिलो जनजातियों में लुसाई अपना अच्छा खासा प्रभुत्व रखती है और यह कुकीचीन ग्रुप से ही संबंधित है। मिजो जनजाति का पहला ग्रुप चीन हिल से देशान्तरगमन करके मिजोरम तथा असम के कछार जिले में गया और उन्हें ही पुराने कुकी (old duki) कहा गया। कुछ प्रमुख जनजातियों का परिचय इस प्रकार है ।

1. लुसाई - यह 10 सामान्य और 6 मुख्य जनजाति का उपसमूह है। दस सामन्य जनजाति में पाचुऔ, छान्गटे, च्वान्गटे, हौमर, चुऔन्गा, चुहांग, हार्से, टोचांग,बांचल्वांग और छाकछुक हैं और छ: मुख्य जनजातियों में जाडेंग, पालिन, थान्गलुह, रिवुंग, रोखुम और सैलो हैं। इनका समूह अपने मूल स्थान से बेहतर जीवन की तलाश में वेस्टवार्ड में जाकर बसा। थांगलुह और रोखुम पहाड़ों को पार करके त्रिपुरा और सिलहट के पास पहुंच गये। इन्होंने जाडेंग का अनुकरण किया। थांगलुह वेस्टवार्ड जाकर देमागिरी तथा बारखल भी गये। पालिन भी उसी रास्ते चलकर जाडेंग के पास पहुंच गये। इस प्रकार ये सभी आस-पास में आरामपूर्वक अपना जीवन यापन करने लगे।

2. पैटे- पैटे जनजाति भी पुराने कुकी समूह से सम्बंधित है। पैटे का तात्पर्य गोरे होता है। यह जनजाति मिजोरम में दो नदियों टियू और रन के बीच एक क्षेत्र विशेष में ही रहती है। जो राज्य के उत्तर पूर्व दिशा में पड़ता है। इस समुदाय के वे लोग जो मिजोरम के मध्य भाग में रहते हैं वे अपनी बोली भी भूल चुके हैं तथा जो मणिपुर के चुराचांदपुर जिले में रहते हैं सिर्फ वही अपनी बोली और सांस्कृतिक परम्परा को बचाये हुए हैं।

3. राल्टे - राल्टे कुकी समूह से संबंधित जनजाति है। ये उत्तर दिशा से आये हुए हैं। चिनहिल से आकर मिजोरम में पहले से बसे डुलिन समुदाय के लोगों ने अपने वश में कर रखा था। इनकी बोली और सामाजिक रीति रिवाज चूँकि अलग थी अत: डुलिन लोगों ने रहने के लिए जमीन गांव के दूसरे किनारे पर दिया। क्षेत्र में पहले से अपना प्रभुत्व रखने वाले लुसाई के गांवों में भी इन्होंने

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रहना शुरु किया जिसमें लेंखुगा, कालहोम और लालरिमा गांव मुख्य है। यूं तो राल्टे ग्रुप ने डालिन और लुसाई के प्रभुत्व को स्वीकार तो किया लेकिन अपनी परंपरा रीति-रिवाज और बोली को बरकरार रखा।

4. रांखोल और थाड़ो – 16 वीं शती के मध्य में रांखोल कछार से यहां आकर बसे लेकिन शीघ्र ही इन्हें थाडो जनजाति ने भगा दिया। थाडो जनजात चिनहिल में लुसाई, रांखोल, और बेटे जनजाति को वहां से भगाकर बसी थी। ये सिर्फ उसी रांखोल को पसंद करते थे जिसको अपनी इच्छा अनुसार बदल सकते थे जो अपनी संस्कृति और परंपरा के प्रति कट्टर थे उसे उन्होंने रहने नहीं दिया। लुसाई चिनहिल से दक्षिण दिशा की ओर पलायन लगभग 1810 ई.में किये और वहां से चलकर मणिपुर के उत्तरी भाग में जाकर बस गये।

5. शेन्दुस – इस जनजाति के अंतर्गत वे सभी जनजातियां आती हैं जिन्हें ब्रिटिशों ने शेन्दुस कहकर पुकारा है हाकचिन, लाखेर और मरास। लेफ्टिनेन्ट फायरश (1841 ई.) ने शेन्दुस का उल्लेख करते हुए उनके 13 वंशजों का नाम उद्घृत किया है। उनमें से कुछ को मेरा वंशज के लोगों ने स्वीकार किया तथा अन्य को पोई के करीब माना। यह जनजाति बड़ी चालाक और महत्वाकांक्षी मालूम पड़ती है क्योंकि दूसरी इन्डोचाइनीज जनजातियों की तुलना में ये काफी जमीन घेरकर रखे थे। लाखेर को अलग जनजाति के रुप में पहचान 1852 में मिली।

6. लाखेर – कैप्टन टिकेल ने ह्यूम या शेन्दुस का उल्लेख करते हुए लिखा है कि यह एक गांव है जहां लाखेर जनजाति रहती है। यह जनजाति वर्मा के चिन डिस्ट्रिक्ट और हमा सबडिविजन में लुसाई हिल के दक्षिण पूर्वी हिस्से में रहती थी। भौगोलिक दृष्टि से यह जनजाति कोलोडायन नदी के पश्चिम और नील पर्वत के दक्षिण दिशा में चिन्हित की गई है लाखेर बस्ती उस नदी के कछार के पास स्थिति है। मार जनजाति के ग्रुप में टालोंगसाई, होथाई, जुहानाह, लिलाइ, शाबू और हिमा लोग थे। शेन्दुज ने उनको दबा करके उनके अस्तित्व को समाप्त कर दिया।

7. चकमा – यह जनजाति राज्य के दक्षिणी पश्चिमी हिस्से में बसी हुई है। चकमा एक अलग जनजाति है जो मिजोरम के दक्षिणी-पश्चिमी भाग में रहती है। यह जनजाति भारतीय-आर्य-परिवार-समूह (इन्डो आर्यन फेमिली ग्रुप) से संबंधित है जिसकी बोली चकमा है। चकमा बंगला का अशुद्ध रुप है तथा इसकी लिपि वर्मी लिपि है। चकमा लोग 19 वीं. शताब्दी में बंग्लादेश के अरकान से आकर छितागोंग हिल पर बस गये। तभी से ये उसी जगह हैं अत: सरकार ने उन्हें भी जनजाति का दर्जा प्रदान किया। कभी-कभी बंग्लादेश के घुसपैठिए जब आते हैं तो यहां की जनजाति काफी विरोध करती है कभी-कभी इस कार्य में चकमा लोगों की भी मिलीभगत रहती है।

मिजोरम में बसने वाली दूसरी जनजातियों में हमर पैटे, रियांग का भी नाम लिया जा सकता है। मिजोरम के उत्तरी पश्चिमी भाग में त्रिपुरा की सीमा तक रियांग और उत्तर पूर्वी भाग में पैटे जनजाति बसी है। चांग, बाम एवं टलागलू राज्य के दक्षिणी हिस्से में तथा पोई जनजाति राज्य के दक्षिण पूर्व दिशा में तथा चकमा जनजाति के इलाके में बसी हुई है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि विभिन्न जनजाति और उप जनजाति इस राज्य में बसने के लिए आयी और विभिन्न इलाकों में बसी फिर भी उनमें आपस में अन्तर जनजातीय संघर्ष भी होता रहा। ब्रिटिशों एवं ईसाई मिशनरी का प्रवेश उनके जीवन में प्यार, स्नेह आपसी सौहार्द तथा भाईचारा के संदेश ने और परिवर्तन लाया। लेकिन उनका आपसी टकराव समाप्त नहीं हुआ। 1855 में कछार (असम) में चाय की खेती प्रारंभ हुई और बागान लगाना शुरु हुआ। देखते ही अत्यल्प समय में कछार बार्डर और लुसाई हिल चाय की खेती में बदल गया। अंग्रेजों ने इसे व्यावसायिक दृष्टि से बड़े पैमाने पर शुरु किया। लुसाई जनजाति के बीच इस बात का प्रचार हुआ कि हमारी स्वतंत्रता, अधिकार प्रभुत्व और शिकार की भूमि का जबरन कब्जा किया जा रहा है और हमकों बेदखल किया जा रहा है। यूं तो 1842 से ही लुसाई लोग अपने पड़ोसी गांवों तथा कछार, सिलहट और मणिपुर के ऊपर एकाएक आक्रमण करके लूटते रहे। 10 अप्रैल 1844 को उनके मुखिया ने अपने साथियों के साथ आक्रमण किया जिसमें बीस लोग मारे गये। पुन: 1849 में सिल्चर से 16 कि.मी दूर रुपचेरा गांव में आक्रमण किया 30 व्यक्ति मारे गये। जनवरी 1850 में 46 लोगों की मृत्यु हुई। तत्कालीन कर्नल लिस्टर नेफौरी कारवाई शुरु की फिर भी इनका संघर्ष रुका नहीं। 1860 में रोथांगपुइया और उसके साथियों ने आक्रमण करके त्रिपुर के एक गांव में 186 लोगों को मार दिया। पुन: 1862 में लुसाई जनजाति के लोगो ने सिलहट के पास तीन गांवों रामदुलाल राममोहनवारी और चन्द्रीपारा को खोजकर काटलीचेरा और अलेक्जेडरपुरा ने जनवरी 1871 में आक्रमण किया जिसमें बहुत लोगों की मृत्यु हो गयी। अब ब्रिटिश शासकों ने यह महसूस किया कि बिना समझौता वार्ता के उनके

 CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लुसाई के बीच संघर्ष समाप्त नहीं हो सकता। साथ ही उन ब्रिटिश चाय बगान के मालिकों का भी व्यावहारिक हित सध नहीं सकता। उसी वक्त उन्होंने तय किया कि लुसाई हिल पर लुसिस लोगों के आक्रमण को रोकने और उन्हें दंडित करने के लिए शक्तिशाली फोर्स भेजी जानी चाहिए।

लुसाई अभियान (1871-72) - इनका प्रथम अभियान (1869 ई.) दरिद्रता के कारण असफल रहा अत: उन्होंनें पुन: 11 जुलाई 171 ई. में दूसरा अभियान शुरु किया। कुछ लोगों को अपने साथ लेकर ये कछार और चितगोंग की ओर प्रस्थान किये। तिपाईमुख के रास्ते कछार पहुंचने वाले सैनिक पहले प्रस्थान किये और जाकर लुसाई चीफ पोइबोई से मिले और वहां से चम्पाई के लिए आगे बढ़े। वहीं सरकार के चीफ से उनकी समझौता वार्ता हुई। तदनुसार सरकार ने उन्हें लालबूढ़ा गांव मुफ्त में दे दिया। चितगोंग के सैनिक कार्नफुली नदी को व्हाया देभागिरी होकर पार किये। रास्ते में लेंगुरा और बन्टूरा के चीफ से उनका संघर्ष हो गया और उन्होंने सुबंगा और लालपुरा गांवों को नष्ट कर दिया। इनके इस साहसिक अभियान का उद्देश्य ब्रिटिश सरकार की वर्तमान नीति का जोरदार ढंग से विरोध और अपनी बात मनवाना था। यूं तो सरकार की फौरी कारवाई ने लुगाई लोगों को आत्मसमर्पण करने के लिए बाध्य कर दिया। इससे पूर्वी लुसाई चीफ की रीढ़ टूट गई और पश्चिमी लुसाई चीफ ने ब्रिटिश सरकार से दोस्ती का संबंध कायम कर लिया और दक्षिण के लुसाई की तरह सभ्यतापूर्वक रहने लगे। इस घटना से कछार के कुकी लोग पोई जनजाति से निर्भय हो गए। धीरे-धीरे इनका व्यापारिक सम्बन्ध सुधरने लगा। सरकार इसी क्रम में बाजार लगवाती थी तथा लुसाई चीफ का भी वार्षिक दरबार लगता था।

लुसाई अभियान (1888-89) - वर्मा युद्ध के दौरान (1885-86) में ब्रिटिशों ने लुसाई हिल में उपद्रव रोकने के लिए काफी सावधानी पूर्ण कदम उठाया। इस क्रम में तीन आर्मी आफिसर लेफ्टिनेंट स्टेवार्ट, बैर्ड और जे. शेक्सपियर दक्षिणी फ्रंटियर पर सर्वे के लिए नियुक्त किये गये। अपने कार्य को सम्पादित करते हुए रंगामाटी में 20 कि.मी. हौस्ता नामक स्थान पर लेफ्टिनेंट स्टेवार्ड और उनके दो सैनिकों को मार दिया गया। सरकार ने इस मुद्दे को उठाकर लुसिस के खिलाफ संघर्ष और कार्यवाही का निश्चय किया। कर्नल ट्रेगर और कैप्टन जे. शेक्सनियर इस अभियान के इंचार्ज थे। सेना ने आगे बढ़कर हौस्ता गांव को जला दिया तथा लुगाली के पास एक किला बनवाया गया। वहां दरबार की व्यवस्था की जाती थी। दूर-दूर से मुखिया आकर सरकार के प्रति अपनी वफादारी व्यक्त करते थे। लेकिन इससे भी केवल अस्थायी शान्ति कायम रह सकी। कुछ दिन बाद उनका उपद्रव मैंदानी भाग में शुरु हुआ। जिसका प्रारंभ सिल्चर और छितगोंग में हुआ। आपरेशन सिल्चर और छितागोंग से शुरु किया गया। इस प्रकार लुसाई हिल के उत्तरी और दक्षिणी छोर पर बसी सभी जनजातियों को नियंत्रित किया जा सका। पहली अप्रैल 1890 को कैप्टन बाउन को नार्थ लुसाई हल का पोलटिकल आफिसर नियुक्त किया गया तथा साउथ लुसाई हिल को एक अलग जिला के रुप में मान्यता दी गई और उसका हेडक्वाटर लुंगली में बनाया गया। पोलटिकल आफिसर इनके आंतरिक मामलों में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करते थे लेकिन इनके इरादों और गतिविधियों पर कड़ी नजर रखते थे। किसी भी रुप में असमान्य स्थिति उत्पन्न करने वालों के खिलाफ कड़ी कार्रवाई की जाती थी। इस प्रकार ब्रिटिश अभियान का सम्पूर्ण ड्रामा लुसिस को नियंत्रित करके ही शांत हुआ। मिजोरम की प्रारंभिक और आज की स्थिति को देखने पर ऐसा लगता है कि मिजो समाज बड़ा ही जटिल, संघर्षशील, लड़ाकू और घुड़सवारी में भी दक्ष रहा है। इनकी सोसायटी विभिन्न जनजातियों और उपजातियों से सजी हुई है और उनमें लुसाई, पैटे, राल्टे, हमर, पोई और लाखेर अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यद्यपि भौगोलिक स्थिति और वातावरण ने सभी जनजातियों की मौलिकता में काफी समानता ला दिया है। प्रभावशाली शैले उपजनजाति में भी दूसरी जनजातियों की संस्कृति देखने को मिलती है। जनसंख्या की दृष्टि से किसी भी गांव की जनसंख्या 5000 से अधिक नहीं है। आइजोल जिले में कुल 400 गांव है जिनमें सिर्फ 6 गांव ही ऐसे है जिनकी आबादी 2000 है। बाकी गांवों में जनसंख्या का अनुपात दो सौ से लेकर दो हजार के बीच है। लुंगली और छिमतपुई जिले में क्रमश: 163 और 170 गांव हैं जिनमें 70% गांवां की आबादी का औसत 200 से 2000 के बीच है। मिजोरम के अधिकांश गांव तलबांग, तुइचांग, तुलीपुरी, कावरपुरी नदियों की घाटी के पश्चिमी भाग में तथा कुछ सड़क के किनारे सिल्चर आइजोल लुंगली और टुइपांग जाने वाले राजमार्ग के दोनों ओर बसी हुई है। यद्यपि यह निर्विवाद रुप से कहा जा सकता है कि मिजोरम अत्यंत पिछड़ा राज्य है न सिर्फ अपनी भौगोलिक बनावट, इन्टीरियर और मैदानी भाग से दूर होने के कारण झूम खेती से यहां के किसान जो अनाज पैदा करते है वे अपनी ही जरुरत

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पूरी नहीं कर पाते तो कृषि से आय की बात करना ही व्यर्थ है।

मिजो सोसाइटी आपस में ताना-बाना की तरह गूंथी है अत: यहां जाति और वर्ग को भेंट नहीं मिलता। इनका सामुदायिक जीवन बहुत ही समझदारीपूर्ण तथा स्वच्छंद है साथ ही अपने सामाजिक स्तर को लेकर इनके मन में किसी भी प्रकार की ग्रन्थि देखने को नहीं मिलती। अत: सभी लोग सामाजिक या धार्मिक उत्सवों में अपने पद सोपान का ध्यान दिये बगैर भाग लेते है। इनका परस्पर व्यवहार इनमें सामुदायिकता को बढ़ावा देता है। इनका हर पर्व सामूहिक नृत्य और संगीत से शुरु होता है यह इनके आपसी प्यार, भाईचारा की भावना प्रतीक होता है। सामूहिक भोज और त्योहार उनके सामुदायिक जीवन को भी विस्तृत आयाम प्रदान करते हैं। इनके सामूहिक पर्व को कुट कहा जाता है। पालकुट, चापचारकुट और मिमकुट इनका बड़ा ही महत्वपूर्ण त्यौहार है। ये सभी पर्व कृषि के सिलसिले में विभिन्न अवसरों पर मनाये जाते हैं। पालकुट पर्व ये फसल की कटाई के बाद और नये वर्ष के प्रारंभ में मनाते हैं। फसल जब पककर तैयार होने और अनाज को काटकर घर में रखने के बाद इस त्यौहार के बचे धूम-धाम से मनाते हैं। चापरकुट पर्व को ये बसन्तोत्सव के रुप में मनाने से पहले लम्बी तैयारी की जाती है। पारंपरिक मिजो नृत्य 'चाई' का आयोजन होता है। नृत्य में पुरुष और स्त्री दोनों समान रुप से भाग लेते हैं। मिमकुट पर्व के अन्तर्गत मृत आत्माओं की प्रसन्नता क लिए पूजा की जाती है। जब खेत में पहली बार मक्का की बुआई की जाती है तब इसे मनाया जाता है। इस त्यौहार की लोकप्रियता इसाई समाज में नहीं है वे इसके बदले 'थालफावंग कुट' मनाते हैं। इनक जीवन में शिकार, जानवरों की बलि, सामूहिक भोज का आयोजन, घर जाने पर देशी शराब पीने के लिए आग्रह अत्यधिक संख्या में अतिथियों को बुलाना इनके जीवन का महत्वपूर्ण हिस्सा है। इस समाज की विशेषता यह है कि गरीबों की मदद ये खुलकर करते हैं यहां कोई भिखारी दिखाई नहीं देता। किसानी जीवन की सरलता इनके जीवन में कूट-कूट भरी हुई है।

□□□

प्रवक्ता, हिन्दी विभाग
रंगफ्राह शासकीय महाविद्यालय
चांगलांग (अरुणाचल प्रदेश)
फोन : 03808-222098

 CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

संस्कृति और समाज : लोक धरोहर में

डा. लोकनाथ सोनी

हरेक संस्कृति की अपनी एक पहचान है, परन्तु कहीं वह क्षेत्रीयता से प्रभावित है, तो कहीं लगातार वाह्य सांस्कृतिक संपर्कों से। परिवर्तन ज्यादातर वाह्य परिवेश में ही दिखाई पड़ता है। समाज की आंतरिक संरचना उसके सामाजिक मूल्यों को बनाये रखने और निरंतर परिपोषित करने का प्रयास करती रहती है, परन्तु नित नये संपर्कों एवं लगातार बाहरी प्रभावों के अंतर्गत होने के कारण बहुत सारी लोक रीतियाँ, ज्ञान और लोकोक्तियाँ विस्मृत होती जा रही है, जो किसी भी संस्कृति के लिए एक अपूरणीय क्षति के समान है। विभिन्न संस्कृतियों में पाये जाने वाले लोकाचार के नियम, सूक्तियाँ, लोकोक्तियाँ, कहावतें, मुहावरों का अपना ही महत्व है और ज्यादातर वे समय की कसौटी पर खरे उतरे हैं। आज भी उन्हें मान्यता प्राप्त है और समय-समय पर लोग बराबर उनका प्रयोग करते रहते हैं।

1979 और 1981 में एक अनुसंधान परियोजना के अंतर्गत मुझे पश्चिमी मध्यप्रदेश के मालवा क्षेत्र में सामाजिक अनुसंधान का अवसर मिला था। उसके अंतर्गत मैंने प्रश्नावली-बुझावनी (बूझनी), पारसी, विभिन्न धार्मिक अवसरों और सांस्कृतिक अनुष्ठानों पर गाये जाने वाले लोकगीतों का संकलन किया था। उनका अभी भी उतना ही महत्व है जितना कि पहले था। मालवा क्षेत्र की अपनी अलग ही सांस्कृतिक पहचान है जो वहां के लोगों की बोच-चाल, पहनावा और रीति-रिवाजों से परिलक्षित होता है। यह क्षेत्र भारत के तीन प्रमुख राज्यों को जोड़ता है मध्यप्रदेश, राजस्थान और महाराष्ट्र। यहाँ की ज्यादातर जनसंख्या आदिवासी है। भील, भीलाला, पटेलिया, बारेला, सहरिया और कोरकु प्रमुखता से पाये जाते हैं। इससे लगे हुए गुजरात के भू-भूभाग में भी भील और उससे संबंधित आदिवासी समूह प्रचुरता में पाये जाते हैं। मालवा, ''माँ'' और ''लव'' दो शब्दों के मूल से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ ''लक्ष्मी का निवास'' है। पश्चिमी मध्यप्रदेश में इस क्षेत्र के अंतर्गत धार, झाबुआ, इंदौर, खरगौन, उज्जैन, रतलाम, खंडवा, गुना, ग्वालियर, शाजापुर, राजगढ़, मंदसौर, देवास और शिवपुरी जिले आते हैं। विन्ध्य, सह्याद्रि और सतपुड़ा पहाड़ियाँ इन आदिवासियों का निवास स्थान है। यहाँ पर ब्राह्मण, राजपूत, बलई और अन्य जातियाँ भी पाई जाती है। यहाँ पर भीलाली, भीली, बारेली, मालवी, निमाड़ी और हिन्दी भाषा बोली जाती है।

प्रश्नावली बुझावनी (बूझनी) सामान्यत: एक खेल के रुप में हंसी-विनोद के लिए खेला जाता है। इसका कोई निश्चित समय नहीं है। शादी-ब्याह और अन्य धार्मिक अवसरों पर जहाँ लोग एक से अधिक संख्या में बैठे हों, इसका आनंद लेते हुए देखे जा सकते हैं। फुर्सत के समय बच्चों और बुजुर्गों को भी यह खेल खेलते हुए देखा जा सकता है, जो कि सामान्यत: शाम का समय होता है। इस समय वे अपने दैनिक कार्यों को पूरा करके अवकाश का आनंद उठाने के लिए तत्पर रहते हैं। उदाहरणार्थ कुछ चुने हुए प्रश्नावलियों को नीचे करता हूँ जो ज्यादातर पद्यात्मक हैं और उनके उत्तर भी बाजू में दिए हुए हैं।

1. काली गाय कलम को खूंटो, लात मारे दूध मीठो - मधुमक्खी
2. नानी सी दड़ी (गेंद), पत्थर से लड़ी - नारियल
3. राते लाड़ी को तेल चढ़ै, उगता सूर्य का फेरा - होली
4. लस्कर सही नारी, सोलह बेटी सात जमाई - चौपड़
5. लाल छड़ी मैदान में गड़ी -शकरकंद/रेतालू
6. हाट जाय बाजार जाय, लहंगा लटकती जाय - ताला
7. अंधियारे घर में दही का छींटो - चिमनी
8. खांडो बैल जितने खवाय उतने खाइयो - घट्टी
9. अंधियारों घर में मूँह टेड़ुवाय - घट्टी
10. अंधियारों घर में ऊंट अड़ियाय - घट्टी
11. नौ सौ औंधा नौ सौ सूंधा - कवेलू
12. अंधियारों घर में दही का टिक्का - रुपया
13. हरी थी मन भरी थी, राजा के महल में खड़ी थी -

 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

ज्वार का पेड़
14. चत्तर चूमा दे गई और मूरख मसले आंख – भभरी
15. धवलो खेत कालो बीज, बोने वाला गाये गीत – कागज़ और पेंसिल
16. भोपाल से आयो भोपा, चार कान माथे टोपा – लौंग
17. खूंटा पे खेती करी और खला में आग लगाई – कुम्हार की भट्टी
18. चार भाई चारे दिशा, मिले तो मिलाय – खाट
19. मारवाड़ से आया चार पाड़ा, उसके मुंह में दो–दो राड़ा – खाट
20. छोटे सो नाद्यो थुल–मथूल, खांधे धोती माथे फूल – मुर्गा
21. आठ पग आड़ो चले, न माथा न मुंडी काढ़े – केकड़ा
22. अंधियारों घर में मटाके बाई बैठी – चरु (लोटा)
23. कालो खेत में नहर का पंजो – अदरख
24. भीथ (दीवाल) फोड्यो, भेरु निकलया – धुआँ
25. काली कुत्ती लाप–झाप, तीन माथा दस पग – चड़स
26. लाल रुमाल धोला भात, दीजो जमाई के हाथ – नारियल
27. ऊपर कुंडो नीचे कुंडो, बीच में नाचे बरगुंडो – नारियल
28. नीचे कटोरा ऊपर कटोरा, बाप से बेटा गोरा – नारियल
29. मारवाड़ से आई ऊँटनी, दो मुंडा और चार पूँछनी – लुगई की काचली
30. यहाँ से फेकूं रास, चली जाय देवास – आंखों की नजर
31. लाल गाय लक्कड़ खाय, पानी पिये तो मरी जाय – आग
32. हाथ–हथेली चंपा डाली, चांद की बहन सूरज की साली – बिजली
33. बीसों का सिर काट दिया, न मारा न खून पिया – नाखून
34. बैल बैठो रस्सी चले, नाक बैठी नकालो चले – कद्दू
35. औंधी कटोरी दही जमाय – कपास
36. तू चल मैं आई – किवाड़
37. दिन प्यारी राते प्यारी, सोवें जदे दूर हावै प्यारी – जूता/चप्पल
38. दिन भरे राते खाली – – गोदड़–मार्ची (ऊलगनी)
39. दिन में खाली, रात में भरी – मोरी (रस्सी)
40. काली गाय करौंदा खाय, पादै उसका नाश जाय – बंदूक
41. एक औरत के भारा भर बाल – खजूर
42. ऊपर से पड्यो टप, नीचे देखो गांड लाल चट – खजूर
43. एक औरत शाम को फल जाती, सुबह होते बह जाती – महुआ
44. आदमी का लंबा–लंबा, औरत की गोल–गोल – टीका, टिक्की
45. दो भाई एक सा सरकते – दरवाजा
46. दो भाई एक पगड़ी से बंधते – बैलों का रास
47. काटो पर कटे नहीं – छांव
48. एक लुगाई काटे तो कटे नहीं – छाया
49. पांच रुपकया, दोन पकड़ी, फेंक दी – रेमट (निटोड़ा)
50. ऊपर से पड़े लामड़ा, उसके नस मिले ना चामड़ा – लैट्रिन
51. लीला घोड़ा लाल लगाम, बिठवा देता पर हाथ फेरने नहीं देता –लैट्रिन
52. बिना माथा का बोकड़ो, डूंगर चरवा जाय – कुल्हाड़ी
53. अपने घरवाली का नहीं लेती, उससे बड़े का लेती – घूंघट
54. हरी तबेली धौला भात, जीमो संतन हाथों हाथ – सीताफल
55. दो भाई की भेले पागड़ी – बबूल का कांटा
56. एक औरत ऐसी जो रोज कुआँ में कूदे – घाघरो
57. छोटो आलयो जिसमें बैठा बत्तीस बाबा – दांत
58. एक फकीर जिसके पेट पर लकीर – गेहूँ
59. चार पैर पर चौसट घड़ी, एक समय ऐसा आया कि नर के उपर नारी चढ़ी – पगड़ी
60. पाँच ने पकड़ी दस ने मरोड़ी, जबान को स्वाद और बत्तीस को रंग आया – पान
61. छोटी सी डिबिया डिब–डिब करे, मानक मोती गिर–गिर पड़े – आँसू
62. बरखा बरसी रात को भीजा सब वन राय, घड़ा डुबायो डूबे नहीं, पंछी प्यासा जाय – ओस
63. एक ना के दो बालक, दोनों एक ही रंग, एक फिरे और एक खड़ा, फिर भी दोनों संग – घट्टी
64. छै पग छापरा, माथा चांद्रा, जो मेरी वार्ता न बूझे, उसका बाप बांदरा – मक्खी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

65. ऊँचे जाट की बेटी, हल्दी भरया रंग, सात देवर छोड़कर, गई जेठ के संग – खजूर
66. बाकी चूकी बंसरी, बजाने वाला कौन, गोरी चली सासरे, मनाने वाला कौन – नदी
67. ओथली में कोथली, कोथली में काथा, बियानजी के घाघरे में, बेबई का माथा – चिलम ओर साफ़ी
68. ए ले पार खांकरी, पेले पार पोई, साठ बरस की डोकरी रिंगड़े सारु रोई –चरखी (गन्ने का रस)
69. आड़ काटू, बाड़ काटूं, काटू शीशम सारा, बिगड़े पानी का मेल बनाया, वो जानवर कैसा –दीमक
70. अड़ काटूं, बड़ काटूं, बड़ का बांधू बहरा, भरी नदी में चौपड़ खेले, हनुमान का चेला –मगर
71. लाल–लाल ललई, बैठी जाई को घलाई, हाथ पकड़े जब हाय–हाय, पहन लो तो अच्छा लगाई – चूड़ा, चूड़ी
72. खड़–खड़ खड़िया, लोहा जड़िया, मार पिराना, डूंगर चढ़िया –कुल्हाड़ी
73. आरसी–पारसी, टांगा पसारसी धौला–धौला निकालसी – आटा
74. आंकसो डांगसो, खाये तो कपूर सो थूके तो फूल सो – गन्ना
75. छै पग जिका तीन बटका (टुकड़ा), घाघरी, लुगड़ी पहन लो, फिर करो चटका – मटका (चांटा)
76. अंबई जाना बंबई जाना, बिना डीट का नींबू लाना, नहीं मिले तो हमारे पास आना – अंडा
77. काका को कान नहीं, काकी के कान, काकी बड़ी चत्तर सुजान – तवा और कढ़ाई
78. ठूंठ ऊपर भूत बैठ्यो, मनख काया सरीखी, हमारी वार्ता बूझो, ओके धोती देवैं हो भाया – बंदर
79. नहार सरी की ऐठक–बैठक, चितला सिर की खाल जो कै पूंछ मिलै न बाल – मेंढक
80. तालाब भरा था, हिरण खड़ा था, तालाब सूख गया, हिरण भाग गया – कंडिल/चिमनी
81. अत्तीस नाड़ा, बत्तीस नाड़ा, बिगर बैल का जोत्या गाड़ा – रेल और मोटर
82. अलंग पलंग लंबी डोर, कौन पकड़े गुंडी का चोर – रेल
83. नानी सी गाय, गुर–गुर जाय, देखिहा जी भाई, हमार गेहूँ न खाय – धनुरिया (गेहूँ का कीड़ा)
84. काली गाय कलम को खूंटो, लाता मारे दूध मीटो – शहद
85. चार थांबों थमरिया, नाग बाबा रमरिया – हाथी
86. अकरी को चकरी, पीले रंग पाई हमारी वार्त न बुझो, जिके बाप बलई – नथ
87. एक सखी बोली, बीच का मिंजा टेढ़ा क्यों, दूसरी सखी बोली, दोनों फांक बराबर क्यों –आँखें
88. धौला घोड़ी लिली (हरी) पूंछ, थके न आवे तो तेरे बाप को पूंछ – मूली
89. लाल या होर (पक्षी), लिली पूंछ
थके न आवे तो तेरी जीजी को मूंछ – तोता
90. लावर झावर तीतर बटेर, चारों को लाओ घेर,
खून–खून थूंकना, और मांस–मांस–खाना – पान
91. चाल गाल काला ढकना, हमारी वार्ता बूझो नहीं बाप डाकना – रत्ती (किरमी)
92. चाल की चक्कर, बोल की मीठी
लौंग खाये, मंसूर की टिक्की – सारस
93. ऊँची गोरी पातली, हल्दी सर को रंग,
ग्यारह देवर छोड़कर, गई जेठ के संग – खजूर
94. पांच पीपल, पदम तलई,
जो इस वार्ता को न बूझे, उसका बाप बलई – हथेली
95. जीके खावे से हाथ घूमे, जी के होवै घाणी,
थे तो पंडा रोटी जिमो, थे घड़ो उठाओ गोरी – अफीम
96. छै बेरा (औरतें) न बारह आदमी, छै ने दो–दो रख्या, एक आई तो बारो रख लिया – गाड़ी का पहिया
97. अत्तर पे पत्थर, पत्थर पे दही
चार चीज दुनिया में नहीं –
रेल में बैल नहीं
नदी का ढक्कन नहीं
आसमान के पैर नहीं
घोड़े के सींग नहीं
98. कौन तपस्वी करै, कौन नित उठ नहाय,
कौन सब रस उगलै, कौन सब रस खाय –
सूर्य तपस्वी तप करै
ब्रह्मा उठ नहाय
इन्द्र सब रस उगलै
तो जमीन सब रस खाय
99. कहाँ न पावक जल सकै, कहाँ न सेंध समाय
कहाँ न अबला कर सकै, कहां काल नहीं खाय –
धर्म न पावक जल सकै
जल न सेंध समाय
त्रिया न अबला कर सकै
जीव न काल खाय
100. एक लड़का था, उसको एक आदमी ने पूछा

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

तेरा बाप कहाँ गया, एक को दो करने गया
तेरी माँ कहाँ गई, वो बाजार गई
वो कब आयेगी, वो आयेगी तो नहीं आयेगी
नहीं आयेगी, तो आयेगी – नदी का पूर (बाढ़)

101. कौन सरोवर पांजवी, कौन पैर बिन डाल
कौन पखेरु पंख बिना, कौन मौत बिन काल –
नैन सरोवर पांजवी, धर्म पैर बिन डाल
जीव पखेरु पंख बिना, नींद मौत बिन काल

102. काली थी कलचूड़ी थी, काले बन में रहती थी
नागझिरे का पानी पीती, आते-जाते का भोग लेती – तलवार

103. न जली तो भली रही, जब बल होती खाक
मेरे कोख से ऐसे जन्में, हरि पसारे हाथ – माता कुन्ती

पारसी भी एक तरह की बुझावनी (बूझनी) ही है और इसका प्रयोग सगाई, आना-लाना (विवाह के बाद) के समय किया जाता है। इसके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं।

1. जंगल जाना लकड़ी लाना, आली (गीली) नहीं लाना, सूखी नहीं लाना
लकड़ी लेकर अल्दी आना, ये पारसी का अरथ बताओ बेवाई जी – सर्प

2. शहर में जाना आटा लाना
दलिया नहीं लाना पिसिया नहीं जाना
आटा लेकर जल्दी आना
ये पारसी का अरथ बताओ बेवाई जी –लकड़ी का भूसा

3. भैंस बियानी पाड़ो पेट में
पीको (दूध) गयो गुजरात
घड़ा मारुजी बूझो हमारी पारसी – अफीम

4. ससुरा सूता बहू हलरावे
सुईजा वो ससुरा बागड़ बोली
बागड़ बोली कान जो कतरी – दही और मक्खन

5. माथे मारे चोंचे चुगे, पेट में नइ पड़े अन्न को आखो
जो जमारी पारसी न बूझे, पराया की बहिन-बेटी झख मराने को राखो – बिंजना (पंखा)

6. हल जुड़े तो डूंगर पड़िये, बैल मां के पेट में
मेरी पारसी का अरथ बताओ, जब जानूँ किरसान – सिंघोड़ा (पानी)

7. बेध (बित्ता) भर लाकड़ा सुतार को दिया
तीन सौ तो बम्मरिया गड़जो, इलपा-झिलपा वापस दीजो
और बेध भर लाकड़ा वापस करियो – दिन और रात

8. सोलह हाथ की साड़ी सिरहाने धरी
सारी-सारी रात वो ठंडा मरी
बूझो हो बेवाईजी हमारी पारसी –पगड़ी

9. लाड़ का छाबा सिरहाने धरी
सारी-सारी रात वे तो भूखा मरी –कांदा

10. अतर की शीशी सिरहाने धरी
सारी-सारी रात वो तो बासा मरी – घासलेट

11. मोतिड़ा से भरी दे परात
तेकर सिर पर ऊंधी धरी
बूझो हो चत्तर हमारी पारसी – आकाश/तारा

12. जदेऊ क मारु जो मेला चलया, जदेऊ कि मारुनी डेढ्या चढ़ बैठी – जूती

13. जदेऊ क मारुजी नहावन बैठा, जदेऊ कि मारुनी कि मारुनी खांधे चढ़ बैठी – पगड़ी

14. जदेऊ क मारुजी जेवन बैठा, जदेऊ कि मारुनी सामे आई बैठी – थाली

15. जदेऊ क मारुजी पोड़न चाल्या, जदेऊ कि मारुनी कि मारुनी खूंटा चढ़ बैठी – पगड़ी

16. लीलो चूड़ो लीली कांचली, लीलो मारुनी को वेश
घड़ा मारुजी बूझो हो बेवाईजी हमारी पारसी
नहीं तो हारो घर की नार – आम (केरी)

17. सोना सर की उजली, जीरा सर का बीज
बूझो हो बेवाईजी हमारी पारसी – महुआ

लोक साहित्य,, लोक रीति, लोक कथा, लोक गीत, लोक नृत्य, लोक नाट्य, लोक संस्कृति के अभिन्न भाग हैं। लोक साहित्य के अंतर्गत बूझनी और पारसी का अपना ही महत्व है। जिस तरह से लोकोक्तियाँ (कहावतें) सटीक और मानवी ज्ञान के चोखे और चुभते सूत्र हैं, उसी तरह से बूझनी और पारसी भी ग्रामीण सांस्कृतिक परिवेश के अनिवार्य हास्य-विनोद और ज्ञान-पिपासा के उदाहरण हैं जिसमें सामान्य ज्ञान की परीक्षा होती है और हास-परिहास का आनंद आता है। सगाई, शादी-ब्याह, आना-जाना, वर-पूजन और जीवन-चक्र के अनेक अवसर ऐसे होते हैं जब इनका खुलकर प्रयोग होता है। बच्चों और बूढ़ों के बीच में बूझनी का अपना महत्व है। यह ज्ञानवर्धन के साथ-साथ आपसी समझबूझ और तालमेल को भी बढ़ाता है।

□□□

8 बैंकपाड़ा, ताल बगान,
पो.आ. नोना चंदनपुकुर
बैरकपुर पं. बंगाल – 743102
फोन : 919433053092

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सूख रहे हैं जनभाषा के स्रोत

कैलाश मण्डलेकर

निमाड़ मालवा और भुआणा में बोली के संकट को लेकर चिंतित तथा छोटे-छोटे समुदायों में लोकभाषा के संरक्षण के मुद्दे को लेकर संगठित भाषा प्रेमियों का हस्तक्षेप इन दिनों जिस तरह उभरकर सामने आ रहा है।उसकी जड़ें काफी पुरानी हैं। अभी जब मैं कथाकार भालचंद्र जोशी का बोली पर केन्द्रित आलेख पढ़ रहा था मुझे एकाएक कबीर की यह पंक्ति याद आ गयी जो भाषायी आभिजात्य के खिलाफ लोकभाषा के समर्थन और जनव्यापी स्वरुप की वकालत करती है। कबीर ने लोकभाषा के पक्ष को भाषायी आंदोलन से जोड़ते हुए कहा था'संसकिरत है कूप जल-भाषा बहता नीर'' भाषा से कबीर का आशय लोकभाषा से ही है। कबीर लोकभाषा की ताक़त पहचानते थे। तत्कालीन विषमताओं तथा सामंती आतंक और सांप्रदायिक विद्वेष से लड़ने के लिए उन्हें संस्कृत की तुलना में जनभाषा बोली ज़्यादा कारगर लगी। कहने का तात्पर्य यह कि लोकभाषा के अस्तित्व की जद्दोजहद नई नहीं है। वह कबीर के ज़माने से है। कबीर का संकट दरअसल उस लोकचेतना संपन्न क्रांतिकारी कवि का संकट था जो भाषागत सौन्दर्य की आड़ में अपने समय के ज्वलंत कहे जाने वाले सवालों को गुमने नहीं देना चाहता था। संस्कृत का देववाणी होना अथवा देवताओं की अभ्यर्थना के लिए वैदिक संस्तुतियों में उपयोगी होना अलहदा मामला है। लेकिन भाषा को तो बहता नीर होना चाहिये। भाषा दरअसल एक ऐसी स्रोतस्विनी के रुप में समाहृत है जो सहस्त्रों कंठो को तृप्ति देते हुए संवादों और प्रतिसंवादों की श्रृंखला रचती है। कबीर इसी जनभाषा के पैरवीकार थे और कदाचित आगे भी भाषा के इसी तेवर की पक्षधरता के लिए लोग सामने आते रहेंगे।

लेकिन कबीर जिस भाषा को बहता हुआ नीर कह रहे थे वह जनभाषा क्या अब भी उसी गति से प्रवाहमान है? क्या अब भी वह उतनी ही स्वच्छ और निर्मल है? और यदि वह प्रदूषित हो रही है तो उसके शोधन की दिशा में किस प्रकार की पहल की जा रही है? भालचन्द्र के आलेख की विषयवस्तु दरअसल इन्ही प्रश्नों के इर्द गिर्द व्याप्त है। इधर जब लोकभाषा के शब्दकोषों के निर्माण तथा लोकभाषा की काव्यगोष्ठियों के आयोजन हो रहे हैं मुझे यह बात बार-बार कुरेदती है तथा इन अनुष्ठानों से जनभाषा की व्याप्ति और संप्रेषणीयता की दिशा में कुछ उत्साह जनक परिणाम सामने आ सकेंगे । मैं सच कहता हूँ मुझे कोई एतराज नहीं है लेकिन वस्तुवाद, यांत्रिकता और नगरीकरण के इन हमलों ने जिस लोकभाषा को आदमी के ह्रदय और कंठ से निष्कासित कर दिया उसे किताब में कितने दिनों तक संरक्षित किया जा सकेगा। उस किताब में जिसकी नियति अंततः किसी पुस्तकालय के जड़ अलमीरे में क़ैद होकर अपनी अकाल मृत्यु की घड़ियां गिनना है। यहाँ ग़ौर करने लायक मुद्दा यह है कि लोक की अभिव्यक्ति और रचनाशीलता में संवेदना तथा अनुभूति परक सच्चाई एक महत्वपूर्ण कारक है। सस्ती तुकबंदियों के जरिये लोक का मुहावरा नहीं गढ़ा जा सकता। इस इलाक़े के लोकभाषा कारों को अपनी अभिव्यक्ति के प्रति सजग और संवेदनशील होने की गहन जरुरत है। कबीर का भाषा बहता नीर संभवतः तभी सार्थक होगा।

यह भी उल्लेखनीय है कि लोकभाषा के संरक्षण का मुद्दा सिर्फ बोली के पक्ष में एक जुट होकर आंदोलन खड़ा करने का नहीं है। हमें यहाँ उस समूची ऐतिहासिकता और सांस्कृतिक कलेवर को खंगालना होगा जिसकी नाभि से शब्द और भाषाएँ अस्तित्व ग्रहण करती हैं। दुभार्ग्यवश हम एक ऐसे समय में ज़िंदा रहने को विवश हैं जहां बाजारवाद अपने समस्त हथियारों से सुसज्जित होकर सामने खड़ा है इस बाज़ारवाद की जद में न तो भाषाएँ पनपती हैं और न ही संस्कृति के बिरवे पल्लवित होते हैं माल और सौदा सुलुफ के इस दौर ने नदी के घाट पर लगने वाले मेले, उत्सव, हाट और चौपालों पर चलने वाली असमाप्त बतकही को खारिज कर दिया। इन मेलों

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

में रिश्तेदारियाँ पनपती थीं और अपरिचितों का मौन टूटता था। लोक भाषा इन्हीं मेलों ठेलों पर बनती थी। शब्द यहीं आकार लेते थे। लोकोक्तियां और मुहावरे यहीं गढ़े जाते थे। दुःख को गीतों में यही परिणित किया जाता था।

अभी ज़्यादा वक़्त भी नहीं बीता है। यही कोई 10-15 वर्ष पीछे लौटकर देखें गांवों में खेतों में हल जोतता किसान चांदनी रातों में हल की मूठ पकड़े हुए हलूर गाया करता था। श्रम का परिहार करने के लिए जो गीत उसने आविष्कृत किये थे वे कहाँ चले गये। किसने उसे बाज़ार प्रतिस्पर्धा में धकिया दिया और यह अपना हल बक्खर छोड़कर ट्रेक्टर पर आ बैठा। यह वही ट्रेक्टर है जो बैंक के कर्ज़े से ख़रीदा है। खेतिहर संस्कृति को सम्पुष्ट करने वाले सारे परंपरागत औज़ार ग़ायब हो गए। हार्वेस्टर, थेसर और यह ट्रेक्टर की यांत्रिकता भी भाषा को क्षति पहुंचा रही है।

वस्तुतः लोकभाषा का अक्षयस्रोत तो शताब्दियों से नदियां ही रही है नदी के तटवर्ती इलाक़ों में मानमनौतियों को पूरा करने वाले देवस्थान भी विलुप्तियों की कगार पर है जब नदी ही नहीं बची तो संस्कृति कैसे बचेगी। इधर मैं देख रहा हूं भूआणे की माचक सयानी टिमरन और गंजाल ही नहीं निमाड़ की आबना और ताप्ती तथा कुन्दा जैसी नदियां भी जलाभाव की शिकार हैं। अनेक नदियां तो फरवरी मार्च में ही सूख जाती हैं। उन पर बने हुए लोहे और सीमेंट के पुल जलदैत्य की तरह भयावह लगते हैं। हमें लोकभाषा की चिंता के साथ लोक जीवन को समृद्ध करने वाली इन मृत प्राय जलधाराओं के बारे में भी सोचना होगा। मुझे मुआणा के लोकभाषा मर्मज्ञ एवं युवा कवि डॉ. धर्मेन्द्र पारे के कविता की कुछ पंक्तियां याद आ गयी।

नदी मरेगी तो याद करेगी मछली
मरेगा आसमान तो ढूंढेंगे पंछी और तारे
दुनिया मरते मरते खोजेगी आदमी
सब चीज़ें बदल रही है।
अब सब कुछ पहले जैसा तय नहीं।

मैं लोकभाषा के साथ हिन्दी को लेकर भी बहुत आशान्वित नहीं हूं। सचाई तो यह है कि मैं उस तरह के आशावाद में यक़ीन नहीं करता जहां बहुराष्ट्रीय कंपनियों की छत्रछाया में लोकभाषा की समृद्धि के ख्वाब बुने जाते हैं। मुझे एक बुद्धिवादी ने बताया कि भैया लोग अपना उत्पादन बेचने अब गावों की तरफ रुख कर रहे हैं। आप देखिये गाँव में माल बेचना है तो भाषा तो सीखनी पड़ेगी। लिहाज़ा ये झक मारकर लोकभाषा का सम्मान करेंगे और बिना कुछ किए धरे लोकभाषाएं सम्पन्न हो जायेंगी। बुद्धिवादी के इस नकारात्मक आशावाद पर केवल चितिंत हुआ जा सकता है। क्या वे नहीं जानते कि चैनलों ने जिस तरह का मार्केट तैयार किया है वहाँ भाषा से ज़्यादा भंगिमा से काम लिया जाता है। आखिर ठंडा-ठंडा कूल-कूल और किसी ठंडे तेल के मार्फत टैंशन से पैंशन तक की शब्दावली किस भाषा की समृद्धि का प्रतीक है। लोकभाषा की चिंता वाजिब है पर इस बाज़ारवादी समय में हिन्दी का भविष्य भी कहां पूरी तरह सुरक्षित है। साहित्य के पैरवीकर और पुरस्कारों के संग्रहकर्ताओं की लिखी किताबें उनके बच्चे तक नहीं पढ़ते। इन दिनों बाज़ार की रौनक बदल रही है और नई पीढ़ी पूरी तरह इस बाज़ार की गिरफ़्त में है। जो बाज़ार नाथ मछौड़ी और घूघरमाल की हाट हुआ करते थे वे लकदक शीशे से सुसज्जित दुकानों में बदल गये इन दुकानों पर मंहगे टी-शर्ट, ट्राउजर, सेंट रिचार्ज और मोबाइल खरीदने वाली पीढ़ी अब सौदा सुलुफ और मोलभाव में भरोसा नहीं करती। माल पर छपी कीमत देखकर बाहर निकल जाती है। अब तो भाषा से ज्यादा मनुष्य को बचाने की चिंता है। विडम्बना यह है कि भाषा और संस्कृति को बचाने के लिए सरकारों पर भरोसा नहीं किया जा सकता सरकार तो अब भी आदिम रहवासियों को उनकी भाषा और संस्कृति से पृथक करके पता नहीं किस मुख्य धारा में लाना चाहती है। जब कि महानगरों की मुख्यधाराएँ गटर से भी बदतर है जहां रात भर डांसक्लबों और बीयरबारों का उच्छिष्ट बहता है।

दरअसल लोकभाषा का यह संकट केवल निमाड़ का संकट नहीं है इस विरोधाभास का शिकार सारे देश की भाषाएं है। बिहार के सांस्कृतिक जीवन से बिदेशिया लोकनाट्य गायब होता जा रहा है। इस नाट्य विधा के जनक भिखारी ठाकुर थे। जिन्हें सारा बिहार बहुत सम्मान देता है। समूचा बिहार इस जन-नाट्य के माध्यम से समाज की बुराईयों और अंधविश्वासों से लड़ता रहा यह दुर्भाग्य है कि सामाजिक उत्थान की दिशा में गंभीर हस्तक्षेप करने वाली यह लोकनाट्य की परंपरागत 'शैली बाज़ार और विस्थापन के आगे हार गयी।

□□□

38, नाका जसवाड़ी रोड
खंडवा (म.प्र.)
मोबा. 9425086855

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

नवऔपनिवेशिक शक्तियाँ और नया यथार्थ

छत्तीसगढ़ में सांस्कृतिक बदलाव पर एक विहंगम दृष्टि

जय प्रकाश

छत्तीसगढ़ का सांस्कृतिक जीवन और उसका यथार्थ तेजी से बदल रहा है। देश को आजादी मिलने के बाद आधुनिक विकास की जो लहर उत्पन्न हुई, उससे यह अंचल अछूता नहीं रहा। 1957 में भिलाई इस्पात संयंत्र की स्थापना के साथ औद्योगिक प्रगति पर क़दम रखने के बाद आज छत्तीसगढ़ बहुत आगे निकल आया है, लेकिन प्रचुर प्राकृतिक संसाधन तथा खेती और उद्योग के पर्याप्त आधारभूत ढांचे के बावजूद विकास और प्रगति के नए पैमाने पर आज भी यह 'विकसित' नहीं माना जाता। दिलचस्प यह है कि विकास की दृष्टि से क्षेत्रीय असंतुलन के चलते जहां पृथक प्रांत-निर्माण के आंदोलन देश के विभिन्न भागों में सक्रिय हुए, वहीं इस तरह के किसी प्रबल जन-आंदोलन के न होने पर भी छत्तीसगढ़ को प्रांतीय स्वायत्तता प्राप्त हुई और सन् 2000 में उसे पृथक राजनीतिक-प्रशासनिक इकाई के रुप में मान्यता मिल गई। यह सही है कि पृथक छत्तीसगढ़ प्रांत की मांग 1950 के दशक से उठाई जा रही थी लेकिन उत्तरांचल या झारखंड आंदोलन की तरह व्यापक जन-समर्थन उसे कभी नहीं मिल सका था। छत्तीसगढ़ राज्य-निर्माण एक तरह से अयाचित वरदान था। राज्य पहले बना, जन-आकांक्षाएँ उससे बाद मे जुड़ीं।

लेकन राज्य-निर्माण के बाद की अवधि के सामाजिक-आर्थिक विकास पर नज़र डालें तो यह कह पाना मुश्किल होगा कि छत्तीसगढ़ सचमुच तरक़्क़ी की किसी नई डगर पर चल पड़ा है। राज्य बनते समय छत्तीसगढ़ की प्रगति का कोई 'ब्ल्यू प्रिण्ट' ही नहीं था, न आज राजनेताओं, योजनाकारों और विकास-चिंतकों ने इसके बहुविध विकास को लेकर कोई मूलगामी विचार-दृष्टि या स्वप्नदर्शिता का परिचय दिया है। बिना किसी सुनियोजित चिंतन या स्वप्न के, यह प्रांत 'विकास' के मार्ग पर अग्रसर है। इसका नतीजा यह है कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के छह दशक से अधिक समय बीतने के बाद भी जहाँ राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं आधुनिकीकरण की शक्तियां ठीक तरह से सक्रिय नहीं हो पाई थीं, वहीं नव-औपनिवेशिक शक्तियों के आकस्मिक हस्तक्षेप के चलते कथित 'विकास' की दिशा का पता ही नहीं चलता। सच कहें तो विकास अब इन्हीं शक्तियों के हवाले है।

इस तरह के विकास का नतीजा वह जटिल यथार्थ है जो छत्तीसगढ़ में पनप रहा है। इस यथार्थ के नव उपनिवेशवादी पहलुओं पर गंभीरतापूर्वक विस्तार किया जाना चाहिए। छत्तीसगढ़ के विकास का यह मार्ग और उसका यह नया यथार्थ, देखा जाना चाहिए कि, जन-आकांक्षाओं को चरितार्थ करता है, अथवा नहीं। इसे समझने के लिए औपनिवेशिक और नव औपनिवेशिक शक्तियों के चरित्र को समझना आवश्यक है।

नवउपनिवेशवाद और उसकी परिणतियाँ

उपनिवेशवाद शक्तिशाली राष्ट्रों द्वारा कमजोर देशों पर वर्चस्व कायम कर उनके आर्थिक संसाधनों की निर्मम लूट के मक़सद से प्रेरित रहा है। औपनिवेशिक लूट और औद्योगिक क्रांति के चलते यूरोपीय देशों में पूंजी-संचय की प्रतिस्पर्धा ने आक्रामक राष्ट्रवाद को जन्म दिया जिसका परिणाम उन्नीसवीं सदी के सैन्य-राजनीतिक संघर्ष और बीसवीं सदी के आरंभ में विश्वयुद्ध के रुप में दिखाई देता है। औपनिवेशिक लूट का औद्योगिक क्रांति की सफलता में बड़ा योगदान है। औद्योगिक क्रांति के चलते आर्थिक संवृद्धि की दर तेजी से बढ़ी और उसी अनुपात में पूंजी का संचय हुआ। मार्क्स ने पूंजी के निर्बाध संचय और आत्मविस्तार की उसकी नैसर्गिक प्रवृत्ति को उन्नीसवीं सदी के मध्य में पहचान लिया था और उसके वैश्विक प्रसार की भविष्यवाणी की थी। बीसवीं सदी के आरंभ में लेनिन ने औपनिवेशिक दौर के साम्राज्यवाद की विशेषताओं का गंभीर अध्ययन किया। उन्होंने 'पूंजी के निर्यात' को उसकी प्रमुख विशेषता बताया था। इसी समय 1910 में जर्मन अर्थशास्त्री रुडोल्फ हिल्फरडिंग ने अपनी पुस्तक 'फायनेन्स केपिटल' लिखी और 'वित्तीय पूंजी' की अवधारणा प्रतिपादित की। वित्तीय पूंजी दरअसल

Sangamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

औद्योगिक, वाणिज्यिक और बैंक-पूंजी' की अवधारणा प्रतिपादित की। वित्तीय पूंजी दरअसल औद्योगिक। वाणिज्यिक और बैंक-पूंजी के परस्पर विलय का नतीजा थी। औपनिवेशिक लूट, औद्योगिक उत्पादन और व्यापार-गतिविधियों की परिणति 'वित्तीय पूंजी का उदय' है।

उपनिवेशवाद का ध्येय उपनिवेशित देशों के संसाधनों पर कब्जा करना था। इसके लिए वह सैन्यबल का प्रयोग करता था। बीसवीं सदी के मध्य में भारत के स्वतंत्र होने के साथ एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के गुलाम देश धीरे-धीरे आजाद होने लगे। इस तरह 'वि-उपनिवेशीकरण' का दौर शुरु हुआ।

लेकिन उपनिवेशों की मुक्ति के साथ ताक़तवर देशों के द्वारा कमजोर देशों के शोषण और उनके संसाधनों की लूट का सिलसिला थम नहीं गया। उसका रुप बदल गया। प्रत्यक्ष उपनिवेशवाद का स्थान अप्रत्यक्ष उपनिवेशीकरण ने ले लिया। प्रत्यक्ष उपनिवेशवाद सैन्यबल के द्वारा राजनीतिक नियंत्रण पर आधारित था। अप्रत्यक्ष उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया में आर्थिक शक्ति ने सैन्यबल का स्थान ले लिया।

दरअसल बीसवीं सदी के मध्य में आर्थिक मंदी से उबरने और संकट से छुटकारा पाने की छटपटाहट के दौर में उपनिवेशों के मुक्ति-संग्राम की सफलता ने विश्व-पूंजीवाद को और अधिक समस्याग्रस्त कर दिया। पूंजी के विश्व-प्रसार की महत्वाकांक्षाओं पर यह गहरा आघात था। लेकिन कीन्स के नुस्खों से पुनर्जीवन पा कर उसकी महत्त्वाकांक्षाओं का पसारा फिर फैलने लगा। उसका सहारा बनीं ब्रेटनवुड-सम्मेलन से जन्मीं वित्तीय संस्थाएँ अर्थात् अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष और विश्व-बैंक। इन संस्थाओं के माध्यम से नव-स्वतंत्र देशों के 'आर्थिक पुनर्निर्माण' के नाम से ऋण उपलब्ध करा कर उन पर राजनीतिक नियंत्रण क़ायम करने तथा उनके संसाधनों पर क़ब्जा करने का नया अभियान प्रारंभ हुआ। इस तरह से वित्तीय पूंजी को नया जीवन प्राप्त हुआ। पूंजी के अभाव के चलते अविकसित को समझ कर ही 1961 में स्वतंत्र हुए पहले अफ्रीकी उपनिवेश घाना के नेता क्रेम न्क्रुमा ने इसे 'उपनिवेश-रहित साम्राज्य' की संज्ञा दी। नव उपनिवेशवाद आर्थिक शक्ति के सहारे राजनीतिक-सामाजिक नियंत्रण और शोषण का जाल फैलाता है। औपनिवेशिक दौर के साम्राज्यवाद की तरह नव उपनिवेशवाद की प्रमुख विशेषता है-पूंजी का निर्यात और उसके जरिए दुनिया के प्राकृतिक संसाधनों पर कब्जा करने की महत्वाकांक्षा। नव उपनिवेशवाद के दौर में औद्योगिक पूंजी का धीरे-धीरे वित्तीय पूंजी में रुपांतरण होता गया है। वित्तीय पूंजी एक तरफ बैंकों, वित्तीय संस्थाओं के जरिए पिछड़े देशों में बहुराष्ट्रीय निगमों के पूंजी निवेशों में सक्रिय हो कर प्राकृतिक संसाधनों के दोहन और औद्योगिक उत्पादन का कार्य करती है, दूसरी तरफ वह शेयर बाजार में पहुंच कर सट्टेबाजी में लग जाती है।

मौजूदा दौर में अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों, शेअर बाजार और विपुल औद्योगिक उत्पादन के पीछे विशाल वैश्विक पूंजी कार्यरत है। तमाम आर्थिक गतिविधियां वित्तीय पूंजी की प्राथमिकताओं के अनुसार चल रही हैं। औद्योगिक उत्पादन और वितरण भी उसके अधीन है। बाज़ार की गतिविधियां और इधर विकसित हो चला उसका वैश्विक चरित्र भी वित्तीय पूंजी के हस्तक्षेप से अर्थात नव औपनिवेशिक शोषण से मुक्त नहीं है। इस तथ्य पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि हमारे देश में नव उदारवादी आर्थिक नीतियाँ अपनाए जाने के बाद बाजार के कार्यकलापों में तीव्रता आई है और उपभोक्तावाद का प्रसार हुआ है। समूचा समाज उपभोक्ता बाजार में बदल गया है। प्रत्येक मानवीय गतिविधि उपयोग-उन्मुख अर्थात् बाजार-केंद्रित है। वित्तीय पूंजी के दौर का बाजार 'वैश्विक' है लेकिन उसकी पहुँच दूरदराज के गांवों तक है। कहा जा सकता है कि नव औपनिवेशिक हस्तक्षेप भारतीय समाज की तहों तक पहुँच चुका है। नव उपनिवेशवाद ने इस तरह समूचे अर्थतंत्र को अपने कब्जे में ले लिया है।

नव औपनिवेशिक हस्तक्षेप का दूसरा रुप प्राकृतिक संसाधनों पर अधिकार करने की प्रवृत्ति में दिखाई देता है। यह प्रकृति इधर आक्रामक रुप ले चुकी है। यह आधुनिक विकास की अनिवार्यता को सामाजिक मनस्पटल पर आरोपित कर अपनी वैधता का तर्क जुटाती है। विकास के नाम पर बहुराष्ट्रीय निगमों को हरे-भरे जंगल बेचे जा रहे हैं, या किसानों को उनकी जमीन से बेदखल किया जा रहा है, या बड़े बाँध बनाने के लिए आबादी का विस्थापन हो रहा है। 'विकास' एक अमोध अस्त्र है जिसका उपयोग कर कारपोरेट पूंजी वंचित जनों के शोषण के मुब्तिला है। विडम्बना यह है कि इस कार्य में राज्य उसका सहयोगी है। प्राकृतिक संसाधनों की लूट से औपनिवेशिक दौर के साम्राज्यवाद ने विशाल राष्ट्रीय बाजारों की रचना की थी। नव उपनिवेशवाद ने प्राकृतिक संसाधनों की लूट को जारी रखा तथा उपभोक्ता वस्तुओं की चकाचौंध पैदा कर वैश्विक बाजार का मायाजाल रच डाला है। जाहिर है, लूट का तंत्र अब कहीं और गहराई तक प्रवेश कर चुका है। उसकी पहुंच प्राकृतिक संसाधनों तक सीमित नहीं है,

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

बल्कि उसका प्रभाव सामाजिक मनोजगत के भीतर भी महसूस किया जा सकता है। अकारण नहीं हैं कि नव औपनिवेशिक पूंजी ने जिस महत्वाकांक्षी मध्यवर्ग को विकसित किया है, वह दरअसल उसका 'क्रीतदास' है। इस वर्ग के नेता अपनी संतानों को बहुराष्ट्रीय निगमों के दफ्तरों की कुर्सियों पर बिठाने का सपना देखते हैं, अमेरिका उनका स्वर्ग-लोक है। यही मध्यवर्ग सिंगूर, नंदीग्राम, कलिंगनगर या लोहांडीगुड़ा में औद्योगिक संयंत्र कायम करने की खातिर अपनी जमीन देने से इनकार करने वाले किसानों को 'विकास-विरोधी' मानता है। विकास की नृशंसता बाजार की चकाचौंध और मीडिया की सनसनी में छिप जाती है। आत्मकेंद्रित मध्य-वर्ग का निजी हित-विचार समाज के जनमत का प्रतिबिंब बन जाता है।

जाहिर है, उपनिवेशीकरण सिर्फ आर्थिक घटना नहीं हैं, वह मानसिक स्तर पर भी घटित हो रहा है। उसका प्रभाव समाज की सांस्कृतिक जड़ों पर भी दिखाई देता है। कहने की जरुरत नहीं कि नव औपनिवेशिक प्रभाव अनेक स्तरों पर संस्कृति के भिन्न-भिन्न रुपों और निर्मितियों में दिखाई देता है। एक छोर पर वैश्वीकरण की समरुपतावादी संस्कृति है जो खान-पान, सोच-विचार और जीवन-शैली की एकरुपता पर आधारित सांस्कृतिक संरचनाओं में व्यक्त होती है, दूसरी तरफ विविधताओं से भरी स्थानीय संस्कृतियाँ हैं जो वैश्वीकरण की एकरुपता का सामना करते हुए अपने अस्तित्व के संघर्ष से जूझ रही हैं। महानगरों से लेकर गांवों तक, पश्चिम-प्रेरित उच्च वर्ग से लेकर जनजातीय सांस्कृतिक समुदायों तक सर्वत्र, नव उपनिवेशवाद की उपस्थिति परिलक्षित होती है।

छत्तीसगढ़ का सांस्कृतिक मानचित्र

छत्तीसगढ़ में तीन भू-सांस्कृतिक क्षेत्र है-मैदानी छत्तीसगढ़, बस्तर तथा सरगुजा का पठारी क्षेत्र है। भौगोलिक और सांस्कृतिक भिन्नता के बावजूद तीनों अंचलों की बहुसंख्यक आबादी आदिवासी और लोक-संस्कृति के दायरे में जीवन जी रही है। छत्तीसगढ़ सांस्कृतिक रुप से इकहरा नहीं है। यहां अनेक बोलियां, अनेक जीवन-शैलियां, अनेक सांस्कृतिक परम्पराएँ विद्यमान हैं। खेती और शिल्पकर्म से जुड़ी हुई विभिन्न जातियों, श्रमिक समुदायों एवं जनजातियों की अपनी-अपनी सामुदायिक जीवन-पद्धति तथा परिपाटियां हैं। उनके अलावा समय-समय पर देश के विभिन्न भागों से आ कर बस गए लोग हैं, देश को आजादी मिलने के बाद औद्योगिकीकरण के चलते नौकरी-व्यवसाय की खातिर यहां आ बसे लोगों की भी बड़ी आबादी यहाँ मौजूद है।

छत्तीसगढ़ के सांस्कृतिक संघटन पर एक नजर डालें तो यह तथ्य सहज ही ध्यान खींचता है कि सामाजिक विकास के अनेक संस्तर-खाद्य संग्रह की अवस्था से लेकर आधुनिकेत्तर जीवन-शैली का समाज यहां एक साथ विद्यमान हैं। यहाँ लगभग आदिम जीवन स्थितियों में जी रहे अबूझमाड़ के आदिवासी हैं तो दूसरे छोर पर रायपुर-बिलासपुर-भिलाई-कोरबा का विकसित सिविल समाज है। प्राक् कृषि युग, पूर्व औद्योगिक युग, औद्योगिक युग और उत्तर औद्योगिक युग की सामाजिक संरचनाओं का ऐसा सह-अस्तित्व अन्यत्र नहीं दिखाई देता। विकास के आधुनिक मानदण्डों के लिहाज से छत्तीसगढ़ पिछड़ा राज्य है। यद्यपि प्राकृतिक संसाधनों की दृष्टि से यह अत्यंत समृद्ध है। जाहिर है, राज्य के आर्थिक विकास का अर्थ है, प्राकृतिक संसाधनों-भू संपदा, खनिज-संपदा, जल संपदा-का अधिकाधिक दोहन। राज्य में विपुल मानव-संसाधन मौजूद है, जिसका अधिकांश अप्रशिक्षित खेतिहर- कामगारों के रुप में है। पर्याप्त काम के अभाव में ये कामगार प्रति वर्ष राज्य से बाहर पलायन करने को विवश होते हैं। इस तरह के अस्थायी आव्रजन के भी सांस्कृतिक पहलू हैं।

छत्तीसगढ़ की लोक एवं आदिवासी संस्कृति अत्यंत समृद्ध है। पूर्व-औद्योगिक समाज के अनेक सांस्कृतिक अभिलक्षण यहां के ग्रामीण समाज में अक्षुण्ण हैं। लोक एवं आदिवासी कलाएँ तमाम बदलावों के बावजूद प्रायः अपने नैसर्गिक सांस्कृतिक परिवेश में फल फूल रही है। नगरीय औद्योगिक केंद्रों में विभिन्न प्रांतों से आए प्रवासियों की विविधतापूर्ण सांस्कृतिक उपस्थिति के चलते एक बहुसांस्कृतिक परिदृश्य विकसित हुआ है। भिलाई और कोरबा जैसे नगर एक अर्थ में सांस्कृतिक गलन-पात्र (मेल्टिंग पॉट) सरीखे जान पड़ते हैं। अन्य इलाक़ों में भी अनेक स्तरों पर सांस्कृतिक मिश्रण संभव हुआ है।

यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि आर्थिक रुप से उन्नत केंद्र सांस्कृतिक वर्चस्व के भी केंद्र हैं। राजनीति, व्यवसाय, उद्योग और शिक्षा के विकसित केंद्रों में विकसित हो रही सांस्कृतिक संरचनाएँ कमोबेश ग्लोबल सांस्कृतिक संरचनाएँ हैं जिनका प्रभाव क्रमशः कस्बों गांवों तक फैल रहा है।

नगरीय समुदाय और नव उपनिवेशवाद

छत्तीसगढ़ नगरीय समुदाय और नव उपनिवेशवाद

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन पर नव औपनिवेशिक प्रभाव प्रत्यक्ष हैं। उदारीकरण की आर्थिक नीतियाँ लागू होने के बाद से धीरे-धीरे एक नव मध्यवर्ग विकसित हुआ है। आजादी मिलने के बाद विकसित हुआ मध्य वर्ग जहाँ 'राष्ट्रीय नव निर्माण' की चेतना से सम्पन्न तथा उसके अनुरुप एक नैतिक अनुशासन से परिचालत था, वहीं 1990 के बाद उसका विस्तार तो हुआ लेकिन उसके चरित्र में स्पष्ट गुणात्मक परविर्तन दिखाई देता है। इस दौर में उसके नैतिक स्खलन प्रकट हुआ। फलत: वह राष्ट्रनिर्माण की चेतना और दायित्व से मुक्त हो गया है। उदारीकरण के आर्थिक फल प्राप्त करने की होड़ में नव मध्यवर्ग नव औपनिवेशिक वर्चस्व के केंद्रों से जुड़ता गया है। इस प्रक्रिया में उसका स्वप्न-लोक और उसका सांस्कृतिक यथार्थ बदल रहा है। बाजार की शाक्तियाँ उस पर हावी हो रही हैं। उपभोक्तावाद उसके मनोलोक में राज करता है। नौकरीपेशा मध्यवर्ग के लोग कर्ज लेकर उपभोक्ता-वस्तुएँ हासिल करते हैं। वस्तु-पूजा उनकी जीवन-चर्या का हिस्सा है। अपनी बचत वे शेअर-बाजार में डाल रहे हैं। सट्टेबाजी अब वैध आर्थिक कार्यकलाप बन गया है। लाभ-लोभ की हवस से नव-मध्यवर्ग का जीवन संचालित हो रहा है।

पूंजी, बाजार और तकनीक के संयुक्त उद्यम से छत्तीसगढ़ में भी वह आधुनिकोत्तर यथार्थ निर्मित हो रहा है जिसके ग्लोबल आयाम हैं। कारपोरेट उद्यमिता की धमक यहाँ तक पहुंच चुकी है। शहरी युवाओं की एक फौज विश्व-बाजार में, सूचना-तकनीकी की आभासी देश-काल की दुनिया में कदम रख चुकी है, उनके सपने वैश्विक हैं और बदरंग स्थानीय यथार्थ उनकी चिंता के दायरे से बाहर है, जिसमें वंचित जन बदहाल जिंदगी जी रहे हैं। शहरी युवा-पीढ़ी के सपने धीरे-धीरे हक़ीक़त में उतर रहे हैं। बहुमंजिले आवासीय भवन, शापिंग माल, फ्लाई ओवर, फोर लेन सड़कों, वस्तुओं से सजी दूकानों में छत्तीसगढ़ की आधुनिकता साकार हो रही है। नई पीढ़ी के नए पर्व हैं- न्यू ईअर, वेलेंटाइन डे, फ्रेंडशिप डे, मदर्स डे। ये बाजार की नव औपनिवेशिक संस्कृति की निर्मितियाँ हैं। बाजार के हस्तक्षेप से होली-दीवाली -रक्षाबंधन जैसे पारंपरिक पर्वों का स्वरुप बदल रहा है। सेलेब्रेशन की संस्कृति इस कदर हावी है कि विवाह और जन्मोत्सव-जैसे मांगलिक अवसरों का सांस्कृतिक स्वरुप टूट रहा है और घर की देहरी से बाहर वे होटलों की चमक-दमक भरी उत्सवप्रियता में घटित हो रहे हैं।

नव औपनिवेशक शिकंजे ने शिक्षा और स्वास्थ्य-जैसी सामुदायिक सेवाओं को भी अपनी चपेट में ले लिया है। नतीजतन वे बाज़ार के भीतर आ गयी है। पिछले डेढ़ दशक में शिक्षा और स्वास्थ्य-सेवाओं का व्यापक निजीकरण हुआ है। उनके पीछे मुनाफ़े की हवस सक्रिय हुई है। वे भी पूंजी और उच्च तकनीकी की दख़ल से मुक्त नहीं है। उनकी कार्य-पद्धति भी क्रमशः कारपोरेटीकृत होती जान पड़ती है। ज़ाहिर है कथित रुप से उच्च गुणवत्तायुक्त शिक्षा और चिकित्सा सेवा बहुत महंगी है और जनसामान्य की पहुंच से दूर भी।

संस्कृति उद्योग और उसका बाज़ार भी शहरी छत्तीसगढ़ में जम चुका है। फ़िल्म, टेलीविजन, वीडियो सी.डी. आदि के जरिए विकसित हो रही पॉपुलर संस्कृति और मास कल्चर यहाँ की वर्चस्वशाली संस्कृति है। शहरी जनता के सांस्कृतिक रुझान में उसका प्रभाव सहज ही दिखाई देता है। शास्त्रीय एवं उच्च कलाएँ हाशिए पर हैं। उच्च कोटि के नृत्य-संगीत-साहित्य-नाटक-सिनेमा के प्रति रुचि अत्यंत सीमित है। घटिया कविता, शोर-भरा संगीत, भड़काऊ नृत्य' बम्बइया सिनेमा और टी.वी. के सस्ते धारावाहिकों से अब लोक-रुचि का निर्माण होता है। अब तो लुगदी साहित्य भी पढ़ा नहीं जा रहा। 'पढ़ने' की जगह 'देखने' ने ले ली है। गणेशोत्सव या दुर्गा पूजा के सार्वजनिक आयोजनों का सांस्कृतिक स्वरुप विघटित हो चुका है। इस अवसरों पर अब पूजा के सार्वजनिक आयोजनों का सांस्कृतिक स्वरुप विघटित हो चुका है। इन अवसरों पर अब सिर्फ लाउड-स्पीकर का कनफोड़ सांस्कृतिक शोर सुनाई पड़ता है। क्रिकेट का औपनिवेशिक खेल अपने नव औपनिवेशिक अवतार में-तकनीक, संचार, पूंजी और बाज़ार के हाथों संवर कर अद्भूत रुप से लोकप्रिय हुआ है। उसे लेकर स्थानीय स्तर पर सट्टेबाजी भी होती है।

धार्मिक आस्था बलवती हो रही है और सार्वजनिक प्रदर्शन की वस्तु बन गयी है। हालांकि समाज में वर्ण,जाति, सम्प्रदाय का सौहार्द्र और संतुलन क़ायम है, लेकिन उन पर आधारित सामुदायिक अस्मिता का आग्रह भी विकसित हो रहा है। विडम्बना यह है कि परम्परा के प्रति बढ़ते रुझान के साथ-साथ अंग्रेजी और पश्चिमी ढंग की आधुनिकता के प्रति आकर्षण भी तीव्र हो रहा है। शहरी छत्तीसगढ़ इस तरह एक सांस्कृतिक द्वैत में जी रहा है, यद्यपि वह किसी सांस्कृतिक दुविधा का शिकार नहीं है। वह निर्द्वंद्व रुप से एक अधकचरी सांस्कृतिक जिंदगी जी रहा है।

कहा जा सकता है कि शहरी छत्तीसगढ़ का

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सांस्कृतिक यथार्थ देश के अन्य इलाकों के सांस्कृतिक जीवन से भिन्न नहीं है। वह वैश्वीकरण की आर्थिक प्रक्रियाओं से ही नहीं उसकी संस्कृति से भी जुड़ रहा है।

ग्राम्य समुदाय : नव औपनिवेशिक छाया

पिछले कुछ दशकों के सांस्कृतिक-आर्थिक संक्रमण का असर छत्तीसगढ़ के ग्रामीण जीवन पर भी पड़ा है। उदारीकरण के बाद के दौर में गाँवों का पारंपरिक सामाजिक ढांचा तेज़ी से बदल रहा है। शहरों के आसपास के गांवों में छोटे-मोटे उद्योग खुल रहे हैं। गांव धीरे-धीरे शहरों से जुड़ रहे हैं ।गांवों में आवागमन और संचार-साधनों का फैलाव हो रहा है। कहीं-कहीं नौकरी और व्यवसाय से जुड़े लोगों की आर्थिक क्षमता में इज़ाफ़ा भी दिखाई देता है। उनकी पहुंच उपभोक्ता वस्तुओं अर्थात बाज़ार के नव औपनिवेशिक तंत्र तक मुमकिन हुई है। लेकिन बहुसंख्यक किसान-मजदूर जब भी आर्थिक रुप से कमज़ोर है। इसलिए काम की तलाश में बड़ी संख्या में लोग पलायन करते हैं। कृषि, उत्पाद या वनोपज का बाज़ार-मूल्य किसानों की मेहनत की तुलना में जब भी नाकाफ़ी है। इसलिए कर्ज की पुरानी व्याधि से खेतिहर समाज किसी-न किसी रुप में जब भी घिरा हुआ है। उदारीकरण के बाद से नई कृषि नीति और कृषि-कर्म पर बाज़ार के हस्तक्षेप के चलते उसकी हालत और बिगड़ी है। खेती में उद्यमिता का दुस्साहस-नकद फसलों से मुनाफ़े के लोभ के चलते पूंजी-निवेश के लिए कर्ज़ लेने की प्रवृत्ति छत्तीसगढ़ के किसानों में अधिक नहीं है। अन्यथा पड़ोसी राज्य महाराष्ट्र व आंध्रप्रदेश के किसानों की तरह उनके आत्मघात की घटनाएँ भी यहाँ होतीं। पारंपरिक खेती पर निर्भरता और आत्मसंतोषी स्वभाव ने उसे बचाए रखा है। लेकिन खाद-बीज के लिए अब उसे बाजार के चंगुल से बचने का कोई उपाय नहीं दिखता। बीज की पारंपरिक किस्में चलन से बाहर हो रहे हैं। उनका अस्तित्व खतरे में है। टर्मिनेटर बीजों को बोना और फसल की देखभाल के लिए बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के कीटनाशकों का प्रयोग करना किसान की मजबूरी है। दूसरी तरफ विकास और औद्योगिकीकरण के नाम पर कहीं-कहीं किसानों की बेदखली की आशंका भी दिखने लगी है।

आदिवासी इलाकों में जल-जंगल-ज़मीन का संघर्ष है। नक्सली हिंसा चरम पर है। वनवासियों का दशकों से शोषण करने वाली शक्तियाँ जब भी पूर्ववत सक्रिय हैं। जंगल बहुत हद तक नष्ट किये जा चुके हैं। जैव-विविधता संकट में है। प्राकृतिक संसाधनों के दोहन का लक्ष्य लेकर नव औपनिवेशिक शक्तियाँ सामाजिक-राजनीतिक तंत्र के भीतर दाखिल हो चुकी हैं। पर्यावरण प्रबंधन और 'कार्बन व्यापार' के बहाने जंगलों के पण्य होने के खतरे हैं। पानी बोतलों मेंबिक रहा है लेकिन छत्तीसगढ़ की एक नदी औद्योगिक आवश्यकताओं की खातिर निजी हाथों मे जा चुकी है। औद्योगिक अपशिष्ट का समुचित उपचार न होने से प्रदूषण बढ़ रहा है किसानों की ज़मीने बर्बाद हो रही हैं।

इसमें संदेह नहीं कि दलितों-आदिवासियों, स्त्रियों की सामाजिक दशा में किंचित सुधार हुआ है पंचायती राज -व्यवस्था का इसमें महत्वपूर्ण योगदान है। लेकिन ग्रामीण समाज में अब भी प्राक्-आधुनिक और सामंती मूल्य-व्यवस्था के अवशेष मौजूद हैं इनके रहते लोकतंत्रीकरण की राह में व्यवधान बना रहेगा। शिक्षा, स्वास्थ्य, शुद्ध पेयजल की उपलब्धता, सफाई और निस्तारी आदि प्राथमिक सुविधाएँ ग्राम्य समाज में अब भी काफ़ी नहीं है। सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि राजनीतिक-सामाजिक जागरुकता का प्रायः अभाव है। प्रतिरोध की शक्तियाँ लगभग अनुपस्थित है, जन-आंदोलन कमज़ोर हैं। उसके मुकाबले नव धनिक-तंत्र बहुत शक्तिशाली हैं। ये परिस्थितियाँ नव उपनिवेशवादी आर्थिक-सामाजिक शक्तियों के लिए गहुत अनुकूल हैं। पूंजी,तकनीक और बाज़ार छत्तीसगढ़ के भीतरी कोनों में दखल दे रहे हैं।

नव औपनिवेशिक सांस्कृतिक रुपांतरण

छत्तीसगढ़ में समाज के आर्थिक ढाँचे में बदलाव के साथ लोगों की जीवन शैली और संस्कृति भी बदल रही है। आज़ादी मिलने के बाद राष्ट्रीय नव निर्माण के दौर में सांस्कृतिक बदलाव के पीछे आधुनिकीकरण का संदर्भ था। लेकिन 1990 के बाद आर्थिक-सुधार का दर्शन हावी हुआ तथा आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को नव औपनिवेशिक ग्रहण लग गया। इसके चलते सांस्कृतिक बदलाव की गति को तीव्र हुई लेकिन उस पर पूंजी, तकनीक और बाज़ार का प्रभाव बढ़ गया। मुनाफ़े की आकांक्षा से संस्कृति संचालित होने लगी। संस्कृति-उद्योग प्रभावी हो उठा। संस्कृति उपभोग्य हो उठी। उपभोक्ता-मूल्यों ने सांस्कृतिक मूल्यों को दरकिनार कर उनकी जगह ले ली है।

इन बदलावों को समझने के लिए कुछ सांस्कृतिक परिघटनाओं पर नज़र डाली जानी चाहिये। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं-

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

1. सांस्कृतिक समरुपीकरण –

मीडिया, बाज़ार और संस्कृति का नया गठजोड़ छत्तीसगढ़ में भी दिखाई देता है। मास–कल्चर का वर्चस्व बढ़ रहा है। जीवन–शैली, खान–पान, पोशाक और सोच–विचार में एकरुपता आने लगी है। विभिन्न समुदायों का सांस्कृतिक वैशिष्ट्य समाप्त हो रहा है। मीडिया और बाज़ार द्वारा गढ़े गये. पैमाने में सांस्कृतिक यथार्थ की रचना हो रही है और उसका उपभोग हो रहा है। यह एकरुप (मोनोलिथिक) यथार्थ है, जिसमें लोक–प्रिय आइकॅन (अमिताभ बच्चन या शाहरुख खान), लोकप्रिय खेल (क्रिकेट), लोकप्रिय भाषा (अंग्रेजी), लोकप्रिय संगीत (पॉप और जाज़), लोकप्रिय खाद्य (नूडल, पिज्ज़ा, बर्गर) लोकप्रिय त्यौहार (नया वर्ष), लोकप्रिय पोशाक (जींस) के प्रति भेड़िया–धसान आकर्षण है। प्रत्येक समाज में एकरुपता की संस्कृति का विकास होता है लेकिन आज की सांस्कृतिक एकरुपता के पीछे पूंजी, बाज़ार और मीडिया की नियामक शक्ति है जो एकरुपता को आंचलिक, क्षेत्रीय या राष्ट्रीय दायरे से निकाल कर वैश्विक स्तर पर स्थापित करती है। इस तरह ज़ाहिर है संस्कृति का भी भूमण्डलीकरण हो रहा है।

2. पश्चिमीकरण –

सांस्कृतिक भूमण्डलीकरण, सच कहा जाए तो पश्चिमीकरण है। बल्कि अमरीकीकरण है। हमारा मध्यवर्गीय युवा–वर्ग 'यांकी संस्कृति' का दीवाना है। उसकी जीवन–पद्धति और स्वप्न में अमरीका बसा है। समूचे मध्यवर्ग के तौर–तरीके में पश्चिम–प्रभुत्व की गहरी छाया दिखाई देती है। अंग्रेजी भाषा का वर्चस्व लगातार बढ़ रहा है। वह समाजिक प्रतिष्ठा पाने और विश्व–बाज़ार तक पहुंचने का जरिया बन गया है। पब्लिक स्कूल और कान्वेंट की संस्कृति गाँवों तक पहुंच चुकी है।

3. नव औपनिवेशिक मध्यवर्ग का उभार और छ्द्म अभिजातीकरण –

पिछले कुछ दशकों के आर्थिक बदलाव के चलते छत्तीसगढ़ में भी मध्यवर्ग पर नव औपनिवेशिक प्रभाव उत्कट हुआ है। उसकी आर्थिक क्षमता और सामाजिक प्रभुत्व बढ़ा है, साथ ही वह बाज़ार की संस्कृति का शिकार भी हुआ है। बाज़ार मुख्यतः मध्यवर्ग उन्मुख है तथा मध्यवर्ग बाज़ार से संप्रभुता और शक्ति प्राप्त कर अपना छ्द्म आभिजात्य निर्मित करता है।

4. उपभोक्तावाद का प्रसार एवं बाज़ारीकरण–

छत्तीसगढ़ के मध्यवर्गी जीवन में ही नहीं निम्नवित्तीय समुदायों में भी बाज़ार और उपभोक्ता–संस्कृति की दखल है। जन्मदिन के निजी उत्सव हों, सामुदायिक पर्व हों या गणेशोत्सव–जैसे सार्वजनिक उत्सव–निरंतर बाज़ार–केन्द्रित प्रदर्शन–प्रियता के दायरे में घटित हो रहे हैं उत्सवों–पर्वों में ही नहीं, रोजमर्रा के कार्यकलापों में भी बाज़ार और उपभोक्तावाद की संक्रामकता लक्षित की जा सकती है।

5. अप–संस्कृति और मनोरंजन–उद्योग प्रसार–

मास–कल्चर और पॉप–संस्कृति के फैलाव के साथ मनोरंजन–उद्योग की गतिविधियाँ तीव्र हुई हैं। बम्बइया फिल्म' संगीत और वीडियो एलबम की लोकप्रियता लगातार बढ़ रही है। केबल टी.वी. और डी.टी.एच. के जरिए आकाश–मार्ग से अपसंस्कृति का घर–घर में अंतः प्रवेश हुआ है। इसका असर इतना जबरदस्त है कि स्थानीय सांस्कृतिक कार्यकलाप और सामाजिक व्यवहार में परिवर्तन होने लगा है। ग्रामीण युवा–वर्ग लोकगीत–नृत्य में रुचि खोकर बम्बइया ढंग के नाच–गानें में दिलचस्पी लेने लगा है। छत्तीसगढ़ी फिल्मों और वीडियो एलबमों में इसका असर बहुत स्पष्ट है। ग्रामीण छत्तीसगढ़ में बम्बइया उच्छ्रिष्ट से निर्मित सांस्कृतिक उत्पादों का बड़ा बाजार है।

6. सांस्कृतिक क्षरण और विलोपन की आशंका–

विश्व–बाज़ार की समरुपतामूलक संस्कृति का वर्चस्व स्थापित होने के साथ स्थानीय संस्कृतियां' कला–रुप और लोकवृत्त (फोक्लोर) निरंतर प्रभावित हो रहे हैं' बल्कि इनमें से अनेक क्रमशः विलोपन की ओर अग्रसर हैं। छत्तीसगढ़ की जैव– सांस्कृतिक विविधता पर संकट गहरा रहा है। जिन चीज़ों का अस्तित्व संकट में है, उसकी एक संक्षिप्त सूची प्रस्तुत है–

I. लोक और आदिवासी कलाएँ –पारंपरिक कलाएं या तो उपयोगी कलाएं हैं या आनुष्ठानिक। आधुनिक बाज़ार ने अनुपयोगी वस्तुओं का अम्बार लगा दिया है और परम्पराओं के विघटन के कारण आनुष्ठानिकता का महत्व कम हुआ। नतीजा यह

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

है कि कलाएं बाज़ार में सज्जा की वस्तु बनकर ही बची हुई हैं। बस्तर के गढ़वां और मृत्तिका शिल्प हो या रायगढ़ में झारा–कलाकारों का धातु–शिल्प' विदशी बाजारों में 'एथनिक' और 'एक्ज़ोटिक' के नाम पर बिकने को अभिशप्त हैं अपने प्रकृत परिवेश और आनुष्ठानिक संदर्भों से विलग होकर पण्य वस्तु में बदल जाना आदिवासी–लोककलाओं की नियति है।

II. **लोक–साहित्य, गाथा और नाट्य परम्पराएँ** – छत्तीसगढ़ की विभिन्न बोलियों का समृद्ध लोक–साहित्य वाचिक परम्परा में जीवित रहा है। लेकिन मानवीय स्मृति पर तकनीक के नव औपनिवेशिक आक्रमण तीव्र होने अर्थात् संचार, साक्षरता और लोकरंजन के आधुनिक उपकरणों के प्रचार के कारण वाचिक परम्परा क्षीण होने लगी है। फलस्वरुप अनेक लोकगीत' लोककलाएं गाथाएं लुप्त हो चुकी हैं। या विलोपन के कगार पर हैं। नाचा या भतरा नाट–जैसे प्रदर्शनकारी कलाएँ अपनी पारंपरिकता बचाने के लिए संघर्षरत हैं।

III. **स्थानीय ज्ञान–परम्पराएँ** –छत्तीसगढ़ में अत्यंत विकसित स्थानीय ज्ञान–प्रणाली (लोकल नॉलेज सिस्टम) है जिसमें देसी वैद्यकशास्त्र, औषधि–तंत्र' लोक स्थापत्य' हस्त–कलाएं' कृषि ज्ञान आदि शामिल हैं। आधुनिक ज्ञान और औपनिवेशिक शिक्षा के प्रचार के कारण एक ऐसा अंधविश्वास व्याप्त हुआ है कि स्थानीय ज्ञान–परम्पराएं व्यर्थ मान ली गयी हैं। उनकी वैज्ञानिकता का अध्ययन करने की बजाए उन्हें अनुपयोगी करार दिया गया है। दूसरी ओर ग्रामीण समाज में ही नहीं' तथाकथित शिक्षित समाज में भी भूत–प्रेत, जादू टोना पर यकीन किया जाता है।

IV. **स्थानीय बोलियाँ** –छत्तीसगढ़ में अनेक भाषा–भाषी लोग रहते हैं। साथ ही छत्तीसगढ़ी' हल्बी, सरगुजिहा, भतरी, सदरी, नगपुरी आदि अनेक बोलियां और उप–बोलियां हैं। गोंड़ी–जैसी द्रविड़–कुल की बोली है' जो पहाड़ी कोरबा और कमार आदि अत्यल्पसंख्यक जनजातियों की विलोपनोन्मुख बोलियाँ हैं। इनमें सांस्कृतिक–सर्जनात्मक अभिव्यक्ति की विकसित परम्पराएं और स्वयं बोलियां भी लुप्त होने की दिशा में बढ़ रही हैं, राजभाषा बना दिये जाने–भर से छत्तीसगढी बच नहीं जाएगी। अंग्रेजी की तरफ़ ललक कर देखने वाला समाज उसे सहेज नहीं रख पायेगा। छत्तीसगढ़ी अंततः हिन्दी बनकर ही बच सकेगी जो कि मूलतः वह है। इन दिनों छत्तीसगढ़ी में लिखे जा रहे साहित्य की भाषिक बनावट पर हिंदी का गहरा असर दिखाई देना अनायास नहीं है। छत्तीसगढ़ी की वाचिक संरचना भी बदल रही है।

V. **लोकरुचि और लोक–व्यवहार**–छत्तीसगढ़ी लोकजीवन के बदलाव की दिशा मुख्यतः मास–सोसायटी की प्राथमिकताओं के अनुरुप निर्धारित होती है। लोक–मानस का उपनिवेशीकरण हो चुका है। लोक–रुचि और व्यवहार बदल रहे हैं पारंपरिक पहनावा, खान–पान, लोक प्रथाएं और सदियों से विकसित हुई लोक सामुदायिकता का क्रमशः विलोपन होने लगा है। मास–कल्चर का भीड़–तंत्र गांवों में भी सक्रिय हैं धार्मिक परम्पराएँ जीवित हैं लेकिन वे अतार्किकता' अंधमतवाद और पुनरुत्थानवाद की चपेट में हैं। धार्मिक और लोक–सांस्कृतिक आयोजनों की सामुदायिकता का राजनीतिकरण हो रहा है। जातिगत संगठन मजबूत, सक्रिय और राजनीतिक आकांक्षाओं से परिचालित हैं। उनमें सामाजिक सुधार, विवेकीकरण और जागृति की प्रक्रिया शिथिल है।

VI. **लोकरंजन के अन्य उपकरण** –लोक खेलों की समृद्ध विरासत चुकने लगी है। सावन में गेंड़ी दिखाई नहीं देती। फुगड़ी, बांटी , डंडा–पचरंगा और जाने कितने ग्रामीण खेल हैं जो अब नहीं खेले जाते। यहां क्रिकेट अब ग्रामीण खेल नज़र आता है। रहस लगभग लुप्त हो गया है भरथरी, चनैनी संकट में हैं। पंडवानी जरुर लोकप्रिय है, लेकिन उस पर मास–मीडिया का वरद हस्त है।

VII. **सांस्कृतिक विभाजन** –मास–कल्चर का प्रभाव बढ़ने और विकास का दायरा फैलने के साथ शहर और गांव के बीच फासला धीरे–धीरे कम हो रहा है, हालांकि दूरदूराज के गांव और उनके निवासी शहरों की विकसित संस्कृति से अब भी विलगाव अनुभव करते हैं। किन्तु छत्तीसगढ़ में सांस्कृतिक विलगाव (कल्चरल डिवाइड) के अन्य रुप भी विद्यमान हैं। मसलन शिक्षा की स्थिति को लेकर विचार करें तो एक ओर निजी शिक्षण संस्थाओं की कथित रुप से गुणवत्तायुक्त किन्तु महंगी शिक्षा

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सांस्कृतिक आभिजात्य के अभिमान का संचार करती है, तो दूसरी ओर सरकारी विद्यालय हैं जिनमें हिन्दी माध्यम से शिक्षा ग्रहण करने वाली वंचित आबादी है। स्वास्थ्य विद्यालय हैं जिनमें हिन्दी माध्यम से शिक्षा ग्रहण करने वाली वंचित आबादी है। स्वास्थ्य सेवाओं के पण्यीकरण के चलते इन तक पहुंच न रखने वाला विशाल जनसमूह है, जिसे समुचित चिकित्सा-सेवाएं प्रदान करने वाली प्रभावी प्रणाली सरकार भी मुहैया नहीं करा पाई है। हाईटेक समाज और लोक-समाज का द्वैत लगातार गहरा रहा है।

वैकल्पिक संस्कृति के लिए संघर्ष

छत्तीसगढ़ का सांस्कृतिक परिदृष्य स्थानीय और वैश्विक' लोक और अभिजात, परम्परा और आधुनिकता' उच्च तकनीक और निम्न तकनीक' नगर और ग्राम' वंचित और लाभान्वित के द्वन्द्व में साकार हो रहा है। इस द्वन्द्व के परिणामस्वरुप मिश्रित सांस्कृतिक संरचनाएं विकसित हो रही हैं। एक तरह की पंचमेल संस्कृति' जो कहीं-कहीं अधकचरी मालूम पड़ती है जहां-औपनिवेशिक आधुनिकता का हस्तक्षेप हुआ है, संस्कृति में विसंगतियाँ और विकृतियां भी उभरी हैं। आमतौर पर सुरूचि का अपसरण हुआ है।, शोर, प्रदर्शनप्रियता, उदग्रता और आक्रामकता नई संस्कृति की पहचान है। चाहें तो इसे सांस्कृतिक प्रदूषण कहें, अपसंस्कृति कहें, आक्रामकता नई संस्कृति की पहचान है। चाहें तो इसे सांस्कृतिक प्रदूषण कहें अपसंस्कृति कहें, भीड़-संस्कृति कहें या सांस्कृतिक विघटन-यह नई संस्कृति नव उदारवादी आर्थिक प्रक्रियाओं के आगे बढ़ने के साथ आकार ले रही हैं' नये मूल्य स्थापित हो रहे हैं, पुराने मूल्यों के साथ घालमेल (अमलगमेशन) बन रहा है।

इन तमाम बदलावों के बीच छत्तीसगढ़ की संस्कृति एक इकहरी छवि को उसकी खास किस्म की राजनीतिक व्यंजकता के साथ स्थापित किया जा रहा है। इसमें छत्तीसगढ़ की स्वभावगत संस्कृति-बहुलता की अनदेखी भी होती है। दरअसल नव उपनिवेशीकरण से सर्वाधिक खतरा इस बहुलवाद को है। वह समरुपता की संस्कृति की चपेट में है।

यहीं एक वैकल्पिक संस्कृति की जन-संस्कृति की आवश्यकता प्रकट होती है। लेकिन ठीक यही वह निस्सहायता भी प्रकट होती है जो वैश्वीकरण की आंधी में खड़े पेड़ों की निस्संग-निर्बल स्थिति में छिपी हुई है। जाहिर है, वैश्वीकरण और नव उपनिवेशवाद के विरूद्ध सामाजिक-आर्थिक मोर्चे पर संघर्ष की प्रक्रिया में वैकल्पिक संस्कृति के विकास की संभावनाएं भी निहित है। छत्तीसगढ़ में यह संघर्ष क्षीण है। अपेक्षित जागरुकता और प्रतिबद्धता के अभाव में एक तरफ मध्यमवर्गीय उदासीनता का विस्तार हो रहा है, दूसरी तरफ़ नव उपनिवेशीकरण से सर्वाधिक प्रभावित और वेध्य (वल्नरेबल) कृषक और आदिवासी लोक-समुदाय उसे नियति मान कर विवश समर्पण कर चुका है। प्रतिरोध और संघर्ष के इस रिक्त स्पेस को भरने के लिए कोई लोकतांत्रिक आंदोलन नहीं है। प्रतिरोध के नाम पर या तो नक्सलियों की अंधाधुंध हिंसा है या फिर गैर सरकारी संगठनों (एन.जी.ओ.) की गतिविधियाँ' जो स्वयं नव औपनिवेशिक पूंजी के एजेण्ट की तरह तैनात हैं।

पूंजी' तकनीक और बाज़ार की त्रयी द्वारा उत्पादित सांस्कृतिक रुपों-मास-कल्चर' पॉप-कल्चर, टेक्नेट्रानिक कल्चर' मनोरंजन-उद्योग' संचार-संस्कृति' हिन्दी-अंग्रेजी की क्रिओल भाषा आदि -का प्रभुत्व स्थापित होना और सदियों की परम्परा से विकसित लोक-संस्कृति का विघटित होना दरअसल एक ही सामाजिक-आर्थिक प्रक्रिया की स्वाभाविक परिणति है। जिसे आधुनिक विकास कहा जाता है। यह प्रक्रिया जब तक शोषण और लूट की ओर लक्ष्यी भूत होगी' सांस्कृतिक विघटन अवश्यंभावी है जाहिर है, आधुनिक विकास के वैकल्पिक मॉडेल की खोज के साथ वैकल्पिक संस्कृति का स्वप्न साकार होगा। लेकिन आधुनिक विकास के प्रचलित मॉडेल को न सिर्फ खुशी-खुशी अपना लिया गया है बल्कि उसे विकल्पहीन भी करार दिया गया है।

यदि दुनिया विकल्पहीन नहीं हुई है तो इसका भरोसा हमें दुनिया भर में चल रहे वैश्वीकरण-विरोधी जन-संघर्षों को देखकर होता है। विकल्पहीनता की हताशा के बीच ये आशा के केन्द्र हैं। वैज्ञानिक पूंजी के पराभाव की प्रतीक्षा करने की बजाय यदि आशा के नये केन्द्र निर्मित करने का संकल्प उठ खड़ा हो तो इस आस्था के बीच से विकल्प अवश्य उभरेगा। यही आशा की जानी चाहिये ।

□□□

द्वारा-श्री नरेन्द्र प्रसाद सोनी
सोनी आटा चक्की के पास,
आकाश नगर, सिकोलाभाठा
दुर्ग (छत्तीसगढ़) 491001
मोबा. : 9977030637, 9981064205

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

छत्तीसगढ़ की मूर्तिकला में वर्णित लोकजीवन

डॉ. (श्रीमती) वंदना झा

छत्तीसगढ़ अंचल धार्मिक एवं सांस्कृतिक रुप से अत्यन्त समृद्ध है। प्राचीन काल से ही यहां अनेक धार्मिक मत एवं परंपराए प्रचलित रही हैं विभिन्न धर्मों के मतावलंबी यहां पर निवास करते रहे हैं जिन्होंने अनेक तरह के सांस्कृतिक क्रियाकलापों के द्वारा यहां के जनजीवन ओर सांस्कृतिक परंपराओं को समृद्धि प्रदान की है। छत्तीसगढ़ में प्राचीनकाल में विभिन्न राजवंशों का शासन रहा है जिनके द्वारा निर्मित भव्य मंदिरों और अन्य आराधना स्थलों में जिस तरह की कलाकृतियां परिलक्षित होती है वे उन राजवंशों द्वारा अपनायी गयी धार्मिक मान्यताओं को प्रदर्शित करती हैं। प्राचीनकालीन स्थापत्यकला ने भग्नावशेषों के अध्ययन एवं विश्लेषण के द्वारा तत्कालीन समाज के सामाजिक परिवेश एवं रीति रिवाजों के सम्बंध में अमूल्य जानकारी प्राप्त होती है।

छत्तीसगढ़ में प्राप्त स्थापत्यकला दक्षिणकोसल कला शैली के रुप में पहचानी जाती है जो कि कला के संक्रमण काल की देन है। यह संक्रमण काल छठवीं सदी से लेकर 9 वीं सदी तक रहा है यहां के विभिन्न ऐतिहासिक स्थलों में राजवंशों के काल में निर्मित कला के अनेक प्रतिमान स्थापित हैं। सोवमंशी राजाओं के काल में कला के अनेक केन्द्र विकसित हुए जोकि अड़भार, मल्हार, राजिम, खरौद, रतनपुर, खल्लारी एवं सिरपुर में विद्यमान थे इस तथ्य की पुष्टि इन ऐतिहासिक स्थलों पर उपलब्ध प्रचुर पुरावशेषों के द्वारा होती है। सोमवंशी राजाओं के पश्चात् नलवंशी और बाणवंशी शासकों ने छत्तीसगढ़ क्षेत्र में शासन किया। नलवंशी राजा विलासतुंग के राजीव लोचन मंदिर राजिम से प्राप्त अभिलेख के द्वारा नलवंश के शासन की पुष्टि होती है। उसी तरह बाणवंशी शासन काल में विकसित कलाकेन्द्र पाली था जहां का शिवमंदिर इसका प्रमाण है। तुम्माण, जांजगीर, मल्हार, खरौद, देव बालौद आदि छत्तीसगढ़ की विशिष्ट स्थापत्य शैली को प्रदर्शित करने वाले ऐतिहासिक स्थल हैं।

किसी क्षेत्र की कला में स्थित आधारभूत तत्व उसके अस्तित्व और विकास को प्रभावित करते हैं छत्तीसगढ़ की कला में जिन आधारभूत तत्वों का समावेश है वे हैं यहां की सामाजिकता और संस्कृति जिनका प्रभाव यहां की कला में दिखाई देता है। सभी प्रकार की कलाएं व्यापक रुप से समाज के लिए होती है जिसमें सामान्य जन का हस्तक्षेप बहुतायत से होता है। स्थापत्य, मंदिर आदि सार्वजनिक स्थल होते हैं जो कि सामान्यजन के दैनिक जीवन के अभिन्न अंग होते हैं वैसे ही जैसे कि उनके घर, खेत, बाड़ी अथवा चारागाह इसलिए इन सार्वजनिक स्थानों की सभी तरह की कलाकृतियों में समाज के सिद्धांत विचार और मिथक उभर कर दिखाई देते हैं। छत्तीसगढ़ के स्थापत्य और मूर्तिशिल्प में यहां के लोकजीवन में प्रचलित वेशभूषा, नृत्य संगीत आखेटादि क्रियाकलाप प्रचुरता से दिखाई देते हैं। यहां के विभिन्न स्थापत्य केंन्द्रों में क्षेत्रीय लोककला और सामान्य जनजीवन का अंकन मिलता है। लोककला, परंपरागत कला सामूहिक या समुदाय की कला होती है जो कि समूह के लोकाचार को अभिव्यकत्त करती है। मूर्तिकला एवं स्थापत्य कलार में जिन विशेषताओं में छत्तीसगढ़ के तत्कालीऩ जनजीवन को स्थान दिया गया है उनमें प्रमुख है– वेशभूषा अंकन, सामाजिक दृश्यांकन धार्मिक मूल्यांकन शिकारदृश्य, युद्ध दृश्य, नृत्य और संगीत। मूर्तिक़ला और स्थापत्य कला में छत्तीसगढ़ की प्रचलित वेषभूषा का अंकन देवप्रतिमाओं के वस्त्रों में जो अंतर परिलक्षित होता है वह समाज के विभिन्न वर्ग के लोगों की वेशभूषा के अंतर को स्पष्ट करता है। देव प्रतिमाओं के वस्त्र विशिष्टजन के वस्त्रों को दर्शाते हैं जबकि परिचारक–प्रतिमाओं के वस्त्रों से सामान्य वर्ग के वस्त्र प्रदर्शित होते है।

दक्षिण कोसल के मूर्तिशिल्प में अधिकांश पुरुषों, की वेशभूषा में यह दिखायी देता है कि पुरुष कमर से ऊपर उत्तरीय धारण करते थे जिनको वे दुपट्टे की तरह पहनते थे यह परिधान सामान्य गृहस्थ और समाज के उच्च वर्ग दोनों ही वर्ग के पुरुष समान रुप से पहनते थे। धोती दो प्रकार की होती थी लम्बी धोती जिसके आगे चुन्नट रहती थी कभी कभी यह चुन्नट आगे पीछे दोनों ओर

 CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

होती थी तथा छोटी धोती जिसे कमर पर चारों ओर लपेटकर पहना जाता था सामान्य अनुचरों को केवल अधोवस्त्र पहने दिखाया गया है देव बालोद के एक मंदिर में कुर्ता पायजामा धारी योद्धा को दिखाया गया है। ग्रामीणजनों को मात्र कौपीनधारी दिखाया गया है जो प्राय: सिर पर वस्त्र के केशों को बांधे रखते थे।

मूर्तिकला में स्त्री मूर्तियों को जिस तरह से साड़ी पहने दिखाया गया है वह छत्तीसगढ़ के ग्रामीण अंचल में आज भी देखा जा सकता है। मूर्तियों में स्त्रियों को जिस तरह की वेशभूषा में दिखाया गया है वे धोती चुनरी कुचबंध आदि पहने हुए हैं जिनको पहनने के ढंग अलग अलग मूर्तियों में अलग-अलग है। नृत्य संगीत की प्रतिमाओं में स्त्रियां को दुपट्टे की तरह का ऊपरिवस्त्र पहने प्रदर्शित किया गया है वस्त्रों के अतिरिक्त मूर्तियों में विभिन्न आभूषणों का प्रचुरता से प्रदर्शन किया गया है। इन आभूषणों से उस समय के लोगों की सौन्दर्यप्रियता प्रदर्शित होती है। इन आभूषणों को आज भी छत्तीसगढ़ के लोकजीवन में देखा जा सकता है। मूर्तिकला में प्रदर्शित आभूषण जिनमें मुकुटशिशभूषण, कर्णाभूषण, ग्रीवाभूषण, बाजूबंद, यज्ञोपवीत पादजालक (पायल) आदि प्रमुख हैं। मुकुट का अंकन मिलता है। ग्रीवाभूषण में विभिन्न रत्नों की कण्ठमाला, सिक्का, सूत्रहार वनमाला उत्सुत्र आदि मिलते हैं अष्टपत्र कमलयुक्त अनेक रत्नों से शोभित बाहु के मध्य में कड़े जैसा चौड़ा आभूषण बाजूबंद के रुप में मूर्तियों में दिखाई देते हैं। शिव की मूर्तियों में सर्पाकार केयूर या बाजूबंद पहनाये जाते हैं। इस अंचल में इस आभूषण को नागमोरी कहा जाता है। धातु की बारीक नक्काशीदार पट्टिका कटिसूत्र के रुप में कमर के चारों ओर लपेटकर पहना जाता है जिसमें सामने की ओर मध्यभाग में मुखबन्ध रखा जाता है। अंचल की मूर्तियों में कटिसूत्र की विविधता कला की विशिष्टता प्रदर्शित करती है। प्रतिमाओं में पैर के पंजें पर घुंघरु वाले पादजालक विविध आकार एवं शैलियों में पैरों की सौन्दर्यवृद्धि के लिए अंकित किये जाते हैं। छत्तीसगढ़ की प्राचीन मूर्तियों में केशबन्ध अर्थात जूड़े का प्रचलन अधिक पाया जाता है। विविधरुपों एवं आकारों में सिर पीछे दाये बायें अथवा ऊपर नीचे और अनेक घुमावदार शैलियों से केशसज्जा की जाती थी योद्धाओं की मूर्तियों में आदिम जनजाति की वेशभूषा का दर्शन होता है। बालों को ऊपर की ओर संवारकर उन्हें वेणीनुमा बनाया जाता है वेणी को सिर के चारों ओर लपेटकर गांठ बांधी जाती है देव बालोद के मंदिर में अधिकांश पुरुष मूर्तियों में केश को कपड़े से लपेटकर बांधा गया है। छत्तीसगढ़ की प्राचीन मूर्तिकला में तत्कालीन समाज के विविध स्वरुपों का अंकन किया गया है जिससे उस समय के लोक जीवन की झांकी दिखाई देती है वेशभूषा नृत्य संगीत वाद्य यंत्र आदि छत्तीसगढ़ के लोकजीवन में आज भी प्रचलित परंपराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं उनका प्राचीन काल की मूर्तिकला में दिखाई देना लोकजीवन की निरंतरता और सतत् प्रवाह को प्रदर्शित करता है। स्त्री मूर्तियों में जिस तरह आधी साड़ी बंधे हुए अंकन मिलता है वह आज भी ग्रामीण अंचल में देखा जा सकता है। पुरुषों को सिर पर साफा बांधे अंकित किया गया है जो कि आज भी एक सामान्य वेशभूषा है। नृत्य कला में जिन आभूषणों का अंकन होता है उसमें गले में पहना जाने वाला सूता हंसली आदि आभूषण छत्तीसगढ़ की ग्रामीण महिलाओं द्वारा आज भी पहना जाता है। इस तरह यह कहा जा सकता है कि छत्तीसगढ़ के प्राचीन मूर्तिशिल्प यहां के जनजीवन से सम्बन्धित जानकारी प्रदान करते हैं।

□□□

109,लेबर कालोनी
राजनांदगांव (छ. ग.) 491441
फोन : 07744-447480
मोबा. 9907921690

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

उड़ीसा–छत्तीसगढ़ के सम्मिश्र पर्व

उषा वैरागकर आठले

रायगढ़ जिले के कुछ गांव उड़ीसा राज्य की सीमा से सटे हुए हैं। राजनीतिक रुप से भले ही ये गांव छत्तीसगढ़ में हैं परन्तु यहां के निवासियों की संस्कृति पर उड़ीसा का प्रभाव स्पष्टतया देखा जा सकता है साथ ही इन गांवों में रहने वाले उड़िया भाषी लोगों पर भी छत्तीसगढ़ी संस्कृति का प्रभाव पड़ा है। इन गाँवों के बहुत से लोग छत्तीसगढ़ी की अपेक्षा उड़िया भाषा का प्रयोग करते हैं, साथ ही उनका खान–पान, पहनावा–ओढ़ावा, पर्व–उत्सव भी उड़ीसा से प्रभावित हैं। उड़ीसा के दो प्रमुख पर्व रथ द्वितीया और नवाखाई इन गावों में पारम्परिक तौर–तरीके से मनाए जाते हैं। इन की विशेषता यह है कि इनमें उड़ीसा और छत्तीसगढ़ की मिलीजुली संस्कृति का अद्‌भुत समन्वय दिखाई देता है।

रथयात्रा :

रायगढ़ शहर और उसके आस–पास के गावों में आषाढ़ शुक्ल द्वितीया को 'रथदुतिया' से पारम्परिक ''रथ मेला'' आरंभ होता है। रथ द्वितीया के दिन जगन्नाथ मंदिर में भगवान जगन्नाथ, बलभद्र और सुभद्रा की पूजा–अर्चना के पश्चात् उन्हें बाजे–गाजे के साथ मंदिर से बाहर निकाल कर रथ में बैठाया जाता है। गांव के ही किसी तयशुदा परिवार का मुखिया या गौंटिया यह पूजा सम्पन्न करता है। जगन्नाथ की मूर्तियां अन्य सामान्य मूर्तियों जैसे नहीं होती। ये मुखौटानुमा प्रतीकात्मक मूर्तियाँ होती हैं। इनका समूचा शरीर नहीं बनाया जाता, बल्कि

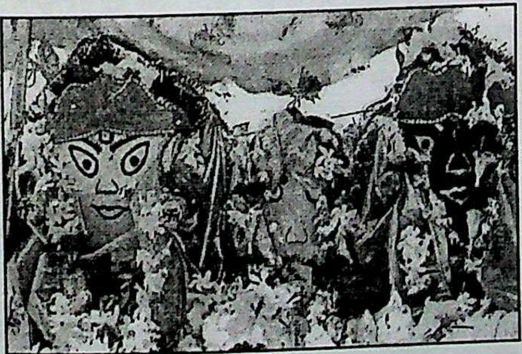

विशेष प्रकार की बड़ी–बड़ी आखें, नाक और मुंह को चित्रित कर मुखौटे जैसा बनाया जाता है। इनके हाथ भी प्रतीकात्मक होते हैं। कृष्ण, उनके भाई बलराम और बहन सुभद्रा की ये प्रतीकात्मक मूर्तियाँ अन्य मंदिरों में स्थापित देवमूर्तियों से बिल्कुल भिन्न होती हैं। ये इस स्वरुप में क्यों है, इसका इतिहास अज्ञात है।

पहले मंदिर के भीतर मृदंग, झांझ एवं करताल बजाते हुए उड़िया में प्रार्थना–गीत गाकर भगवान से बाहर आने के लिए प्रार्थना की जाती है। सबसे पहले मंदिर से मुखिया बाहर निकलता है, वह रास्ते को झाड़ू से बुहारता चलता है, दूसरा व्यक्ति पानी का छिड़काव करता है। इनके पीछे वादक गण होते हैं और तब तीन व्यक्ति इन मुखौटाधारी मूर्तियों को गोद में लेकर बाहर आते हैं। इन तीन व्यक्तियों पर आगे–पीछे से सफेद कोरे कपड़े की चांदनी तानकर छाँह की जाती है। ''जगन्नाथ स्वामी की जय'' के जयकारे के साथ 'हुलहुली पारी' जाती है। परिवार की औरतें और लड़कियां तीनों मूर्तियों पर धान की लाई छिड़कती चलती हैं। मृदंग की ताल पर रथ के चारों ओर सात बार प्रदक्षिणा की जाती है। साथ–साथ मंजीरा और करताल लिए हुए नर्तक भी नाचते चलते हैं। रथ में एक बड़े पटे पर वही सफेद चांदनी बिछाकर तीनों मूर्तियों को स्थापित किया जाता है। पास में पुजारी बैठ जाता है। उपस्थित भक्तगण पुनः हुलहुली पारते हैं और रथ–नृत्य आरंभ हो जाता है।

मंदिर के बाहर वादकों–नर्तकों की टोलियों के साथ सैकड़ों ग्रामवासी सजे हुए रथ के पास खड़े होते हैं। तीनों मूर्तियों को रथ में प्रतिष्ठित किया जाता है। पूजा करने वाले परिवार द्वारा धान की लाई और अंकुरित मूंग का भोग लगाने के पश्चात अन्य लोग भी अपने–अपने घर से लाई गई इसी सामग्री का भोग लगाते हैं। साथ ही नवजात शिशुओं और छोटे बच्चों को रथ में चढ़ाकर मूर्तियों के सामने सिर नवाकर आशीर्वाद दिलाना बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। रथयात्रा का आरम्भ होता है, करताल, मृदंग, झांझ, मंजीरे के साथ उड़िया भजन गाते हुए नर्तक

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

नृत्य करते हैं। समूचे गांव में घूमते हुए रथ शाम को मौसी के घर पहुंचता है। यहाँ जगन्नाथ, बलभद्र और सुभद्रा की मूर्तियाँ ससम्मान उतारी जाती है और तीनों अपनी मौसी के घर दस दिन दशमी तक विश्राम करते हैं। इन दस दिनों में विभिन्न गांवों में और रायगढ़ शहर के विभिन्न मोहल्लों में छोटे-छोटे रथ बनाकर उनके ईगिर्द मेला लगता है।

इस अवसर पर गांवों में जो मेला लगता है, उसमें आसपास के 15-20 गांवों के लोग आते हैं, जो भगवान जगन्नाथ की रथयात्रा में शामिल होकर, दर्शन और प्रसाद पाकर मेला घूमते हैं। ये मेले पारम्परिक मेले होते हैं, इनमें विभिन्न पारम्परिक खाद्य पदार्थ- जलेबी, शक्करपारा, बालूशाही, सेव, नमकीन, सलोनी के साथ-साथ बच्चों के खिलौने, फुग्गे और आधुनिक चीजें भी बेची जाती है। कहीं-कहीं विभिन्न प्रकार के झूले भी लगते हैं। रथ मेले में छोटे दुकानदारों की काफी बिक्री होती है अत: वे इन दस दिनों का इंतजार करते रहते हैं। रायगढ़ शहर के विभिन्न मोहल्लों और उड़ीसा प्रांत की सीमा से लगे गाँवों में इस दिन रथ मेले की खूब चहल पहल होती है।

गाँवों के रथ मेले की विशेषता यह होती है कि भगवान जगन्नाथ की पूजा करने वाला परिवार किसी भी जाति का हो सकता है। लैलूंगा तहसील के कमरगा गांव में श्री नीलाम्बर सिदार का परिवार पीढ़ी -दर-पीढ़ी से पूजा करता आया है। इस रथयात्रा और मेले में अनेक गाँवों के भिन्न-भिन्न जातियों के लोग भी नाचने पहुँचते है, इसे ''रथ नाचने जाना'' कहा जाता है। इस नाच-गान में आस्था और सामूहिक नृत्य का आनंद लेना, दोनों शामिल होता है। ग्रामीण नाच-गान, में मृदंग और करताल बजाया जाता है, वहीं शहर में विभिन्न प्रकार के वादक-नर्तक दल अपने ढोल, लेझिम, झांझ, नगाड़ों और डंडों के साथ रथयात्रा में नृत्य प्रस्तुत करते हैं। दशमीं के दिन जगन्नाथ, बलभद्र और सुभद्रा को उसी तरह वापस मंदिर में लाकर प्रतिष्ठित किया जाता है। इस पर्व में छत्तीसगढ़ के लोग पूरी तरह उड़िया संस्कृति में रंगे हुए दिखाई देते हैं।

नवाखाई और भोजली :

रायगढ़-उड़ीसा प्रांत की सीमा पर बसे कुछ गाँवों में, जहाँ उड़िया भाषी लोग भी बड़ी संख्या में रहते हैं, रथयात्रा के अलावा अन्य पर्व-त्यौहार भी सम्मिश्र रुप से मनाए जाते हैं। रायगढ़ से आठ किलोमीटर की दूरी पर बसे ग्राम टारपाली में उड़ियाभाषी कोलता समाज के लोग बहुलता में निवास करते हैं अत: इस गाँव में पिछले कई वर्षों से नवाखाई और भोजली पर्व भाद्रपद माह की पंचमी को एक ही दिन मनाए जाते हैं।

इस दिन खेत में खड़ी धान, उड़द, मूंग की नई फसल सबसे पहले देवताओं को अर्पित की जाती है। यदि फसल पकी नहीं है तो नई फसल के कुछ कच्चे दाने लेकर उन्हें शेष पुराने अनाज में मिलाकर पकवान बनाए जाते हैं। साँकरा जैसे कुछ सीमावर्ती गाँवों में चतुर्थी की रात को दीपक जलाकर पुरखों को आमंत्रित किया जाता है। सुबह ''झांकर'' (गोंड़ जाति का बैगा) आकर गाँव के प्रत्येक घर में अपने टिकरा में उगाई धान की बालियाँ देकर जाता है, जिसे पूजा के दौरान समर्पित किया जाता है। इस दिन एक वंश से संबंधित पूरा परिवार एक साथ मिलकर प्रसाद एवं भोजन ग्रहण करते हैं। भोजन में अधिक से अधिक सब्जियों को बेहतरीन तरीके से पकाया जाता है, चावल की खीर बनती है, जिसमें धान की नई बालियों से कुछ दाने तोड़कर अवश्य मिलाए जाते हैं। छत्तीसगढ़ की विभिन्न जातियों में नवाखाई में अलग-अलग वस्तुएं बनाई और खाई जाती है। कुछ जातियों में महुआ या कुरे पत्ते की पत्तल पर ही भोजन ग्रहण किया जाता है। घर के सबसे बड़े पुत्र द्वारा लक्ष्मी की पूजा की जाती है। पूजा-विधान सामान्य होता है। फूल और दूध के साथ नई फसल की बालियाँ और फलियाँ अर्पित कर पूजा होती है। घर के गाय-बैलों को भी 'नया' खिलाया जाता है। इस 'नवाखाई' पूजा के बिना कोई भी परिवार नई फसल का खाने के लिए इस्तेमाल नहीं कर सकता। अगर किसी के घर में मृत्यु हो जाए या बच्चे का जन्म हुआ हो, अर्थात् 'छुआ' हो, ऐसे घर में पूजा नहीं की जा सकती। 'छुआ' की समाप्ति के पश्चात् पूजा सम्पन्न होती है परंतु, इस पूजा के बिना वह परिवार 'नया' नहीं खा सकता। इस अंचल में ''नवाखाई'' बहुत महत्वपूर्ण त्यौहार होता है। समूचे छत्तीसगढ़ की विभिन्न जातियाँ-जनजातियाँ भी 'नवाखाई मनाती है। उसका समय और तरीका भले ही अलग-अलग हो, परंतु उद्देश्य एक ही है। कृषि-

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

व्यवस्था से जुड़े सभी लोगों द्वारा नई फसल की समृद्धि हेतु ईश्वर को धन्यवाद प्रेषित किया जाता है।'

छत्तीसगढ़ में सामान्यतः ''नवाखाई'' और ''भोजली'' के लिए एकदम निश्चित तिथि नहीं होती। प्रत्येक गांव के लोग अपनी-अपनी सहूलियत से तिथि तय करते है। ये दोनों पर्व एक दिन मनाना आवश्यक नहीं होता परंतु ग्राम टारपाली में निवासरत विभिन्न जाति-जनजातियों के लोग और उड़िया कोलता समाज के लोगों ने मिलकर इन दोनों पर्वों को एक ही दिन साथ-साथ मनाने की परंपरा का सूत्रपात किया है। सुबह ''नवाखाई'' की पूजा सम्पन्न कर दोपहर भोजन करने के पश्चात् ''भोजली'' मनाई जाती है। ''भोजली'' के नौ दिन पहले लड़कियाँ और स्त्रियाँ धान या गेहूँ के बीज बाँस की टोकरियों या काँसे की थालियों में बो देती हैं, जो अंकुरित होकर नौ दिन में ''जँवारा'' (भोजली) के रुप में तैयार होते हैं। इन नौ दिनों में भोजली बोने वाली लड़कियाँ और स्त्रियाँ रोज इन्हें हल्दी और पानी से सींचकर इनकी सेवा करते हुए भोजली गीत गाती हैं –

देवी गंगा, देवी गंगा, लहर तुरंगा
हमरो भोजली दाई के भीजे आठो अंगा
हा हो देवी गंगा, हो देवी गंगा।

इस मुखड़े के साथ गीत आरंभ होता है और उसमें अपनी इच्छानुसार अलग-अलग पद जुड़ते चले जाते हैं। कुछ उदाहरण है –

1. माड़ी भर जोंधरी, पुलुस कुसियारे।
जल्दी जल्दी बाढ़ौ भोजली, होवत हुसियारे ।।
हो देवी गंगा।

2. कुटि डारेन धान, पछिन डारेन भूसा।
लइके लइका हवन भोजली, झन करहू गुस्सा ।।
हो देवी गंगा।

3. भौंरा खेलेन, बांटी खेलेन, खेलेन गिल्ली डंडा।
अतेक सुघ्घर भोजली ला कइसे करबो ठंडा।।
हो देवी गंगा।

ग्राम टारपाली में भोजली की दोपहर को अलग-अलग जाति-समूह की स्त्रियां और लड़कियाँ अपने अपने जाति-समूह के एक-एक घर में अपना-अपना 'जँवारा' लेकर पहुंचती है। प्रायः उस घर में जमा होती है, जिस घर की लड़की या स्त्री ने विवाह होने या संतान-प्राप्ति के लिए मनौती मानी हो। तुलसी चौरे के सामने गोबर लिपी जमीन पर जँवारे रख दिये जाते हैं। इनको बाँस की छोटी-छोटी खपचियों पर रंगीन कागज की पताका चिपकाकर सजाया जाता है। मनौती मनाने वाली स्त्री या लड़की एक पट पर जँवारा जगाती है, उसमें बीच में कलश रखकर आम के सात पत्तों से सजाकर उस पर एक दोने में दीपक जला देती है। जँवारा उठाने के पहले उसकी पूजा कर अगरबत्ती जलाते हैं, नारियल फोड़ते हैं। भोजली गीतों की टेक उठाई जाती है। सबसे पहले मनौती मानने वाली लड़की या स्त्री साज-श्रृंगार कर जँवारा अपने सिर पर उठाकर आगे चलती है, उसके पीछे-पीछे अन्य स्त्रियाँ और लड़कियाँ भी चलने लगती है। अलग-अलग जाति-समूह की स्त्रियाँ रास्ते में इस जुलूस में शामिल होती जाती है। पुरुष वर्ग खंजनी, मांदर, करताल, मुरदुम आदि वाद्य बजाते हुए जुलूस के साथ-साथ चलता है। गाँव की गलियों में घूमते हुए यह जुलूस विशेष तालाब पर पहुँचता है। भोजली गीतों में कुछ पद तो प्रचलित हैं और पारम्परिक रुप से गाए जाते हैं, परंतु कुछ लड़कियाँ और स्त्रियाँ आशुकवित्व के द्वारा नए-नए पद गाती हैं। नियम यही है कि पद के अंत में ''हा हो देवी गंगा'' अवश्य गाया जाए। ग्राम टारपाली के भोजली गीतों की विशेषता यह दिखाई दी कि उड़िया लड़कियाँ और स्त्रियाँ भी उतने ही उत्साह से भोजली गीत गाती है। किशोर वय की लड़कियों में नए-नए पदों को गाने की होड़ सी लग जाती है। पहले एक सयानी स्त्री श्रीमती बुधनी यादव ने शुरुआत की–

आसा खेलेन, पासा खेलेन, खेली डालेन डंडा।
हमरो भोजली दाई ला, करि देबो ठंडा ।।
अचूड़ी तलैया में पचूड़ी पठाएन।
अल्लागोजा तलैया में भोजली सिराएन।।
हा हो देवी गंगा।

उड़िया भाष किशोरी कु. जान्हवी गुप्ता टेक को आगे बढ़ाते हुए गा उठी –

बइला चरे, बइला चरे, बइला के मूड़ मा माटी।
गवटिया पिने सोना-चांदी, गवटिन पिने बाटी।।
हा हो देवी गंगा।

कु. संतोषी गुप्ता ने सुर उठाया –

दस कोसा पुरइन पत्ता, बिस कोसा पानी।
उहां ले निकलथे काजल बत्ती रानी।।
हा हो देवी गंगा।

कु. गायत्री गुप्ता विशुद्ध छत्तीसगढ़ी में गा उठती है –

ऊपर राज के कारी चूरी, तरी राज के डलवा।
जबले लानबे सोन के टिकुली, तबे चढ़औं डलवा।।
हा हो देवी गंगा।

जशोवन्ती प्रधान भी भोजली की उमंग को व्यक्त करती है –

झांझ बाजे, मुरदुम बाजे, बाजे करताल,

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

ओ बाजे करताल।
नरियर फूटे, फूटे नरियर झोंकौ परसाद।।
हा हो देवी गंगा।

संतान-प्राप्ति की चाह में श्रीमती गुप्ता गाती हैं-

हाट ला गेहेन बिसाए लाए बर फागू ।
कलस लोटा बोहही ओला हो ही बाबू।।
हा हो देवी गंगा।

इन गीतों को गाते-गाते सब तालाब जाने के लिए सिर पर जँवारा लेकर तैयार हो जाती है, तब भोजली गायन में सिद्धहस्त श्रीमती बुधनी यादव भोजली को उठाते हुए गाती हैं -

उत्ती के केरा, उतरे घाना घेरा।
उठा उठा भोजली दाई, दरसन के बेरा।।
राम धरिन धनु, लछमन धरिन बाना।
लंका के जुद्ध में जीते हनुमाना।।
हा हो देवी गंगा।

भोजली को उठाते हुए कोलता समाज के लोग उड़िया परम्परा के अनुसार ''हुलहुली पारते'' हैं।

तालाब पहुँचने के बाद भोजली ठंडा करने के दौरान फिर से मिलने का वादा करते हुए गाया जाता है -

नानेकुन हंसिया के जरहा हे बेंट।
जियत जागत रहिबो भोजली, होई जाही भेंट।।
हा हो देवी गंगा।[3]

भोजली ठंडा (विसर्जन) करने के पश्चात् वहाँ उपस्थित सभी लोग परस्पर मिलकर भोजली का आदान-प्रदान करते हैं। इस अवसर पर 'भोजली बदने' का भी प्रचलन है। जिन्हें आपस में बदनी होती है, वे एक दूसरे के कानों पर कुछ जवें खोंसकर भोजली बदते हैं और ''मितान'' बन जाते हैं, चाहे वे किसी भी जाति या उम्र के हों। इस मित्रता और स्नेह के निर्मल संबंध को वे जीवन भर निभाते हैं। इस संबंध-निर्वाह में पर्व-त्यौहारों पर एक दूसरे के घर में पकवान-वस्तु भेजी जाती है, सुख-दुख, शादी-गमी में एकदूसरे को रिश्तेदारों की तरह सम्मिलित किया जाता है। इस तरह यह पर्व समूचे गाँव को मित्रता, स्नेह और सामूहिक आनंद की प्रवृत्ति के बढ़ने से, राजनीतिक, सामाजिक पृथकता को बढ़ावा दिए जाने से कई जाति-समूह भोजली की सामूहिक विसर्जन-यात्रा में अब शामिल नहीं होते। अनेक गाँवों में भोजली मनाने का उत्साह कम होता जा रहा है। फिर भी इस पर्व के गीतों में सभी जाति-वर्ण-वर्ग के सहयोग एवं सामूहिकता की बात अनुकरणीय है -

कुम्हार घर के खातु माटी, तुरिया घर के टुकनी।
बइगा घर के जवा भोजली, चढ़य मोतिया पानी।।
अथवा
कंडरा घर के चुरकी, कुम्हार घर के खातु।
राजा घर के जवा भोजली, लिहय अवतारु।।
हा हो देवी गंगा।

छत्तीसगढ़ी आंचलिक पर्व 'भोजली' और उड़ीसा का पर्व 'नवाखाई' ये दोनों पर्व कृषि से जुड़े हुए हैं तथा समूचे ग्रामीण समुदाय को मित्रता, आत्मीयता, और स्नेह के बंधन में बांधने वाले हैं। समान उद्देश्यों वाले इन पर्वो को मनाने का तरीका अलग-अलग होने के बावजूद इनमे निहितार्थ समान होने के कारण छत्तीसगढ़ी और उड़िया संस्कृति का सम्मिश्रण यहाँ संभव होता है। आज जहाँ एक ओर क्षेत्रीय तथा जातीय अलगाववाद और कट्टरता को राजनीतिक स्वार्थों के चलते हवा दी जा रही है, वहीं जनसाधारण में सद्भावपूर्ण सांस्कृतिक आदान-प्रदान राहत प्रदान करता है कि अभी भी भारतीय संस्कृति का ताना बाना उतना विरल नहीं हुआ है।

(विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली द्वारा प्रदत्त शोध परियोजना के अंतर्गत चल रहे फील्ड वर्क पर आधारित)

□□□

आठले हाउस, सिविल लाइन्स
रायगढ़, छत्तीसगढ़
फोन : 98265-00154

संदर्भ

1. मोक्षदा चंद्राकर - छत्तीसगढ़ी लोकगीतों में विविध रंग, लोक मड़ई 2001, पृ. 86
2. ग्राम टारपाली में पर्व के दिन जाकर किया गया संकलन
3. मदनलाल गुप्ता - छत्तीसगढ़ की संस्कृति एवं लोक आयाम के विभिन्न स्वरुप, पृ. 27
4. त्रिवेणी तलवरे एवं बी. के. पटेल - छत्तीसगढ़ के आंचलिक पर्व - मड़ई 1994, पृ. 119

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

राउत नाच के दोहों का संसार

जमुना प्रसाद कसार

रंग माते रसिया, छापर माते गाय।
अपन देवारी अहिरा माते, घर बन नहीं सुहाय।।

सभ्यता के नये प्रकाश के साथ आज एक नया परिवर्तन सर्वत्र परिलक्षित हो रहा है। छत्तीसगढ़ की सांस्कृतिक धरोहर, राउत नाच जिसमें आज भी वही उन्माद और वही मस्ती दिखाई देता है। लगता है यह सब शाश्वत है चिर है। यह तो एक छबि है, जीवन का एक सौन्दर्य है जो कभी समाप्त होने वाला नहीं। इस पर्व पर हमारे राउत भाई अपना सब कुछ विस्मृत कर एक साथ नाचते हैं। यही तो साथ साथ जीने का उपक्रम है। यही सुख है संग रहने का, यही आनन्द है जीवन के समवेत स्वर का। वे एक राग पर थिरकते हैं। वाद्य और राग अलग-अलग हुए कि समझ लो छंद टूटा। इस दृष्टिकोण से मानों ये राउत भाई हमें संदेश देते हैं कि नाचो-गाओ साथ-साथ।

छत्तीसगढ़ ही नहीं वरन समूचे भारत की राउत जाति चाहे वह भिन्न भिन्न स्थानों पर अलग-अलग नामों से संबोधित की जाती हो, यह जाति भगवान कृष्ण को अपना पूर्वज मानती है। राउत, रावत, बरदिया, ठेठवार, अहीर, अभीर, ग्वाल, गोपाल और यादव सब यदुवंशी हैं तथा ये सब श्रीकृष्ण को अपना आराध्य मानते हैं। छत्तीसगढ़ के राउत अपनी प्राचीन संस्कृति को अपने दोहों में समेटे हुए हैं। ये परंपरा से चले आये अपने दोहों के माध्यम से हमारी मुलाकात कबीर, तुलसी और सूरदास से करवाते हैं किन्तु उनके काव्य को ये राउत नर्तक आंचलिकता का जामा पहनाकर भी हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं। इनके दोहे छंदशास्त्र के कठोर बंधनों से मुक्त होते हैं। इसके अतिरिक्त ये अपने नाच के समय ऐसे अनेक दोहे गाते हैं जो युग युगों की मौखिक परंपरा से चले आये हैं। साथ ही ऐसे प्रतिभावान राउत भी हैं जो अपने स्वरचित दोहे भी गाते हैं और यहाँ तक कि ये तत्काल उपस्थित हुई संवेदनात्मक परिस्थिति में तुरंत दोहा गढ़ कर अपने आशु कवि होने का परिचय देने में नहीं चूकते। ऐसे में कभी मन की गहन पीड़ा झाँक उठती है या कोई करारा व्यंग्य फूट पड़ता है। इन छोटे छोटे दोहों में बड़ी से बड़ी बात भी कह दी जाती है।

सामान्यतः इनके दोहे अपने व्यवसाय से संबंधित होते हैं जिनमें जातिगत विभिन्न वस्तुओं का वर्णनात्मक संकेत होता है। कुछ दोहों में किसी कथा का अंश होता है तो कुछ दोहे जन-जीवन से संबंधित होते हैं। हमें ऐसे अनेक दोहे सुनने को मिलते हैं जिनमें सामाजिक जातीय परंपरा, पूजा, पद्धति, खेती-बाड़ी, समाज का वर्गभेद, खान-पान, पहिनाव आदि का वर्णन रहता है। जब राउत मण्डली अपना नाच प्रारंभ करती है तब प्रथम दोहा ईश विनय और अंतिम दोहा आशीर्वाद का तो होता ही है। इसके अतिरिक्त सुन्दर प्रकृति चित्रण, बारह मासा और श्रृंगार के दोहे भी होते हैं। इस तरह दोहों का एक विशाल संसार हमें देखने-सुनने को मिलता है।

बिलासपुर क्षेत्र में यह त्योहार देवउठनी एकादशी से मनाया जाता है किन्तु रायपुर क्षेत्र में राउत लोग दीपावली के दूसरे दिन अर्थात गोवर्धन पूजा के दिन से ही नाचते हैं। गोवर्धन पूजा का सीधा मतलब है गोबर भी धन है। साथ ही इसका मतलब है गो-वर्धन। अतः यह गो-संवर्धन का प्रतीक एवं गोवंश की प्रतिष्ठा का पर्व है। इस दिन से राउत लोग अपने परिचित के घर नाचने के लिए जाते हैं।

वे राउत-नर्तक पन्द्रह-बीस लोगों की एक टोली (गोल)बनाकर निकल पड़ते हैं। इस टोली में युवा और बुजुर्ग लोग तो रहते ही हैं किन्तु लगभग प्रत्येक नर्तक दल में बच्चे भी बड़ी संख्या में रहते हैं जो अन्यों की अपेक्षा अधिक उत्साही दिखाई देते हैं। इन सबकी पोशाक बड़ी मनमोहक होती है। ये सिर पर रंगीन पगड़ी, जिसे पागा कहते हैं, बांधे रहते हैं। पगड़ी में कलगी भी खोंच लेते हैं। कुछ लोग बांस की छोटी खुमरी (टोपनुमा) जो

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कागज के फूलों से सजी रहती है, पहनते हैं। पागा में मोरपंख की कलगी सुशोभित होती है। ये लोग घुटनों के ऊपर तक रहने वाली बटेकोर की धोती या चोलना पहनते हैं। बदन पर कमीज के साथ जाकिट अवश्य रहेगी। इनके सारे वस्त्र गाढ़े चटक रंग के होते हैं। कुछ लोग तो आज भी रंगीन सलूखे के ऊपर कौड़ियों से युक्त एक पेटी वक्षस्थल पर बांधे रहते है। इनके पैरों में घुंघरु बंधे रहते हैं। लोग जूते पहिनते हैं। अपनी रंग-बिरंगी पोशाक में इन राउत नर्तकों का मनमोहक रुप देखते ही बनता है। प्रत्येक के हाथ में एक लाठी का रहना अनिवार्य है। इसी लाठी को ऊंचा कर ये राउत मौज में नाचते हैं।

अपने परिचितों के द्वार पर पहुँचते ही हो...कह कर जोर की आवाज लगाते हैं और घुंघरुओं की झंकार के साथ नाच उठते हैं। ये राउतगण किसी संगीतज्ञ की तरह नहीं गाते वरन इनके दोहे लल्कार होते हैं।

बाजत आवय बांसरी, उड़ावत आवय धूल
नाचत आवय कृष्ण कन्हाई, खोंचे कमल के फूल।

पंक्ति के अंत में लोग हो का उच्चारण करके नाचने लगते हैं। नाच के समय इनके साथ चलने वाले बाजे और घुंघरुओं की तीव्र आवाज से सारा वातावरण गूंज उठता है।

देवताओं के नायक गणपति की वंदना के साथ अन्य देवी-देवताओं की वन्दना भी हमारे ये सजे हुए कन्हाई करते हैं।

सदा भवानी दाहिनी, सन्मुख रहें गणेश हो।
तीन देव रक्षा करें, ब्रह्मा, विष्णु, महेश हो।।

ये राउत भाई इतने कर्तव्यनिष्ठ होते हैं कि अपने नाच के दिनों में भी गौ की सेवा करने से मुख नहीं मोड़ते। ये आधा दिन बराबर अपना काम करते हैं और दूसरे जून ही नाचने के लिए निकलते हैं। फिर देर रात तक भी नाचते रहने में इन्हें कोई आपत्ति नहीं है। फिर भी अपने अन्तर्मन में इन्हें ऐसा लगता है मानों ये गौ माता की सेवा उस प्रकार नहीं कर पा रहे हैं जैसे इन्हें करनी चाहिए थी। इस कारण सुहई बांधने के बाद मानों क्षमा याचना के स्वर में गा उठते हैं। वे कहते हैं कि मैं देवारी उत्सव अवधि के लिए तुम्हारे उपकार को भूल नहीं रहा हूं। मुझे क्षमा करना।

चार महीना चरायेंव खायेंव मही के मोरा।
आइस मोर दिन देवारी, छोड़ेवं तोर निहोरा।।

इसके बाद राउत अपने त्योहार की खुशी में मस्त हो जाता है और उसका उल्लास इन शब्दों में फूट पड़ता है -

रंग माते रसिया, छापर माते गाय।
अपन देवारी मा अहिरा माते, घर बन नहीं सुहाय।।

यदुवंशी होने के नाते यह तो स्वयं सिद्ध है कि राउतों के आराध्य देव भगवान कृष्ण ही हैं किन्तु अपनी आध्यात्मिक उदार भावना के कारण ये केवल गण देवता गणपति ही नहीं वरन अन्य देवी देवताओं को भी वैसा ही सम्मान देते हैं यथा -

कलकत्ता के काली सुमिरौं, रतनपुर के महामाया
सुमिरौं देवी रे मैहर के, बैहाँ माँ होय सहाय।।

परमात्मा में अटूट आस्था रखने वाले इस देश के जन-जन की धार्मिक निष्ठा को व्यक्त करते हुए वह गा उठता है -

तुलसी बिरवा बाग के, सींचत ही कुम्भलायं हो।
रहे भरोसे राम के, परवत मां हरियायं हो।।

वैसे तो प्रत्येक जाति में, प्रत्येक समाज में भिन्न भिन्न आर्थिक स्थिति के लोग मिलते हैं। हमारा राउत भाई किन्तु विपन्नता से किसी प्रकार की हीन भावना का शिकार नहीं होता। उसे तो इसी बात का गर्व है कि वह अपने बरस-बरस के दीपावली त्योहार पर रंग-बिरंगे कपड़े पहनकर सुख का अनुभव करता है।

गोरिया कपड़ा बाम्हन पहिरे, करिया पहिरे बींझवार
रंग-बिरंगे राउत पहिरे, माने देवारी तिहार।

जैसा कि मैं पूर्व में ही संकेत दे चुका हूँ कि राउत नाच के ये दोहे जीवन की विभिन्न स्थितियों एवं परिस्थितियों का बड़ी खूबी के साथ चित्रण करते हैं, यहाँ कुछ बानगी प्रस्तुत है -

भाग्य-दुर्भाग्य के झूले में झूलने वाले जीवन का चित्रण निम्न दोहे में देखने को मिलता है -

बिना जल के सागर भरगे, लग गे मोतिन के ढेर रे।
छुवत मां मोती घोंघी भइगे तुरते, ये सब दिन के फेर रे।।

श्रृंगार का भाव तो मानव मन का एक शाश्वत भाव है और एक समय ऐसा आता है जब व्यक्ति अपनी इस श्रृंगार भावना को प्रस्फुटित किए बिना रह ही नहीं सकता। ऐसे मौके पर जबकि हमारा यह राउत-संगी खुशी की मस्ती में झूमकर नाच रहा हो, एक ओर वह साधारण से कच्चे मकान के सौन्दर्य पर निछावर है -

अंगना लीपे चक चंदन, हरियर गोबर भीने।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

गाय गाय सार मोर, बरदी है सो तोनों।

तो दूसरी ओर वह एक गौर वर्ण नायिका का अता-पता जानने के लिए आकुल हो टेर लगाता है। वातावरण उसका अपना है, सहज, सरल चिरपरिचित -

छेना थापे फुट-फुटिया, तोर घुंघरारे केस।
तैं तो गोरिया अतके सुंदर, तोर धनी कोन देस।।

गाय और गोरस ही तो राउत जाति का सही धन है। इस पर उसे बड़ा नाज़ है। अपने वंश व्यवसाय के इस स्वाभिमान को बेहिचक वह इस प्रकार व्यक्त करता है-

वन माँ गरजे नव कुंजला, डिलवा माँ गरजे नाग हो।
कोठा माँ गरजे भूरी भैंसी, दुहना माँ गोरस धार हो।।

समाज के व्यक्तियों के साथ मधुर संबंध ही हमारी सामाजिकता की रीढ़ है किन्तु संकट के समय में कौन, किसके, कितने काम आ सकेगा, इस सब की सीमाएँ हैं। कहा जाता है कि खून, पानी से गाढ़ा होता है इसलिए कठिन समय में भाई ही सीमाहीन हो सकता है, भाई ही भाई के काम आता है। इसी तरह नारी तो इस देश में सदा पूज्या रही है किन्तु समाज में उसकी सार्थकता उसके पुत्रवती होने में ही है। इन दोनों तथ्यों को एक ही दोहे में पिरोकर वह प्रस्तुत करता है -

ताल सोहावन ताल पोखरी, आमा के सोहावन डार हो।
कोख सोहावन बेटा हवै, पाट सोहावन भाय हो।।

ये तथाकथित अशिक्षित या अल्प शिक्षित राउत भाई देश व समाज के प्रति संवेदनशील हैं। इनके मन में देश भक्ति होती है इस देश की माटी के प्रति इनकी श्रद्धा कुछ इस प्रकार प्रवाहित होती है-

भारत देश के माटी भैया, तन मन खुशी समाय हो।
जियत मां तारै ये हमला, मरे मां अंग लपटाय हो।।

शासन की कारगुजारियों से कौन परिचित नहीं है। जब शासन का निकम्मापन इन्हें पीड़ा देता है तब हमारे यही राउत भाई शासन की विसंगतियों को साहस के साथ उजागर करते हुए दहाड़ते हैं -

कनवा होगे कानून, अऊ भैरा होगे सरकार।
कोन देखय दुखिया मन ला, कोन सुनय गोहार।।

हमारा संस्कृत और हिन्दी साहित्य जीवन-दर्शन एवं नीति परक बातों से पटा पड़ा है। इससे भी हमारे राउत भाई अछूते नहीं है। हमारे दशे में पारस पत्थर की चर्चा लोग बड़े चाव से करते हैं और पारस की प्रशंसा में कहते हैं - लोहा छुअत सोन होई जाय। किन्तु हमारे राउत भाई इस किंवदन्ती को अपने एक नीति परक दोहे में इस प्रकार झुठलाते हैं। वे कहते हैं कि न तो लोहा सोना बन सकता है और न ही कौवा हंस

नील बोय न छूटि है, लौह न कंचन होय।
कतको कपूर चुगाइए, कागा हंस न होय।।

फिर ये रहीम कवि के स्वर में स्वर मिलाकर आदमी के सम्मान की बात यों करते हैं -

आवत मां हासय नहीं, हिरदे मया लुकाय।
उंहां कभूं झन जाहौ संगी, चाहे अमरित रहे बंटाय।।

निकृष्ट व्यक्ति की संगति सदा हानिप्रद होती है। हिन्दी साहित्य में अलग अलग ढंग से इसकी निंदा की गई है। हमारे राउत भाई कुसंगति के संबंध में कहते हैं

पानी पाथर तूमड़ी, संगे चलै बोहाय।
हलका संग झन करिहौ संगी, सब गरुआपन जाय।

जीवन की क्षणभंगुरता को व्यक्त करने वाली दोहे की ये पंक्तियाँ एकदम ह्रदय स्पर्शी हैं

दू दिन के दुनिया मां संगी, झन कर बहुते आस रे।
नदी तीर के रुखड़ा भैया, जब तब होय विनास रे।।

इस प्रकार नाचते गाते ये राउतगण अपने अपने परिचितों के घर जाते हैं। वहां नाचते हैं। फिर घर का मालिक या मालकिन रोली, अक्षत लेकर आती है। वह अपने बरदिया का तिलक करती है और प्रेमोपहार के रुप में वस्त्र या मुद्रा उसे भेंट करती है। राउत भेंट देने वाले को पैलगी (प्रणाम) करता है और फिर उसके साथी नाच कर अपनी खुशी प्रकट करते हैं। वैसे ये बरदिया प्रेमोपहार को खुशी-खुशी स्वीकार करते हैं और इनका आशीर्वचन-इस प्रकार होता है -

जैसे भइया लिए दिए, वैसे पावव असीस हो
अन धन ले घर भरय, जुग जीवो लाख बरीस हो।

यद्यपि इस आशीष में भी कोई कमी नहीं है। ये राउत लोग गृहस्वामी के कल्याण कामना करते हुए यह दोहा कहते हैं -

धन गोदानी भुइयां पावौ, पावौ हमर असीस हो।
नाती पूत ले घर भर जावै, जीवौ लाख बरीस हो।।

एक ओर पैलगी (प्रणाम) करना ओर दूसरी ओर आशीर्वाद देना, ऊपर से तो विरोधाभास सा प्रतीत होता है किन्तु लगता है यही प्रेम का मूर्तिमान रुप है। राउत भाइयों की यह परंपरा कोई नई नहीं है। त्रेतायुग में भी तो यही परंपरा रही है। राम वन गमन के समय ग्राम बधूटियाँ सीता जी के चरण स्पर्श तो करती हैं किन्तु उन्हें उनके

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सुहाग की अखण्डता का आशीर्वाद भी देती हैं।

लेख के सीमित कलेवर में राउत नाच के दोहों की मात्र बानगी प्रस्तुत की गई है। यदि कोई व्यक्ति इस विषय पर शोध करके समस्त छत्तीसगढ़ अंचल के गीतों को एकत्र करने का कष्टसाध्य कार्य कर सके तो हमारे सामने इन दोहों का एक विराट सागर लहराने लगेगा।

राउत नाच मनमोहक होता है। हमारी मूल संस्कृति पर आधुनिक सभ्यता की जो कलुषित छाया पड़ रही है इसने हमारी प्राचीन गरिमा पर कुठाराघात किया है। आधुनिकता का यह असर शहर और नगरों में बराबर देखने को मिलता है। बिलासपुर में नवम्बर–दिसम्बर माह में राउत नाच महोत्सव का आयोजन किया जाता है। इस आयोजन में समस्त राउत भाई अपनी परंपरागत वेशभूषा में ही आते हैं। यहाँ सारी रात नृत्य होता है, सारी रात अमृत बरसता है आशा है यह महोत्सव राउत नाच के मूल स्वरुप को अक्षुण्ण बनाए रखने में अहम भूमिका निभायेगा।

□□□

सिकोला भाठा, प्रेम नगर
दुर्ग (छत्तीसगढ़)

एक वैश्विक संस्कृति का निर्माण वैश्वीकरण की प्रमुख योजना का हिस्सा है। वैश्विकता के सही मानवीय आधार क्या हो सकते हैं, इस की जोरदार ढंग से बात कहीं सुनाई नहीं देती। एक ही चित्र हमारे सामने लहराता है– सूचना–तंत्र सांझा हो, बाज़ार में चीज़ें एक साथ प्रकट हों, कोई भी कहीं जाकर अपनी दुकान खोल ले, कारखाना लगा ले। सारा संसार सांझी मण्डी है। मोटे तौर पर अमीर आदमी या देश के लिए वैश्विकता का यही अर्थ है। गुलाम, नकलचियों के लिए यह अर्थ कुछ और भी आयाम ओढ़ लेता है। जैसे, एक ही तरह के शारीरिक व्यवहार, कपड़े–लत्ते, खाना पीना और यहां तक कि तीज–त्यौहार की बिना किसी भावनात्मक या ऐतिहासिक सम्बद्धता के–फूहड़ नकल। सारे विश्व में सब को सब कुछ बराबर मिले, अभी तक यह दूर की आवाज भी नहीं है।

साभार–कृष्ण किशोर : सम्पादकीय 'अन्यथा' जुलाई 2006 (पृ.5):

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

फूल जैसे भात का धनी छत्तीसगढ़ की तपोभूमि

कालेश्वर

मैंने बिलासपुर का 28 वां नाचा महोत्सव देखा। यह राउत नाचा महोत्सव अपने आप में अद्‌भुत जीवंत छत्तीसगढ़ी लोक संस्कृति की धरोहर है। पहले अपने-अपने अखाड़ों में स्वाभाविक रुप से राउत नाचते थे और लोक गीतों की बहार आ जाती थी। अब यह नाच संगठित और आयोजित सज-धज के साथ बिलासपुर में होता है। झारखंड में अहीर ग्वाले सोहराय पर्व के रुप में दीवाली का दूसरा दिन मनाते हैं और सोहराय-चांचैर के गीतों के साथ नाचते हैं। रात में गांव के घर-घर जा कर नाचते हैं। नाचा छत्तीसगढ़ के राउतों का सोहराय पर्व का परिवर्तित रुप है। नाचा में भी राउत गांव में या शहर में घर-घर जा कर गाते-नाचते है। कार्तिक महीने में छठ पर्व के बाद लगभग कई दिनों तक चलता रहता है नाचा। प्रचलित 'टूरा नय जानय....आज का आधुनिक गीत नाचा का सुना। मैं रायपुर से बिलासपुर आ गया था। नाचा महोत्सव के संयोजक डॉ. कालीचरण यादव से मिला और जब मैंने बताया कि झारखंड से आया हूँ तो बहुत ही खुश हुए। उन्होंने लालबहादुर शास्त्री स्कूल के मैदान में मंच, गेट और दर्शक दीर्घा बनवाते हुए देर तक बातें की, जलपान करवाया और महोत्सव देखने के लिए आमंत्रण पत्र दिया। छह बजे शाम तक मैं महोत्सव देखने पहुंचा गया। अखाड़ा के कोने पर सुंदर सजा हुआ ऊँचा खंभा खड़ा किया हुआ था जो राउतों के ईष्टदेव का प्रतीक था। शहर के गली-कूचों से गांव-गांव से लोग आने लगे थे और सात बजे शाम से नाच शुरु हो गया। परंपरागत वेश-भूषा में नृत्य दल अखड़े में घुसा और सवा घंटे तक नृत्य चलता रहा। गेट के बाहर विभिन्न गांव-कस्बों के नृत्यदलों की लाईन लगी थी। नृत्य से पहले कैसेट का गीत लाउड-स्पीकर में चल रहा था -घूमार के आना कारे गुलइची हमार पारा। नृत्य चलते हुए एक ओर महिला ओर दूसरे ओर पुरुष बारी-बारी से गा रहे थे-कांवर बना के तीरथ घूमा दे/ हाय रे श्रवण बेटा तोला मंय काने बाला डारंय रे...।/ फिर-हाय रे बल्लम दुआ, जोड़ी लगाके नयना मारय रे....। इस महोत्सव की विशेषता जो दिखी कि दर्शक दीर्घा में दूर तक बिछी कुर्सियों पर गांवों के सीधे-सादे किसान व बुजुर्गों के चेहरे दिख रहे थे। माथे पर कहीं-कहीं पगड़ी, अति साधारण कपड़े, किसी के दोनों कान और किसी के एक कान में झूलता हुआ कनौसी। ये चेहरे थे कठिन-कठोर मेहनत करने वालों के, जिसमें सादगी, श्रद्धा और ईमानदारी की निश्छल छाप थी। ऐसे चेहरों ने ही लोक संस्कृति को आज भी जिंदा रखा हुआ है।

□□□

साभार-
दैनिक हिन्दुस्तान

लोककथाएँ मनुष्य के जीवन की सर्जनात्मक वार्तालाप हैं। वाचिक कला का विस्तार। आदमी श्रम को रसमय बनाने और क्रियाकलाप की कल्पनाशील अन्तता को छूने के स्वभाव से जो रुपक गढ़ता है, उसमें लोककथाएँ भी हैं। लोककथाएँ छलाँग की तरह होती हैं, तीन डग में धरती नापने की तरह।

साभार- कमला प्रसाद : लोकबाबू के उपन्यास 'डींग' की भूमिका 'बतरस की कलाडींग'

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

समीक्षा

कैसिनो पूंजीवाद और लोक संस्कृति का द्वन्द्व

शोभित वाजपेयी

सन् 1929 की महान् मंदी इस वर्ष अपने पूरे शबाब के साथ बल्कि यूं कहें कि उससे कहीं अधिक बढ़ कर लौटी है। महान् मंदी के समय ''कुल साख बाजार ऋण/अमेरिकन जीडीपी अनुपात'' 270% था जबकि वर्तमान में यह अनुपात 350% है। हमारी पिछली शताब्दी के 10 दशकों में यह अनुपात 200% के आसपास ही रहा है। लगभग एक सौ वर्ष पहले न्यूयार्क की गलियों में ''बॅकेट शॉप'' (बालटी दुकानें) के नाम से प्रसिदध हुए सट्टा पार्लर बहुतायत में मिलते थे। जहाँ कोई भी राहगीर अंदर आकर किसी भी अंश स्टॉक पर, बगैर उसे वास्तविक क्रय किये हुए, सट्टा लगा सकता था। इन ''बालटी दुकानों'' ने महान मंदी के अग्रगामी दस्ते की भूमिका निभाई थी बाद में इन्हें कानूनन बंद कर दिया गया। आज के डिमेट एकाउण्ट बालटी-दुकानों से कहीं अधिक भूमिका निर्वहन कर रहे हैं। 1929 महान मंदी के ठीक पूर्व के वित्तीय बाजार परिचालन को जॉन मेयनार्ड कींस ने कैसिनो (जुआघर) की संज्ञा दी थी। महानमंदी के बाद पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की मरम्मत कींसवादी दृष्टिकोण के माध्यम से राष्ट्र-राज्यों के द्वारा राष्ट्रीय पूंजी निवेश से की गई। यद्यपि कींस समाजवाद का विरोधी और पूंजीवादी व्यवस्था का रक्षक था परन्तु उसने अपनी संस्तुत की गई मरम्मत को ''विनियोग का समाजवादीकरण'' कहा।

पिछले 20 वर्षों से कुछ अधिक समय से चल रहे उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण पर सवार नवउदारवाद की सैद्धांतिकी ने अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी के आवारा चरित्र को संपुष्ट किया है। ब्रेटन-वुड व्यवस्था की चारित्रिक विशिष्टताओं के ठीक विपरीत आज की वित्तीय पूंजी ने अपने आवारापन और टोरिया चरित्र के चलते समूचे विश्व को गोल घुमाकर इस नई महान् मंदी 2008 के मुहाने पर ला खड़ा किया है। 1929 की मंदी के फ्लैश बैक आज 2008 के यथार्थ नजर आ रहे हैं। आज कींस के कथन दुबारा सुदृढ़ हो रहे हैं कि वित्तीय बाजारों पर नियंत्रण आवश्यक हैं वरना यह (वित्तीय बाजार) सटोरियों के हाथों चला जाता है और जुआघर (कैसिनो) की तरह संचालित होता है। कींस ने यह भी कहा था कि जब विनियोग बाजार का संगठन उन्नति करता है तो काल्पनिकता की प्रबलता अर्थात सट्टेबाजी के खतरे भी बढ़ते हैं। उत्तर आधुनिक वित्तीय बाजारों की धड़कन कही जाने वाली क्रेडिट डिफॉल्ट स्वेप (सी डी एस) 2008 मंदी के ठीक पूर्व 60 ट्रिलियन डॉलर का बाजार या कहें अमेरिका की समूची राष्ट्रीय ऋणदेयताओं का चार गुना रही। कुल मिलाकर सचाई यह है कि हमारी आज की मंदी कैसिनों (जुआघर) पूंजीवाद का परिणाम है।

इस कैसिनो पूंजीवाद ने बीते दशक में निरंतर मनुष्यता के समक्ष चुनौती खड़ी की है। मनुष्यता के केन्द्र में लोक और लोकसंस्कृति है। यह भी एक इतिहास है कि बीते दशकों में पूंजीवाद और लोकसंस्कृति का संघर्ष अपने प्रबलतम स्वरुप में सामने आया। इस दौरान् लोक और उसकी संस्कृति के सृजनात्मक पक्ष तेजी से, मजबूती से उभरे हैं। इसी पृष्ठभूमि पर लोक संस्कृति के सृजन पक्ष पर बातचीत की गई।

o o o

भारतीय जनमानस में राम और कृष्ण एक विशिष्ट सांस्कृतिक अवधारणा के रुप में व्याप्त है। इसमें राम मर्यादा के सचेतक तो कृष्ण प्रेम के संवाहक के प्रतीक हैं। 1991 के बाद अर्थात वर्तमान कैसिनों पूंजीवाद की भारत में शुरुआत के समय से ही राम के नाम का दुरुपयोग होता आया है। नवउदारवाद और धर्म की पुनरुत्थानवादी ताकतों के गठजोड़ ने विशेषकर सांस्कृतिक क्षेत्र में कट्टरपंथी व फासीवादी प्रवृत्तियों के रुप में भयावह विकृतियों को विस्तार दिया है। इसका मुकाबला ज्ञान के बंद स्रोतों को खोलकर नए सिरे से नवीन मौलिक ज्ञान के विकास के द्वारा ही किया जा सकता है। हमारे समय के ख्यातनाम आलोचक और चिंतक विनोद शाही इन्हीं बुनियादी सरोकारों के साथ अपनी नई पुस्तक **रामकथा- एक पुनर्पाठ** में भारतीय ज्ञान के मौलिक स्रोतों की वैज्ञानिक

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

दृष्टिकोण के साथ जांच पड़ताल करते हैं। विनोद जी (पृ.9) अपने उद्देश्यों को भूमिका में ही स्पष्ट कर देते हैं– रामकथा के पुनर्पाठ से सामाजिक विकास की जो दिशाएं निकलती हैं उनमें से एक क्रांतिधर्मी है और दूसरी का ताल्लुक विस्तारवाद और प्रतिक्रांति से है। विनोद जी ''रामकथा का पुनर्पाठ'' क्रांतिधर्मिता की परंपरा से जुड़ती है। विनोदजी का राम मनुष्य और समाज के आगे बढ़ने की संभावनाओं का प्रणेता है, वह सत्ता और व्यवस्था की मजबूती और विस्तार के विरोध में खड़ा है।, वह मनुष्य और उसके सत्ता विरोधी संघर्ष में वास्तविक विकास तलाशता है। विनोद जी अपने राम को सत्ता केन्द्रों में नहीं बल्कि सत्ता से निर्वासित सामान्य मनुष्यों में खोजते हैं। इसलिए जब विनोद जी (पृ. 11) उत्तर आधुनिक समय में राम की वापसी की बात करते हैं तो उसका मतलब होता है – ''सत्ता के गलियारों से बहिष्कृत, वर्चस्वी वर्गों का, वर्गांतरित चेतना के साथ, सामान्यजन के संघर्षों का हिस्सा होकर, नयी इतिहास चेतना के साथ शिरकत करना है।'' हमारा समय ऐसी ज्ञानमीमांसाओं का दौर है जहां ज्ञान या बोध की दुनिया सत्ता और वर्चस्व के आधार पर निर्मित होती है। आज की उन्मुक्त अर्थव्यवस्था के दौर में जनसंचार माध्यमों से लेकर व्यापक स्तर की विज्ञापनबाजी, जनचेतना को उपभोक्तावादी–लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए निरंतर प्रलोभित करती है उसे स्खलित करती है। तब हमें एक ऐसे राम की आवश्यकता है जो अपनी चेतना के धरातल पर एक विकेन्द्रित सत्ता का भावबोध पैदा करें। विनोद जी रामकथा के उस क्रांतिधर्मी हिस्से को हाईलाईट करते हैं, जब राम ने सत्ता से बहिष्कृत निष्कासित जंगलों में छिपे उन जनसमूहों को, जिन्हें राक्षसी–सत्ताव्यवस्थाओं ने अधिकारविहीन किया, नेतृत्व प्रदान किया तथा हनुमान सुग्रीव जाम्बवंत जैसे बंदर भालू समझे जाने वाले शूद्रों या जनवीरों के साथ मिलकर अपने संघर्ष को आगे बढ़ाया।

विनोद जी ने राम कथा से जुड़े मिथकों की भी वैज्ञानिक व्याख्या की है। विनोद जी अपनी इन व्याख्याओं में मनोविज्ञान, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और संसूचनात्मक सिद्धांतों का भरपूर उपयोग करते हैं। वे भारतीय जनमानस में गहरे तक व्याप्त रामकथा से संबंधित मिथकों के इन विश्लेषणों से यह तथ्य स्थापित करते चलते हैं कि मिथक,अर्थों के संप्रेषण की एक व्यवस्था है और लोकसंस्कृति इन्हीं अर्थों को पीढ़ी दर दर पीढ़ी संप्रेषित करती चलती है। रामकथा से संबंधित इन मिथकों के समकालीन संदर्भों में अर्थों को समझने के लिए मिथ के इर्द गिर्द रहस्य के आवरण को विनोद जी ने बखूबी खोला है। उदाहरण के लिए श्रवण कुमार की कहानी को विनोद जी ने कुछ ऐसे गहरे अर्थ प्रदान किए हैं जो हमें अपने समय की गुत्थियों और उलझनों को दोबारा नए सिरे से देखने और सुलझाने में मददगार साबित होते हैं। विनोदजी (पृ. 32) लिखते हैं कि हमारे समय में –''आदमी को श्रवणकुमार बना देने से समाज को बड़ी सुविधा हो जाती है। ऐसे लोगों को नियंत्रित करना आसान होता है क्योंकि वे सुनते हैं–बोलते नहीं। बोलना बड़ा विद्रोहपूर्ण है, वह आपके अलग अस्तित्व की खबर देता है। इसलिए सत्ता या व्यवस्था अपने विरोध में बोलने वाले व्यक्ति को शब्दभेदी बाणों से बींध डालती है।'' राम की वैष्णवता के आधारसूत्र ब्रह्मा–विष्णु–महेश की त्रयी के पौराणक मिथक में मौजूद है लेकिन विनोदजी इस मिथक को डि–कोड करने के लिए भौतिक विज्ञान, समाज विज्ञान–से लेकर संस्कृति के विभिन्न तत्वों में सूत्र तलाशते हैं। विनोद जी (पृ. 64) के अनुसार राम की वैष्णवता इस प्रकार सामाजिक विकास के अगले दौर की मांग और जरुरत के रुप में स्थापित होकर सांस्कृतिक मूलधारा में बदल जाती है। प्रजातांत्रिक राष्ट्रवादी जरुरतों के तहत राम की वैष्णवता का व्यापक उपयोग मौजूदा दौर में भी संभव है अत: जरुरत इस बात की है कि हम इस वैष्णवता का श्रमशील भौतिक वैज्ञानिक आधारों के प्रगतिशील इस्तेमाल के द्वारा इसे सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए समर्पित करें। विनोदजी चेतावनी भी देते हैं कि परोक्ष रुप से यह जिम्मेदारी साहित्य पर भी है कि चूंकि उसने राम की वैष्णवता के समकालीन अर्थ–विकास के बजाय इस पर अपनी विकृतियां आरोपित की है इसलिए राम की वैष्णवता को धर्म के मोर्चे पर डटी कट्टरपंथी ताकतें बेजा इस्तेमाल कर रही हैं। गंगा से जुड़ी मिथक कथा को खोलते हुए विनोद जी (पृ. 73) इसे एक सांस्कृतिक पुनर्निर्माण, एक क्रांतिकारी–आंदोलन, एक पुनर्जागरण, एक मुक्तिदायी–रुपांतरण की संज्ञा देते हैं। विनोद जी ने इस मिथक कथा के बहाने भारतीय संस्कृति के धर्म निरपेक्ष सूत्रों की तलाश की है।

विनोद जी (पृ. 112–113) राम राज्य और प्लेटो के आदर्श गणतंत्र की अवधारणाओं की तुलनात्मक व्याख्या स्वप्रणीत 'त्रसरेणु सिद्धांत' पर करते हैं। मनुष्य अपनी जैव जरुरतों की पूर्ति की प्रक्रिया में भाषा की मदद से एक जटिल आर्थिक–सामाजिक संबंध–अर्थात संसार रचता है। ये तीनों अर्थात जैव जरुरतें, भाषा और आर्थिक

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सामाजिक संरचनाएं, परस्पर अंत: क्रियाओं के द्वारा त्रिविधात्मक विकास किया करती है। विनोद जी इसे बुनियादी द्वन्द्व का पहला त्रसरेणु कहते हैं। विनोद जी का दूसरा त्रसरेणु पहले का चेतना पक्ष है जिसमें आत्मा-आभासी चेतना राजनीतिक की त्रिविधात्मक अंत: क्रिया सम्मिलित है। ये दोनों परस्पर द्वन्द्वात्मक संबंध रखते हुए मानवीय यथार्थ को विकसित करते हैं। भारत और यूनान की कुछ मौलिक समाज-राजनीतक सिद्धांतों के संदर्भ में विनोद जी इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि रामराज्य एक आदर्श सामाजिक-राजनीतिक अवधारणा इस कारण बनता है क्योंकि उसमें सहज मानवीय संबंधों की जटिल संरचना की बुनियाद पर समाज के अंतिम व्यक्ति की गरिमा की रक्षा का आश्वासन है और इसका आधार सामाजिक व्यवहारों की मर्यादा अथवा नैतिकता है। जबकि दूसरी ओर प्लेटो के आदर्श गणतंत्र का आधार भी आचरणगत नैतिकता अथवा मर्यादा पालन ही है। इस तरह विनोद जी रामकथा के पुनर्पाठ के बहाने हमें हमारे समय को देखने समझने के लिए एक नई दृष्टि प्रदान करते हैं। लेकिन यह दृष्टि कहीं-कहीं दुधारी तलवार भी बनती है। कुल मिलाकर यह लिखना समुचित होगा कि रामकथा-एक पुनर्पाठ के बहाने विनोदजी अपनी सैद्धांतिकी को हमारे व्यवहार विश्व से समुचित बांधते और खंगालते हैं।

000

लोक की सृजनशीलता की जीवंत अभिव्यक्ति लोककथाओं के रुप में होती है। इन लोककलाओं के प्रस्तोता, प्रयोक्ता और प्रेक्षक वह श्रम समाज है-जो दिन भर की कमरतोड़ शारीरिक मेहनत के बाद अपनी दमित आकांक्षाओं व अभिरुचियों को कलारुपों में बदल देता है। इन लोककला रुपों का ओमप्रकाश भारती ने अपनी दो पुस्तकों ''लोकायन-लोकलारुपों पर एकाग्र'' तथा ''बिहार के पारम्परिक नाट्य'' में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ जांच पड़ताल की है। अपनी पहली पुस्तक ''लोकायन-लोक कलारुपों पर एकाग्र'' में भारती जी ने कश्मीर से केरल तथा राजस्थान से असम तक के लोकनाट्यों, लोकगाथाओं और लोक चित्रकलाओं के विविध प्रश्नों को बड़ी बारीकी के साथ प्रस्तुत किया है। इन लोक कलारुपों में अपनी वैशिष्ट्य परंपरा तो है ही साथ ही वर्तमान समय की पीड़ा व संघर्ष की अभिव्यक्ति थी। श्रीनगर में हुए तीन दिवसीय भांड मेला (भांड जश्न या भांड पाथर-कश्मीरियों का लोकप्रिय लोकनाट्य)के समापन कार्यक्रम में मसखरा जब सवाल करता है कि ''कोई पूछे चमन में क्यों बुलबुल बेजार रोता है?'' तो हॉल में खामोशी छा जाती है। कुपवाड़ा से आये मौलवी को यह कहना पड़ता है कि - ''इंशा अल्लाह चमन रह ही कहां गया? अब तो न चमन है न बुलबुल न जाने किस शैतान की नजर लग गई हमें। अब तो उजड़ा दयार है।'' सिक्किम में तिस्ता नदी के किनारे (पृ. 35) संगिनी गीत-नृत्य, जो तुलसी विवाह प्रसंग पर अनिवार्यत: आयोजित होता है, में नारी जीवन की दमित भावनाएं, सुख दुख हंसी-आंसू आदि की अभिव्यक्ति होती है। राजस्थान में बगड़ावत के नाम से प्रसिद्ध गूजर गाथाओं (पृ. 38) में गूजर समुदाय के गोठों, उनकी उत्पत्ति व संघर्षों का मौखिक इतिहास सुरक्षित है। उत्तरी बिहार का आनुष्ठानिक लोकनाट्य जट-जटिन (पृ. 52) का आयोजन वर्षा के आव्हान के लिए किया जाता है। इस लोकनाट्य में जट जटिन के माध्यम से दाम्पत्य जीवन के प्रेम-अनुराग, हास-परिहास, जीवन-अनुभूतियों का सामुदायिक रंगप्रदर्शन किया जाता है।'' लालन की बोले'' (पृ. 70) में लेखक प्रख्यात बाउल साधक लालन फकीर से पाठकों को रुबरु कराता है। लालन का उदय बंगाल में उस समय हुआ जब भारतीय राष्ट्रवाद की पूर्वपीठिका तैयार हो रही थी। भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक और भावनात्मक पृष्ठभूमि के निर्माण में लालन फकीर और दूसरे बाउल गायकों का बड़ा योगदान रहा है। वस्तुत: बाउल बौद्धिक चेतना की साधना है। बाउलों ने लगभग सभी विचारधाराओं को अपने गीतों में सहेजा है। बौद्ध सहजिया साधना, गौड़ीय वैष्णव साधना और सूफी साधना का सीधा प्रभाव बाउल गीतों में दिखता है। बिहार के प्रख्यात बिदेसिया नाटक (पृ. 83) में भिखारी ठाकुर रचित शब्द ध्वनि व पात्रों के नाम दर्शकों के मन में गुदगुदी पैदा करते हैं। 19वीं शताब्दी में बिहार से हुए बड़े पैमाने के विस्थापन और आप्रवासन ने ही-बिदेसिया-बटोहिया संस्कृति को जन्म दिया। बिदेसिया परम्परा में ही भिखारी ठाकुर ने 1917 में बिदेसिया नाट्य की रचना की। भारतीय लोक नाट्य परंपरा में भिखारी ठाकुर महान नवोन्मेषी हुए। भिखारी ठाकुर एक साथ कवि, अभिनेता, गायक, नाट्यकार व नाट्य शिल्पी थे। कबीर के बाद, हिन्दी प्रदेश में वे एक ऐसे चिंतक हुए, जिन्होंने समकालीन सामाजिक समस्याओं को अपनी रचनाओं में प्रखरता से उद्घाटित किया। लोक में व्याप्त बाल रंगमंच (पृ. 99) की चर्चा करते हुए लेखक ने अनेक नाट्य खेलगीतों की व्याख्या की है। इन नाट्य खेलगीतों की लय और ध्वनियाँ बच्चों को अर्थ-बोध

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कराती है, उन्हें गुदगुदाती, हंसाती और चंचल बनाती है। इन गीतों की सबसे बड़ी विशेषता होती है कि इनके माध्यम से बच्चों में सहज मानसिक विकास होता है। भारतीय लोक नाट्य परंपरा में मुखौटों की अनिवार्यता को स्वीकृत करता हुआ लेखक लिखता है (पृ 111) कि मानवीय मुखाकृति के विभिन्न भाव और अंगों के संचालन से अभिनय संभव होता है लेकिन बहुत कुछ है जो समाज मानवीय मुखाकृतयों की सीमाओं से परे है लेकिन मानवीय बोध से परे नहीं है। एक सीमा के बाद मानवीय मुखाकृति लंबी अवधि तक संप्रेषित करने में असमर्थ होती है, इस लिहाज से मुखौटों का सर्जनात्मक रंगमंचीय प्रयोग अपरिहार्य हो जाता है। पारम्परिक भारतीय लोकनाट्यों में मुखौटों की नियमित और समृद्ध परम्परा रही है। मुखौटों की दुनिया व्यापक बहुआयामी तो है ही साथ ही ये मुखौटे अपनी आदिमकालीन विरासत को समेटकर भी आधुनिक परिवेश में भी सार्थक और उपयोगी है। पूर्वांचल भारत में डाक वचन की परंपरा का अध्ययन करते हुए लेखक (पृ. 161) इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि डाक, खना, भड्डरी और घाघ के नाम से बंगाल, उड़ीसा, असम, उत्तरप्रदेश, राजस्थान और बिहार में प्रचलित लोक वचनों में लोकजीवन की कई पीढ़ियों का अनुभव व्यक्त हुआ है। इन वचनों में ज्योतिष, वर्षा विज्ञान, नक्षत्र, खेती बारी, शकुन अपशकुन, क्रय विक्रय, पर्व त्योहार तथा अन्य समाजोपयोगी विषयवस्तु का सुदर एवं वैज्ञानिक चित्रण हुआ है।

अपनी दूसरी पुस्तक ''बिहार के पारम्परिक नाट्य'' में ओम प्रकाश भारती ने बिहार के लोकनाट्य, जट-जटिन, बिदायत, किरतनियां, हुडुक नाच, सलहेस नाच, डुम्कुच नाच की प्रस्तुति के माध्यम से रंगमंच के नट जिज्ञासुओं की ज्ञानक्षुधा को तृप्त करने की सफल कोशिश की है। लोक और लोककला की अवधारणा की विशद व्याख्या करते हुए लेखक इस निष्कर्ष पर पहुंचता है (पृ. 18) कि लोक किसी भी राष्ट्र का जनसमुदाय है वह नगर, गांव कहीं भी रह सकता है यदि उनका ज्ञान या उनकी कला वर्षों से परम्परित और स्वानुभूत है तथा मौखिक परम्परा में है तो वह लोकज्ञान या लोककला कहे जाएंगे। बिहार के लोक नाट्य परम्परा की चर्चा करते हुए लेखक यह मानता है कि तेरहवीं-चौदहवीं-शताब्दी में जिन कलारुपों का उद्‌भव होता है वह यकायक प्रकट नहीं हुआ था बल्कि उनकी पृष्ठभूमि में उन कला रुपों का योगदान था, जो वर्षों से लोक में परम्परित थे। उत्तर बिहार का आनुष्ठानिक लोकनाट्य जट-जटिन का लघु कथानक नवदम्पत्ति का उपालम्भ श्रृंगार, वियोग और फिर संयोग आदि भावनाओं का गुच्छा है जो कृषकवर्ग के अभावग्रस्त जीवन की संघर्ष-आकांक्षाओं का द्योतक है। बिहार के ही एक और लोकनाट्य बिदायत का वर्तमान स्वरुप मध्यकालीन वैष्णव भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि से अस्तित्व में आया है लेकिन इसकी शैली और अन्तर्वस्तु का संबंध विद्यास्रोत और प्राचीन नाट्य रासक से जुड़ता है। पूर्व मध्यकाल में जब संस्कृत रंगमंच ह्रासोन्मुखी हुआ, साहित्यिक नाटकों की परम्परा बिखर गई तब रंगमंच लोकोन्मुख हो गया।केरल से असम तक की रंगशालाओं में आंचलिक रंगमंच पुनर्जीवित हो उठे। स्थानीय राजाओं/ जागीरदारों ने इस नए नाट्य आंदोलन को भरपूर संरक्षण और नेतृत्व प्रदान किया। इसी कड़ी में मिथिला के शासक हरीसिंह देव ने 14 वीं शती में किरतनियाँ नाट्य परम्परा को स्थापित किया। यह संगीतक परम्परा का नाट्य है। भारतीय नाट्य परम्परा में किरतनियाँ नाटक उन सूत्रों को जोड़ता है जो संस्कृत नाट्य के पतन के बाद हिन्दी रंगमंच या क्षेत्रीय भाषाओं के रंगमंच के आरंभ होने के पहले बिखरे हुए थे। बिहार की सामाजिक चेतना के रंगमंच- नटुवा नाच, हुडुक नाच तथा बिदेसिया को पढ़ना एक विशिष्ट अनुभव रहा। भक्ति आंदोलन के पश्चात् श्रमिक और शिल्पी वर्ग में आंतरिक चेतना की भावना सम्पुष्ट होती है। यह वर्ग सदियों से चली आ रही व्यवस्था पर अपने मौन को न सिर्फ तोड़ता है बल्कि भक्त कवियों के माध्यम से अपनी सामाजिक चेतना के भाव को जबरदस्त अभिव्यक्ति प्रदान करता है। इसका प्रमाण इस वर्ग के द्वारा सृजित कलारुप है। यही वह दौर था जबकि लोग गाथाओं लोकनाट्यों के नायक श्रमिक और शिल्पी वर्ग के लोग हुए। नटुवा नाच, हुडुक नाच तथा बिदेसिया आदि नाट्य रुपों का विकास इसी दौर में हुआ। किरतनियाँ, अंकिया का संगीत कहीं न कहीं मार्गी संगीत से प्रभावित दिखाई पड़ता है लेकिन नटुवा नाच में ठेठ लोक संगीत अपने मूल स्वरुप में उपस्थित है। बिहार के जिस अंचल में नटुवा नाच का उद्‌भव और विकास हुआ वहां की संस्कृति नदी मातृक है। गोड़नाच या जैसा कि इस नाट्य के केन्द्रीय वाद्य हुडुक के नाम पर इसे हुडुक नाच भी कहा जाता है, की परम्परा विध्याचल और कैमूर की घाटियों के गोड़ों में है। आरंभ में वादन से जुड़ी इस लोककला में गायन और संवाद के जुड़ जाने से नाटकीय स्वरुप में अप्रतिम निखार आ गया है। भिखारी ठाकुर के बिदेसिया नाटकों ने तत्कालीन सामाजिक बुराईयों

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

की सिर्फ पोल ही नहीं खोली बल्कि विभिन्न चरित्रों के माध्यम से उसका प्रतिकार भी किया है। कुला मिलाकर यह लिखना अप्रासंगिक न होगा कि ओमप्रकाश भारती ने अथक व कष्टसाध्य परिश्रम के उपरान्त इन दो पुस्तकों की रचना की है। विलुप्त होती लोकनाट्य परंपरा के संरक्षण व संवर्द्धन की दृष्टि से इनका यह अभिलेखीकरण कलाकारों शोधकर्ताओं व रंगकर्मियों की दृष्टि से अत्यधिक उपयोगी व महत्वपूर्ण होगा।

000

इस विपरीत युग में भी मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद की आदिवासी लोककला अकादमी पिछले कई दशकों से लोक संस्कृति और लोककलाओं के संरक्षण व उन्नयन हेतु निरंतर सृजनशील है। अकादमी ने विभिन्न अंचलों/जनजातियों के लोकसाहित्य को उन्हीं की बोलियों में लिपिबद्ध करके लोक संस्कृति के संरक्षण में एक विशद् योगदान दिया है। इसी कड़ी में अकादमी ने बद्रीलाल मालवीय की ''भीली गीत एवं कहावतें'' प्रकाशित की है। इन गीतों में भीलों के सामाजिक जीवन संबंधों, उनके रीति रिवाज और उनके विश्वासों का सहज प्रस्तुतीकरण है। इन भीली गीतों में स्त्री पुरुष संबंध, विवाह, भजन, प्रकृति पूजा, सामाजिक बंधनों, स्त्री की दमित आकांक्षाएँ आदि अपनी पूरी जीवंतता से उपस्थित है। इन गीतों को पढ़ते समय अपनी कल्पना शक्ति को खुले रखना पड़ता है। ये गीत भीलों के दैनिक जीवनचर्या व संस्कारों की कल्पना व यथार्थ अवलोकन का सह गुंफन है। इन गीतों में कहीं कहीं अपने समय से टकराव की गूंज भी है। भीली कहावते अनुभवजन्य ज्ञान की एक सात्विक अनुभूति की तरह है। बद्रीलाल मालवीय ने भीलीगीतों और कहावतों को संबंधित जनजातीय भाषा में देवनागरी-लिपि में लिख कर और हिन्दी में भावार्थ देकर लोकसाहित्य के अभिलेखीकरण के आंदोलन को आगे बढ़ाया है। यह कार्य लोककला के शोधार्थियों को एक नई ताकत देता है।

लोकगीत, लोक के स्वच्छ निर्मल मनोभावों की रागात्मक अभिव्यक्ति हैं। लोकगीतों की प्रमुख विशेषता उसकी परम्परागतता, सामूहिकता तथा गेय तत्व का प्रधान होना होता है। पुनरावृत्ति या टेक उसकी गेयता में वृद्धि करता है। इस संकलन में लोकगीतों की विशेषताओं से समृद्ध लोकगीत हैं जिनमें लोकभावों का सौन्दर्य भरपूर है। लोकगीतों को रुप देने में जितना योगदान लोक का होता है उससे कहीं अधिक योगदान लोकगीतों का लोक को नई ओजस्विता से भरने का होता है। अलग-अलग अंचलों के लोकगीत उस अंचल के लोक की जीवंत प्रतिनिधि होते हैं। ब्रज के लोकगीत ब्रज के लोकजीवन की शाब्दिक झांकी प्रस्तुत करते हैं। पांच बार विधायक रहकर राजनीति की एक सफल पारी खेलने वाले चौधरी बदन सिंह ने उम्र के 82वें वर्ष में 'ब्रज के ब्याहगीत' पुस्तक की रचना कर ब्रज के लोक जीवन को प्रलेखीकृत करके लोक साहित्य के संरक्षण की दिशा में एक महती कार्य सम्पादित किया है। इस पुस्तक में कुल 737 लोकगीत संकलित हैं जिनमें से 282 गीत वह हैं जिन्हें महिलाएं विवाह के अवसर पर नृत्य करते हुए गाती है, 107 पूड़ी बेलते समय गाती हैं, 33 गालियाँ हैं जो वर के रिश्तेदारों के द्वारा वधु के घर भोजन करते समय गाती हैं तथा 133 ढोला हैं। चौधरी जी ने अपनी पुस्तक में इन गीतों का भाव भी समझाया है कि कौन सा गीत विवाह के किस अवसर पर और क्यों गाया जाता है। ये सम्पादकीय टिप्पणियाँ पाठक को न सिर्फ इन लोकगीतों के मर्म से परिचित कराती हैं वरन् इनके माध्यम से ये लोकगीत समकालीन ज्वलंत प्रश्नों से भी जुड़ते हैं। उत्तर आधुनिक समय में जबकि सारी परम्पराएँ अपना अस्तित्व खो रही हैं। चौधरी बदन सिंह का लोक परम्पराओं को संरक्षित करने का यह प्रयास महत्वपूर्ण है।

000

लोक गीतों के प्रलेखीकरण का एक कार्य डॉ.हरेराम पाठक ने अपनी कृति 'भोजपरी संस्कार गीत-एक विश्लेषण' में किया है। इस पुस्तक में पाठक जी ने भोजपुरी संस्कार गीतों का न सिर्फ प्रस्तुतिकरण किया है वरन् इन गीतों के गाए जाने का कारण व उनकी अन्तर्ध्वनी पर तर्कपूर्ण विश्लेषण भी किया है। लोकजीवन में जन्म संस्कार से विवाह संस्कार तक कोई भी उत्सव बगैर लोकाचार व लोकगीतों के पूर्ण नहीं होता। इन लोकगीतों की झलक इतनी विस्तृत है कि इसमें पौराणिक, ऐतिहासिक, आर्थिक सामाजिक व राजनीतिक घटनाओं के वर्णन आ जाते हैं। अतः लोकगीतों के अध्ययन, विश्लेषण से परम्परा ही नहीं इतिहास की भी अनेक कड़ियाँ जुड़ती है तथा सामाजिक विकास के विभिन्न स्तरों को समझने में मदद मिलती है। पाठक जी ने विभिन्न अवसरों पर गाये जाने वाले लोकगीतों का विस्तृत सर्वेक्षण व विश्लेषण किया है परन्तु विवाह गीतों का अपेक्षाकृत विशद विवेचन किया है। पाठक जी ने इन विवाह गीतों को वर पक्ष और कला पक्ष में विभक्त करके

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लगभग पांच दर्जन उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। यह संभव है कि स्थानीयता के लिहाज से इन गीतों में न्यूनाधिक अंतर हो लेकिन फिर भी इन गीतों का एक अनुक्रम तो बन ही गया। व्यंग' हास्य, विरह, प्रेम, ठिठोली आदि रसों से सरोबार भोजपुरी लोकगीतों का यह विश्लेषण अतीत की धरोहर को संरक्षित एवं भावी पीढ़ी तक प्रेषित करने के लोकव्यापी प्रयास की एक महत्वपूर्ण कड़ी है।

000

लोक साहित्य का एक रुप लोकगाथा भी है। गाथा शब्द प्राक् वैदिक काल का है जिसका अर्थ गाए जाने वाली कथाओं से है। वस्तुतः लोकगाथा एक व्यक्ति की रचना न होकर एक जाति समूह की रचना होती है। ये गाथाएं लोकजीवन के आदर्श का स्फुरण देती हैं, जीवन में विश्वास उत्पन्न करती हैं। डॉ. मधुबाला न्याल ने अपनी कृति 'लोकदेव धनुर्धारी ऐड़ी' में उत्तराखण्ड के पूजित देव ऐड़ी से संबंधित लोकगाथा की विभिन्न रुपात्मकता पर विश्लेषण किया है। अन्य लोक समाजों की तरह उत्तराखण्ड के लोक समाज में भी जागर (वीर) गाथाओं की संख्या पचास से अधिक है। ये गाथाएं मुख्यरुप से उन लोकनायकों के प्रशस्ति गान है जिन्होंने लोक की पक्षधरता में सामंती और शोषणकारी मूल्यों को चुनौतियाँ दी थी। ऐड़ी जैसी लोकगाथाओं का संबंध कबीलाई समाज के साथ रहा है अतः इनके प्रतीक भी आदिम हैं प्राच्य कर्मकाण्डी हैं। इन गाथाओं में गोरखपंथ का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। इनमें हठयोग, जादूटोना के वर्णन के साथ-साथ नाथ सम्प्रदाय के विभिन्न गुरूओं यथा गोरखनाथ मछंदरनाथ, जलंधरनाथ आदि के नाम बारम्बार आते हैं। कुमायूं गढ़वाल में प्रचलित गाथा का संबंध जहाँ राम से जुड़ता है वहीं काली कुमायूँ में प्रचलित गाथा महाभारत से जुड़ती है। अपने क्षेत्र से जुड़ी गाथाओं को पौराणिक महाकाव्यों से सम्बद्ध करने की यह लोक परम्परा ही है। ऐड़ी गाथा संकलन उत्तराखण्ड के लोकनायकों के लोकजीवन पर पड़े सांस्कृतिक प्रभावों को समझने में सहायक है। हमारे समय में लोक को सहेजने की दिशा में ऐसे कार्य अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

000

विक्रयकर कार्यालय के पीछे
वेयर हाऊस रोड, बिलासपुर (छ.ग.)
फोन : 07752-407681
मोबा. 094252-30007

समीक्षित पुस्तकें

1. **रामकथा-एक पुनर्पाठ,** विनोद शाही, आधारं प्रकाशन (पंचकुला) हरियाणा, 2008, पृ. 230, मूल्य 300 रु.
2. **लोकायन**-लोक-रुपों पर एकाग्र, ओमप्रकाश भारती, धरोहर (कला संस्कृति व साहित्य संस्थान) साहिबाबाद (उत्तरप्रदेश), 2007, पृ. 253, मूल्य 150 रु.
3. **बिहार के पारम्परिक नाट्य,** ओमप्रकाश भारती, उत्तरमध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र इलाहाबाद, 2007, पृ. 239, मूल्य 300 रु.
4. **भीली गीत एवं कहावतें,** बद्रीलाल मालवीय, आदिवासी लोक कला व तुलसी साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद भोपाल, 2008, पृ. 132, मूल्य 50 रु.
5. **ब्रज के ब्याहगीत**, चौ.बदन सिंह, कुन्ता प्रकाशन, रिठौरा (आगरा) 2008, पृ. 336, मूल्य 251रु.
6. **भोजपुरी संस्कार गीत** : एक विश्लेषण, डॉ. हरेराम पाठक, लोकवार्ता शोध संस्थान राबर्ट्सगंजसोनभद्र-231216, पृ. 116, मूल्य 125 रु.
7. **लोकदेवी धनुर्धारी ऐड़ी**, प्रो. मधुबाला नयाल, ज्ञानोदय प्रकाशन नैनीताल 2007, पृ.106

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

समीक्षा

लोक की वाचिक परंपरा का आलोक

वाचस्पति

मशीनी माध्यमों से हमारी लोक-संस्कृति पर बाजारु अपसंस्कृति के आक्रमण आज तीव्रतर हैं। सीधे युद्ध के बजाय संस्कृति के मोर्चों पर लडाईयां जारी हैं। अपने लोकजीवन की लगभग विलुप्त होती जा रही समृद्ध परंपरा के वाचिक रुपों के संरक्षण की वास्तविक चिंता शोध-फैलोशिप आदि के जरिए ही व्यक्त हो पा रही है। भारतीय लोक-साहित्य के संकलन-संरक्षण-विश्लेषण में तत्काल याद आने वाले व्यक्तित्व हैं- देवेंद्र सत्यार्थी, रामनरेश त्रिपाठी, राहुल सांकृत्यायन, कृष्णदेव उपाध्याय, वासुदेवशरण अग्रवाल, हंसकुमार तिवारी आदि।

'भारत माता ग्रामवासिनी अब भी है किंतु उसके बेटे-बेटियाँ वैश्वीकरण की मार झेलते हुए नन्दीग्रामों या अपने ग्रामों से खदेड़ दिए जाने को अभिशप्त है। अमीरी का ऐच्छिक विस्थापन और गरीबी का बाध्यतामूलक विस्थापन-दोनों ही कारणों से सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया जारी है। राजनीति के बड़े कारोबारी संस्कृति संहार में जाने-अनजाने शामिल हैं। सृजनात्मक साहित्य में लोक से कच्चा माल बटोरने वाले नागर रचनाकार भी उदासीन हैं।

अपनी धुन के धनी जितेंद्र नाथ मिश्र ने लोक की वाचिक परंपरा का आलोक विकीर्ण करने वाली कृति 'भोजपुरी मंगल गीत' का संपादन करके एक महत्वपूर्ण कार्य किया है। भोजपुरी जनमानस में गहरी पैठ बना चुके वयोवृद्ध लोक कवि राम जियावन दास 'बावला' के भोजपुरी गीतों का प्रतिनिधि संग्रह ' लोकगीत' उन्होंने एक दशक पूर्व प्रकाशित किया था। तभी से उनके मन में यह संकल्प बना कि बनारस तथा आसपास के क्षेत्रों में प्रचलित वाचिक परंपरा के गीतों का भी एक संग्रह प्रकाशित होना चाहिए। अपनी माताजी श्रीमती राजकुमारी के सहयोग से करीब डेढ़ सौ गीतों के अलावा स्वजनों-आत्मीय जनों तथा अन्य स्त्रोतों से लगभग इतने ही गीत और जुटाकर जितेन्द्र नाथ मिश्र ने साठ साल की उम्र में 'भोजपुरी मंगल-गीत' का स्नेहोपहार हिंदी भाषियों को दिया है। भोजपुरी क्षेत्र से संबद्ध होने पर भी इन रचनाओं से हिंदी की व्यापकता और शक्ति प्रमाणित हुई है। विकास के नाम पर महानगरों में बैठे न जाने कितने घरभरनदास हैं जिन्हें भारत की नष्ट होती लोकसंपदा से किसी प्रकार का कोई सरोकार नहीं है। इसके विपरीत जितेन्द्र नाथ मिश्र की दृढ़ मान्यता है कि, 'लाखों-करोड़ों कंठों से गुजरते ये गीत तमाम परिवर्तनों के बावजूद अपना मोहक अस्तित्व बनाए और बचाए हुए हैं और यह इनकी जीवन शक्ति का जीवन्त प्रमाण है। इन गीतों के संरक्षण का प्रयास हर स्तर पर किया जाना चाहिए।'

शिशु-जन्म, विवाह, डाला छठ, होली, कजली और जंतसार आदि के विविध गीतों से समृद्ध यह संकलन भोजपुरी इलाके की सभ्यता-संस्कृति के आईने की तरह है। नारी के मन की सहज आकांक्षाओं, श्रृंगार के मिलन-विरह और उत्सव पर्वों के उल्लासमय चित्र यहां हैं। सामाजिक रुढ़ियों और सामंती जीवनशैली के भी अनेक उदाहरण इस कृति में देखे जा सकते हैं। अल्पसाक्षर या निरक्षर, खासकर ग्रामीण स्त्रियों के जीवन से जुड़े ऐसे मार्मिक प्रसंग हैं जिन्हें पढ़कर ही अनुभव किया जा सकता है।

संग्रह की भूमिका में जितेन्द्र नाथ मिश्र का कहना है कि, 'भोजपुरी के गीतों में जीवन तथा भाषा का जो स्वरुप है उसमें एक विशेष प्रकार की उदारता, ग्रहणशीलता, अकृत्रिमता तथा सामंजस्य की प्रवृत्ति पाई जाती है।' उनका यह कथन भी विचारणीय है कि 'मातृभाषा को कोई शास्त्र नहीं बांध सकता।'

रुढ़ियों के बावजूद लोकसाहित्य किसी शास्त्र की रुढ़ मर्यादाओं में बंधा नहीं रह सकता। कुलीन वर्गों कीआत्मसीमित संकीर्ण दृष्टि से हटकर देखें तो दलित-पिछड़े श्रमशील उत्पादक वर्ग के कंठ से निकली अभिव्यक्तियों में संघर्ष और प्रतिरोध के स्वर सुने जा सकते हैं।

हमारे विश्वविद्यालयों में साहित्य के पाठ्यक्रमों में प्रायः एक सौ अंक मौखिक परीक्षा के लिए निर्धारित रहते हैं। लोक-साहित्य के क्षेत्र-संकलन-संपादन-कार्य में आंतरिक परीक्षक युवा विद्यार्थियों को पचास अंक प्रोजेक्ट के बतौर तय कर सकते हैं। संबद्ध विश्वविद्यालय के

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

क्षेत्र-संकलित चुने हुए लोकसाहित्य का प्रकाशन हमारी धरोहर या विरासत के संरक्षण में एक ठोस कदम साबित होगा।

आज भी ऐसे दुर्गम आदिवासी अंचल हैं, जहां अपार लोकसंपदा है। पर्वतीय क्षेत्रों,मरुस्थल और समुद्रतटीय इलाकों को बोली-बानी के विलुप्त होते लोकसाहित्य को बचाने की नजर से देखने की जरुरत है। उत्तर आधुनिक हमलों से लोकचेतना को विकृतियों से बचाने की नई शुरुआत हमारे उच्च शिक्षा-परिसरों से होनी ही चाहिए। 'भोजपुरी मंगलगीत' इस लिहाज से एक छोटी मगर महत्वपूर्ण मिसाल है।

'भोजपुरी मंगल गीत' जैसी कृतियां हमारे लोकजीवन के सौंदर्य, संघर्ष, आनंद और प्रतिरोध के विलुप्त वैभव को संकलित-प्रकाशित करने में उत्प्रेरक बन सकती है। वर्तमान युवा पीढ़ी में अपनी जड़ों से जुड़ने की थोड़ी-सी ललक उत्पन्न करने में हमारी बोलियों के अनामसृजन की भी भूमिका हो सकती है। 'भोजपुरी मंगल-गीत' का इसी दृष्टि से स्वागत होना चाहिए।

□□□

एन 1/66 के 6 ए, सामने घाट रोड,
महेशनगर (पश्चिमी गली)
डाकघर-बीएचयू., वाराणसी-221005
(09452765248)

पुस्तक	:	भोजपुरी मंगल-गीत
संपादक	:	जितेन्द्र नाथ मिश्र
प्रकाशक	:	सेवक प्रकाशन, के 67/135, ईश्वरगंगी, वाराणसी-उ. प्र.
मूल्य	:	रु. 100, 2007 ई. पृष्ठ 196

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

बतरस का सुख

रफीक खान

लोक बाबू हमारे छत्तीसगढ़ अंचल के सुपरिचित कथाकार हैं। 'डींग' उनका दूसरा प्रकाशित उपन्यास है। आज के उत्तर आधुनिक समय में फैशन के दबावों के बरअक्स लोक की बात कहना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। लोक बाबू ने अपने इस उपन्यास की विषय वस्तु को एक लोककथा पर एकाग्र करते हुए, अपने सुने हुए को लिखित रुप में प्रस्तुत करने का सार्थक प्रयास किया है।

'डींग' उपन्यास एक ऐसे व्यक्ति के बड़बोलेपन का विस्तार है जो स्वभाव से आलसी, कायर और डरपोक है। 'डींग' मारने की कला में निष्णात यह व्यक्ति संयोगों के माध्यम से आगे बढ़ता जाता है। कठिन से कठिन परिस्थितियां स्वतः उसके पक्ष में होती हैं। उसकी सफलताओं और उसके कारनामों के लेखे-जोखे को लोक बाबू ने कथारस की चाशनी में डुबोकर पठनीय बना दिया है।

उपन्यासकार ने विषय वस्तु के अनुकूल सीधी-सादी भाषा का प्रयोग किया है और उपन्यास को बोधगम्य बनाने में सफलता प्राप्त की है। वस्तुतः कहानी कहना भी एक हुनर है। लोकबाबू ने कथा-कथन की अपनी शैली को रोचक बनाकर इसे हुनर में परिवर्तित कर दिया है। कहानी इतनी सरस है कि प्रारंभ से अंत तक जिज्ञासा बनी रहती है। यही कारण है कि लोक कथा पर आधारित यह उपन्यास बतरस का सुख देता है।

आज के समय में साहित्य से सामान्य पाठकों की दूरी लगातार बढ़ती जा रही है। साहित्य की सामाजिक भूमिका पर भी प्रश्न चिन्ह लगाया जा रहा है। खुद कथाकार के अनुसार ''समाज के आगे-आगे मशाल की तरह चलने वाले साहित्य की अब जैसे समाज को अधिक जरुरत नहीं'' (उपन्यास की भूमिका से) ऐसे में साहित्य को अधिक धारदार और रंजक बनाने की दिशा में लोक बाबू का प्रयास प्रशंसनीय कहा जायेगा।

❑❑❑

डींग/उपन्यास/लोक बाबू
शिल्पायन पब्लिशर्स
दिल्ली

❑❑❑

तैबा चौक के पास, तालापारा,
बिलासपुर (छ. ग.) 495001
मोबाइल : 9300683445

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रावत नाच महोत्सव समिति, बिलासपुर (छत्तीसगढ़)

रावतनाच महोत्सव छात्रवृत्ति 2008 , बिलासपुर जिला (पुरानी सीमा)

30 अगस्त 2008 तक प्राप्त आवेदन पत्रों में से सर्वाधिक अंक अर्जित करने वाले चयनित छात्र-छात्रायें

नाम : **श्री रंजन यादव**
पिता : श्री शांतिलाल यादव
परीक्षा का नाम : हायर सेकेन्डरी परीक्षा, सन् 2008
कुल अंक : 500 प्राप्तांक - 435 प्रतिशत - 87%
पता : देवीकुंज पुराना बस स्टेण्ड,
जांजगीर (छ.ग.), मो. 930048915
पुरस्कार राशि : 5000/-रू.
सौजन्य : स्व.श्री भगतराम मनहर (पूर्व सांसद) की स्मृति में
श्रीमती कमला मनहर (पूर्व सांसद) बिलासपुर (छत्तीसगढ़) द्वारा प्रदत्त

नाम : **कु. ममता यादव**
पिता : श्री आर. के. यादव
परीक्षा का नाम : हायर सेकेन्डरी परीक्षा, सन् 2008
कुल अंक : 500 प्राप्तांक - 445 प्रतिशत - 89%
पता : उप डाकपाल, उप डाकघर
लोरमी, जिला-बिलासपुर (छ.ग.) मो. 9302835802
पुरस्कार राशि : 5000/-रू.
सौजन्य : स्व.श्री भगतराम मनहर (पूर्व सांसद) की स्मृति में
श्रीमती कमला मनहर (पूर्व सांसद) बिलासपुर (छत्तीसगढ़) द्वारा प्रदत्त

नाम : **श्री अजय कुमार यादव**
पिता : श्री सी. एल. यादव
परीक्षा का नाम : हाई स्कूल परीक्षा, सन् 2008
कुल अंक : 600 प्राप्तांक - 556 प्रतिशत - 92.66%
पता : डॉ. मधु मिश्रा के सामने, वैशाली नगर चौक, बिलासपुर, मो. 9826118672
पुरस्कार राशि : 3000/-रू.
सौजन्य : श्री राहुल वाजपेयी, बिलासपुर (छ.ग.) के द्वारा प्रदत्त

नाम : **कु. अपूर्वा यादव**
पिता : श्री लेखराम यादव
परीक्षा का नाम : हाई स्कूल परीक्षा, सन् 2008
कुल अंक : 600 प्राप्तांक - 535 प्रतिशत - 89.16%
पता : वार्ड नं.-16, चंदनियापारा
जांजगीर-चाम्पा (छ.ग.)
पुरस्कार राशि : 3000/-रू.
सौजन्य : श्री विवेक वाजपेयी, बिलासपुर (छ.ग.) के द्वारा प्रदत्त

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

नाम : श्री आशीष यादव
पिता : श्री राजेन्द्र कुमार यादव
परीक्षा का नाम : पूर्व माध्यमिक परीक्षा, सन् 2008
कुल अंक : 500 प्राप्तांक - 416 प्रतिशत - 83.20%
पता : अग्रवाल इंजीनियरिंग कार्पोरेशन के पास, सिम्स के सामने
गोंडपारा, बिलासपुर (छ.ग.) मो. 9893327954
पुरस्कार राशि : 2000/-रू.
सौजन्य : स्व.श्रीमती हरमत देवी यादव, ग्राम मोहरा की स्मृति में
श्री रामकुमार यादव (शिक्षक) द्वारा प्रदत्त

नाम : कु. अनामिका यादव
पिता : श्री शिवरात्रि यादव
परीक्षा का नाम : पूर्व माध्यमिक परीक्षा, सन् 2008
कुल अंक : 500 प्राप्तांक - 442 प्रतिशत - 88.04%
पता : मु.पो. सुकुलपारा, खरौद
जिला-जांजगीर-चाम्पा (छ.ग.) 495556
पुरस्कार राशि : 2000/-रू.
सौजन्य : स्व.श्रीमती हरमत देवी यादव, ग्राम मोहरा की स्मृति में
श्री रामकुमार यादव (शिक्षक) द्वारा प्रदत्त

नाम : श्री जीत गोपाल
पिता : श्री आर. के. गोपाल
परीक्षा का नाम : प्राथमिक प्रमाण-पत्र परीक्षा, सन् 2008
कुल अंक : 150 प्राप्तांक - 147 प्रतिशत - 98%
पता : चाम्पा रोड, मुख्य नहर के नीचे
जांजगीर (छ.ग.) मो. 9826121303, 9826101818
पुरस्कार राशि : 1000/-रू.
सौजन्य : श्री गौकरण यादव
सिरगिट्टी तारबाहर, बिलासपुर (छत्तीसगढ़) द्वारा प्रदत्त

नाम : कु. दीक्षा यादव
पिता : स्व. श्री निधिराम यादव
परीक्षा का नाम : प्राथमिक प्रमाण-पत्र परीक्षा, सन् 2008
कुल अंक : 150 प्राप्तांक - 138 प्रतिशत - 92 %
पता : द्वारा-श्री विनोद यादव, 27 खोली विकास नगर,
पुराना पत्ता गोदाम लाईन के पास बिलासपुर (छ. ग.) मो. 9300825466
पुरस्कार राशि : 500/-रू. संयुक्त विजेता
सौजन्य : स्व. श्री जनकराम यादव की स्मृति में श्रीमति धनाबाई यादव (पत्नी)
मोपका, बिलासपुर द्वारा प्रदत्त

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

नाम	:	कु. ज्योति यादव
पिता	:	श्री भागवत प्रसाद यादव
परीक्षा का नाम	:	प्राथमिक प्रमाण-पत्र परीक्षा, सन् 2008
कुल अंक	:	150 प्राप्तांक - 138 प्रतिशत - 92%
पता	:	द्वारा-श्री भुवन यादव, गायत्री मंदिर के पास, विनोबा नगर बिलासपुर (छ. ग.)
पुरस्कार राशि	:	500/-रू. संयुक्त विजेता
सौजन्य	:	श्री रामचरण यादव राजकिशोर नगर, बिलासपुर (छत्तीसगढ़) द्वारा प्रदत्त

नाम	:	कु. पल्लवी यादव
पिता	:	श्री सुरेश कुमार यादव
परीक्षा का नाम	:	प्राथमिक प्रमाण-पत्र परीक्षा, सन् 2008
कुल अंक	:	150 प्राप्तांक - 138 प्रतिशत - 92 %
पता	:	गायत्री मंदिर के पास विनोबा नगर बिलासपुर (छ. ग.)
पुरस्कार राशि	:	500/-रू. संयुक्त विजेता
सौजन्य	:	श्री रामचरण यादव राजकिशोर नगर, बिलासपुर (छत्तीसगढ़) द्वारा प्रदत्त

नोट : कक्षा 5वीं में 138/150 समान अंक प्राप्त संयुक्त विजेता तीन छात्राओं कु. दीक्षा, कु. ज्योति एवं कु. पल्लवी को पांच-पांच सौ रुपयों की राशि छात्रवृत्ति स्वरुप प्रदान की गयी।

पुरस्कार समिति :

डॉ.आर.जी.यादव

अध्यक्ष

सर्व श्री -आर.एन.यादव, रामकुमार यादव, विजय यादव, उमेश यादव, गिरीश यादव, योगेश सीरिया, आर.सी.यादव, माखन लाल यादव एवं डॉ.कालीचरण यादव

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रावत नाच महोत्सव समिति, बिलासपुर (छत्तीसगढ़)

रावत नाच गोल से सम्बद्ध परिवार के प्रतिभावान छात्र /छात्राओं को रावत नाच महोत्सव छात्रवृत्ति 2008

30 अगस्त 2008 तक प्राप्त आवेदन पत्रों में से सर्वाधिक
अंक अर्जित करने वाले चयनित छात्र-छात्रायें

नाम : **श्री राजेश्वर प्रसाद यादव**
पिता : श्री रामकुमार यादव
परीक्षा का नाम : हायर सेकेन्डरी परीक्षा, सन् 2008
कुल अंक : 500 प्राप्तांक - 359 प्रतिशत - 71.8%
पता : ग्राम-परसदा, पो. भरनी जिला बिलासपुर
गोल प्रमुख का नाम : श्री केदारनाथ यादव, परसदा, भरनी
पुरस्कार राशि : 2000/-रू.
सौजन्य : श्री संजय खण्डेलवाल,
बिलासपुर द्वारा प्रदत्त

नाम : **कु. सविता यादव**
पिता : श्री भुजबल प्रसाद यादव
परीक्षा का नाम : हायर सेकेन्डरी परीक्षा, सन् 2008
कुल अंक : 500 प्राप्तांक - 328 प्रतिशत - 65.6%
पता : ग्राम बसिया, पो. हरदीकला टोना जिला-बिलासपुर (छ. ग.)
गोल प्रमुख का नाम : श्री कृष्ण कुमार यादव, बसिया
पुरस्कार राशि : 2000/-रू.
सौजन्य : मौसाजी की स्मृति में श्री अनिल खण्डेलवाल
बिलासपुर (छ.ग.) के द्वारा प्रदत्त

नाम : **श्री शशांक शेखर यादव**
पिता : श्री संतोष कुमार यादव
परीक्षा का नाम : हाई स्कूल परीक्षा, सन् 2008
कुल अंक : 600 प्राप्तांक - 500 प्रतिशत - 83.3%
पता : ग्राम-रामसागर वार्ड, यादव धर्मशाला के पास भाटापारा, जिला-रायपुर (छ. ग.)
गोल प्रमुख का नाम : श्री चिंताराम यदु, रामसागरपारा, भाटापारा (छ. ग.)
पुरस्कार राशि : 2000/-रू.
सौजन्य : श्री रोहिताश्व वाजपेयी, बिलासपुर (छ.ग.) के द्वारा प्रदत्त

नाम : **श्री लीलाधर यादव**
पिता : श्री रमेश यादव
परीक्षा का नाम : हाई स्कूल परीक्षा, सन् 2008
कुल अंक : 600 प्राप्तांक - 473 प्रतिशत - 78.8%
पता : ग्राम-भाड़म, पो.गनियारी, जिला-बिलासपुर (छ. ग.)
गोल प्रमुख का नाम : श्री रमेश यादव, भाड़म
पुरस्कार राशि : 2000/-रू.
सौजन्य : स्व.श्री अधीन यादव की स्मृति में, श्री संजय यादव, राजेन्द्र नगर, बिलासपुर द्वारा प्रदत्त

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रावत नाच महोत्सव समिति, बिलासपुर (छत्तीसगढ़)

रावत नाच गोल से सम्बद्ध परिवार के प्रतिभावान छात्र /छात्राओं को रावत नाच महोत्सव छात्रवृत्ति 2008

30 अगस्त 2008 तक प्राप्त आवेदन पत्रों में से सर्वाधिक
अंक अर्जित करने वाले चयनित छात्र-छात्रायें

नाम : कु. स्वाति यादव
पिता : श्री कृष्ण कुमार यादव
परीक्षा का नाम : हाई स्कूल परीक्षा, सन् 2008
कुल अंक : 600 प्राप्तांक - 500 प्रतिशत - 83.3%
पता : यादव धर्मशाला के पास, रामसागर पारा, भाटापारा, जिला-रायपुर (छ.ग.)
गोल प्रमुख का नाम : श्री चिंताराम यदु, रामसागर पारा, भाटापारा
पुरस्कार राशि : 2000/-रू.
सौजन्य : मौसाजी की स्मृति में श्री अनिल खण्डेलवाल, बिलासपुर (छ.ग.) के द्वारा प्रदत्त

नाम : कु. वीणा यादव
पिता : श्री गिरधर यादव
परीक्षा का नाम : हाई स्कूल परीक्षा, सन् 2008
कुल अंक : 600 प्राप्तांक - 383 प्रतिशत - 63.8%
पता : ग्राम-देवरी, पो. गुल्लु आरंग, जिला-रायपुर (छ.ग.)
गोल प्रमुख का नाम : श्री दयालुराम यादव, देवरी, आरंग
पुरस्कार राशि : 2000/-रू.
सौजन्य : इंजी श्री बुधराम यादव, चंदेला नगर, बिलासपुर (छ.ग.) द्वारा प्रदत्त

नाम : श्री रामेश्वर कुमार यादव
पिता : श्री रामजी यादव
परीक्षा का नाम : पूर्व माध्यमिक परीक्षा, सन् 2008
कुल अंक : 500 प्राप्तांक - 340 प्रतिशत - 68%
पता : शुक्लाभाठा, पो. लटुवा, तह. बलौदाबाजार, जिला-रायपुर (छ.ग.)
गोल प्रमुख का नाम : श्री हरिराम यादव, शुक्लाभाठा
पुरस्कार राशि : 1000/-रू.
सौजन्य : स्व.श्री प्रहलाद राय शर्मा की स्मृति में, श्री गोपाल शर्मा, बिलासपुर द्वारा प्रदत्त

नाम : श्री उमेश्वर प्रसाद यादव
पिता : श्री कृपाराम यादव
परीक्षा का नाम : पूर्व माध्यमिक परीक्षा, सन् 2008
कुल अंक : 500 प्राप्तांक - 331 प्रतिशत - 66.20%
पता : ग्राम-खैरी, पो. मुर्रा, भाटापारा, जिला-रायपुर (छ.ग.)
गोल प्रमुख का नाम : श्री जोधीराम यादव, खैरी, भाटापारा, जिला-रायपुर (छ.ग.)
पुरस्कार राशि : 1000/-रू.
सौजन्य : स्व. श्री लक्ष्मी प्रसाद उर्फ कोंदा यादव की स्मृति में श्री डी.पी.यादव (चोरभट्ठी) कपिल नगर, बिलासपुर द्वारा प्रदत्त

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रावत नाच महोत्सव समिति, बिलासपुर (छत्तीसगढ़)

रावत नाच गोल से सम्बद्ध परिवार के प्रतिभावान छात्र / छात्राओं को रावत नाच महोत्सव छात्रवृत्ति 2008

30 अगस्त 2008 तक प्राप्त आवेदन पत्रों में से सर्वाधिक
अंक अर्जित करने वाले चयनित छत्र-छात्रायें

नाम : कु. ऋतु यादव
पिता : श्री शिवलाल यादव
परीक्षा का नाम : पूर्व माध्यमिक परीक्षा, सन् 2008
कुल अंक : 500 प्राप्तांक - 454 प्रतिशत - 90.80%
पता : श्री माता देवालय वार्ड, भाटापारा, जिला-रायपुर (छ.ग.)
गोल प्रमुख का नाम : श्री जोधीराम यादव, खैरी, भाटापारा, जिला-रायपुर (छ.ग.)
पुरस्कार राशि : 1000/-रू.
सौजन्य : इंजी श्री बुधराम यादव, चंदेला नगर, बिलासपुर (छ.ग.) द्वारा प्रदत्त

नाम : कु. सीमा यादव
पिता : श्री रामकुमार यादव
परीक्षा का नाम : पूर्व माध्यमिक परीक्षा, सन् 2008
कुल अंक : 500 प्राप्तांक - 387 प्रतिशत - 77.4%
पता : ग्राम-परसदा, भरनी, जिला-बिलासपुर (छ.ग.)
गोल प्रमुख का नाम : श्री केदारनाथ यादव, परसदा, भरनी
पुरस्कार राशि : 1000/-रू.
सौजन्य : मौसाजी की स्मृति में श्री अनिल खण्डेलवाल, बिलासपुर (छ.ग.) के द्वारा प्रदत्त

नाम : श्री टिकेन्द्र कुमार यादव
पिता : श्री कलाराम यादव
परीक्षा का नाम : प्राथमिक परीक्षा, सन् 2008
कुल अंक : 150 प्राप्तांक - 122 प्रतिशत - 81.33%
पता : ग्राम-झिरिया, पो. कामता, व्हाया-सिमगा, जिला-रायपुर (छ.ग.)
गोल प्रमुख का नाम : श्री छेदीलाल यादव, झिरिया
पुरस्कार राशि : 1000/-रू.
सौजन्य : स्व.श्री भागीरथी सिंह की स्मृति में प्रो.(डॉ.) के.बी.सिंह, डी.पी.विप्र महाविद्यालय, बिलासपुर (छ.ग.) के द्वारा प्रदत्त

नाम : श्री लक्ष्मणराम यादव
पिता : श्री धनीराम यादव
परीक्षा का नाम : प्राथमिक परीक्षा, सन् 2008
कुल अंक : 150 प्राप्तांक - 122 प्रतिशत - 81.33%
पता : ग्राम-हसदा, पो. बिजराडीह, भाटापारा, जिला-रायपुर (छ.ग.)
गोल प्रमुख का नाम : श्री बालाराम यादव, हसदा
पुरस्कार राशि : 1000/-रू.
सौजन्य : श्री तीरथराम यादव व रामायणी की स्मृति में श्री रामसनेही यादव द्वारा प्रदत्त

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रावत नाच महोत्सव समिति, बिलासपुर (छत्तीसगढ़)

रावत नाच गोल से सम्बद्ध परिवार के प्रतिभावान छात्र /छात्राओं को रावत नाच महोत्सव छात्रवृत्ति 2008

30 अगस्त 2008 तक प्राप्त आवेदन पत्रों में से सर्वाधिक
अंक अर्जित करने वाले चयनित छात्र-छात्रायें

नाम : श्री मेघनाथ यादव
पिता : श्री तिलकराम यादव
परीक्षा का नाम : प्राथमिक परीक्षा, सन् 2008
कुल अंक : 150 प्राप्तांक - 110 प्रतिशत - 73.33
पता : ग्राम-सांगली, पो. पलारी, तह.-गुरुर, जिला-दुर्ग (छ.ग.)
गोल प्रमुख का नाम : श्री तिलकराम यादव, सांगली
पुरस्कार राशि : 1000/-रू.
सौजन्य : स्व.श्रीमती कृष्णा शर्मा की स्मृति में, प्रो.प्रभाकर शर्मा बिलासपुर द्वारा प्रदत्त

नाम : कु. रानी यादव
पिता : श्री मोहितराम यादव
परीक्षा का नाम : प्राथमिक परीक्षा, सन् 2008
कुल अंक : 150 प्राप्तांक - 135 प्रतिशत - 90%
पता : ग्राम-मोहरा, पो. सेलर, व्हाया-रतनपुर, जिला-बिलासपुर (छ.ग.)
गोल प्रमुख का नाम : श्री रामकुमार यादव, मोहरा
पुरस्कार राशि : 1000/-रू.
सौजन्य : श्री राजेश वाजपेयी, बिलासपुर द्वारा प्रदत्त

नाम : कु. आरती यादव
पिता : श्री पुन्नीलाल यादव
परीक्षा का नाम : प्राथमिक परीक्षा, सन् 2008
कुल अंक : 150 प्राप्तांक - 127 प्रतिशत - 84.67%
पता : ग्राम-अमसेना, पो. सकर्रा, तह. तखतपुर, जिला-बिलासपुर (छ.ग.)
गोल प्रमुख का नाम : श्री पुन्नीलाल यादव, अमसेना
पुरस्कार राशि : 1000/-रू.
सौजन्य : स्व. श्री अभिषेक वाजपेयी, बिलासपुर की स्मृति में श्रीमती सुजाता वाजपेयी' बिलासपुर द्वारा प्रदत्त

नाम : कु. इन्दिरा यादव
पिता : श्री ओमप्रकाश यादव
परीक्षा का नाम : प्राथमिक परीक्षा, सन् 2008
कुल अंक : 150 प्राप्तांक - 122 प्रतिशत - 81.33%
पता : ग्राम-झिरिया, पो. कामता, व्हाया-सिमगा, जिला-रायपुर (छ.ग.)
गोल प्रमुख का नाम : श्री छेदीलाल यादव, झिरिया
पुरस्कार राशि : 1000/-रू.
सौजन्य : श्री रामकिशन खण्डेलवाल, बिलासपुर (छ.ग.) के द्वारा प्रदत्त

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

विगत वर्षों के प्रथम पुरस्कार प्राप्त दल

1. 1978 श्री गेंदूराम यादव गोल चुचैहापारा
2. 1979 श्री गेंदूराम यादव गोल चुचैहापारा
3. 1980 श्री धन्नू यादव गोल परसदा भरनी
4. 1981 श्री धन्नू यादव गोल परसदा भरनी
5. 1982 श्री धन्नू यादव गोल परसदा भरनी
6. 1983 श्री वेदराम यादव गोल, तोरवा
7. 1984 आयोजन राष्ट्रीय शोक में रद्द ।
8. 1985 श्री केदार यादव गोल परसदा भरनी
9. 1986 श्री केदार नाथ यादव गोल कोपरा
10. 1987 श्री हीरालाल यादव गोल जांजगीर
11. 1988 श्री धन्नू यादव दल परसदा भरनी
12. 1989 श्री वेदराम यादव गोल मोपका
13. 1990 श्री केदार यादव गोल परसदा भरनी
14. 1991 श्री चमरु यादव गोल गतौरा
15. 1992 श्री रामकुमार यादव गोल तिफरा
16. 1993 श्री धन्नू यादव गोल परसदा भरनी
17. 1994 श्री ईश्वर यादव गोल - बसिया
18. 1995 श्री ईश्वर यादव गोल - बसिया
19. 1996 श्री ईश्वर यादव गोल - बसिया
20. 1997 श्री गौकरण यादव गोल, सिरगिट्टी तारबाहर
21. 1998 श्री ईश्वर यादव गोल, बसिया
22. 1999 श्री गौकरण, यादव गोल, सिरगिट्टी, तारबाहर
23. 2000 श्री गौकरण, यादव गोल, सिरगिट्टी, तारबाहर
24. 2001 श्री धन्नू यादव गोल, परसदा भरनी
25. 2002 श्री गौकरण यादव गोल, सिरगिट्टी, तारबाहर
26. 2003 श्री धन्नू यादव गोल, परसदा भरनी
27. 2004 श्री कृष्ण कुमार यादव दल, बसिया
28. 2005 श्री गौकरण यादव गोल, सिरगिट्टी, तारबाहर
29. 2006 श्री वेदराम यादव गोल, मोपका
30. 2007 श्री कृष्ण कुमार यादव दल, बसिया
31. 2008 श्री गौकरण यादव गोल, सिरगिट्टी, तारबाहर

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आभार

हम समस्त महानुभावों/संस्थाओं के आभारी हैं जिन्होंने **'रावत नाच महोत्सव'** के पुरस्कारों के लिए निम्नानुसार शील्ड प्रदान कर हमें सहयोग प्रदान किया।

स्व.श्री ललित राम यादव देवान स्मृति सुपर रनिंग शील्ड

स्व.श्री बिहारी लाल जायसवाल स्मृति सुपर रनिंग शील्ड

स्व.श्री अमरनाथ साव स्मृति सुपर रनिंग शील्ड

स्व.श्री उदई राम यादव स्मृति सुपर रनिंग शील्ड

स्व.श्री द्वारिका प्रसाद खण्डेलवाल स्मृति सुपर रनिंग शील्ड

स्व.श्री वेद प्रसाद यादव स्मृति रनिंग शील्ड

स्व.श्री गया प्रसाद पाण्डेय स्मृति रनिंग शील्ड

नगर निगम बिलासपुर द्वारा प्रदत्त रनिंग शील्ड

स्व.श्री केदारनाथ यादव (कोपरा) स्मृति रनिंग शील्ड

नवयुवक यादव समाज परसदा (भरनी) द्वारा प्रदत्त रनिंग शील्ड

ठा.छेदीलाल बैरिस्टर स्मृति रनिंग शील्ड

स्व.श्री चुन्नी लाल सलूजा स्मृति रनिंग शील्ड

स्व.श्री ज्ञानेन्द्र यादव स्मृति रनिंग शील्ड

श्री गौकरण यादव दल, तारबाहर द्वारा प्रदत्त रनिंग शील्ड

स्व.श्रीमती हरमत देवी यादव (ग्राम-मोहरा) स्मृति रनिंग शील्ड

नवयुवक दल यादव समाज सिलपहरी द्वारा प्रदत्त रनिंग शील्ड

स्व. श्री नन्दराम साहू 'गुरुजी' पुराना सरकण्डा स्मृति रनिंग शील्ड

लाइफ ब्वाय चैम्पियन रनिंग ट्राफी

मौसाजी स्मृति रनिंग गोल्ड कप

स्व. श्री चमरूलाल यादव (जूना बिलासपुर) स्मृति रनिंग ट्रॉफी

स्व. श्रीमती लक्ष्मिनबाई स्व.श्री रतनू राम यादव मुंगेली स्मृति रनिंग शील्ड

स्व. श्रीमती लेढ़ी बाई स्व.श्री बठोली राम यादव, मोपका स्मृति रनिंग शील्ड

स्व.श्री गजाधर यादव स्मृति रनिंग शील्ड

स्व.श्री हीरालाल शिवराजी यादव स्मृति रनिंग शील्ड

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

नगर निगम बिलासपुर द्वारा प्रदत्त रनिंग शील्ड

स्व.श्री सुशीलचन्द्र खण्डेलवाल स्मृति रनिंग शील्ड

नवयुवक यादव दल पैधार द्वारा प्रदत्त रनिंग शील्ड

स्व.श्री द्वारिका राम प्यारे यदुराज स्मृति रनिंग शील्ड

स्व.श्री हीरालाल यादव पहलवान लोखण्डी स्मृति रनिंग शील्ड

स्व. इंजी.के.पी.यादव स्मृति रनिंग शील्ड

स्व. श्री छोटेलाल यादव स्मृति रनिंग शील्ड

स्व. श्री रामाधार यादव स्मृति रनिंग शील्ड

स्व. श्री तीजराम यादव स्मृति रनिंग शील्ड

स्व.श्री गुनाराम यादव स्मृति रनिंग शील्ड

स्व.श्री अधीनराम यादव स्मृति रनिंग शील्ड

नगर निगम बिलासपुर द्वारा प्रदत्त रनिंग शील्ड

पिछड़ा वर्ग आयोग द्वारा प्रदत्त रनिंग शील्ड

श्री रामजी यादव द्वारा प्रदत्त रनिंग शील्ड

स्व.श्री भरत लाल यादव स्मृति रनिंग शील्ड

स्व.श्री अमृतलाल दुबे एवं मोतिम बाई दुबे स्मृति रनिंग शील्ड

स्व.श्री चिन्ताराम यादव स्मृति रनिंग शील्ड

स्व. श्री शिवराम यादव स्मृति रनिंग शील्ड

स्व. श्री गिरधारी लाल यादव स्मृति रनिंग शील्ड

नवयुवक यादव समाज पेन्डारी (कानन) द्वारा प्रदत्त रनिंग शील्ड

स्व.श्रीमती केवरा बाई, स्व.श्री गरीबराम यादव मोपका, स्मृति रनिंग शील्ड

स्व.श्री जनकराम यादव, मोपका, स्मृति रनिंग शील्ड

यादव समाज बसिया द्वारा प्रदत्त रनिंग शील्ड

शिवशंकर यादव स्मृति रनिंग शील्ड

रावतनाच महोत्सव समिति बिलासपुर

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सहयोगी पत्रिकाएँ

- **अकार**, सं. गिरिराज, 15/269, सिविल लाइन्स, कानपुर-01
- **अन्यथा**, सं. कृष्ण किशोर, 2035, फेज-1, अरबन इस्टेट डुगरी, लुधियाना-13
- **अक्षर पर्व**, सं. ललित सुरजन, देशबंधु प्रकाशन, देशबंधु परिसर, रामसागर पारा, रायपुर (छत्तीसगढ़)
- **अक्सर**, सं. हेतु भारद्वाज, ए-243, त्रिवेणी नगर, गोपालपुरा बाईपास, जयपुर-18
- **अभिव्यक्ति**, सं. शिवराम, 4-पी-46 तलवण्डी कोटा-05 (राजस्थान)
- **अक्षरा**, प्र. सं.कैलाशचन्द्र/सं. सुनीता खत्री, मध्यप्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, हिन्दी भवन, शामला हिल्स, भोपाल-03
- **अक्षरशिल्पी**, सं. डॉ. विजय शिरढोणकर, एल-18, थद्धाराम कॉम्पलेक्स, जोन-1, महाराणा प्रतापनगर, भोपाल-462011 (म.प्र.)
- **अभिनव कदम**, प्र. सं. चन्द्रदेव राय., सं. जय प्रकाश धूमकेतु 223, प्रकाश निकुंज, पावर हाउसरोड, निजामुद्दीनपुरा, मऊनाथ भंजन, मऊ (उ.प्र.)- 275101
- **अभिनव प्रसंगवश**, सं. डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ, डी-131, रमेश विहार कॉलोनी (ज्ञान सरोवर के पास), अलीगढ़-01
- **अलाव**, सं. रामकुमार कृषक, सी-3/69, नागार्जुन नगर, सादतपुर विस्तार, दिल्ली-94
- **अंचल भारती**, सं. डॉ. जयनाथ मणि त्रिपाठी, अंचल भारती प्रिंटिंग प्रेस, राजकीय औद्योगिक संस्थान, गोरखपुर मार्ग, देवरिया, 274001 (उ.प्र.)
- **आलोचना**, प्र.सं. नामवर सिंह, सं. अरुण कमल, राजकमल प्रकाशन, 1बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-02
- **आउटलुक** (हिन्दी),सं. आलोक मेहता, ए-26, नवभारत टाइम्स अपार्टमेण्ट्स, मयूर विहार, दिल्ली-91
- **आधारशिला**, सं. दिवाकर भट्ट, बड़ी मुखानी, हलद्वानी, नैनीताल-39
- **आशय**, सं.वी.के. सौनकिय, के/1540, आशियान, लखनऊ (उ.प्र.)
- **आकण्ठ**, सं. हरिशंकर अग्रवाल, 1018/एन-2/बी सेक्टर, गोविन्दापुरा, भोपाल
- **इन्द्रप्रस्थ भारती**, सं. नानक चन्द निशा निशान्त, हिन्दी आकदमी, पदम नगर, दिल्ली-07
- **इतिहास बोध**, सं. लाल बहादुर वर्मा, बी-239, चन्द्रशेखर आजार नगर, तेलियर गंज, इलाहाबाद (उ.प्र.)
- **इस बार**, सं. मधुकर सिंह, धरहरा, आरा-01 (बिहार)
- **उज्ज्वल ध्रुवतारा**, सं. जी.पी. मिश्र, द्वाराः पोस्ट मास्टर, लीडर पोस्ट ऑफिस 3, लीडर रोड, इलाहाबाद-25
- **उत्तरा**, सं. गोपाल प्रसाद, क्वा. नं. 1029, सेक्टर-4एफ, बोकारो इस्पातनगर-04
- **उन्नयन**, सं.प्रकाश मिश्र, 406, त्रिवेणी रोड, कीडगंज, इलाहाबाद
- **उद्भावना**, सं. अजेय कुमार, ए-21, झिलमिल इ. एरिया, जी.टी.रोड, शाहदरा, दिल्ली-63
- **उलुपी**, सं.: दिनकर कुमार, थोमस बिल्डिंग, पब-सरनिया, गोहाटी-03 (असम)
- **कृति ओर**, सं. विजेन्द्र, सी-133, वैशाली नगर, जयपुर-21
- **कृति सन्धान**, सं. सुभाष गाताडे, एच-4, पूसा आपर्टमेण्ट्स, रोहणी, सेक्टर-15, दिल्ली-110085
- **कृत्या**, सं. रति सक्सेना, के.पी.-9/624, वैजयन्त, चेट्टिकुन्नू, मेडिकल कॉलेज पो.ऑ. त्रिवेन्द्रम-11 (केरल)
- **कथन**, सं. रमेश उपाध्याय, 107, साक्षरा आपर्टमेण्टस, ए-3, पश्चिम विहार, नयी दिल्ली-63
- **कथा**, सं. मार्कण्डेय, ए.डी. 2, एकांकी कुंज, 24, म्योर रोड, इलाहाबाद-01 (उ.प्र.)
- **कथा संसार**, सं. सुरंजन, ई-385 सी, प्रताप विहार, नियर कॉटन गैस एजेन्सी, गाजियाबाद-201009 (उ.प्र.)
- **कथादेश**, सं. हरिनारायण, सहयात्रा प्रकाशन, सी-52/जेड-3, दिलशाद गार्डन, दिल्ली-95
- **कथाक्रम**, सं. शैलेन्द्र सागर, 4, ट्रांजिट होस्टल, वायरलेस चौराहे के पास, लखनऊ-06
- **कथाबिम्ब**, सं. मंजुश्री, ए-10, बसेरा, दिन क्वारी रोड, देवनार, मुम्बई-88
- **कथासमवेत**, सं. शोभनाथ शुक्ल, 1274/17, बढ़ैयावीर, सिविल लाइन्स-2, सुलतानपुर-01 (उ.प्र.)
- **कल के लिए**, सं. जयनारायण, सुकून, 12/219, इन्दिरा नगर, लखनऊ-226016 (उ.प्र.)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

- **काव्यम्**, सं. प्रभात पाण्डेय, जी.डी. 44, साल्टलेक, सेक्टर-3, कोलकाता-06
- **गवेषणा**, सं. डॉ. शम्भुनाथ, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा (उ.प्र.)
- **चक्रवाक**, सं. निशान्त केतु, 'शब्दाश्रम' बी-970, पालम विहार, गुड़गाँव- 122017 (हरियाणा)
- **जनपक्ष**, सं. अशोक पाठक, एस 24/6ए- 11ख, इन्दिरा गाँधीनगर, महावीर चौक, कैण्ट, वाराणसी-2 (उ.प्र.)
- **जनपथ**, सं. अनन्त कुमार सिंह, सेण्ट्रल को-ऑपरेटिव बैंक, मंगल पाण्डेय पथ, आरा-01 (बिहार)
- **तद्भव**, सं. अखिलेश, 16/20, इन्दिरा नगर, लखनऊ-16
- **तटस्थ**, सं. कृष्णा बिहारी सहल, विवेकान्द बिला, पुलिस लाइन के पीछे, सीकर-332001 (राजस्थान)
- **तीसरा पक्ष**, सं. देवेश चौधरी 'देव', 3734/23 ए, त्रिमूर्ति नगर, दमोह नाका, जबलपुर-482002 (म.प्र.)
- **दलित साहित्य**, सं. जयप्रकाश कर्दम, बी-634, डी.डी.ए. ''लैट्स, ईस्ट ऑफ लोनी रोड, दिल्ली- 110096
- **दस्तावेज**, सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, बेतियाहाता, गोरखपुर-01
- **देशज**, सं. अरुण शीतांश, मणिभव, संकट मोचन नगर, आरा-01
- **दोआबा**, सं. जाबिर हुसैन, 243, एम.आई.जी., लोहिया नगर, पटना-20
- **धरती**, सं. शैलेन्द्र चौहान, 34/242, प्रतापनगर, सेक्टर-3, जयपुर-03
- **नई धारा**, सं. प्रथमराज सिंह, सौ.सं. शिवनारायण, सूर्यपुरा हाउस, बोरिंग रोड, पटना-01
- **नटरंग**, सं. अशोक बाजपेयी एवं रश्मि बाजपेयी, बी.-31, स्वास्थ्य विभाग, विकास मार्ग, दिल्ली-92
- **नया ज्ञानोदय**, सं. रवीन्द्र कालिया, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टिट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, पो.बॉ. नं. 3113, नयी दिल्ली-03
- **निष्कर्ष**, सं. डॉ. गिरीशचन्द्र श्रीवास्तव, डी-1/1/71, सेक्टर-एफ, जानकीपुरम, लखनऊ-21
- **परिकथा**, सं. शंकर, 25 बेसमेण्ट, फेज-ट, इरोज गार्डन- सूरजकुंड रोड, नयी दिल्ली-44
- **परिवेश**, सं. मूलचन्द गौतम, शक्तिनगर, चन्दौसी, मुरादाबाद-202412
- **परिचय**, सं. प्रकाश शुक्ल, 68, रोहितनगर, नरिया, वाराणसी-05
- **पहल**, सं. ज्ञानरंजन, 101, रामनगर, आधारताल, जबलपुर-04
- **पक्षधर**, सं. विनोद तिवारी, बी-33/14-73, कोशलेश नगर, सुन्दरपुर, वाराणसी-05
- **प्रगतिशील आकल्प**, सं. शोभनाथ यादव, पंकज क्लासेस पोस्ट आफिस बिल्डिंग, जोगेश्वरी (पूर्व), मुम्बई-60
- **प्रतिश्रुति**, सं. रामप्रसाद दाधीच, 93, नैवेग्य, नेहरु पार्क, जोधपुर-02 (राजस्थान)
- **प्रेरणा**, सं. अरुण तिवारी, सी-160, शाहपुरा, भोपाल-16
- **बहाव**, सं. अमरकान्त, 198, एल.आई.जी. गोविन्दपुर, इलाहाबाद-211004 (उ.प्र.)
- **बहुवचन**, सम्पादक, महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, 16-दूसरी मंजिल, सीरी फोर्ट, नई दिल्ली-49
- **भारतीय मनीषा**, सं. रमाकान्त श्रीवास्तव, एल 6/96, सेक्टर-एल, कुर्सी रोड, अलीगंज, लखनऊ-226024 (उ.प्र.)
- **भारतीय लेखक**, सं. भीमसेन त्यागी, डी-180, सेक्टर-10, नोएडा-201301 (उ.प्र.)
- **मसि-कागद**, सं. श्याम सखा 'श्याम', पलाश, 12 विकास नगर, रोहतक- 124001
- **मित्र**, सं. मिथिलेश्वर, महाराजा हाता, कतिरा आरा-01
- **मीडिया विमर्श**, सं. श्रीकान्त सिंह, 427, रोहित नगर, फेज-1, भोपाल (म.प्र.)
- **रचनाकर्म**, सं. मायाप्रकाश पाण्डेय, 9, साई पार्क सोसाइटी, प्रमुख टाउनशिप के सामने, धड़ताल रोड, बाकरोल आनन्द (गुजरात)-388315
- **रंग प्रसंग**, सं. प्रयाग शुक्ल, नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा, बहावलपुर हाउस, भगवानदास रोड, नयी दिल्ली-01
- **लेखन**, सं. विद्याधार शुक्ल, 862ए/28बी/71 (निकटः नेता चौराहा) भारद्वाजपुरम, इलाहाबाद-06
- **लेखन सूत्र**, सं. विजय सिंह, बन्द टाकिज के सामने, जगदलपुर (बस्तर), छत्तीसगढ़-01
- **वर्तमान साहित्य**, सं. कुँवरपाल सिंह/नमिता सिंह 28 एम.आई.जी., अवन्तिका फेज-1, रामघाट रोड, अलीगढ़-01
- **वर्तिका**, सं. महाश्वेता देवी/अरुण कुमार त्रिपाठी, वाणी प्रकाशन, 21ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-02
- **व्यंग्य यात्रा**, सं. प्रेम जनमेजय, 73, साक्षर अपार्टमेण्ट्स, ए-3, पश्चिम बिहार, नयी दिल्ली-63
- **वाक्**, सं. विजय बहादुर सिंह/कुसुम खेमानी, भारतीय भाषा परिषद, 36ए, शेक्सपियर सारणी, कोलकाता-17

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

- **हंस**, सं. राजेन्द्र यादव/अक्षर प्रकाशन प्रा.लि., 2/36 अन्सारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली - 110002
- **संस्कृति**, सं. मोहिनी हिंगोरानी, 322, सी. विंग, शास्त्री भवन, डॉ, राजेन्द्र प्रसाद रोड, नई दिल्ली- 11
- **समकालीन अभिव्यक्ति**, सं. उपेन्द्र कुमा मिश्र, ''फ्लैट नं. 5, तृतीय तल, 984, वार्ड नं. 7, महरैली, नई दिल्ली-30
- **समकालीन जनमत**, प्र. सं. रामजीराय, सं. सुधीर सुमन, मदनधारी भवन, एस.पी.वर्मा रोड, पटना-01
- **समकालीन भारतीय साहित्य**, सं. ब्रजेन्द्र त्रिपाठी, रवीन्द्र भवन, 35, फिरोजशाह मार्ग, नयी दिल्ली-01
- **समकालीन भोजपुरी साहित्य**, प्र. सं. अरुणेश नीरन, मुहल्लना:गरुलपार (धोबी टोल) देवरिया-01 (उ. प्र.)
- **समयान्तर**, सं. पंकज बिस्ट, 79ए, दिलशाद गार्डन, दिल्ली-95
- **संवेद**, सं. किसन कालजयी, बी-3/44, तीसरी मंजिल, सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-85
- **सम्यक**, सं. मदन मोहन उपेन्द्र, ए-10, शान्तिनगर (संजय नगर), मथुरा (उ. प्र.)
- **समीक्षा**, सं. गोपालराय/हरदयाल, एच-2, यमुना, इ.गाँ, रा. मु. विश्वविद्यालय, मैदानगढ़ी, नयी दिल्ली-68
- **सनद**, सं. फजल इमाम मल्लिक/मंजु मल्लिक मनु, 4 बी, फ्रेण्ड्स अपार्टमेन्ट्स, मधु विार गुरुद्वारा के पास, पटपड़गंज, दिल्ली-68
- **सर्वनाम**, सं. रजत कृष्ण, संकल्प प्रकाशन, बाग बहरा-49, जिला-महासमुन्द (छ. ग.)
- **साक्षात्कार**, प्र.सं. देवेन्द्र दीपक, सं. हरि भटनागर, संस्कृति भवन, बाण गंगा, भोपाल-03
- **सामान्य जन सन्देश**, सं. डॉ. ओमप्रकाश मिश्रा, लोहिया अध्ययन केन्द्र, लोहिया भवन, सुभाष मार्ग, नागपुर-18 (महाराष्ट्र)
- **अरावली उद्घोष**, अतिथि संपादक, डा. रमेशचन्द्र मीणा, 448 टीचर्स कालोनी, अम्बामाता स्कीम उदयपुर, राजस्थान
- **अंतरंग संगिनी**, द्रिया जैन, गोविन्द निवास, सरोजनी रोड, विले पार्ले (पं.) मुंबई -56
- **इंकलाबी मजदूर का परचम**, कमलेश कुमार रोहिणी, एफ 3/93 से. 15, दिल्ली- 85
- **कला समय**, डा. सत्येन्द्र शर्मा, श्यामायन, सहकर मार्ग, सतना म.प्र. 485001
- **कहनात**, सं. कपिल तिवारी, म. प्र. आदिवासी लोककला परिषद, भोपाल
- **चौमासा**, सं. कपिल तिवारी, म. प्र. आदिवासी लोककला परिषद, भोपाल, म. प्र.
- **चिन्तन सृजन**, बी.बी. कुमार, आस्था भारतीय, दिल्ली
- **द्वीप लहरी**, डा. व्यास मणि त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य कला परिषद, अण्मान निकोबार द्वीप समूह, पोर्ट ब्लेयर 744101
- **नारी संघर्ष**, सुरेन्द्र ओमरे, मकान नं. 9, गली नं. 1, रेतघाट तलैया, भोपाल म. प्र.
- **प्रेरणा अंशु**, प्रताप सिंह, समाजेत्थान संस्थान, दिनेशपुर, उधमसिंह नगर, उत्तराखण्ड 263160
- **प्रसंग**, शम्भुबादल, सूरजघर जबरारोड, कोर्रा, हजारीबाग, झारखण्ड
- **पूर्वापर**, सूर्यपाल सिंह, डाकघर के पास, सिविल लाइन्स गोण्डा-271001
- **प्रति शीर्षक**, डॉ. व्ही. एन. सिंह, 111/98 फ्लैट 22, अशोक नगर, कानपुर-208012
- **परिंदे**, राघव चेतन राय, 79 ए, दिलशाद गार्डन, दिल्ली -95
- **बहुजन दर्पण**, नन्द किशोर यादव, विजय वार्ड नं. 2, जगदलपुर छ. ग.
- **भोजपुरी पत्रिका सम्मेलन**, प्रो. ब्रज किशोर, श्री भवन, प्रोफेसर कालोनी, महम्मदपुर लेन, पटना-6
- **भारतीय वाङ्यम**, पराग मोदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
- **मीरायन**, स्वामी डा. ओम आनन्द सरस्वती, मीरा स्मृति संस्थान, 108, प्रतापनगर, सिंधी कालोनी, चितौड़गढ़, राजस्थान
- **मधुमती**, डा. श्रीमती अजित गुप्ता, राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर, राजस्थान
- **लोकायन**, डा. अशोक अज्ञानी, लोकायन प्रकाशन, बछरावॉ, रायबरेली, उ. प्र.
- **लोक संस्क्रति**, विजयदान देथा, रुपायन संस्थान, बोरुंदा, जोधपुर राजस्थान-342604
- **लोक मर्यादा**, डा. संजय गर्ग, लोकपुस्तकालय बरवाल, मुजफ्फर नगर 251001
- **रंगकर्म**, डा. उषा वैरागकर आठले, इप्टा रायगढ़, आठले हाउस सिविल लाइन्स, दरोगापारा, रायगढ़
- **वन्या संदर्भ**, श्री रामतिवारी, 35 राजीव गांधी भवन, श्यामला हिल्सा, भोपाल
- **समांतर**, डा. इसाक 'अश्क' सुजालपुर मंडी, शाजापुर, म. प्र.
- **स्वाधीनता**, राम आहलाद चौधरी, 31 अलीमुद्दीन स्ट्रीट कोलकाता

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

- **स्पंदन,** डा. कुमारेन्द्र सिंग सेंगर, 110, रामनगर, उरई जालौन उ. प्र.
- **समय माजरा,** राजाराम भादू, कार्यकारी संपादक, हिम्मत नगर, टोंकरोड, जयपुर राजस्थान
- **समर लोक,** मेहरुन्निसा परवेज, डी 3/17, चार इमली, भोपाल-16, म. प्र.
- **सम्बोधन,** कमर मेवाड़ी, कांकरोली, राजसमंद, राजस्थान
- **सांस्कृतिक टाइम्स,** डा. ओमेन्द्र कुमार, 106/63 ए, गांधीनगर, कानपुर 12
- **हिमाचल मित्र,** कुशल कुमार, डी 46/16, साई मंगलम से.-48, नेरुल नवी मुम्बई-06
- **अधिमूक नायक,** फ्लैट 80/11, लान्सर्स रोड, नई दिल्ली-110009
- **अपेक्षा,** 27 पौंडली, कृष्णा नगर, दिल्ली-51
- **वसुधा,** कमला प्रसाद, एम 31, निराला नगर, भरमरा रोड, भोपाल-03
- **वर्तमान साहित्य,** कुंवर पाल सिंह, 28 एम.जी.आई, अवन्तिका-1, रामघाट रोड, अलीगढ़
- **युद्धरत आम आदमी,** रमणिका गुप्ता, ए-221, डिफेंस कालोनी, नई दिल्ली-24

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

प्रकाश इंडस्ट्रीज लिमिटेड

शुभकामनाओं सहित....

KSA 9000-ISO 9000

QMS Certification

CERTIFICATE NO.
QSC 10043

KAB
ISO 9002
Certified

छत्तीसगढ़ के औद्योगिक विकास की प्रक्रिया में निरन्तर अग्रसर

प्रकाश इंडस्ट्रीज लिमिटेड

स्पंज आयरन आधारित एकीकृत स्टील प्लांट

✦

चांपा– 495 671, जिला–जांजगीर–चांपा (छ.ग.)

दूरभाष : 07819-245100, 103, 106, 107,108, 378

फैक्स नं. : 07819-245367

HEAD OFFICE : Business Park, 25 Shivaji Marg, New Delhi-110015

REGD. OFFICE : 15 km Stone, Delhi Road, Hissar - 125 005 (Haryana) India

 CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

'मड़ई' पत्रिका के प्रकाशन पर हार्दिक शुभकामनाएँ .....

मन मन के गोला बरसै,
करत छपक-छपक तलवार।
एयनी मुड़गे तेंगा के,
दम हेरै गुरुद के घाव ॥

मे. अर्स आयरन एण्ड स्टील प्रा. लि.

सरोरा, तिल्दा, रायपुर (छ.ग.)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लोक संस्कृति पर केन्द्रित पत्रिका 'मड़ई' के
प्रकाशन पर हमारी हार्दिक शुभकामनाएँ....

राजा मानय दशहरा,
परजा के फागुन तिहार।
आये देवारी राउत के,
उड़ागे धुँवा धार ॥

मे. एटीआई इस्पात एवं पावर टेक प्रा.लि.

*

न्यू इंडस्ट्रीयल ग्रोथ सेंटर
फेज-II, सिलतरा, रायपुर (छ.ग.)

 CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

'मड़ई' के प्रकाशन पर
हार्दिक शुभकामनाएँ .....

मे. शिल्पी स्टील प्रा. लि.

बोरझरा, रायपुर (छ.ग.)

'मड़ई' के प्रकाशन पर
हार्दिक शुभकामनाएँ .....

मे. सीता इस्पात एण्ड पावर प्रा. लि.

बोरझरा, रायपुर (छ.ग.)

लोक संस्कृति पर केन्द्रित पत्रिका 'मड़ई' के
प्रकाशन पर हमारी हार्दिक शुभकामनाएँ....

मे. जगदम्बा पावर एण्ड एलायज लि.

*

प्लाट नं. 129, मुरेठी रोड,
फेज-II, सिलतरा, रायपुर (छ.ग.)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

'मड़ई' पत्रिका के प्रकाशन पर हार्दिक शुभकामनाएँ .....

मे. हाईटेक पावर एण्ड स्टील प्रा. लि.

परसदा, रायपुर (छ.ग.)

'मड़ई' के प्रकाशन पर हार्दिक शुभकामनाएँ .....

ज्योति स्ट्रक्चर

उरला, रायपुर (छ.ग.)

लोक संस्कृति पर केन्द्रित पत्रिका 'मड़ई' के प्रकाशन पर हमारी हार्दिक शुभकामनाएँ....

रियल इस्पात प्रा. लि.

बोरझरा, रायपुर (छ.ग.)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

एनटीपीसी
NTPC

एनटीपीसी लिमिटेड

(भारत सरकार का उद्यम)

राष्ट्र का शक्ति पुँज

सीपत सुपर थर्मल पावर प्रोजेक्ट

पो. उज्जवल नगर, सीपत, जिला–बिलासपुर (छ.ग.) 495555

स्वहित व राष्ट्रहित में ऊर्जा बचाएँ

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

With Best Compliments From :

कोल इण्डिया
Coal India

साउथ ईस्टर्न कोलफील्ड्स लिमिटेड
(मिनी रत्न कम्पनी)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

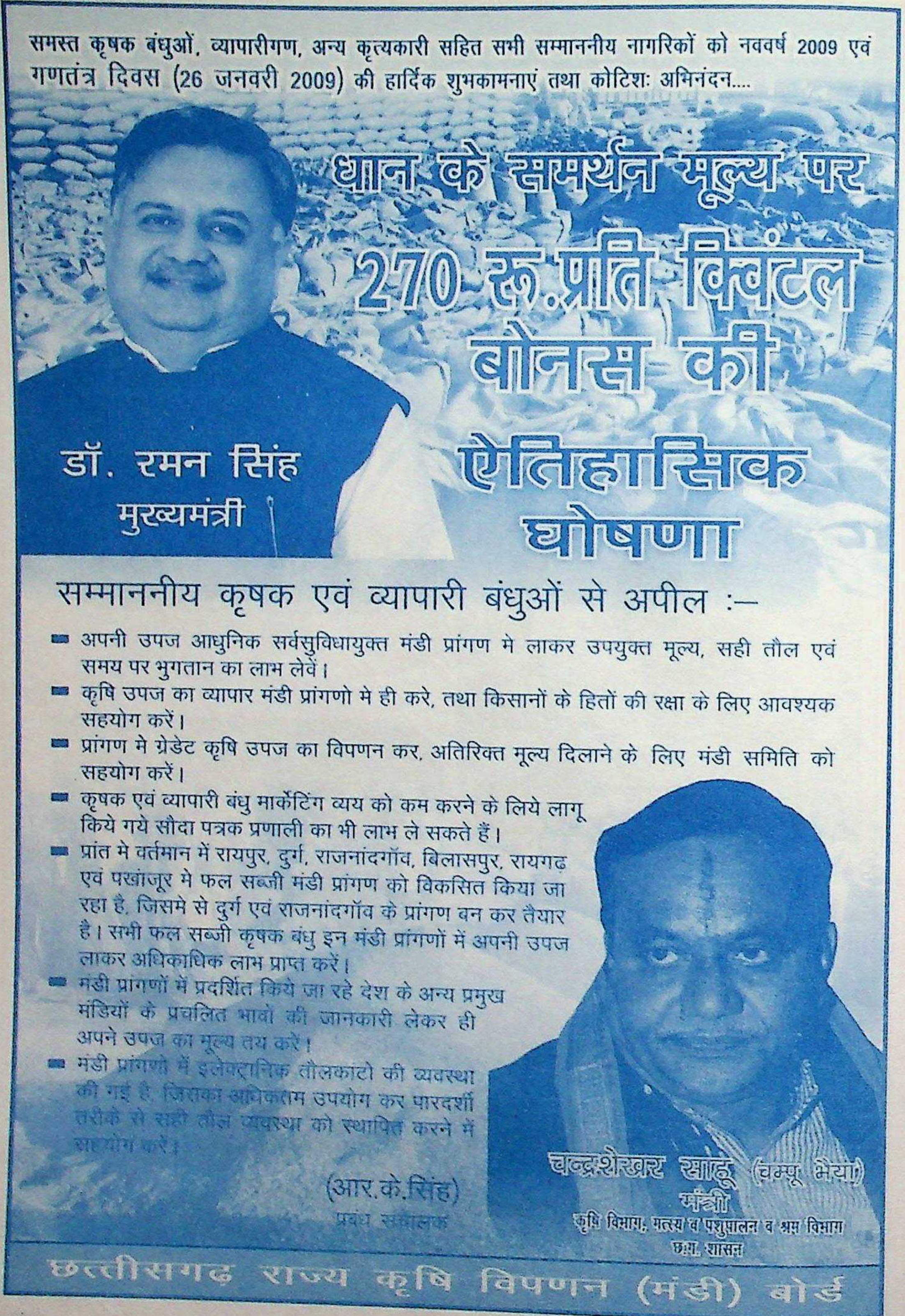

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

छत्तीसगढ़ पाठ्यपुस्तक निगम

उत्कृष्ट सेवा हेतु पुरस्कार

- वर्ष 2006 में Institute Of Economic Studies (IES) नई दिल्ली के द्वारा उत्कृष्ट सेवा हेतु सम्मानित।
- वर्ष 2007 में अखिल भारतीय दृष्टिहीन संस्थान, नई दिल्ली द्वारा ब्रेल लिटरेसी अवार्ड से सम्मानित।

सामान्य जानकारी

- निगम द्वारा कक्षा 1 से 8 तक हिन्दी माध्यम की पाठ्यपुस्तकें मुद्रित कर पाठ्य पुस्तकों का वितरण 146 विकासखंडों के माध्यम से किया जाता है।
- कक्षा 1 से 8 तक अंग्रेजी माध्यम की पुस्तकों का वितरण जिला मुख्यालयों से।
- कक्षा 9 से 12 तक हिन्दी एवं अंग्रेजी माध्यम की पाठ्य पुस्तकों की बिक्री निगम के 6 डिपो जगदलपुर, रायपुर, बिलासपुर, रायगढ़, अंबिकापुर, दुर्ग, कांकेर,कोरबा,जशपुर और राजनांदगांव से।
- भविष्य में सभी 19 शिक्षा जिलों पर निगम के स्थायी डिपो की व्यवस्था।

उल्लेखनीय कार्य

- वर्ष 2008–09 के शैक्षणिक सत्र में कक्षा एक से आठ तक के हिन्दी, अंग्रेजी एवं उर्दू माध्यम के सभी स्कूलों के 5014464 विद्यार्थियों को निःशुल्क पुस्तकों का वितरण।
- कक्षा–9वीं एवं 10वीं कक्षा में शासकीय, अनुदान प्राप्त विद्यालयों में अध्ययनरत 209435 बालिकाओं को 1466045 पुस्तकों का निःशुल्क वितरण।
- बच्चों के ज्ञानवर्धन हेतु प्राथमिक स्तर के बच्चों के लिए बचपन एवं उच्च प्राथमिक स्तर के बच्चों के लिए बालमित्र त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन एवं निःशुल्क वितरण।
- शिक्षा के विस्तार और आधुनिकीकरण के लिए स्कूलों को कम्प्यूटर, फर्नीचर क्रय करने, अतिरिक्त कमरों का निर्माण करने के लिए 50 लाख रू. अनुदान जारी।
- प्रदेश के 2300 शासकीय हाईस्कूल और हायर सेकेण्डरी स्कूलों में लगभग 3 करोड़ रुपये का संदर्भ पुस्तकों का प्रदाय।
- प्रदेश के 1017 शासकीय हाईस्कूल और 1281 शासकीय हायर सेकेण्डरी स्कूलों में महापुरुषों के 10–10 फोटोग्राफ फ्रेम के साथ प्रदाय।
- प्रदेश के 50661 प्राथमिक तथा माध्यमिक शालाओं में ग्लोब का प्रदाय।
- प्रदेश के 37352 शासकीय प्राथमिक शालाओं में 10–10 शैक्षणिक चार्ट का प्रदाय।
- पाठ्यपुस्तकों के कव्हर पृष्ठों पर छत्तीसगढ़ की कला संस्कृति इतिहास की झलक।

माध्यमिक शिक्षा मंडल के पाठ्यक्रम के अनुरूप " हम अच्छी और सस्ती पुस्तकें बनाते हैं"।

कक्षा 11वीं

स.क्र.	विषय	मूल्य	स.क्र.	विषय	मूल्य
1	गणित	84.00	8	जीव विज्ञान	61.00
2	भौतिक शास्त्र	61.00	9	विज्ञान के तत्व	25.00
3	भूगोल	54.00	10	इतिहास	51.00
4	मातृकला	43.00	11	गृह प्रबंध एवं पोषण	36.00
5	व्यावहारिक अर्थशास्त्र एवं वाणिज्यिक भूगोल	68.00	12	फसलोत्पादन एवं उद्यान शास्त्र	26.00
6	पुस्तपालन एवं लेखाकर्म	66.00	13	अर्थशास्त्र (प्रथम बार प्रकाशित)	44.00
7	राजनीति शास्त्र	41.00	14	वाणिज्य के मूल तत्व	50.00

कक्षा 12वीं

स.क्र.	विषय	मूल्य	स.क्र.	विषय	मूल्य
1	गणित	96.00	8	जीव विज्ञान	87.00
2	भौतिक शास्त्र	87.00	9	विज्ञान के तत्व	27.00
3	भूगोल (प्रथम बार प्रकाशित)	63.00	12	आहार एवं पोषण	30.00
4	रसायन (पूर्व में प्रकाशित पुस्तकें सत्र 06–07 में आंशिक परिवर्तन है)	59.00	10	शरीर क्रिया एवं प्राथमिक चिकित्सा	29.00
5	व्यावहारिक अर्थशास्त्र एवं वाणिज्यिक भूगोल	48.00			
6	पुस्तपालन एवं लेखाकर्म	56.00			
7	राजनीति विज्ञान	37.00			

छत्तीसगढ़ पाठ्यपुस्तक निगम द्वारा कक्षा 11वीं एवं 12वीं विषय की पाठ्यपुस्तकें संशोधित पाठ्यक्रमानुसार तैयार की गई है। कक्षा 11वीं की पुस्तकें गत वर्ष 2007–08 में मुद्रित करायी गई थी एवं कक्षा 12वीं की पुस्तकें वर्तमान सत्र 2008–09 में मुद्रित करायी गयी है तथा उक्त पुस्तकें निगम के 10 स्थायी डिपो में विक्रय हेतु उपलब्ध है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रजिस्ट्रेशन ऑफ न्यूज पेपर्स रूल्स 1956 (सेन्ट्रल) के अन्तर्गत 'मड़ई' – हिन्दी वार्षिक के संबंध में स्वामित्व तथा अन्य विवरण विषयक जानकारी ।

घोषणा–पत्र

(फार्म – 4)

1.	प्रकाशन स्थल	:	बनियापारा जूना बिलासपुर, बिलासपुर (छत्तीसगढ़)
2.	प्रकाशन अवधि	:	वार्षिक
3.	मुद्रक का नाम		**डॉ.कालीचरण यादव**
	नागरिकता		भारतीय
	पता	:	बनियापारा, जूना बिलासपुर, बिलासपुर (छत्तीसगढ़)
4.	प्रकाशक का नाम	:	**डॉ.कालीचरण यादव**
	नागरिकता		भारतीय
	पता	:	बनियापारा, जूना बिलासपुर, बिलासपुर (छत्तीसगढ़)
5.	संपादक का नाम	:	**डॉ.कालीचरण यादव**
	नागरिकता		भारतीय
	पता	:	बनियापारा, जूना बिलासपुर, बिलासपुर (छत्तीसगढ़)
6.	पत्र का स्वामित्व भागीदारी अथवा 1 प्र.श. अधिक पूँजी वाले हिस्सेदार	:	**रावत नाच महोत्सव समिति** बिलासपुर (छत्तीसगढ़)

मैं डॉ.कालीचरण यादव घोषित करता हूँ कि उपरोक्त विवरण मेरी जानकारी तथा विश्वास के अनुसार सही है ।

दिनाँक : 22 नवम्बर 2008

(डॉ. कालीचरण यादव)
प्रकाशक

'रावतनाच महोत्सव समिति' की ओर से प्रकाशक एवं मुद्रक डॉ.कालीचरण यादव द्वारा कम्प्यूटर मास्टर, 7, अरपा कॉम्पलेक्स, बिलासपुर से मुद्रित एवं बनियापारा, जूना बिलासपुर, बिलासपुर (छत्तीसगढ़) से प्रकाशित। **सम्पादक : डॉ.कालीचरण यादव**

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation Chandigarh Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

विकास की लहर

बालिका शिक्षा हेतु विशेष सुविधाएं– नि:शुल्क पाठ्य पुस्तक, नि:शुल्क सायकल, नि:शुल्क गणवेश, नि:शुल्क कम्प्यूटर शिक्षा, छात्रावास।

नि:शुल्क सायकल– अनुसूचित जनजाति, अनुसूचित जाति, गरीबी रेखा के नीचे की डेढ लाख से अधिक हाईस्कूल छात्राओं को।

नि:शुल्क कम्प्यूटर शिक्षा – 1 लाख 80 हजार से अधिक हायर सेकेण्डरी में अध्ययनरत स्कूली छात्राओं को नि:शुल्क कम्प्यूटर शिक्षा।

निर्धन कन्या विवाह प्रोत्साहन योजना – शासन-समाज की भागीदारी से 10 हजार से अधिक बालिकाओं को विवाह हेतु आर्थिक मदद।

महिलाओं को सस्ता ऋण – महिला स्व-सहायता समूहों को छत्तीसगढ महिला कोष के जरिए 6.5 प्रतिशत ब्याज दर पर ऋण।

भूमि रजिस्ट्रेशन पर 2 प्रतिशत की छूट – महिलाओं को अधिकार सम्पन्न बनाने के लिए उनके नाम पर जमीन की खरीदी किए जाने पर भूमि के रजिस्ट्रेशन में 2 प्रतिशत की छूट।

महिला आरक्षण–त्रि-स्तरीय पंचायत राज संस्थाओं में महिलाओं को 50 प्रतिशत आरक्षण देने का कानूनी प्रावधान।

पूरक पोषण आहार योजनाएं– चावल आधारित पूरक पोषण आहार योजना प्रारंभ। आंगनवाडी केन्द्रों से 32 लाख से अधिक किशोरियों, महिलाओं, बच्चों को पूरक-पोषण आहार।

आंगनवाडी कार्यकर्ताओं को आर्थिक मदद – आंगनवाडी कार्यकर्ताओं तथा सहायिकाओं को राज्य शासन की ओर से विशेष आर्थिक मदद। निधन पर परिजनों को 10 हजार रु. तक की अनुग्रह राशि भी।

विकास प्राधिकरण – आदिवासी तथा अनुसूचित जाति बहुल अंचलों में तेज गति से विकास के लिए बस्तर, सरगुजा तथा अनुसूचित जाति विकास प्राधिकरण का गठन। लगभग 400 करोड रु. के विकास कार्य।

तेंदूपत्ता संग्राहकों को लाभ – वर्ष 2007 में 120 करोड रु. का प्रोत्साहन पारिश्रमिक। संग्रहण दर 450 से बढाकर 600 रु.। जनश्री बीमा योजना। साल बीज संग्रहण दर 3.50 रु. से बढाकर 10 रु. प्रतिकिलो।

लाख उत्पादन – आदिवासियों-वनवासियों की आजीविका का साधन बढाने के प्रयास, लाख उत्पादन में छत्तीसगढ देश में प्रथम स्थान पर।

आस्था केन्द्रों का विकास – गुरू घासीदास की जन्मभूमि गिरौदपुरी में कुतुबमीनार से ऊंचे जैतखम्भ का निर्माण 51 करोड रु. की लागत से प्रारंभ। भण्डारपुरी, तेलासीबाडा के साथ कबीर पंथ के श्रद्धा केन्द्र दामाखेडा, प्रथम अमर शहीद आदिवासी समाज की विभूति श्री वीरनारायण सिंह के जन्म स्थल सोनाखान का विकास भी।

6.5 प्रतिशत औद्योगिक निवेश प्रस्तावों में अव्वल – भारत शासन के उद्योग एवं वाणिज्य मंत्रालय द्वारा जारी प्रतिवेदन के अनुसार वर्ष 2006 एवं 2007 में छत्तीसगढ को सर्वाधिक निवेश प्रस्ताव प्राप्त।

दसवीं पंचवर्षीय योजना में अग्रणी – 31 मार्च, 2007 को पूर्ण हुए 10वीं पंचवर्षीय योजना काल में छत्तीसगढ की उपलब्धियां निर्धारित राष्ट्रीय लक्ष्य से अधिक रही। निर्धारित लक्ष्य 6.10 प्रतिशत के मुकाबले सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि 8.68 प्रतिशत रही। कृषि क्षेत्र की उपलब्धि 3 प्रतिशत के मुकाबले 6.26 प्रतिशत, उद्योग क्षेत्र की उपलब्धि 7.5 प्रतिशत के मुकाबले 14.70 प्रतिशत एवं सेवा क्षेत्र की उपलब्धि 7 प्रतिशत के मुकाबले 7.78 प्रतिशत।

लंबित सिंचाई योजनाओं का उद्धार – मोंगरा बराज, सुतियापाट, समोदा निसदा, कोसारटेडा, खरखरा, मोंहदीपाट जैसी बरसों से लंबित सिंचाई परियोजना का कार्य पुन: प्रारंभ कर पूर्ण किया गया तथा लोकार्पण भी। घुमरिया, करांनाला, सुखानाला, खातुटोला, केलो, समोदा निसदा फेस-2 आदि अनेक परियोजना का कार्य प्रारंभ। 500 से अधिक एनीकट प्रस्तावित, जिनमें से 50 का कार्य पूर्ण, 120 निर्माणाधीन।

नगरीय विकास की छटा – नगरीय विकास का बजट वर्ष 2001-02 के 167 करोड रु. से बढाकर 2008-09 में 1073 करोड रु.। गौरव पथ, सरोवर-धरोहर, ज्ञान स्थली, उन्मुक्त खेल मैदान, पुष्प वाटिका, प्रतीक्षा बस स्टैण्ड, मुक्तिधाम, हाट-बाजार, गोकुलनगर, ट्रांसपोर्ट नगर, बाबा गुरू घासीदास झुग्गी बस्ती उत्थान, कुशाभाऊ ठाकरे युवा विकास आदि योजनाओं से शहरों में निखार।

ग्रामीण विकास – निर्मला महिला घाट, मुक्तिधाम, सीमेंट कांक्रीट रोड, सद्भावना भवन, मंगल भवन, मिनी स्टेडियम, इंद्रप्रस्थ, केशवकुंज, वृंदावन गोठान, कांजी हाउस, छत्तीसगढ गौरव, हमारा छत्तीसगढ, ई-पंचायत आदि योजनाओं से गांवों में नवीन अधोसंरचनाओं का विकास।

शिक्षा कर्मी भर्ती – लगभग 65 हजार शिक्षा कर्मियों की भर्ती का कार्य पूर्ण, 65 हजार अन्य शिक्षा कर्मियों की भर्ती की प्रक्रिया प्रारंभ।

नये विश्वविद्यालय – तीन नये विश्वविद्यालय यथा स्वामी विवेकानंद तकनीकी विश्वविद्यालय, कुशाभाऊ ठाकरे पत्रकारिता विश्वविद्यालय, पंडित सुन्दर लाल शर्मा मुक्त विश्वविद्यालय प्रारंभ, बस्तर तथा सरगुजा में नये विश्वविद्यालय, चिकित्सा विश्वविद्यालय खोलने की प्रक्रिया प्रारंभ।

मेडिकल/इंजीनियरिंग कॉलेज – जगदलपुर में नया मेडिकल कॉलेज, रायपुर में फिजियोथेरेपी कॉलेज प्रारंभ। रायगढ में नया मेडिकल कॉलेज स्थापित करने की प्रक्रिया जारी। इंजीनियरिंग कॉलेजों की संख्या दोगुनी से अधिक।

रोजगार – सरकारी भर्ती से प्रतिबंध हटाकर हजारों लोगों को रोजगार। नव स्थापित उद्योगों में स्थानीय लोगों को रोजगार के लिए कानूनी प्रावधान। ग्रामीण विकास, रोजगार गारंटी योजनाओं में लाखों को रोजगार।

छत्तीसगढ़ संवाद

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh. Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

With Best Compliments From :

CHHATTISGARH POWER & COAL BENEFICATION LTD.

HEAD OFFICE :

Plot No. 60, Sector-C, Industrial Area, Bilaspur (C.G.)
Tel. : 07752-424031/32,
Fax : 07752-407076, 405358, 252009, 400356

Director
RAMAWATAR AGRAWAL
Ph. 405358. 403057

REGD. OFFICE

G-9, HIRA ARCAD, NEAR NEW BUS STAND, PANDRI RAIPUR (C.G.)
TEL. : 0771-4057600, 4057602, FAX : 4057601, 4092382

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

माताओं-बहनों ने जो प्यार और आशीर्वाद मुझे दिया वह मेरे लिए सबसे कीमती है. एक मुख्यमंत्री के लिए इससे बड़ी उपलब्धि नहीं हो सकती कि प्रदेश की माताएं उसे अपना बेटा मान लें. .....

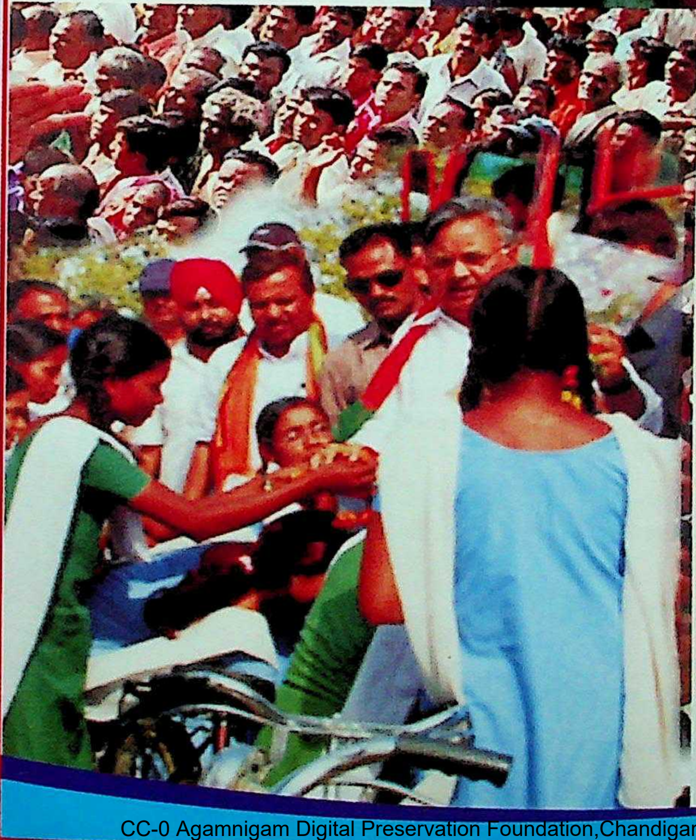

....और सायकलों से आकर जब बेटियाँ मुझसे मिलती हैं तो मुझे लगता है कि मेरी सिर्फ एक बेटी नहीं, हजारों बेटियाँ है .इन बेटियों का बढ़ता आत्मविश्वास छत्तीसगढ़ के विकास के नए रास्ते खोलेगा.

डॉ. रमन सिंह
मुख्यमंत्री, छत्तीसगढ़

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पत्रिका मड़ई के प्रकाशन के अवसर पर नगर पालिक निगम कोरबा की ओर से हार्दिक शुभकामनाएँ

कार्यालय नगर पालिक निगम कोरबा (छत्तीसगढ़)

श्री लखन लाल देवाँगन
महापौर
नगर पालिक निगम, कोरबा

श्री अशोक चावलानी
सभापति
नगर पालिक निगम, कोरबा

सदस्य मेयर इन काउंसिल– श्रीमती रानी यादव, श्री मुकेश कुमार बग्गा, श्री मुन्ना खान, श्रीमति मनोरमा शर्मा, श्री दीपनारायण सिंह, श्री चिंतामणि साहू, श्री डी.एल.मरकाम, श्रीमति राधा बाई महंत, श्रीमति धनकुमारी गर्ग, श्री रामकौशल सोनवानी, श्री श्यामसुंदर शर्मा।

पार्षदगण– श्रीमती दीपा राठौर, श्रीमती तारा देवी, श्रीमती ज्योति पाण्डेय, श्री प्यारेलाल वाल्मिकी, श्रीमती शकुंतला कंवर, श्री शिव कुमार अग्रवाल, श्री नवीन अरोरा, श्रीमती गिरजा देवी, श्री मुकेश कुमार राठौर, श्रीमती समारिन बाई, श्री महेन्द्र सिंह, श्री पंकज देवांगन, श्रीमती वैशाली रत्नपारखी, श्री एर्रा रामू, श्री करम सिंह, श्री सुकुंदी राम, श्री नीलाम्बर, श्री अजय सिंह, श्री नारायण, श्री संतु प्रसाद साहू, श्री सुधीर शर्मा, श्रीमती उर्मिला राठौर, श्रीमती गणेश बाई, श्री सरवन किरण, श्री हेतराम चन्द्रा, श्री विरेन्द्र कुमार, श्री फिरतराम साहू, श्रीमती कोमल सिदार, श्री बंधन सिंह कंवर, श्री देवेश कुमार थवाईत, डॉ. हरिकांत दूबे, श्री छत्रपाल सिंह कंवर, श्री गोकुल प्रसाद, श्री दिलहरण सिंह, श्रीमती प्रेमा चन्द्रा, श्रीमती भुवनेश्वरी देवी, श्रीमती सरिता खरे, श्रीमती सरिता खरे, श्रीमती लक्ष्मीन बाई, श्री धर्मेंद्र गजभिये, श्रीमती गंगाबाई जायसवाल, श्रीमती कौशिल्या, श्रीमती उमा भारती सराफ, श्री गौरीशंकर यादव, श्री बलराम यादव, श्री दिनेश कुमार यादव।

एल्डरमेन– श्री तुलसी ठाकुर, श्री नवीन पटेल, श्री अजीत कैवर्त, श्री व्यासमुनि मित्रा, श्री राजबीर अग्रवाल, श्री रामस्नेही गुप्ता।

नगर पालिक निगम कोरबा नागरिकों से अपील करता है कि–

- निगम को देय समस्त करों एवंदेयकों का भुगतान समय पर करें, इससे अनवरत विकास को गति मिलेगी।
- घर से निकले कचरे को कचरा पेटी में ही डालें, नगर की साफ-सफाई में निगम को सहयोग दें।
- जल ही जीवन है, जल की एक-एक बूँद उपयोगी है इसे व्यर्थ न बहने दें।
- निगम प्रदत्त सुविधाएंएवंनिगम की सम्पत्तियांआप की सेवा के लिए है, कृपया उनकी सुरक्षा करें।
- अधिकाधिक वृक्षारोपण कर पर्यावरण संरक्षण में सहयोग दें

निगम द्वारा संपादित, प्रगति पर एवं प्रस्तावित कुछ महत्वपूर्ण विकास कार्य

1. 400 नलकूपों का खनन एवंस्थापना कार्य।
2. अंतर्राष्ट्रीय मापदण्ड के स्वीमिंग पुल का निर्माण।
3. विवेकानंद उद्यान में कृत्रिम समुद्रतट व्हेवपुल का निर्माण।
4. पुष्पलता उद्यान, स्मृति उद्यान, बैराज गार्डन, नेहरु उद्यान, बैराज गार्डन, नेहरु उद्यान सहित अन्य उद्यानों का विकास कार्य।
5. ओपन ऑडीटोरियम का निर्माण।
6. सड़क रोशनी की पर्याप्त व्यवस्था हेतु हाई मास्ट सोडियम वेपर लैम्प तथा ट्यूब लाईट आदि के स्थापना कार्य।
7. निगम क्षेत्र के लगभग समस्त झुग्गी झोपड़ बस्तियों में बाह्य विद्युतीकरण कार्य एवंनल जल योजना का क्रियान्वयन कर जल की आपूर्ति।
8. गोकुल नगर का निर्माण
9. मुख्यमंत्री स्वावलंबन योजनांतर्गत 375 दुकानों एवं85 चबूतरों का निर्माण।
10. महिला समृद्धि योजनांतर्गत 85 दुकानों का निर्माण।
11. अटल आवास योजना एवंबाल्मीकि अम्बेडकर आवास योजनांतर्गत हजारों आवासगृहों का निर्माण।
12. भारी वाहनों के आवागमन एवंयातायात सुव्यवस्थित करने के उद्देश्य से 22 कि.मी. लंबी रिंग रोड का निर्माण
13. आई.डी.एस.एम.टी. योजना के तहत व्यवसायिक परिसर का निर्माण।
14. स्वच्छ छत्तीसगढ़ योजना के तहत 1605 शौचालयों का निर्माण।
15. विभिन्न मार्गों का मॉडल रोड में परिवर्तन।
16. नगर के समस्त चौक चौराहों का सौन्दर्यीकरण एवंमुख्य मार्गों का चौड़ीकरण व डिवाइडर निर्माण।
17. विभिन्न झुग्गी झोपड़ बस्तियों एवंसार्वजनिक स्थलों पर सुलभ शौचालयों का निर्माण।
18. निगम क्षेत्र की प्रत्येक बस्ती में क्रांक्रीट रोड, पक्की नाली, सामुदायिक भवन एवंआवश्यकतानुसार शाला भवनों का निर्माण।
19. गौरवपथ का निर्माण एवंसी.एस.ई.बी. चौक पर भव्य ओव्हर ब्रिज का निर्माण कार्य प्रस्तावित।
20. नगर के चौराहों का सौन्दर्यीकरण कर उन पर महापुरुषों की प्रतिमाओं की स्थापना।
21. निगम क्षेत्र की सुदूर स्थित बस्तियों एवंग्रामों में सड़क रोशनी की पर्याप्त व्यवस्था।
22. नागरिकों की सुविधा हेतु प्रदेश का पहला ई-सेवा केन्द्र निगम द्वारा स्थापित।

नगर निगम का सदा प्रयास – सेवा, सुविधा और विकास

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh Funding by IKS-MoE 2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

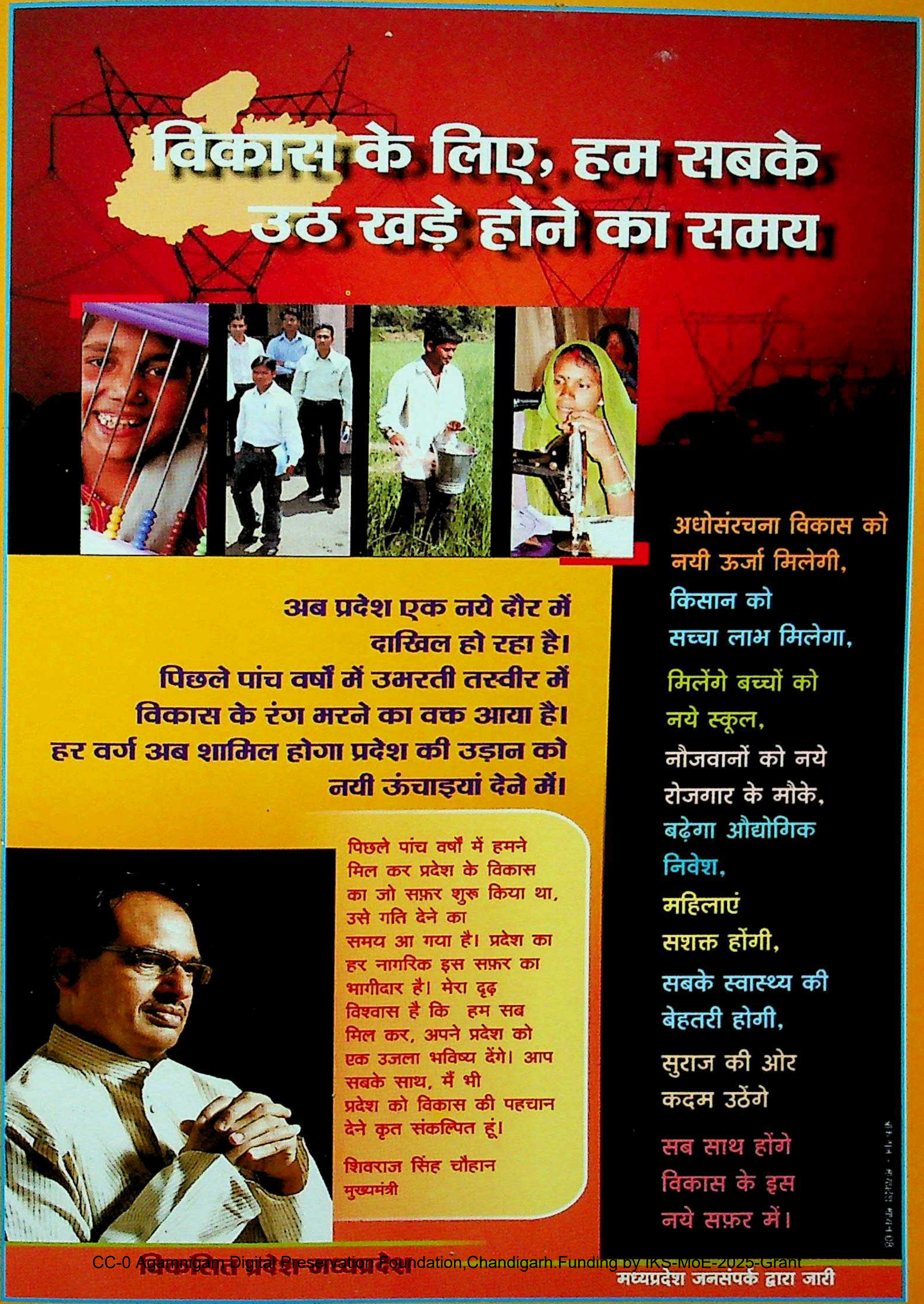

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मुख्यमंत्री खाद्यान्न सहायता योजना

छत्तीसगढ़

3 रु. किलो चावल

हर गरीब परिवार को

गरीबों के आंसू पोछने की बातें करते रहने से ही कुछ नहीं होगा, हमारी सरकार ने तो ऐसे काम किए हैं जिससे गरीबो की आँखों में आँसू ना आएं. किसानों के खेत की प्यास मिटाना हो या गरीब के पेट की भूख, ऐसी हर समस्या के समाधान की योजनाएं हमने लागू की हैं. रुपये 945 करोड़ की लागत से 36 लाख गरीब परिवारों को 3 रु. किलो में हर माह 35 किलो चावल देने को हमने अपना कर्तव्य बना लिया है, सिर्फ योजना बनाने तक सीमित नहीं रखा.

डॉ. रमन सिंह
मुख्यमंत्री, छत्तीसगढ़

आपको आपके हक का चावल पाने में कोई दिक्कत हो या गड़बड़ी नजर आये तो बेधड़क इस टोल फ्री नम्बर पर जानकारी दें- **1800-233-3663**

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant